वेदों एवं पुराणों में आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

स्कॉलस्टिका कुजूर

वैदिक सभ्यता में पूर्व वैदिक और उत्तर वैदिक आर्यों के आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक जीवन के सभी पहलुओं पर अध्ययन करते हुए उनकी संस्कृति पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

विभिन्न विद्वानों के मतानुसार संस्कृति की ऐतिहासिक परिभाषा के साथ ही साथ संस्कृति की विशेषताओं और संस्कृति के मूल तत्त्व (दर्शन, धर्म, आध्यात्म, साहित्य और कला) पर भी प्रकाश डाला है।

झारखण्ड की भौतिक संस्कृति का आरंभ और वर्तमान यहाँ की जनजातियों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन से जुड़ा हुआ है। यहाँ की जनजातियों का आर्थिक जीवन या भौतिक संस्कृति आखेट, कंदमूल ग्रहण, shifting cultivation, पशुपालन, कुटीर उद्योग, कृषि तथा भौगौलिक विकास के विभिन्न चरणों से जुड़ा हुआ है। जनजातीय समुदायों में "गोत्र" की प्रधानता है। गोत्र से जुड़ी अधिकांश वस्तुएँ या तत्व प्रकृति से जुड़े हैं, जिनकी मान्यता, संस्कृति एवं विशेषकर धार्मिक मान्यताओं पर आधारित है। उनके गोत्र प्रतीक पशु, पक्षी, वृक्ष, फल-मूल आदि होते हैं, जो उनके लिये पवित्र एवं पूज्य माने जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से सगोत्र विवाह पूरी तरह वर्जित है।

वैदिक संस्कृति के विकास में पुराणों का सर्वाधिक योगदान रहा। यद्यपि ब्राह्मणों, आरण्यकों और कल्पसूत्रों के वर्ण भेद को उपनिषदों में कोई स्थान न मिला, परन्तु पुराणों ने तो उसे सर्वथा विस्मृत कर दिया।

चारों वेद, ब्राह्मण–ग्रन्थ, आरण्यकों, उपनिषदों, स्मृति ग्रन्थों, वेदांग साहित्य की विशद् चर्चा हुई है।

वेदकालीन सामाजिक व्यवस्था के पाँच आधार स्तम्भ थे– पारिवारिक जीवन, तीन ऋण, वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था तथा वर्ग चतुष्टय। नारी प्रकरण में नारी के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत चर्चा की गयी हैं। आर्यों की शिक्षा व्यवस्था, आर्थिक और राजनैतिक जीवन पर पर्याप्त सामग्री दी गयी है।

प्रमुख जनजातियों (मुंडा, उराँव, संथाल, पहाड़िया, बिरहोर, बिरजिया) के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की संस्कृतियों (परम्पराओं) का वर्णन है।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि वैदिक और जनजातीय संस्कृति में बहुत समानताएँ हैं।

ISBN : 978-81-7854-157-0 (Set)
Price : 3000.00 (2 Vol. Set)

वेदों एवं पुराणों
में
आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

वेदों एवं पुराणों

में

आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

खण्ड 2

डॉ० स्कॉलस्टिका कुजूर
एम०ए० (द्वय), पी-एच०डी, डी० लिट्
आचार्य एवं भूतपूर्व अध्यक्ष,
संस्कृत विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची
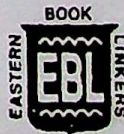
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली-110007
दूरभाष : 23850287, 32919869
e-mail : ebl@vsnl.net
books@eblindology.com

Web site: www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2009

मूल्य : 3000.00 (2 भागों में)

ISBN : 978-81-7854-157-0 (2 भाग)

वेदों एवं पुराणों में आर्य एवं जनजातीय संस्कृति

टाईप सैट : अजय प्रिंटिंग वर्कस, दिल्ली

मुद्रक : आर. के. प्रिंट सर्विस, दिल्ली

अध्याय 4

जनजातीय संस्कृति का स्वरूप
झारखंड और छत्तीसगढ़ के आदिवासी

1. डागरिया— जातीय नाम 'अग्नि' से व्युत्पन्न यह समुदाय आज भी लौह अयस्क को पिघलाने के कार्य में लगा हुआ है। ये अपने को लोहार भी कहते हैं। यह समुदाय मेकल पर्वत श्रृंखला के मंडला, बिलासपुर तथा रीवा में अधिक मिलता है, तथा छत्तीसगढ़ी भाषा का प्रयोग करता है।
2. असुर जनजाति— दे. आगे इसी अध्याय में।
3. भील— भीलों का एक लम्बा इतिहास है और गुणाढ्य के कथासरित्सागर छठी शताब्दी में इसकी विस्तृत चर्चा है। मध्यप्रदेश में भील और भिलाला नामक दो उपवर्ग हैं। भिलाला-समुदाय झाबुआ, पश्चिमी निमाड़ तथा थार में व्याप्त हैं। इनकी मातृभाषा भीली हैं। गोंडों के बाद जनसंख्या की दृष्टि से भीलों का दूसरा स्थान है भीलों की एक शाख 'मीणा' भी है।
4. बिरहोर, खड़िया, बिरजिया— देखें आगे इसी अध्याय में।
5. गोंड— संख्या की दृष्टि से यह मध्यप्रदेश की सब से बड़ी तथा प्रभविष्णु जनजाति है, जो सतपुड़ा-पर्वतमाला से गोदावरी तक व्याप्त है। इन्हीं के नाम से मध्ययुग में गोंडवाना को प्रसिद्धि मिली। इन्होंने यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित किया तथा सैकड़ों वर्षों तक व्यापक क्षेत्र पर शासन करते रहे। गोंड शब्द की व्युत्पत्ति तमिल से हुई है, जिसका अर्थ है 'पर्वत निवासी'। सच तो यह है कि गोंड अपने को 'कोयतोर या 'कोया' ही के रूप में जानते हैं। मध्यप्रदेश में गोंडों की कुल मिलाकर 50 शाखाएँ है, जिनमें प्रमुख है— अबुझमाड़िया, दंडामी, माडिया, मुरिया, ओझा, पहाड़िया गोंड, राजमुरिया आदि हैं।
6. कोड़कू— ये सुरगुजा तथा रायगढ़ जिलों में फैले हुए हैं। 'कोड़कू' का अर्थ है 'भूमि को खोदने वाला'। इनकी मातृभाषा (कोखा) मुण्डाभाषा-परिवार से संबंधित है। ये घर से बाहर छत्तीसगढ़ी का ही प्रयोग करते हैं।
7. कोल— 'कोल' एक जातीय नाम है, जो संस्कृत साहित्य में भी तथा किरात के साथ बहुशः

प्रयुक्त हुआ है तुलसीदास के राम चरितमानस में भी कोलों की चर्चा है। 'कोल' मूलरूप से मुंडारी प्रजाति से जुड़े हुए होंगे। मुंडारी में 'को' का अर्थ है 'पुरुष'। कोल रीवा, जबलपुर, नरसिंह तथा दमोह जिलों में अधिक व्याप्त हैं। जबलपुर में इन्हें "गौंटिया" कहा जाता है।

8. कंध—'कंध शब्द द्रविड़ के 'कोण्ड' शब्द से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है, पहाड़ी। इन्हें खोंड या कोण्ड भी कहा जाता है। ये रायगढ़ जिले तक सीमित हैं तथा पड़ोसी इन्हें 'कोंधिया' कहते हैं। शायद दो सौ वर्ष पहले ये उड़ीसा से आकर यहाँ बसे थे।

9. कोर्कू—'कोरु' (पुरुष) में बहुवचन पर प्रत्यय 'कु' लगने से कोर्कू बना। ये सतपुड़ा की पर्वत-श्रृंखला में बिखरे हुए हैं। मध्यप्रदेश में इनकी अनेक उपशाखाएँ, 'बोपची, बावरिया, मावसी, निहाल, नाहुल, बोंधी तथा बेडिया आदि नामों से जानी जाती हैं। इनकी मातृभाषा 'कोर्कू' मुंडा भाषा परिवार से संबंध है। ये बैतूल, छिन्दवाड़ा, खंडवा, होशंगाबाद तथा देवास जिलों में सघन रूप से मिलते हैं।

10. कोखा—इन्हें दिहरिया और 'किसान कोरवा' भी कहा जाता है। इनकी मातृभाषा कोखा मुण्डा भाषा परिवार से संबंध हैं। आज ये सुरगुजा, राजगढ़ तथा बिलासपुर जिले में व्याप्त हैं। कोखा के दो भेद हैं—पहाड़ी कोरवा तथा जंगली कोरवा।

11. मुंडा—ये बस्तर की जगदलपुर तहसील तक ही सीमित है। मुंडा पर विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के मुंडा जनजाति में देखिए।

12. उराँव—ये अपने को कुडुख कहते हैं। इनकी मातृभाषा, कुडुख उत्तरी द्रविड़ भाषा परिवार से संबंधित हैं। इनके बारे में भी इसी अध्याय के "उराँव जनजाति" में देखिये।

II. प्रमुख जनजातियों का सामान्य परिचय

1. मुंडा जनजाति

भारत की 46.1 जनजातियों में करीबन 30 जनजातियाँ, जिनकी संख्या करीब 90 लाख हैं, मुंडा भाषा बोलती हैं। मुंडा भाषा को निम्न बोलियों में बाँटा गया है—खोखारी, संथाली, करमाली, महल, मुंडारी, हो, भूमिज, बिरहोर, कोरा, तुरी, असुरी, अगरिया, बिरजिया, कोरकू, मोबासी, एरंगा, कोसकू, कासेरबा, नहली, खड़िया, जुआंग, साओरा, परेंगी, गुटाव, बोन्डा और डिड़े।

मुंडा वंश की अतिरिक्त जातियों में जैसे—कोल, चेरो, खेरवार, सबर, कोड़ा, लोधा, जिहोंने हिन्दू संस्कृति को अपना लिया है—मुंडा भाषा को भुला दिया है, और आर्य या द्रविड़ भाषाओं को अपना लिया है।

आर्यों के भारत में आगमन के पहले ही मुंडा जाति भारत के हिन्द चीन में फैली हुई थी। इसकी पुष्टि के लिए निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं :

1. मुंडा परम्परा के अनुसार, आरंभ में मुंडा जाति अपने वर्तमान निवास स्थान से उत्तर-पश्चिम में जो पंजाब और उत्तर प्रदेश के वर्तमान क्षेत्र में पड़ता है—रहती थी। मोरी या मोरा की कहानी

पर आधारित एक परम्परा बताती है कि मध्य-एशिया ही मुंडा जाति का मूल निवास स्थान था। यहीं से मुंडा लोग भारत में आकर बस गये।

2. सुनीति कुमार चटर्जी के अनुसार, राजपूताना और खन्देश की भीलजाति जो अभी आर्य राजस्थानी भाषा की एक बोली बोलती है-संभवतः मुंडा जाति की है। इसी क्षेत्र की कोली जाति भी संभवतः एक समय मुंडा परिवार की थीं इस तरह मुंडा क्षेत्र गुजरात तक फैला हुआ था।

3. कश्मीर के उत्तर पश्चिम में -यासिन और हुन्सानगर क्षेत्र में एक भाषा, बुरुसाकी, बोली जाती है। एक सिद्धान्त के अनुसार बुरुसा की भाषा भी मुंडा से संबंधित है। इसका अर्थ है कि मुंडा जाति का क्षेत्र कश्मीर तक फैला हुआ था।

4. मुंडा जाति एक समय हिमालय क्षेत्र में भी बस गई थी। इसका प्रमाण निम्नांकित तथ्यों से मिलता है :—

(क) मुंडा भाषा के आधार तत्व उप हिमालय इलाके के तिब्बती-चीनी बोलियों में भी पाये जाते हैं। मुंडा और प्राचीन तिब्बती भाषा के बीच शाब्दिक अनुरूपता भी मिलती है। स्टेनकोना के अनुसार ''यह कल्पना करना आवश्यक जान पड़ता है कि मुंडा जाति और इससे संबंधित जातियाँ एक समय हिमालय के इलाके में बस गई थी, जहाँ उनकी भाषाओं के अवशेष अभी तक कानवार की बोलियों के व्याकरण में मिलते हैं।'' (फुक्स, एस. 1978 : 79)।

(ख) मुंडाओं के धार्मिक विश्वास और रिवाज भी उनके एक समय हिमालय इलाके में बसने के प्रमाण हैं—

मुंडा सिंगबोंगा और मरंगबुरु (महान पर्वत) की पूजा करते हैं। सिंगबोंगा शब्द का मूल अर्थ ''सबसे बढ़ियां पर्वत'' है। ये दोनों धारणाएँ मुंडाओं के हिमालय इलाके से संबंध के कारण ही शुरू हुई।

मुंडा लोग सिंगबोंगा और सफेदी में संबंध रखते हैं। वे सिर्फ सफेद जानवरों की ही पूजा सिंगबोंगा को चढ़ाते हैं सिंगबोंगा और सफेदी के संबंध शायद हिमालय के बर्फ की सफेदी से है।

5. वर्मा के माने लोग भी मोन भाषा जो अभी मरतबेन की खाड़ी के क्षेत्र और सियाम से सटे उस भाग में ही बोली जाती है, की आश्चर्यजनक समानता मुंडा भाषा से है। दोनों भाषाओं का मूल एक ही लगता।

6. असम की खासी भाषा भी मुंडा और मोन भाषा के सदृश्य है। इस तरह यह भाषा मध्य भारत से बर्मा तक फैली एक श्रृंखला की कड़ी के समान है।

7. यह कड़ी पूर्व की ओर भी आगे गढ़ जाती है। कम्बोडिया में खेमेर जाति के लोग रहते हैं, जिनकी बोली मोन भाषा की ही एक बोली है।

8. हिन्दी-चीनी में एक-दो भाषाएँ हैं— जैसे पलौंग वा स्टियेंग, बाहनोर, जो मुंडा-खासी-मोन-खेमेर

भाषाओं से संबंधित है। सम्भवतः, वियतनाम की चाभ भी इनसे संबंधित है।

9. मलय प्रायद्वीप में कुछ प्राचीन जातियों की भाषाएँ, जैसे— सकाई, सेमांग और निकोबार द्वीप के लोगों की बोली भी मुंडा मोन-खेरेम के अन्तर्गत है। इन सभी भाषाओं को एक में मिलाकर जर्मन विद्वान फा. डब्ल्यू स्मित ने इस भाषा समूह को आष्ट्रो-एशियाटिक नाम दिया है।

(क) मुंडाओं का भारत प्रवास—

1. पूर्वी मार्ग सिद्धान्त या प्रवास का ऑस्ट्रिक सिद्धान्त :— इस सिद्धान्त के अनुसार मुंडाओं ने भारत में दक्षिणी चीन से वर्मा और असम होते हुए पूर्वी मार्ग से प्रवेश किया। डब्ल्यू स्मित के अनुसार मुंडाओं की भाषा ऑष्ट्रो एशियाटिक वर्ग की है। इस वर्ग की भाषाओं का केन्द्र दक्षिण-पूर्व एशिया है। इस निष्कर्ष से हमें यह पता चलता है, कि मुंडा लोग पूर्व से आये, जहाँ उन्हें यह भाषा मिली। वर्मा की मोनभाषा और असम की खासी भाषा दोनों ऑस्ट्रो-एशियाटिक वर्ग की भाषाएँ हैं। ये भाषाएँ ही वे सम्भाव्य खड़िया हैं जो हमें बताती हैं कि मुंडा लोग किस रास्ते से होकर भारत के मध्य-पूर्व में आकर बस गये।

2. **हिमालयी मार्ग सिद्धान्त**

जे. ए. हटन के अनुसार, भारत में प्रचलित ऑस्ट्रिक भाषाओं के दो भिन्न परिवार हैं। अतः यह संभव है कि मध्य एशिया से भारत में दो मार्गों से होकर मुंडा जाति आई होगी, एक हिमालय की पश्चिमी दिशा से होकर और दूसरी पूर्वी दिशा से होकर। पश्चिमी भागों में प्रचलित इस भाषा को हम कोलेरियन (मुंडा) भाषा कह सकते हैं और पूर्वी भाग में प्रचलित भाषा को मोन खेमेर जो सिर्फ असम राज्य तक ही सीमित है।'' (फुक्स. एस. 1978)।

पुक्स के अनुसार ''मुंडा जाति हिमालय से होकर हिमाचल प्रदेश और नेपाल की ओर जाने वाली घाटियों के रास्ते से होकर भारत में आई होगी। ऐसी हालत में भी मुंडाओं का संबंध खेमेर भाषा-भाषियों और फिन्नों उगारियन-भाषा-भाषियों के साथ दक्षिणी चीन में कहीं रहा होगा। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मुंडाओं ने भारत प्रवेश के लिए बर्मा और असम का रास्ता नहीं परन्तु तिब्बत से होकर आने वाले रास्ते को अपनाया। अन्ततः वे दक्षिण की ओर मुड़े और घाटियों को पार कर हिमालय प्रदेश और नेपाल तक आये।

अपनी अन्तिम मंजिल तक पहुँचने के लिए, मुंडाओं को गंगा की विशाल घाटी को पार करना पड़ा। इसका प्रमाण यह है कि एक समय शक्तिशाली समझी जाने वाली मुंडा जाति के ही चेरो जाति के लोग-अभी तक गंगा घाटी में निवास करते हैं। एक प्राचीन मुंडा परम्परा के अनुसार आजमगढ़ के निकट तक महत्वपूर्ण स्थान की चर्चा भी मुंडाओं के हिमालय मार्ग से भारत प्रवेश सिद्धान्त की पुष्टि करता है। (फुक्स, एस. 1678)।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री गेल ऑमवेट ने अपने एक महत्वपूर्ण लेख में मुंडा समूह के इतिहास और गौरवमय संस्कृति पर नई रोशनी डाली है। उनका कहना है कि भारतीय संस्कृति का तीसरा और महत्वपूर्ण घटक (प्रथम दो -आर्य और द्रविड़) ऑस्ट्रो-एशियाई अथवा आग्नेय हैं। मुंडा समूह दक्षिण पूर्व एशिया

के आस्ट्रो-एशियाई जाति समूहों से संबंधित हैं। ये जाति समूह कोई हाल में सभ्य हुई जातियाँ नहीं हैं, बल्कि विश्व की प्राचीनतम सभ्य जातियाँ रही हैं। जातियों को उनके भव्य भवनों, नगरों और शोषणकारी, समाज व्यवस्था के आधार पर अधिक सभ्य माना जाना चाहिये। भारतीय संस्कृति और सभ्यता में कई महान् खोजों और परम्पराओं का योगदान करने का श्रेय आग्नेय जाति समूह को है। जो लोग मुंडा समूह की जातियों को अविकसित, हाल से सभ्य हुई और हाल में खेती करना सीखी हुई जातियाँ मानते है, उनको गेल का यह तथ्यनिष्ठ लेख अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करने के लिए मजबूर कर देगा-इस बात को समझने के लिए हमें पूर्व की ओर से नजर डालनी होगी और भारतीय समाज में मुंडारी तत्वों और दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ उनके सम्पर्क को देखना होगा। गेल के अनुसार अगर हम संभावना को मान लेते हैं कि हजारों वर्ष पहले पूर्व, भारत के मूल वासिंदे मुंडा भाषा-भाषी थे, तब तक हम एक विस्तृत सांस्कृतिक क्षेत्र को चिन्हित कर सकते हैं, जिसका विस्तार पूर्वी मध्य-भारत से लेकर दक्षिण-पूर्व एशिया होते हुए दक्षिण चीन तक है। यह क्षेत्र धान की खेती का उद्‌गम क्षेत्र भी माना जाता है।

हमने यह देख लिया कि मुंडा जातियों का इतिहास एक नये निवास-स्थल की खोज में भ्रमण का इतिहास हैं। बाहर से आई जातियों ने उन पर आक्रमण किया। उनके आक्रमणों के कारण ही ये भ्रमण करते रहे। मुंडाओं को अपने अधीन लाने के लिए दो तरीके अपनाये नये-एक उन पर जीत पाकर और दूसरा उनको अपने में पूरी तरह मिलाकर। इस लम्बी, प्रक्रिया के अन्तर्गत बहुत से मुंडाओं ने अपनी मुंडा भाषा खो दी और विजेताओं की भाषा, संस्कृति और धर्म को अपना लिया। भील, कोली, चेरो और खेरवार आदि जातियों ने हिन्दू धर्म और संस्कृति को अपना लिया। एक समय ये सभी मुंडा भाषा-भाषी थे। अभी इन्होंने मूल मुंडा भाषा का पूर्णत: त्याग कर दिया और आर्यों की भाषा और संस्कृति को अपना लिया है। भारत में आर्य जाति के लोगों ने मुंडा जाति को झारखंड के पहाड़ी क्षेत्रों से खदेड़ दिया। आर्यों के सप्तसिन्धु में निवास से पहले ही मुंडा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में रहते थे। मोयोद्-जोदाऊ (फलदार वृक्ष0 और होड़ोरप: (वह स्थान जहाँ मुर्दे जलाये जाते हों) इनकी भाषा के शब्द हैं।

मुंडाओं के गीत में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का नाम है:

सिदा मुंडा दिसुम दो, उपन-जपन हतुदो, हड़प्पा मोहनजोदड़ो-2

एन सुगड़ दिसुम तबुआ: नतुमाकन तु तबुआ:

हायरे चिउला ओगी कबु रिंडिंग बगि उतरिया-2

अर्थ मुडाओं का प्रथम निवास स्थान देश हड़प्पा मोहनजोदड़ो था

ऐसा सुन्दर विकसित देश और नामी गाँव कभी न छोड़ेंगे न भूलेंगे।

मुंडा जाति की अनुश्रुतियों के अनुसार, यह जाति मनु वैवस्वत के छठे पुत्र करूष की सन्तान है। मगध राज्य का राजा जरासन्ध मुंडा जाति का मित्र था। वायु पुराण में झारखंड को 'मुरण्ड' तथा विष्णु पुराण में मुण्ड' कहा गया है। पूर्वमध्यकालीन संस्कृति साहित्य में झारखंड को कलिंद देश कहा गया है— (डा. सुशील माधव पाठक-राँची का इतिहास. पृ. 238)।

शरत चन्द्र राय के अनुसार झारखंड में मुंडाओं का प्रवेश 600 ई. पू. में हुआ। इन्होंने युद्ध में

कौरवों का साथ दिया क्योंकि इनके मित्र जरासंध को पांडवों ने मारा था। वेदों में मुंडा जाति के नामों का उल्लेख-मुरण्डा, मुरुण्ड, गोण्डालई, मरूण्डा के रूप में मिलते हैं। छोटानागपुर में मुंडाओं के पहले असुरों के साथ जैन एवं अन्य आर्य समाज के निवासी थे। शरत चन्द्र राय (दि मुंडास एन्ड देयर कन्ट्री के अनुसार बुद्धकाल के लगभग 500 ई. पूर्व. चन्दवा (उमेडन्डा) घाटी की ओर से छोटानागपुर के पठार में मुंडाओं का प्रवेश होता था। राँची के समीप पिठोरिया (सुतियाम्बे) इनकी राजधानी थी। पंजाब में आज भी आदिवासियों का देवी स्थान 'काली बोंगा' के नाम से प्रसिद्ध है।

जैसा कि ऊपर कहा गया मुंडा या मुंडारी भाषा भारत की प्राचीन भाषाओं में एक है। आज जिन क्षेत्रों में मुंडाओं की आबादी नहीं मिलती है, उन क्षेत्रों में भी मुंडा भाषा के विश्लेषण से, मुंडाओं और मुंडा भाषी लोगों के कभी वास करने के कुछ धूमिल तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

मुंडा लोग अपने गाँवों के नामकरण आदमी, पशुपक्षी, पानी या किसी खास घटना आदि के नाम पर करते हैं, जैसे सुरजूडीह, बोरतोडीह, मंगुबंदा जैसे मुण्डा गाँव आदमियों के नाम पर पड़े हैं। इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि 'गया' शहर कभी गाँव था, जिसको गया मुंडा नामक व्यक्ति ने बसाया था, गया नामक व्यक्ति के खास व्यक्तित्व के आधार पर लोगों ने इसे 'गया' नाम दिया होगा। मुंडारी में 'गया' शब्द नंपुसक व्यक्ति के लिए भी उपयोग किया जाता है। जैसा कि 'इनिः दो गया दंड,' अर्थात् 'वह तो नपुंसक है न!' पटना से पश्चिम दिल्ली लाईन पर एक रेलवे स्टेशन है-'निउरा'। हिन्दी में इसका अर्थ 'नेवला' होता है। इसी प्रकार नवादा' (नया पानी), नालन्दा या नालीदाः (नाले का पानी) रजौली या राजा उली (राजा या आमों का राजा) और कसौली या कसा उली (कसैला आम) आदि मुण्डारी नाम है, जहाँ कभी मुंडा वंश के लोग रहा करते थे।

दिल्ली के साथ भी ऐसी बात है। इसका विश्लेषण आर्य या द्रविड़ भाषा में हुआ है या नहीं पता नहीं। देहली और दिलल से 'दिल्ली' होने की कल्पना की जा सकती है। परन्तु 'दिल्ली' मुण्डा भाषा का शब्द कहा जा सकता हैं मुंडा भाषा ''हो'' आदिवासी 'दिली'' किसी को निमंत्रण करने के अर्थ में व्यवहार करते हैं। जैसे 'मगेरे दोले दिली मे आ' (मागे पर्व में तो तुमको निमंत्रण देंगे।) इसी दिल्ली के निकट इतिहास प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र भी हैं, जहाँ कौरव-पाण्डवों के बीच युद्ध हुआ था। उस महाभारत युद्ध में मुंडा भाषी जातियों या राजाओं को भी आमंत्रित (दिली) किया गया था, और इसी आधार पर इसका नाम दिली या दिल्ली पड़ गया था। दिः उली से दिल्ली होने का भी दावा किया जा सकता है। दिः उली याने ''आम का गले में अटक जाना' की घटना पर इस स्थान का नाम दिःउली रहा होगा और कालक्रम में इसका नाम दिल्ली पड़ गया होगा।

इसी प्रकार मेहेर उली (तीता आम) या मारा उली(अहीर आम या अहीर द्वारा लगाया गया आम) से मेहरौली (दिल्ली के कुतुबमीनार के पास का एक गाँव, जिसने अब शहर का रूप ले लिया है) पड़ा होगा। ऐसी बदलाहट गैर मुण्डा-भाषियों के द्वारा ही होती है; क्योंकि उनसे मुण्डारी का सही उच्चारण सम्भव नहीं होता है। दूसरा उदाहरण 'राँची का वास्तविक नाम 'रिची (बाज) है। राँची को लोग पहले रिची बुरू (बाज पहाड़) कहते थे; उस पर बाज पक्षियों का बसेरा था। इसी पहाड़ की दक्षिणी तराई पर पुरनकी राँची है, जो उस समय रिची बस्ती के नाम से जानी जाती थी। बाद में अंगरेजों के

आगमन के बाद इसको उनके द्वारा ''राँची'' नाम दे दिया गया। ''राँची'' को 'अलची' याने हल के जुते बैलों या भैंसों को हाँकने की लाठी से बना भी मानते है। इसी तरह 'दुरङ दः, से डुरूण्डा या डोरन्डा नाम पड़ गया है।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया को आधार मानकर यह भी कहा जा सकता है कि विन्ध्याचल और अरावली प्रदेशों में भी कभी मुण्डा-भाषी लोग रहा करते थे। विन्ध्याचल पर्वत की श्रृंखला साँप की तरह ही दीखती है। मुंडारी में साँप को 'बिङ्' पीठ को 'देया' और लाँघना को 'ची' कहते हैं। 'बिङ् देया' अर्थात् साँप की पीठ जैसे पहाड़ को कभी मुण्डाओं ने लाँघ कर ('चल' होकर) पार किया होगा। इसलिए 'विङ् देया चल' नाम पड़ा होगा, जो बाद में विन्द्याचल या विन्ध्याचल में परिणत हो गया।

(दुलाय चन्द्र मुंडा— मुंडारी भाषा और साहित्य पृ. 271)।

इसी भाँति अरावली या अरीली को 'अरः उली अर्थात् लाला आम या दामाद द्वारा दिया अथवा रोपा हुआ आम के रूप में विश्लेषण किया जा सकता है। देखा जाता है कि गैर मुंडा-भाषी लोग प्रायः विसर्ग युक्त मुण्डारी शब्दों का विसर्ग रहित उच्चारण करते हैं। जैसे 'अमः नुतुम चेनः'' तुम्हारा क्या नाम है?) को अमा नुतुम चेना की तरह उच्चारण करते हैं। इसीलिए हो सकता है अरःउली से अरावली या अराउली हो गया होगा-इसमें कोई संदेह नहीं।

मुंडा संस्कृति में एक प्रचलन युगों से चला आ रहा है; कि जब किसी के परिवार में जुड़वाँ बच्चियाँ पैदा होती हैं, तो उनदोनों के नाम 'गंगी और 'जौनी' रखे जाते हैं। ये नाम दूसरे नहीं है, बल्कि निरन्तर बहने वाली गंगा और जमुना (जाह्नवी) की पवित्र धारा को साक्षी मान कर रखे गये नाम ही हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदिकाल में गंगा और यमुना के भूखण्डों में मुण्डा भाषी जनसमुदाय के लोग रहा करते थे। इसका एक प्रमाण भी दिया जा सकता है। आगरा के पास यमुना नदी धनुषाकार बहती है। मुण्डारी में धनुष को 'आः' और 'गड़ा' को नदी कहते हैं। उसी के किनारे संभवतः मुण्डाओं के किसी दल ने कभी वास किया होगा और उसका नाम उन्होंने 'आःगड़ा' रखा होगा, जो बाद में आगरा में परिणत हो गया होगा।

राहुल सांस्कृत्यायन ने ऋग्वैदिक आर्य नामक ग्रन्थ में एक जगह लिखा है कि ''आर्यों के सप्तसिन्धु प्रदेश में आने के लगभग 1500 ई. पूर्व याने 3050 ई पूर्व मुण्डा भाषा प्रचलित थी। यह मुण्डा भाषा मुण्डाओं या कोलों की ही भाषा रही होगी। हो सकता है, आर्यों के आने के बाद शांतिप्रिय मुण्डा पूर्व की ओर गंगा यमुना के मैदानों में सरक गये हों।

मध्यप्रदेश की सतपुरा पर्वत श्रृंखलाओं के छिन्दवाड़ा, होशंगाबाद और बेतुल जिलों के जंगलों और घाटियों में मुण्डा-भाषी कोड़कू आदिवासी रहते हैं। गोंड़ और आर्य भाषी जातियों से भरे अंचल में थोड़ी सी आबादी में से कैसे और कहाँ से आ बसे-यह आश्चर्य की बात है इनमें कोई ऐसी कार्य कुशलता भी नहीं देखी जाती है कि किसी ने उनको बाहर से लाकर बसाया हो। ये सभी जंगलों में खाद्य-संकलन, शिकार तथा डहिया या वेवर खेती पर ही जैसे तैसे जीवन निर्वाह करते हैं। इसका एक ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन कोड़कू जैसे मुण्डा-भाषियों का साथ सुदूर भूत में रहा होगा और इस प्रकार का संबंध आर्यों के आगमन तक पश्चिमोत्तर भारत में कायम रहा होगा और जो बाद

में किसी कारणवश यह संबंध टूट गया। इसी बिखराव ने सम्भवतः कोड़कू आदिवासियों को मध्यप्रदेश में मध्य की दुर्गम घाटियों में फेंक दिया होगा।

इस प्रकार के भाषा विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मुण्डा लोग या मुण्डा भाषी लोग समस्त मध्योत्तर और पश्चिमोत्तर भारत में कभी निवास किया करते थे।

वेश भूषा

मुण्डा जनजाति के लोग हृष्ट-पुष्ट और छोटे कद के होते हैं। रंग हल्का काला, सिर लम्बा, नाक मोटी, चेहरा चौड़ा और होंठ मोटे होते हैं। इन लोगों के वस्त्र भी बहुत ही सादा हैं। पुरुष साधारणतया एक प्रकार का कपड़ा पहनते हैं, जिसे ये लोग बातोई कहते हैं। यह कपड़ा 6 से 8 हाथ लम्बा होता है। युवक लोग कमर में एक विचित्र प्रकार का कपड़ा पहनते हैं, जिसे 'करधनी' कहते हैं। बूढे लोग जो काम करने योग्य नहीं हैं, वे केवल एक गज कपड़ा पहनते हैं। जाड़े के समय ये कम्बल का प्रयोग करते हैं। इनकी स्त्रियाँ ऐसे कपड़े पहनती हैं, जिससे उनकी कमर से नीचे का अंग तथा सीना छिपा रहता है। कहीं-कहीं तो मुंडा स्त्रियाँ एक लहंगा पहन कर घर से बाहर काम करने जाती हैं। जूते-चप्पल का प्रयोग नहीं के बराबर होता है। एक स्थान पर जाते समय सर पर पगड़ी और हाथ में एक लाठी रख लेते हैं। वर्षा काल में ये लोग बाँस के छाते का व्यवहार करते हैं। किन्तु अब कहीं-कहीं कपड़े का छाता भी रखने लगे हैं। मुंडा स्त्रियाँ अपने ही सूत कातकर किसी चीक-बडाइक से कपड़ा बुनवा लेती हें। अब धीरे-धीरे मिल के कपड़े भी पहन रही हैं। बड़े और धनी घराने की स्त्रियाँ साड़ी और पुरुष भी घोती पहनते हैं। युवतियाँ अपने को सुन्दर ढंग से सँवारने की चेष्टा करती हैं, इसीलिए वे गहनों का व्यवहार अधिक करती हैं। कभी-कभी वे सोने और चाँदी के इयररिंग (लोला) कान में पहनती हैं। प्रायः उनके गहने पीतल के ही हुआ करते हैं। उनके हाथों में अधिक गहने होते हैं। उनके मुख्य गहने 'साकम' तथा 'काकना' है। धनी स्त्रियाँ नाक में सोने के नथ भी पहनती हैं। ये लोग लकड़ी की कंघियों का प्रयोग करते हैं। स्त्रियों के समान युवक भी अपने को सँवारते हैं। ये लोग माथे पर तेल देते हैं और बालों को बड़ी सुन्दरता से झाड़ते हैं। लड़के-लड़कियाँ फूलों का हार पहनते हैं। लड़कियों के हाथ-पाँवों और माथे पर गोदने के चिन्ह (Tatoo marks) दिखाई पड़ते हैं।

संस्कार

मुण्डा समाज के किसी व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कई संस्कारों से गुजरना पड़ता है। संस्कारों में मुख्य हैं — जन्म संस्कार, छठी संस्कार, नामकरण, कर्णछेदन, विवाह-संस्कार तथा मरण संस्कार।

जन्म संस्कारः—

समाज में शादी के बाद बच्चे का जन्म लेना आनन्द का विषय है। जब नवविवाहित स्त्री शुरू में गर्भधारण करती है तो, उसके नैहर से संबंधियों को बुलाया जाता है। जब वे आते हैं तो ग्राम देवता हातु बोंगा, पहाड़ देवता बुरू बोंगा, वरुण देवता 'इकिर बोंगा' तथा पूर्वजों के नाम से गर्भ की रक्षा के लिए पूजा-पाठ करते हैं। वे अपनी गर्भवती बेटी के गले में एक कच्चा धागा बाँध देते हैं। इसे 'सुतम तोल' कहा जाता है। इसके बाद जब बच्चा जन्म लेता है, गाँव घर में छूत मनाया जाता है। यह

अवधि 6 दिनों का होता है। 6 दिनों के बाद बच्चे की छठी होती हे। छठी होते ही घर में छूत मिट जताा है। छूत की अवधि में यदि किसी तरह का पूजा-पाठ, पर्व त्योहार इत्यादि निश्चित किया गया हो, तो उसे टालकर दूसरे दिन सम्पन्न किया जाता हैं जन्म से लेकर छठी तक दाई की सेवा प्राप्त होती है। दाई निम्नजाति की होती है। वह प्रसव कराती है। नवजात शिशु की 'नाल' तीर या ब्लेड से काटी जाती है। पुत्र जन्मा तो तीर से तथा पुत्री होने पर ब्लेड से काटी जाती है। उस 'नाल' को दरवाजे के सामने छत के नीचे गाड़ दिया जाता है। छठी होने तक माँ और बच्चे की देखभाल दाई करती है।

छठी संस्कार

नवजात शिशु की छठी जन्म के बाद 6 दिनों पर होती है। इस अवसर पर इष्ट कुटुम्ब को बुलाया जाता है। दाई, माँ और नवजात शिशु को स्नान कराती है। नाई बच्चे का नाखून तथा बाल काटता है। सभी इष्ट कुटुम्ब अपना नाखुन एवं बाल काटते हैं। इस प्रकार बच्चे को पवित्र किया जाता है, और उसे वस्त्रादि का दान देते हुए सिर पर तेल मालिश करते हैं। तेल मालिश के समय बच्चे को दीर्घायु होने का आशीर्वाद दिया जाता है। सभी खुशी से नाचते गाते हैं। छटी के दिन स्त्रियाँ स्नान करती हैं। समस्त घर को धोया जाता है। घर के अन्दर 'आदिंग' में पितर की पूजा की जाती है। उसके बाद पड़ोसीगण तथा इष्ट कुटुम्ब मिलकर खान-पान करते हैं। इसका अन्त 'नरताइली' पीकर करते हैं। किसी-किसी का तो नामकरण भी इसी दिन हो जाता है।

नामकरण

छठी के बाद दूसरे दिन नामकरण हो जाता हे। वैसे तो जिस दिन बच्चे का जन्म होता है उसी दिनके बाद भी उसका नाम पड़ जाता है। यदि बच्चा किसी पर्व त्यौहार के दिन जन्म लेता है तो उसे पूर्व त्यौहार के नाम से उसका नाम रखा जाता है। जैसे सोमवार को जन्म लेने पर सोमा, सानिया, सागर आदि नाम रखा जाता है, जबकि करमा, बुरू, सोहराई आदि त्यौहार में जन्म लेने पर दिन का नाम छोड़कर त्यौहार का ही नाम रखा जाता है। लेकिन इसके अतिरिक्त उनके दादा-दादी, नाना-नानी या अन्य संबंधियों के नाम पर नामकरण किया जाता है। इस तरह के नाम को 'साकी नुतुम,' कहते हैं। अत: बच्चे का नामकरण ही दो प्रकार से होता है। एक जन्म का जिसे 'जोनोम नुतुम' और दूसरा 'साकी नुतुम'। 'साकी' का अर्थ है मिता।

बच्चे की 'साकी का संमय मनोरंजक होता है। एक थाल में पानी रखा जाता है। उसमें सिंगबोंगा के नाम पर दुबला दूब घास छोड़ दिया जाता है। उस पर चावल का एकदाना 'सिंगबोंगा' के नाम पर दूसरा दाना बच्चे के नाम पर और तीसरा दाना इच्छुक व्यक्ति के नाम पर छोड़ा जाता है। सब से पहले घर के दादा-दादी को प्राथमिकता दी जाती है। उसके बाद नाना-नानी का स्थान होता है। यदि दादा-दादी के नाम पर छोड़े गये चावल का दाना बच्चे के चावल के दाना से मिल जाता है तो उन्हीं के नाम पर बच्चे का नाम रखा जाता है। इस तरह से जब तक ये दोनों चावल एक दूसरे से नहीं मिलते तब तक बारी-बारी से इच्छुक व्यक्तियों के नाम से चावल दाना छोड़ते जाना पड़ता है। जब दोनों चावल एक दूसरे को पकड़ता है तो यह माना जाता है कि बच्चे ने अमुक आदमी को पसन्द किया है। इस लिए उन्हीं के नाम से नामकरण कर दिया जाता है।

कर्ण छेदन

मुण्डाओं में कर्ण छेदन भी जीवन का एक महत्वपूर्ण भाग है। बिना कर्ण छेदन का शादी करना वर्जित होता है। इसलिए बच्चे का कर्ण छेदन किया जाना अवश्यक है। कर्ण छेदन के बाद ही बच्चे को सामाजिक प्राणी के रूप में मान्यता दी जाती है। मुण्डा में इस संस्कार को 'तुकुई लुतुर' कहते हैं। यह बच्चे के जन्म से तीन वर्ष के अन्दर मनाया जाता है। कहीं-कहीं इसके बाद भी किया जाता है। इस अवसर पर 'साकी' का प्रमुख पाठ रहता है। कर्ण छेद के दिन आँगन में गुंड़ी का मड़वा लिखा जाता है। उस पर लोटे में पानी और आम के डाली रखी जाती है। लोटा रखने के लिए धान का होना अनिवार्य है। मड़वा में बच्चे को गोदी में लेकर 'साकी' काठ के पीढ़े पर बैठ जाता है। गाँव के दो व्यक्ति दोनों कान को 'कणासी' से एक ही बार में एक साथ भेद देते हैं। कणासी ताँबा या रूपा का होता है। इसे गाँव का लोहरा विधिवत तैयार करता है। इसके लिए उसे एक पौवा चावल तथा सवा रुपये दिये जाता है।

यदि कोई बच्चा विना कर्णछेदन के मर जाता है तो उसे अलग दफनाया जाता है। उसी प्रकार से शादी से पूर्व कर्ण छेदन न होने पर यह संस्कार शादी के पूर्व ही निभाना पड़ता है, अन्यथा शादी नहीं होगी।

मरण संस्कार

मुण्डा समाज में जब कोई मरता है तो उसे जलाया अथवा दफनाया जाता है। किन्तु दफनाने की प्रथा अधिक प्रचलित है। शव को दफनाने के लिए एक स्थान निश्चित होता है जिसे 'ससान' कहते हैं। मरने के दस दिन में दशकर्म होता है और ग्यारह दिन में श्राद्ध होता है। दशकर्म के दिन मृतात्मा को घर बुलाया जाता है। उसे पितरों के साथ घर के अन्दर आदिंग में पूजा पाठ करके मिला दिया जाता है। श्राद्ध के दिन नाई द्वारा पुरुष अपना सिर मुंडन कराते हैं। पिण्डदान के समय पाहन पूजा करते हैं। इसी क्रम में अस्थिकलश का विसर्जन किया जाता है। इसे कहीं नदी, नाला या पहाड़ में विसर्जित नहीं किया जाता है, बल्कि एक निश्चित स्थान में गाड़ दिया जाता है और उसके ऊपर विधिवत एक पत्थर रख दिया जाता है। ऐसे रखे पत्थर को 'ससानदिरी' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इसे हड़गड़ी कहा जाता है। 'हड़गड़ी' हर एक मुण्डा गाँव में मिलता हे। यह विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ होता है। 'हड़गड़ी' अलग-अलग होता है। एक गोत्र वाले के साथ दूसरे गोत्र वाले की हड़गड़ी नहीं होती है। यह मुण्डाओं के अस्तित्व का मूल स्तम्भ है। जो मुण्डा जिस गाँव का पूल वा वासिन्दा है उसकी हड़गड़ी वहीं हुआ करती है।

चेचक तथा महामारी से मरने वालों को अलग दफनाया या जलाया जाता है। साँप के काटने तथा शेर द्वारा मारे जाने पर उसे भी अलग दफनाया जाता है। और उसके नाम पर गाँव के सीमा क्षेत्र पर एक पत्थर गाड़ दिया जाता है। गर्भवती महिलाओं के मरने पर भी अलग गाड़ा जाता है। दूध पीते बच्चों के मरने पर उन्हें किसी महुआ तथा वट पेड़ के नीचे गाड़ दिया जाता है। इस पर विश्वास है कि बच्चे को मरने के बाद भी दूध मिलता रहेगा। शव को उत्तर-दक्षिण लम्बा करके गाड़ा जाता हैं। शव यात्रा में समाज के स्त्री पुरुष सभी जाते हैं।

मुंडा परिवार में कन्या की स्थिति

एक मुण्डा परिवार में कन्या के जन्म से माता-पिता उदास और चिन्तित नहीं होते हैं, क्योंकि अपनी पुत्री के लिए इन्हें दहेज देना नहीं पड़ता है। आश्चर्य की बात यह है कि पुत्री को अपने ससुर से बैलों का जोड़ा मिलता है। जिस बाप की पाँच पुत्रियाँ हो, तो पाँचों बेटियों से प्राप्त बैलों से उसके पशुधन में वृद्धि हो जाती है। बेटी अपने माता-पिता, विशेषकर माता को घर के काम में बहुत मदद देती है। वह अपनी माँ को खाना बनाने, झाड़ू करने, पानी लाने, गोबर फेंकने, जानवरों की देखभाल करने, बरतन धोने आदि घरेलू कार्यो को करने में मदद देती है। यही कारण है कि अनपढ़ मुंडा परिवार में कन्या को स्कूल नहीं भेजा जाता था। धीरे-धीरे कन्या शिक्षा के बारे में माता-पिता उदार होने लगे और उसे प्राइमरी तक पढ़ा कर उसे फिर घर में रखकर घर का काम कराने लगे। और 14-15 साल होने पर उसकी शादी कर देते थे। उनकी धारणा यह थी कि बेटी शादी होकर अपने नये परिवार में चूल्हा ही फूकेगी, इसके लिए पढ़ाई की आवश्यकता नहीं है। बेटे जैसे बेटी को भी पढ़ाने की प्रवृति लड़की के माता-पिता की नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे कम पढ़े लिखे अथवा पढ़े-लिखे माता-पिता अपनी पुत्री को उच्च शिक्षा देने के पक्षधर होने लगे। गाँव की पाठशाला समाप्त करने पर पुत्री को भी उच्च शिक्षा के लिए शहर के बोडिंग स्कूल में डालने लगे। वर्तमान में ईसाई मिशनरियों के प्रयास स्वरूप उन्हीं के स्कूल कॉलेजों से पढ़कर अनेक मुंडा लड़कियाँ निकल गई हैं और नौकरी करके अपने पैरों पर खड़ी हो गई हैं।

पालन-पोषण करने में मुंडा माता-पिता बेटा और बेटी में कोई फर्क नहीं रखते हैं। उन्हें एक समान भोजन, वस्त्र और प्यार मिलता है। यद्यपि कन्या के जन्म के समय मुंडा परिवार दुखित नहीं होता हैं, तथापि हर मुंडा दम्पती को कम से कम एक बेटा पाने की तीव्र लालसा रहती है, क्योंकि बेटा हल चलाता और वंश बढ़ाता है। बुढ़ापे में माता-पिता का सहारा बनता है और मृत आत्माओं को शान्त कर सकता है। कन्या तो हल के जुआठ को छू भी नहीं सकती है।

कन्या स्वतंत्रता

मुंडा समाज में जवान बेटियों को बहुत स्वंतत्रता मिलती है। वे साप्ताहिक बाजार अथवा मेला सज-धज के जा सकती हैं। अखाड़े में सब के साथ नाच सकती हैं। कहीं कहीं लड़की के माता-पिता पर भी जुर्माना होता है, कारण कि उन्होंने अपनी बेटी पर नियन्त्रण नहीं रखा।

यदि अनिच्छा से किसी लड़की को किसी लड़के से गर्भ ठहर जाये तो वह उस लड़के को पति बनाने के लिए बाध्य कर सकती है। यदि इस पर भी लड़का उसे अस्वीकार करे तो बच्चे के जन्म के बाद, बच्चे को पीठ में बाँध कर और खाना बनाने वाली हाँडी सिर पर ढोकर लड़के के घर में घुस जाती है। लड़के के माता-पिता विरोध नहीं करते हैं, क्योंकि वे यह जानते हैं कि ''नही'' कहने पर लड़की पंचायत बुलाएगी और उन पर भारी जुर्माना होगा।

कभी-कभी लड़का-लड़की स्वयं एक दूसरे को एक साथ रहने के लिए बाध्य करते हैं इसे मुंडारी समाज में 'अपादेर' कहा जाता है। ये लुक छिप कर मंदिर में जाकर शादी करते हैं। बाद में नाम मात्र की विवाह की धर्मविधियाँ सम्पन्न होती हैं। दोनों तरफ के माता-पिता इष्ट कुटुम्ब को शादी के नाम पर खिलाते हैं।

विवाह की उम्र

अति प्राचीन काल में बाल विवाह याने रजोदर्शन के पहले ही विवाह होता था। शादी से पहले माँ, बेटी को सब काम सिखा देती थी। विवाह से पहले कन्या को चटाई बनाना और सूत कातना जानना पड़ता था। खाना बनाने का ज्ञान विवाह के लिए आवश्यक नहीं था, क्योंकि प्रत्येक मुंडा पुरुष और स्त्री साधारण खाना बना सकता था। धीरे-धीरे मुंडा समाज में परिवर्तन आने लगा और कन्याओं का विवाह 13 और 16 वर्ष के अन्दर होने लगा। इसी लिए 17 और 18 वर्ष तक कन्याओं का विवाह हो ही जाता है। यह परम्परा वर्तमान में भी है। परन्तु अत्यन्त पढ़ी लिखी और नौकरी पेशा मुंडारी कन्या 18 वर्ष के बाद भी शादी कर रही है। शादी के बाद वधू पहले जैसे अखाड़े में रोज रोज नहीं नाच सकती है, परन्तु पर्व त्योहार में सब के सामने नाच सकती है।

कन्या के साम्पत्तिक अधिकार

कन्या को अपने पिता की पैतृक सम्पत्ति में से कुछ भी नहीं मिलता है। शादी के अंत में "बाबा हरतुका" नामक वैवाहिक रस्म द्वारा यह बताया जाता है कि वह पैतृक सम्पत्ति से वंचित की जाती है। जिस प्रकार वह तीन बार अनाज को अपने सिर के ऊपर से होकर फेंकती है, उसी प्रकार यह समझा जाता है कि वह भी इस घर से सदा के लिए फेंक दी जाती है। वह पैतृक पूर्वजों को भी आखिरी बार प्रणाम करती है। अपने पिता के भंडार-घर में वह कभी भी प्रवेश नहीं कर सकती है। यह रस्म विवाह प्रसंग में विस्तार से वर्णित होगा। अभ्रातृका कन्या भी पिता से दाय-भाग नहीं माँग सकती है। कन्या का पिता दामाद को अपनी जीवितावस्था तक ही अपने घर में रख सकता है। इसे "घर दामाद" कहा जाता है। घर दामाद सास ससुर की जमीन जोत सकता है और बुढ़ापे में उनकी देखभाल करता है। सास-ससुर के मरने पर ससुर की सम्पत्ति पर उसका अधिकार नहीं रह जाता है। कन्या के चाचा अथवा चचेरे भाई जमीन पर कब्जा करते हैं।

धार्मिक अधिकार

कन्या, पिता के मृत पूर्वजों के लिए बलि नहीं चढ़ा सकती है इसलिए पुत्र के अभाव में मृतात्माओं की छाया भोजन एवं शरण के अभाव में इधर-उधर भटकती है। मृत पूर्वजों को सिर्फ घर के पुत्र ही बलि दे सकते हैं। कन्या सरहूल में सरना तो जा सकती है किन्तु पूजा स्थल में पैर नहीं रख सकती है।

कन्या -शुभ

अविवाहित कन्या मुंडारी समाज में शुभ मानी जाती है। कुछ वैवाहिक रस्में सिर्फ अविवाहित कन्या ही कर सकती है। विवाह की धर्मविधियों में यह विस्तार से लिखा जायेगा।

विवाह

विवाह के प्रकार

व्यक्तिगत पंसद

बाजार अथवा मेले में लड़के लड़की एक दूसरे को पसंद कर लेते हैं। माता-पिता भी अगर इस संबंध को स्वीकार करते हैं तो विवाह के लिए एक दिन ठहराया जाता है। लड़की के घर में लड़का माता-पिता और मित्रों के साथ आता है। लड़के के कनिष्ठ अँगुली से पहले वाली अँगुली को खून निकलने तक चीर दिया जाता है। तीन बूँद खून जमीन पर गिराया जाता है। उसी खून को युवती के माँग में लगाते हुए युवक कहता हैं-"मैं अपने खून से तुम्हें अपनी पत्नी बनाता हूँ। आज से मेरा खून, तुम्हारा खून है। इसके बाद युवती भी उसी प्रकार खून को युवक के मस्तक पर लगाती है और वही वाक्य दुहराती है।" वे पति-पत्नी की तरह रहने लगते हैं लड़की अपने माता-पिता के पास कुछ दिन रहती है। लड़का आकर लड़की को अपने घर ले आता है। इस प्रकार की शादी हो गयी, तिस पर भी यदि बाद में लड़का उसे पसंद न करे तो उसे छोड़ कर दूसरी शादी कर सकता है।

अपादेर

यह भी एक प्रकार का प्रेम विवाह ही है, परन्तु इस प्रकार के विवाह में माता-पिता की असहमति होती है। लड़की युवक के यहाँ घुस जाती है और पत्नी बनकर रहने लगती हैं। इसे "ढुकु" भी कहा जाता है। गुस्सा शान्त होने पर नाममात्र के लिए विवाह की रस्में होती हैं।

अपहरण

लड़का किसी लड़की को पसंद कर लेता है, किन्तु हो सकता है लड़की उसे पसंद नहीं करती हो। इस स्थिति में लड़का अपने दोस्तों के साथ तीर-धनुष लेकर, बाजार मेला आदि स्थान जहाँ पता चले कि लड़की गयी हो, जाता है और लड़की को भगा कर अपने घर ले आता है। वर्तमान समय तीर-धनुष की प्रथा नहीं है। कन्या के माता-पिता लड़की का पता जानकर वहाँ वर के माता-पिता के साथ संबंध जोड़ने के लिए आते हैं। वे बेटी का दाम माँगते हैं। पालतू मुर्गी, बतख, बकरी, सूअर और बैल कन्या के दाम के रूप में दिये जाते हैं। यदि लड़की को एक दम मन न हो तो वह भाग जाती है।

अरान्डी

माता-पिता की इच्छा के मुताबिक बेटा और बेटी की शादी हो तो यह अति उत्तम है। समाज में इस प्रकार के विवाह को पूर्ण मान्यता मिलती है। दो बिल्कुल भिन्न परिवार एक दूसरे के करीब आ जाते हैं। और एक परिवार बन जाते हैं। अगुवा द्वारा शादी का प्रस्ताव लड़का पक्ष से ही आता है। कन्या पक्ष वाले लड़के के चरित्र और विशेषकर यह देखते हैं कि खेत-बारी पर्याप्त है कि नहीं। यदि कन्या के माता-पिता संतुष्ट हो जाते हैं तो शादी की स्वीकृति दी जाती है। लेकिन इसमें भी युवक और युवती की इच्छा देखी जाती है। यदि युवक अथवा युवती की इच्छा न हो तो शादी नहीं होगी। इस प्रकार की शादी में दोनों पक्ष के माता-पिता और युवक-युवती को भी प्रस्ताव से संतुष्ट होना पड़ता है। वर-वधू एक दूसरे से संतुष्ट हैं अथवा नहीं इसे बार-बार विवाह की धर्मविधियों के समय पूछा जाता है। कोई एक पंच आखिरी बार, वर से कहता है-दुःख और सुख में तुम अपनी पत्नी के संग रहोगे? उत्तर मिलता है "हाँ", इसी प्रकार वधू से भी कहा जाता है— क्या तुम सुख और दुःख में पति के साथ रहोगी? उत्तर मिलता है "हाँ"। इस प्रकार साथ रहने के लिए दोनों परस्पर सहमति देते हैं। यदि बाद में लड़की, लड़के को छोड़ कर भाग जाये तो, पास पड़ोस के लोग कहने लगते हैं— "क्या तुमने साथ रहने की

कसम नहीं खाई थी, जो अपने पति को छोड़ दिया? परन्तु यदि वधू को ससुराल में सताया जाता हो, या पति नपुंसक हो तो वह पति का घर छोड़ सकती है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वधू प्रताड़ित होने पर, या पति के दुश्चरित्र होने पर भी ससुराल में ही रह जाती है, क्योंकि एक बार शादी होने के बाद दूसरी शादी होना मुश्किल होता है।

बड़ी दीदी के अविवाहित रहते छोटी बहन की शादी नहीं होती है।

विवाह पूर्व रीतियाँ

डा : अरगु (लोटा पानी) :

विवाह के पहले लोटा पानी लड़की के यहाँ होता है। लड़का पक्ष वाले पहले हँड़िया पीते हैं। इसके बाद ऊपर स्वर्ग की ओर, और नीचे पृथ्वी की ओर देखकर अगुवा कहता है : स्वर्ग में सिंगबोंगा और पृथ्वी पर पंचो! आज हम वर के लिए (नाम लेकर) एक नया संबंध बनाने जा रहे हैं। अपने बालों , चेहरे और सारे शरीर में तेल लगाकर वे प्रस्थान करते हैं। रास्ते में यदि कोई और खाली घड़ा सिर पर ढोयी दिखाई दे तो यह अपशकुन माना जाता है। परन्तु पूजा-पाठ द्वारा यह अपशकुन मिट जाता है। यदि रास्ते में बकरी मिमयाती हो और उसका बच्चा भी मिमयाये, दाहिनी ओर कौवा काँव-काँव करे कोई महिला पानी से भरा घड़ा ढोती दिखाई दे तो यह शगुन माना जाता है। लड़की के यहाँ पहुँचने पर घर वाले मेहमानों से पूछते हैं-क्या रास्ता आप लोगों का विध्न रहित था? लड़के पक्ष वाले कहते हैं—"हाँ, उतना खराब भी नहीं था, किन्तु और अधिक अच्छा हो सकता था।" मेहमानों को पीने के लिए पानी दिया जाता है। पास-पड़ोस के लोग जमा होने लगते हैं।

अगुवा सिंगबोंगा का नाम लेकर लड़की का अगुवा करने के लिए घर के भीतर जाता है, वधू सहेली के साथ लोटे में पानी लेकर निकलती है। लोटे का मुँह आम के पत्तों से ढका हुआ रहता है। दुलहन और दूल्हा बीच में एक दूसरे से तीन कदम के फासले पर खड़े होते हैं। दूल्हा भी अपने साथी के साथ खड़ा होता है। अगुवा दूल्हा और दुलहन दोनों को एक दूसरे को अच्छी तरह देखने के लिए कहता है कि कहीं एक दूसरे में कुछ अपंगता तो नहीं है। अगुवा दुलहन से पूछता है—"क्या तुम इस लड़के को पसंद करती हो? वह लजाते कहती हैं— मैं पसंद करती हूँ।" लड़के से भी यही प्रश्न पूछा जाता है। अगुवा, लड़के का नाम लेकर कहता है—"यदि तुम इस लड़की से प्रसन्न हो, तो लड़की के हाथ से लोटा पानी ग्रहण करो। दूल्हा और दुलहन कुछ शरमाने लगते है। अगुवा उन्हें मदद देते हुए दूल्हे से कहता है— यदि पंसद है तो एक कदम आगे बढ़ो। दुलहन से भी यही कहा जाता है। दूलहा और दुलहन एक दूसरे के आमने-सामने खड़े होते हैं, दूलहन लोटे को दूल्हे की ओर बढ़ाती है और दूल्हा उसे ग्रहण करता है। दूल्हे को लोटा लौटाने को कहा जाता है, दुलहन ले लेती है। इस प्रकार तीन बार लोटा दिया और लौटाया भी जाता है। दूल्हा और दुलहन के मित्र और सहेली भी यही करते हैं। अंत में अगुवा लोटे को जमीन पर रख देता है। इसके बाद एक पीढ़ा, तेल और पानी लेकर दुलहन की माँ आती है। वह दूल्हे का पैर धोकर, बाल में तेल लगाकर कंघी करती है। इस प्रकार दूल्हा पहली बार अपनी होने वाली सास को प्रणाम करता है। जितने मेहमान आये हों सब के पैर धोकर, बाल में तेल लगाकर कंघी करती है। यह दिखाने के लिए कि वे नये संबंधी बन गये।

हाँसदा क्षेत्र में लोटा पानी का आदान प्रदान नहीं होता है। दुलहन और उसकी सहेली को दो निकट संबंधी कंधे में ढोकर घर के बार लाते हैं। एक निकट संबंधी टॉर्च जलाते हुए और दूसरा लोटे में पानी और हँड़िया का घड़ा भार में ढोकर आता है। दुलहन अपने भावी ससुर की गोद में रखी जाती है। ससुर से कहा जाता है कि वह अच्छी तरह भावी वधू को देखे। यद्यपि ये विधियाँ दिन में सम्पन्न होती हैं, तथापि हँसुए में एक कपड़े को तेल में डुबाकर बाँध दिया जाता है और उसे जला दिया जाता है। इस जलते हुए हँसुए को दूल्हे के पिता के समीप लाया जाता है कि वह अच्छी तरह दुलहन को देखे। दुलहन को दोने में पानी, भावी ससुर को देना पड़ता है। ससुर पूछता है-''क्या तुम सिर्फ आज मुझे पानी दोगी,'' दुलहन जवाब देती है— ''मैं सब दिन आप को पानी दूँगी''। दुलहन की सहेली से भी यही प्रश्न पूछा जाता है। इसके बाद दुलहन और उसकी सहेली को ढोकर घर के भीतर पहुँचाया जाता है अथवा वे दोनों चलकर ही भीतर चली जाती हैं। लोटा पानी रस्म समाप्त होता है और इसके बाद वहाँ उपस्थित सभी के लिए हँड़िया और भोजन परोसा जाता है।

घर देखी

घर देखी रस्म दूल्हे के घर होता है। दोनों पक्ष के लोग दिन निश्चित करते हैं। निश्चित दिन में दुलहन का पिता अपने इष्ट कुटुम्बों (चाहे स्त्री या पुरुष) को अपने घर में जमा करता है। उन्हें एक घड़ा देता है। पहले दोने के हँड़िये को वह भंडार घर लेकर पूर्वजों के नाम से चढ़ाता है। वह प्रार्थना करता हे, कि पूर्वज उसे विवाह निपटने तक सभी प्रकार की बाधाओं से रक्षा करें इसके बाद बाकी बचे हुए हंड़िया को सभी पीते हैं और दूल्हे के गाँव की ओर प्रस्थान करते हैं। गाँव से कुछ दूर पर सब जमा होते हैं। नगाड़ा बजा कर नाचने लगते हैं। उनको आया जानकर दूल्हे पक्ष के लोग नाचते हुए उन्हें लाने जाते हैं। जब वे दूल्हे के घर के सामने पहुँच जाते हैं तो उनकी छड़ियाँ और हथियारों को दूल्हा पक्ष के लोग भीतर रख देते हैं। उनके पैर धोये जाते हैं और चटाई में बैठाये जाते हैं। इसके बाद थकावट दूर करने के लिए हँड़िया दिया जाता है। इसके बाद दुलहन पक्ष को दाल-भात परोसा जाता है और वे आराम करते हैं। मुंडारी विवाह एक प्रकार का इकरारनामा है इसलिए सौदा भी खूब होता है। दुलहन पक्ष के लोग कन्या की विशेषता बतलाकर ऊँचा दाम माँगते हैं दूल्हा पक्ष अपने को कम नहीं समझता है और दाम कम करने को कहता है। दाम बढ़ाना या घटाना मुँह से नहीं परन्तु संकेत और हँसी मजाक के साथ होता है।

दोनों पक्ष एक दूसरे के आमने सामने बैठते हैं। बैल का दावा करने के लिए कुछ पत्रों को मोड़ते हैं और बाँस की तिलियों से उन्हें गुथते हैं और कुछ कीचड़ दोने के ऊपर रखते हैं। कीचड़ से सने दोने का अर्थ रुपया पाना होता है। खुले पत्तों का अर्थ कपड़ा होता है। बहुत सारी ऐसी ही वस्तुएँ एकसाथ बड़े पत्तल में रखी जाती हैं, उन्हें पत्तों से ढँक कर अगुवे के द्वारा वर पक्ष को दिया जाता है।

इधर वर पक्ष के लोग पत्तल में रखी गयी वस्तुओं को देखने सुनने और जानने के लिए बहुत उत्सुक होते हैं। वे पत्तल खोल खोल कर पहली मद को देखते हैं ओर पहली बोली या डाक कहते हैं। और पत्तल को दुलहन पक्ष की ओर भेजते हैं। इस प्रकार पत्तल का आदान प्रदान होता है और अगुवे पर मजाक भी किये जाते हैं। आखिर लड़की का दाम दोनों पक्षों द्वारा निश्चित किया जाता है।

कन्या का दाम, स्थान-स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। किसी जगह 20 से 23 रुपए, तीन या चार बैल और 4 या 5 कपड़े होते हैं। हर कपड़े का अलग नाम होता है—

1. माँ के लिए कपड़ा, जो पुत्री से बिछुड़ने के गम को दूर करने के लिए होता है।
2. दादी माँ के लिए कभी-कभी दो नयी साड़ियाँ दी जाती है।
3. दुल्हन कपड़ा जिसे दुल्हन विवाह के दिन पहनती है।
4. सारा धोती-दुल्हन के छोटे भाई के लिए दिया जाता है।

कहीं कहीं 6 रुपये और 2 बैल कन्या का दाम होता है और उपरोक्त चार कपड़े। यदि दुल्हन विधवा हो, तो इसका आधा दाम दिया जाता है। मँगनी के दिन ही कन्या दाम दिया जाता है। पत्ते के दोने में पैसों को रखकर प्रत्येक उपस्थित व्यक्ति को दिखाया जाता है और दुल्हन के पिता को सौंप दिया जाता है। यदि बैल उसी दिन दिये जा रहे हों, तो गवाहों के सामने कन्या के बाप को दिया जाता है और स्वीकृति चिन्ह स्वरूप वह बैल की पीठ को थपथपाता है। इसके बाद दूल्हे को ढोकर घर से बाहर लाया जाता है और एक निकट संबंधी कन्या पक्ष वालों से कहता है कि दूल्हे को फिर एक बार अच्छी तरह देख लें, वह आपके योग्य है अथवा नहीं। कन्या पक्ष कहता है—"दूल्हा हमें सब तरह से पसंद है" और अपना आदमी की संज्ञा देता हे। कन्या पक्ष वाले दूल्हे को चाहे पगड़ी पहनाते अथवा गले में हार पहनाते हैं। इसी समय दूसरे दौर का हंड़िया दूल्हे को दिया जाता हैं, जिसे वह मेहमानों को दोने में देता है। दूल्हे पक्ष की महिलाएँ मेहमानों के बालों में तेल और कंघी लगाती हैं। शाम के समय भोज होता है। स्त्रियाँ भी पुरुषों के साथ ही खाने के लिए बैठती हैं। दोनो पक्षों के लोग आमने-सामने बैठते हैं भात के पत्तल और दोने की सब्जी तीन बार बदलते हैं। इस प्रकार तीन बार दूसरे के पत्तल के भोजन को खाते हैं। उनका कहना है ऐसा इस लिए किया गया कि अब से लेकर न केवल दूल्हा, दुल्हन एक हैं किन्तु दो परिवार भी एक हो गये हैं। दूसरे दिन मेहमानों को विदा किया जाता है। बकरी का एक पैर साथ में देने का रिवाज है।

शादी का दिन, तारीख निश्चित करने के लिए दूल्हे का बाप कुछ संबंधियों के साथ हल्दी से रंगे चावल को नये कपड़े में बाँधकर जाता है। कन्या के घर पहुँचने पर उन बंधे हुए चावलों को कन्या की माता एक बड़े पत्तल में ग्रहण कर पत्तल को जमीन में रख देती है। माता झुक कर पत्तल में रखे गये चावल को अंगुलियों से उठाती है और चूम कर पत्तल सहित घर के भीतर लेती है। इसके बाद मेहमानों का पैर धोने के लिए बाहर निकलती है। एक महिला गोबर से उस स्थान को लीपती है जहाँ दूल्हे के बाप द्वारा लायी गयी चावल की पोटली थी। इसके बाद उस पोटली को उसी स्थान में रख देते हैं। पोटली के बगल में दुल्हन आकर बैठती है। दुल्हन के चारों ओर चौकोन रेखाएँ खींची जाती हैं, भावी ससुर, वहाँ कुछ पैसे अथवा कसैली या सुपारी का छिलका रखता है। ये ही कसैली अथवा सुपारी के टुकड़े निमन्त्रण-पत्र के बदले प्रयुक्त होते हैं। पोटली को खोल कर रखे गए पत्तल में ही उँडेला जाता है। दूल्हे के बाप को पोटली का कपड़ा लौटा दिया जाता है।

प्रतीकात्मक विवाह

विवाह की रस्मों को सम्पन्न करने के लिए दोनों परिवारों में मड़वा गाड़ा जाता है। "उली

अरांडी'' विवाह का एक रस्म है, जिसमें दुल्हन के घर की ओर जुलूस जाता है। एक फावड़े में आग ढोयी जाती है। एक विवाहित महिला पीतल की थाली लाती है, उसमें पानी से भरा लोटा रखा जाता है। लोटे का मुँह आम की पत्तियों से ढका रहता है। पीतल के बरतन में दातून, दोने में गोबर, सरसों के दाने, गूथा हुआ आटा, चाशनी और सिंदूर रहता है।

अपने गाँव की सीमा के अन्दर ही सभी एक आम के पेड़ के नीचे रूक जाते हैं। वर की संबंधी महिला वर को ढोकर तीन बार गाछ के चारों ओर घूमाती है। दूल्हा कपास के धागों को गाछ में लपेटता है। एक सुहागिन महिला दूल्हे के पीछे पीछे जाती है और पानी धागे पर छींटती है। दूल्हे को गोद से उतारा जाता है। इसके बाद दूल्हे की माँ आती हैं। वृक्ष को सामने करके माता अपने पुत्र को बैठाती है, वह वृक्ष के धड़ से सीधा सिंदूर की रेखा खींचता है।

इसके बाद दातून करने की विधि होती है। पहले पुत्र, इसके बाद माता उसी दातून का प्रयोग करती है। दोनों एक ही दातून को फाड़कर जीभ साफ करते हैं, और पानी से कुला करते हैं।

मुँह धोने के बाद वे प्रतीकात्मक भोजन करते हैं। आम पत्ती के दोनों भाग गुड़ की चाशनी में डुबाये जाते है, और दूल्हे के लिए जाते हैं। वह पते को चूसता है और अपनी माँ को देता है, वह भी पते को चूसती है। पते के डंठल को गूंथे हुए आटे में डुबाया जाता है। माँ और बेटा डंठल को भी पारी-पारी चूसते हैं। माता बेटा से पूछती है -''पुत्र! तुम कहाँ जा रहे हो?''पुत्र जवाब देता है-''माँ! मैं किसी को ढूँढने जा रहा हूँ जो तुम्हें देख भाल करेगी।'' इस तरह यह स्पष्ट होता है कि बुढ़ापे में पुत्र ही माता की देखभाल करेगा।

बारात का प्रस्थान

अविवाहित कन्याएँ सिर पर कलसे को ढोती हुई दुल्हन के घर की ओर प्रस्थान करती हैं। उनके साथ ही और स्त्री पुरुष बाल बच्चों के साथ दूल्हा भी आता है। अगुवा के द्वारा वधू पक्ष के लोग खबर भेजते हैं कि उन्हें कहाँ रूकना है। एक पुरुष हाथ में हँसुआ पकड़ता है। हँसुवे के अगले हिस्से को कपड़े से लपेटकर तेल में डुबा दिया जाता है और उसे जलादिया जाता है। खूब बाजे बजाये जाते हैं और बाराती पार्टी खूब नाचने लगती है। लड़का-लड़की एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचते हैं। दुल्हन पक्ष के लोग भी नाचते गाते उनका स्वागत करने निकलते हैं। वर पक्ष नाचते आता है, हँसिये के अगले भाग से आग जलती रहती है। कन्या पक्ष भी नाचते वर पक्ष के पास पहुँचता है। यह दृश्य अत्यन्त रोमांचकारी होता है। हँसी मजाक का दौर नाचते गाते होता है। एक दूसरे को नाचते थका भी दिया जाता है। वर और वधू की माताएँ एक दूसरे पर आम पत्तों से पानी छिड़कती हैं और पैर छूकर प्रणाम करती हैं और तीन बार एक दूसरे को चुम्बन देती हैं। आखिर में एक वधू की निकट संबंधी कोई महिला वर को कंधे में ढोकर घर पहुँचाती है। दुलहन की बड़ी बहनें आम के पत्तों से पानी छिड़कती हैं ओर हल्दी का लेप वर को लगाती हैं। वर भी उनका यही करता हैं। अंत में वहाँ जो भी उपस्थित रहते हैं उन पर ऐसे ही जल का छिड़काव होता है और हल्दी का लेप होता है।

पहले दुलहन की माता और उसके बाद दूसरी कुटुम्बी स्त्रियाँ एक के बाद एक वर के पास आती हैं। वे तीन गोबर का और तीन गूँथे हुए आटे का बॉल अपने बायें हाथ में लेकर एक बॉल दाहिने,

एक बायें और एक पीछे फेंकती हैं। तीन सरसों के दाने लेकर वर के पेट छाती और सिर से छुला कर उन दानों को हंसुवे की आग में झोंक दिया जाता है। यह दिखाने के लिए कि वर पर शैतान का प्रभाव न रहे। वे ही स्त्रियाँ, जिन्होंने बुरी नजर को नष्ट किया था सूप लेकर दूल्हे को धमकाती हैं— ''यदि तुम लोभी और चोर बनोगे तो तुम्हें बेहोश होने तक पीटा जायेगा। जहाँ सूप जमीन में पड़ी रहती है वहाँ वे ही स्त्रियाँ जल छिड़कती हैं, यह दिखाने के लिए कि पुरुष, स्त्री पर मनमाना व्यवहार नहीं कर सकता है। जरूरत पड़ने पर दुलहन अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए मैके की शरण ले सकती है।

जब वह मंड़वा में लाया जाता है तो निकट संबंधी दुलहन को ढोकर घर से बाहर निकालते हैं और वर की बाई ओर बैठाते हैं। इसके बाद हल्दी लगाने की विधि आरंभ होती है। इसे मुंडारी भाषा में 'संसंग गोसो'' कहा जाता है। दुलहन के परिवार की अविवाहित कन्या वर के शरीर पर हल्दी लगाती है, इसी प्रकार वर के परिवार की एक अविवाहित कन्या वधू को हल्दी लगाती है। ऐसी कन्याएँ दिन भर उपवास करती हे। इन कन्याओं को मदद देने के लिए दोनों पक्षों की महिलाएँ आती हैं। इसके बाद वे ही दो कन्याएँ पानी से वर और वधू के शरीर पर लगे हल्दी को पानी से धोती हैं।

इसके बाद वे ही दो कन्याएँ जिन्होंने हल्दी मलने की धर्म विधि सम्पन्न की थी, पहले वर और वधू के पैरों को धोती हैं। तत पश्चात् हंड़िया पानी दोनों अँगुलियों में लेकर तीन-तीन वार वर वधू के माथे, कंधों और पैरों पर लगाती हैं।

वधू के परिवार की दो अविवाहित कन्याएँ जो अभी तक उपवास में रहती हैं झरने तक पानी लाने जाती हैं। एक घड़ा वर के गाँव से और एक दुलहन के गाँव से आता है। वर पक्ष के लोग अड़ैसा (चावल की बनी मिठाई) लाते हैं, इन मिठाईयों सहित, शुद्ध कपास का सूत और हल्दी भी लाते हैं। इन्हें कोई भी महिला छोटी टोकरी में रखकर सिर पर ढोती है। एक महिला तीर और धनुष हाथ में पकड़ती है। इस के बाद ग्यारह वर्ष का दुलहन का भाई अथवा चचेरा भाई हाथ में तलवार लेकर सभी झरने तक जाते हैं। वर के सभी संबंधी भी साथ में जाते हैं। जैसे ही वे सभी झरने के समीप पहुँचते हैं घड़ों को पानी से भरा जाता है। हाथ में तलवार लेकर 10-11 वर्ष का दुलहन का भाई घड़े को पीठ करके खड़ा होता है और अपने सिर के ऊपर दोनों हाथों से तलवार लेकर खड़ा होता है। तीर धनुष पकड़ी हुई महिला उसे प्रत्येक घड़े के पानी को तीन-बार काटने का आदेश देती है। वह स्वयं भी तीर से पानी को काट सकती है।

पानी काटने का मतलब है दामपत्य जीवन में विश्वासघाती को कठोर सजा मिलेगी, जिसकी भी गलती होगी। विवाहोत्सव में किसी की बुरी नजर न लगे, इसे दूर करने के लिए दुल्हन की माँ घड़े के पेंदे में मिट्टी का लेप लगाती है और एक घड़े को दाएँ और एक को बाएँ रखती है। वर के गाँव में उसकी माँ यह सब धर्म विधि करती है। पतले कपड़े से ढँक कर पानी से भरे घड़ों को वे ही अविवाहित कन्याएँ दुलहन के घर के आँगन में रख देती हैं। वर और वधू को इसी जल से मुँह धुलाया जाता है। इसके बाद दोनों एक दूसरे की पीठ को जल से धोते हैं। अपने बालों को धोकर कंघी करते हैं। भींगे कपड़ों को हटाकर हल्दी से रंगा हुआ विवाह वस्त्र पहनते हैं।

सिन्दूरी टीका

इसके बाद वर और वधू सिन्दूरी टीका के लिए मंडप में जाते हैं। मंडप के चबूतरे पर दोनों चढ़ते हैं। वधू पूर्व की ओर मुँह करती है। वर उसके सामने खड़ा होता है। वह अपने पक्ष की अँगूठी को अँगूठी के उपर रखता है, अपनी कनिष्ठ अंगुली को दोने में रखे सिन्दूर में रख कर वधू के मांग में सिन्दूर भरता है। इसी समय लड़की का भाई तलवार लेकर उसे सावधान करता हुआ कहता है—''तुम मेरी बहन की इज्जत ले रहे हो, यदि तुम इसे छोड़ दोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा।'' वर और वधू अपनी दिशा बदलते हैं। याने वधू पश्चिम की ओर मुँह करती है और वर उसके सामने खड़ा होता है। दुलहन अपने पैर की अँगूठी वर की अँगूठी के ऊपर रखती है और उसके साथ माथे में सिन्दूर लगाती है। वर के घर वधू को वर के भाइयों द्वारा धमकी नहीं मिलती है।

आर्शीवाद

दूल्हा चबूतरे पर खड़ा रहता है। दुलहन को तीन बार चबूतरे के चारों ओर घुमाया जाता है। वह दूल्हे पर मुट्ठी भर लावा फेंकती है। उसकी बड़ी एवं चचेरी बहनें भी दूल्हे पर लावा फेंक कर आर्शीवाद देती हैं। इसके बाद वर और वधू के आँचल बाँध दिये जाते हैं, चाहे एक दूसरे का हाथ पकड़ कर वे वैवाहिक चटाई पर बैठते हैं। उसके चारों ओर दोनों पक्षों की महिलाएँ बैठकर हँड़िया पीते-पीते गाती हैं। कभी-कभी आँगन में निकल कर नाचना शुरू करती हैं।

समधी भेंट

वर-वधू के पिता कुछ बुर्जुगों के साथ बैठते है और छाती सटा कर एक दूसरे को आलिंगन करते हैं। वर-वधू की माताएँ कुछ दूर बैठकर हंड़िया पीती हैं। यह धर्मानुष्ठान केवल वधू के घर में होता है। दोनों गाँव से एक-एक आदमी एक दूसरे को अपने कंधे में उठाकर नाचता है।

दोनों गाँवों की एक-एक महिलाएँ भी ऐसा ही करके नाचने का प्रयत्न करती हैं। इसके बाद वर, वधू की दाहिनी ओर बैठता है। दूल्हे की ओर एक मित्र और दुलहन की ओर एक सहेली भी बैठती है। दो लड़कियाँ माँ की दी हुई साड़ी से चारों जन को ढाँपती हैं।

चुमावन

दुलहन की माता काँसे की थाली में जलती हुई दीया, हल्दी से सना चावल रखती है। थाली को दुलहन के पैर, उसके बाद घुटनों, में रख कर सिर के ऊपर लेती है। इसके बाद दुलहन के दाहिने कंधे से छुवाकर फिर सिर के ऊपर लेती है। इसके बाद दुलहन के बायें कंधे को बरतन से छूती हुई थाली को नीचे रख देती है। फिर एक चुटकी हल्दी चावल से पहले दुलहन के पैर और घुटनों को छूती हुई उन चावलों को दुलहन के सिर पर फेंकती है। ये दाने उस कपड़े पर गिरते हैं जिसे दो अविवाहित कन्याएँ वर-वधू और उनके एक मित्र और सहेली के सिर के ऊपर ताने रहती हैं। कपड़े पर गिरे हुए हल्दी चावलों को समेट कर फिर से थाली में रखा जाता है। यह वैवाहिक विधि तीन बार की जाती है।

इसके बाद दुलहन की माता जलते दीया को पकड़ती है, उसे दुलहन के बालों के पास लेती है और अपनी ही अँगुलियों को चूमती हैं। दुलहन की माता वर की तरफ मुड़कर उपरोक्त वैवाहिक विधि को तीन बार वर के लिए भी करती है। अंत में कुछ पैसे थाली में रखती है। तत्पश्चात दुलहन

पक्ष की भी कुछ महिलाएँ आकर वर और वधू के लिए माता द्वारा सम्पन्न की गई वैवाहिक विधि को दुहराती हैं।

वर और वधू कपड़े में बँधे रहते हैं। मंडप से उठकर इसी प्रकार बँधे हुए घर के भीतर पति और पत्नी के रूप में प्रवेश करते हैं। इसके बाद दोनों बाहर निकलते हैं। दुलहन अपने संबंधियों का परिचय दूल्हे को देती है। दूल्हा परिचय प्राप्त नाते-रिश्ते के अनुसार ही उन्हें प्रणाम करता है। दूलहन की बड़ी बहनें और चचेरी बहनें एक-एक करके दूल्हे के पास आती हैं, और प्रत्येक जन दूल्हें को एक दोना हँड़िया देती है। जिसे वह पीता है अथवा समीप में रखे घड़े में उँड़ेलता है। प्रत्येक बहन अपना नाम बताती है और भविष्य में कभी भी नाम नहीं लेने का आदेश देती हुई उसका कान ऐंठती हैं। दूल्हा भी अपना नाम बता कर भविष्य में कभी नाम नहीं लेने का आदेश देते हुए उनके कान ऐंठता है।

विदाई

यह मुंडारी भाषा में ''बाबा हरतुका' कहा जाता है। शादी के प्रीति भोज समाप्त होने पर, महिलाओं के भोजन कर लेने के बाद (चाहे पुरुषों के आगे या एक साथ अथवा उनके पीछे) और जब विदाई हंड़िया को मेहमान पी चुके हों, दुलहन घर घुसती है जिससे विदाई के लिए उसे बाहर लाया जा सके।

वह बरामदे में एक संबंधी के घुटनों पर बैठती है। यही संबंधी उसे ढोकर घर से बाहर निकालता है। यदि माता-पिता जीवित हों तो साधारणत: वह उनकी गोद में बैठती है, यदि नहीं तो चाचा या चाची की गोद में बैठती हैं। कहीं कहीं दूल्हा भी अन्दर जाकर उनमें से किसी की गोद में बैठता है। दुलहन की पीठ भण्डार घर की ओर होती है और आँगन की ओर मुँह करती है। एक महिला संबंधी दुलहन को एक ओसाने वाला सूप देती है, जिसमें धान या बीज रहते हैं। इस ओसाने वाले सूप पर रखे गये धान के बीजों को दोनों हथेलियों को जोड़कर उलीचती है और उन बीजों को तीन बार अपने सिर के ऊपर फेंकती है। ये फेंके हुए बीज चाहे अपनी माँ अथवा परिवार की निकट संबंधी महिला के अपने फैलाये गये आँचल में गिरते हैं। इस वैवाहिक विधि का अर्थ है-'मैं आपकी पुत्री, जो इस परिवार के लिए बीज समान थी, आज मैं इस घर से दूर जा रही हूँ। घर छोड़ने से पहले मैं चाहती हूँ कि घर की सम्पत्ति और समृद्धि मेरे साथ ही बाहर न चली जाये। दुलहन अपने पिता के पूर्वजों से विदा लेती है। इस वैवाहिक विधि के बाद वह पिता के भंडार-घर में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकती है। दुलहन को बताया जाता है कि अब से लेकर वह इस परिवार की सदस्या नहीं रह गयी।

इस विधि के सम्पन्न होने के बाद कोई बूढ़ा संबंधी दुलहन को कंधे पर ढोकर वर पक्ष को''जिम्मा'' अर्थात् सौंपता है। दूल्हा और दुलहन (बड़े आदर के साथ अपने से बड़े भाई-बहनों को और छोटों को बड़े प्यार से प्रणाम करते हैं। अंत में दुलहन के पिता उसके हाथ को दूल्हे के हाथ में रखते हैं, दूल्हा, दुलहन का हाथ पकड़ लेता है।

विवाह की सारी रस्में पूरी होने के बाद दुलहन के घर में ही विदाई का हँड़िया पीते हैं। दुलहन के बड़े भाई और बहन एक-एक दोना हँड़िया दूल्हे के लिए देते हैं। हँड़िया देते समय वे अपना नाम बताते हैं और हिदायत देते हैं कि भविष्य में वह कदापि उन का नाम न ले। उसी समय वे दूल्हे की

पीठ पर थप्पड़ मारते है। इसके बाद दूल्हा भी यही रस्म दुलहन की बड़ी बहनों और भाईयों के साथ करता है।

दूसरे दिन दूल्हे के घर में दुलहन अपने जेठ और चचेरे जेठों को थप्पड़ मारती है, बदले में वे भी दुलहन को थप्पड़ मारते हैं। इस रस्म की समाप्ति पर वर्जित व्यक्ति के नाम लेने अथवा स्पर्श करने पर दोषी व्यक्ति गाँव वालों को हँड़िया देता है और इस प्रकार सिंगबोंगा की सजा से बच जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महिलाएँ, पुरुषों के समान ही वैवाहिक विधियों में भाग लेती हैं। वे पुरुषों के संग नाचती और गाती हैं। शादी की रस्में सम्पन्न होते समय एक बार स्त्रियाँ गाना गाती हैं, उनके स्वर अन्त होने पर, पुरुष वर्ग उसी गाना को दुहराते हैं। अगर पुरुषों ने आरंभ में गाया हो, तो स्त्रियाँ उनके गाने को दुहराती है।

गति बगे

दूल्हे द्वारा दुलहन का जिम्मा लेने के बाद, दूल्हा अपने घर प्रस्थान करता है। दूल्हे पक्ष की एक महिला उसे कंधे में ले जाने के लिए ढोती है। दुलहन की 3-4 सखियाँ आँगन से उसे पार होने नहीं देती हैं, जब तक वह उनकों सान्त्वना स्वरूप कुछ पैसे नही देता है। यह पैसा साधरणत: 2 आना होता है जो सखी के बिछुड़ने के गम भूलने के लिए दिया जाता है।

गरसी बोंगा

जब दुलहन, दूल्हे के घर ली जाती है, बोंगा (प्रेतात्मा) उसे उसके लाल आँचल से पहचान लेता है। यह बोंगा उसके साथ ही उसके नये घर तक जाता है। यदि दुलहन माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध पिता के घर से कुछ चीज लायी हो तो पहली बार प्रसव के समय उसे बहुत तकलीफ देगा। इसीलिए जैसे ही दुलहन गर्भवती होती है वह इसकी सूचना अपने पति को देती है। सूचना पाकर वह तुरंत अपने ससुर अथवा जेठ साले को बुला लाता है, जो गरसी बोंगा को प्रायश्चित्त का बलि चढ़ाता है।

विवाहिक जीवन में निषेध–

1. जेठ अपने भाई की पत्नी को नहीं छू सकता।
2. वह उसके हाथ में पैसे नहीं देता था क्योंकि बहू के स्पर्श होने का डर था। इसलिए वह पैसों को जमीन में रख देता था, उसे छोटी बहू उठा लेती थी। यह प्रथा अभी प्रचलित नहीं है।
3. जिस प्रकार जेठ, छोटे भाई की पत्नी का स्पर्श नहीं कर सकता था, उसी प्रकार अपनी पत्नी की बड़ी बहनें भी छोटी बहन के पति का स्पर्श किसी तरह भी नहीं कर सकती थीं।
4. इस प्रकार जिनके साथ स्पर्श मना था वे कभी भी न तो एक साथ सो सकते थे, न चटाई पर बैठ अथवा खड़ा हो सकते थे, जिस चटाई का प्रयोग किसी प्रतिबन्धित व्यक्ति द्वारा बैठने अथवा सोने के लिए प्रयुक्त हुआ हो।
5. बहू की अपनी चटाई होती है, जिसे वह बहुत पवित्र मानती है। अपने पति, सास-ससुर और घर के छोटे बच्चे की चटाई का प्रयोग कर सकते हैं। यह प्रथा अभी भी किसी मुंडा परिवार
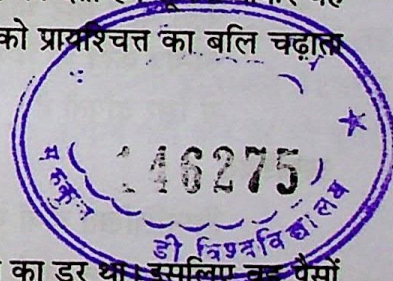
में प्रचलित है। निषिद्ध व्यक्ति को कपड़े छूने की भी मनाही होती है, जैसे कोई जेठ अपने भाई की पत्नी के कपड़े को नहीं छू सकता है, यदि साड़ी जमीन में गिरी हो तब भी नहीं उठा सकता है।

6. जिन व्यक्तियों का आपस में स्पर्श वर्जित है, ऐसे व्यक्ति एक दूसरे के सामने अपने बालों को न तो उलट-पुलट कर सकते हैं न तो बालों मे कंघी कर सकते हैं। एक दूसरी की कंघी का प्रयोग नहीं कर सकते हैं। किन्तु जेठ की बहनें छोटी बहुओं की कंघियों को छू सकती थीं।
7. देवर अपनी पत्नी के बड़े भाईयों की चटाई पर नहीं सो सकता है। इसी तरह कमर के कपड़ों को एक दूसरे के सामने ठीक नहीं कर सकते हैं।
8. जिनका स्पर्श आपस में मना है वे एक दूसरे की उपस्थिति में कमर के कपड़ों को ठीक करते पहन नहीं सकते हैं।
9. ऐसे प्रतिबन्धित व्यक्ति एक दूसरे के गिलास से न तो पानी पी सकते हैं और न एक ही बरतन से खाना खा सकते हैं।
10. ऐसे वर्जित व्यक्ति एक दूसरे के लिए कामोत्तेजक, अश्लील, संदिग्ध अथवा अनेकार्थक मजाक नहीं कर सकते हैं। उपनाम देकर चिढ़ा नहीं सकते हैं।
11. छोटे भाई की पत्नियाँ अपने जेठ का नाम नहीं ले सकती हैं इसी प्रकार पति अपनी पत्नी की बड़ी बहनों का नाम नहीं ले सकता है। पति और पत्नी एक दूसरे का नाम नहीं ले सकती हैं। एक दूसरे को सम्बोधित करने के लिए अपने ज्येष्ठ बेटा या बेटी की 'माँ' अथवा ''आबा'' कह कर सम्बोधित कर सकते हैं। कभी कभी पत्नी के गाँव का नाम लेकर उसे पुकारा जाता है।
12. कहीं कहीं छोटे भाई की पत्नियाँ जेठ के सामने जाने पर सिर पर आँचल रखती हैं। नहीं तो अन्यत्र कहीं भी स्त्रियों को सिर ढॉपने की चर्चा नहीं है। केवल ईसाई महिलाएँ प्रार्थना स्थलों में सिर ढाँपती हैं।

प्रायश्चित्त

निम्नलिखित दोषों का प्रायश्चित्त अपराध करने के तुरंत बाद करना चाहियेः—

1. यदि पत्नी ने अपने जेठ अथवा चचेरे जेठ का स्पर्श किसी प्रकार कर लिया हो।
2. यदि पति ने पत्नी की बड़ी बहनों का, यहाँ तक कि चचेरी बड़ी बहनों को छू दिया हो।
3. पति ने अपने जेठ सासुओं की चटाई, स्टूल, खाट का प्रयोग कर लिया हो। इसी प्रकार पत्नी भी अपने जेठों की चटाई, स्टूल और खाट का प्रयोग किया हो। एक ही खूटें में यदि जेठ और भाई की पत्नी के बिना प्रयोग वाले कपड़े टंगे हो और ऐसे कपड़ों को जेठ अथवा भाई की पत्नी ने छू दिया हो।
4. अपने जेठ और चचेरे बड़े भाइयों के सामने भी यदि पत्नी ने अपने बाल खोले हो, कंघी करने के मतलब से।
5. अगर पति और पत्नी ने एक दूसरे का नाम लिया हो।

उपरोक्त दोषों के करने पर एक छोटी गाँव सभा बैठती है और दोषीदार को एक हंड़िया का घड़ा देने को कहती है, जिसे सभी गाँव वाले पीते हैं।

यदि विवाहिता पत्नी को पति अथवा सास से दुःख मिलता है तो वह अपने माता-पिता के घर आती है। झगड़ा करने वाले पति अथवा सास, उसे लाने के लिए वधू के नैहर में आते हैं। यदि वह जाने से इन्कार करे तो पति के गाँव वाले पंचायत के लिए आते हैं दोनों पक्ष के दोष खुल कर बहस किये जाते हैं। दोनों गाँव वाले मामले को सलटाने का प्रयन करते हैं, इसे बाद पति, अपनी पत्नी को वापस ले जाता है।

तलाक

मुंडाओं का विश्वास कि पति-पत्नी की जोड़ी तो स्वर्ग में निश्चत होती है, इस लिए एक-दूसरे के प्रति इन्हें ईमानदार रहना चाहिए न केवल पति-पत्नी के बीच परन्तु पति के परिवार के साथ भी ईमानदार रहना चाहिए। परन्तु पति-पत्नी के बीच या पति के परिवार वाले के साथ किसी कारण से असामंजस्य हो, तो पत्नी अपने वैयक्तिक सामान को लेकर माँ-बाप के घर आ जाती है। पति के गिड़गिड़ाने पर भी वज्र बनी रहती है। पंचायत, पति को अधिकार देती है कि वधू-मूल्य के सभी जानवर वापस ले लें। लेन-देन के छूटने पर वे दोनों एक दूसरे से मुक्त हो जाते हैं, और दूसरी शादी कर सकते हैं।

मुंडा समाज में भी एक पुरुष की दो पत्नियाँ हो सकती हैं। यदि पहली पत्नी से कोई पुत्र या सन्तान न हो और उसकी पत्नी स्वयं दूसरी और लाने के लिए आग्रह करे। जब पहली बार, दूसरी पत्नी, पति के घर आती है, तब दरवाजा बन्द पाती है। वह गिड़गिड़ाकर दरवाजा खोलने का आग्रह पहली पत्नी से करती है। जब विवाहिता पत्नी आगन्तुक के जवाबों से संतुष्ट हो जाती है, तब ही वह दरवाजा खोलती है। अपने ज्येष्ठ के अधिकारों के प्रति पूर्ण आश्वस्त होने पर ही अपने पति को दूसरी स्त्री लाने की अनुमति देती है। कभी-कभी तो दोनों सौतें बड़े प्यार से रहती हैं, परन्तु कभी-कभी दोनों में कलह भी होता है यदि पत्नी चाहे तब ही दूसरी पत्नी के बच्चे पैतृक सम्पत्ति का हकदार हो सकते हैं। परन्तु आजकल मुंडा समाज शिक्षित हो रहा है, इसलिए पहली पत्नी से पुत्र उत्पन्न नहीं होने पर भी दूसरी पत्नी नहीं लाता है।

परिवार में पत्नी का स्थान

ससुराल में पति की सम्पत्ति पर उसका हक होता है। मुंडा समाज में आदि काल से स्त्री और पुरुष को बराबर माना गया है। समान इस अर्थ में कि स्त्री भी पुरुष के साथ ही गृहस्थी के कार्यों को करती है। कुछ कृषि कार्य जैसे घास निकालना, रोपा रोपना ये पूर्णतः स्त्रियों के जिम्मे होता है। जंगल से लकड़ी लाना खेतों में खाद डालना, कटनी, बालियों को ढोकर खलिहान तक पहुँचाना, खलिहान में दौनी करना, धान ओसाना, घर में ढो कर लाना आदि काम पति के साथ करती है।

पति के साथ विवाहोत्सव में भाग लेती है। बाजार भी अकेली या पति के साथ जाती है, परन्तु पत्नी ही आय-व्यय का हिसाब रखती है। हफ्ते भर के लिए नमक-तेल खरीद कर लाती है। पर्व त्योहारों में परिवार के सदस्यों के लिए कपड़े पति के साथ या अकेले भी खरीदती है। परिवार में उसी का हुक्म चलता है, इस लिए अगर वह अच्छे स्वभाव की है तो बूढ़े सास ससुर की अच्छी देखरेख होती है। यदि

वह दुष्ट स्वभाव की है तो बूढ़े सास-ससुर बहुत तकलीफ में रहते हैं। कभी-कभी उन वृद्धों का हिस्सा बटवारा भी करा देती है, पति कुछ नहीं बोल पाता है। मर्द तो पीने-खाने वाले होते हैं, प्रायः पत्नियाँ नहीं पीती हैं, अपने परिवार को ऋण में डूबने से बचाती हैं। गरीब परिवारों की औरतें दूसरे के खेतों में मजदूरी करके अपनें बाल-बच्चों को पालती हैं।

परिवार में पिता का स्थान

पिता को परिवार के धार्मिक कर्तव्य भी करने पड़ते हैं— आदिवासियों का विश्वास है कि मरने पर भी सदस्य परिवार से अलग नहीं होते हैं मृतात्माएँ भंडार घर में रहती हैं, और थोड़ी पूजा चाहती हैं। इसलिए

1. बाः परब या सरहूल में परिवार का मुख्य मृतात्माओं की पूजा करता है। परन्तु आजकल गाँव का पाहन यह पूजा करता है।
2. फागु शिकार में सफल शिकार के लिए पूजा करता है।
3. धान बोने से पहले 'हिरसिगिरी' पूजा करता है।
4. नई फसल को परिवार के मृतात्माओं के साथ खाता है।

इन्हीं उपरोक्त कारणों से मुंडा आदिवासी बच्चे अपने पिता का आदर करते हैं। पिता के सामने या उसके संग मजाक नहीं करते हैं। पिता की अनुपस्थिति में ही नाती-पोते, अपने आजा-आजी (दादा-दादी) से मजाक कर सकते है।

धर्म

मुंडा लोगों का विश्वास है कि दुःख, बीमारी, अकाल आदि विभिन्न देवताओं के अधिकार में है। इसलिए ये लोग अपनी प्रार्थनाओं के द्वारा उन्हे प्रसन्न करने की अधिकाधिक चेष्टा करते हैं मुंडा लोग विभिन्न देवताओं के अतिरिक्त एक परमेश्वर "सिंगबोंगा"पर विश्वास करते है। बड़ी-बड़ी दुर्घटनाओं और विपरत्तियों के समय वे सिंगबोंग के लिए एक उजले रंग के पक्षी का बलिदान करते हैं।

दूसरे वर्ग में गाँव के विभिन्न देवता हैं— जिसमें दिसौली देवता (Desawli Bonga), जाहर बोंगा (Jahar Bonga) और चान्दी बोंगा (Chandi Bonga) मुख्य हैं। ये देवता खेती बारी के कार्यों, शिकार की खोज और जीवन की अन्य समस्याओं में उनकी सहायता करते हैं। पहान गाँव का पुजारी होता हैं और वहीं इन देवताओं की पूजा करता है।

तीसरे वर्ग में घरेलू देवता होते हैं, जिनमें अनेक पूर्वजों की आत्माएँ सम्मलित हैं। मुंडा लोग इन्हें "ओड़ा बोंगाको" कहते है। घर का मुख्य उनकी पूजा करता है। घर के सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों में उनकी पूजा करता है। इनमें पितृपूजा होती है। प्रत्येक परिवार का मुख्य खाने से पहले अनाज के कुछ दाने भूमि पर पूर्वजों के लिए रखता है।

मुंडाओं के घर में एक भंडार घर होता है। इसे कमरे में अनाज, बरतन और बहुमूल्य चीजें रखी जाती हैं। वहाँ कोई बाहरी व्यक्ति नहीं जा सकता, कयोंकि वहाँ परिवार की मृतआत्माएँ निवास करती है 'बा: परोब' में घर का मुखिया इनकी पूजा करता हे। मुंडाओं का विश्वास है कि जीवितों और मृतकों में कुछ संबंध है। इसलिए तमाकू खाने वाले पूर्वजों के लिए दरवाजे या भंडार घर के द्वार के पास तमाकू रख देता है। 'सरना' इनका पवित्र स्थान होता है। यहीं गाँव का पहान पूजा करता है।

मुंडा जनजाति भूत-प्रेत से बहुत डरती है। बुरी नजर और विषाक्त प्रशंसा कुछ वैसे ही हैं- जिनसे बाल-बच्चे और जानवर बीमार पड़ते है।

बुरी नजर को जानने से पहले रोअ: को जानना जरूरी है। मुंडाओं का विश्वास है कि उसका शरीर और ''जीव'' ये ही दो इस भौतिक शरीर के अंग हैं। इसका रोअ: ही मृत्यु के बाद भी रहता है। रोअ: मनुषों की इन्द्रियों के समझ से परे है, मनुष्य की इच्छा पर निर्भर नहीं है। यह अधिक मात्रा में अथवा कम मात्रा का हो सकता है। रोअ: मनुष्य की भीतरी प्रतिकृति है। 'उम्बुल' या छाया दो प्रकार की है-हल्की और भारी छाया। भारी रोअ: वाले व्यक्ति की छाया अगर लकड़ी ढोयी स्त्री पर पड़े तो लकड़ियाँ इतनी भारी हो जाती हैं कि उन्हें ढोना मुश्किल हो जाता है। यदि साँप पर पड़े तो उसकी चाल बन्द हो जाती है। कभी-कभी रोअ:, शरीर की आँख से भी किसी को स्पर्श करता है।

यदि बहुत कोई साथ मिलकर रोपा रोप रहे हैं, तो यदि भारी रोअ: वाले व्यक्ति ने धान का पौधा पहले उखाड़ा तो पौधा नहीं बढ़ेगा। इसी प्रकार यदि कुछ लोग मिलकर कुछ बड़े काम करने जा रहे हैं तो भारी रोअ: वाले व्यक्ति की आँखें उन लोगों पर पड़ने से काम उलझ जाता है।

रोअ: का भारी या हल्का होना सृष्टिकर्ता के द्वारा निश्चित किया जाता है। शकुन द्वारा इसका पता नहीं लगाया जा सकता। हल्के अथवा भारी रोअ: वाले व्यक्ति की बुरी नजर होती है, यह ईर्ष्या से होती है। मुंडा समाज में कुछ आदमी बुरी नजर वाले माने जाते हैं, उदाहरण एक आँख वाले (एक आँख से देखने वाले) बिना दाढ़ी वाले युवक, अथवा अभागे व्यक्ति। इनकी नजर किसी के काम में असफलता का कारण बनती है। मुंडा बुरी नजर और बुरे मुँह को अपने लिए अथवा परिवार के लिए अथवा पशुओं के लिए अनिष्टकर समझता है-- वह यह समझता है कि यह विपत्ति सीधे किसी दुष्टात्मा द्वारा पहुँचाई गई है। इसी प्रकार उराँव भी समझता है कि डायन अथवा ओझा की बुरी नजर और बुरा मुँह, व्यक्ति अथवा पशु की हानि करता है अथवा मनुष्य अथवा पशु का हानि पहुँचाने वाला भूत उत्पन्न कर सकता है।

यदि किसी मुंडा के सिर में अचानक दर्द हो, पेट में दर्द हो, पैर में दर्द हो, अथवा अचानक मिरगी के कारण गिर कर बेहोश हो गया हो, तो वह समझ जाता है कि वह किसी अदृश्य दुष्टात्मा के टक्कर में है-हो सकता है कि उसने किसी भूत को पैर से दबा दिया है अथवा चलते समय अथवा खेत में काम करते समय अथवा कभी भी उस अदृश्य प्रेतात्मा को धक्का दिया है। उस नाराज देवता को मनाने के लिए वह अपने चारों ओर हल्दी बिखेर देता है।

उराँव इसे मन्त्र तंत्र और जादू टोना समझते हैं, जब कि मुंडा समझता है कि प्रेतात्मा ही डायन अथवा ओझा की बुरी नजर अथवा बुरे मुँह से हानि पहुँचाता है। ऐसे उराँव जब कभी घर से बाहर यात्रा

में जाता है तो एक मुट्ठी धूल लेकर, 'बँधनी' मंत्र उच्चारण करता है, और मंत्र वाले धूल को पूरे शरीर में लगाता है। उसका विश्वास है कि किसी की बुरी नजर नहीं लगेगी। यात्रा करते समय अथवा घर से बाहर रहते समय ओझा के द्वारा चलाया गया अनिष्टकारी धनुष का वाण उस तक नहीं पहुँच पाएगा।

बहुत ही गंभीर तकलीफ या बीमारी में मुंडा यह मानता है कि निश्चित समय में नियमित पूजा के समय भक्त द्वारा कुछ गलती या लापरवाही हुई है। वह शीघ्र ही मती ओझा से सम्पर्क करके आवश्यक पूजा की व्यवस्था करता है। गंभीर बीमारी के समय मुंडा सोखा के पास जाता है। वह उस डायन अथवा ओझा का नाम बता देता है, जिसने बीमारी दी है। मुंडा पुरुष डायन अथवा ओझा को दुष्टात्मक को मनाने के लिए बाध्य करता है अथवा कष्ट देने वाले भूतों को खुश करने का साधन बताने के लिए भी उन्हें बाध्य करता है।

विषाक्त प्रशंसा

कभी-कभी निकट संबंध वाले व्यक्ति या शुभचिन्तक बच्चे की प्रशंसा करते हैं, तो बच्चा उसी दिन से बीमार पड़ता है। एक सुन्दर नवजवान को लड़की नहीं मिलती है, गर्भवती स्त्री का गर्भपात होता है, खेत अथवा खलिहान में अनाज कम हो जाता है। इस विषाक्त प्रशंसा का भारी या हल्के रोअः से कुछ संबंध नहीं है।

बुरी नजर और विषाक्त प्रशंसा से बचने के उपाय

खेत के बीच में एक टेढ़ी लकड़ी के ऊपर भंडा (खाना बनाने वाला मिट्टी का घड़ा) औंधा करके रखते हैं। भंडा के ऊपर सफेद रंग के कुछ गोलाकर चित्र बने रहते हैं। ये ही चित्र बुरी नजर को आकर्षित करेंगे और धान पर बुरी नजर नहीं पड़ेगी। छत में यदि कद्दू अथवा कोंहड़े फले हों तो बुरी नजर से बचने के लिए इसी प्रकार के घड़े रखे जाते हैं। कोई कोई छत पर बन्दर रखते हैं ताकि यह बुरी नजर को आकर्षित करे।

नये खरीदे गये बैल को बुरी नजर या विषाक्त प्रशंसा से बचाने के लिए पहले उसके सींगों में तेल मल कर उसे पूर्वजों से परिचय कराते हैं साथ ही छेद बना सोसो बीज (एक प्रकार का बीज) को एक रस्सी में गूँथकर बैल की गर्दन में बाँधते हैं। बच्चों को ताबीज पहनाते हैं।

नया खानी के त्योहार के बाद एक मुंडा किसान काजू वृक्ष की एक डंठल को खेत में गाड़ता है उसका ऊपरी भाग दो भाग में फटा रहता है। फटे हुए भाग में उसी वृक्ष का हरा डंठल घुसेड़ दिया जाता है।

स्वप्न को एक मुंडा सच मानता है, क्योंकि उसकी रोअः स्वप्न में काम करता है इसके उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं। दुःस्वप्न में कभी-कभी चोरदेवां-बिल्ली अथवा दूसरे जानवर का रूप लेकर सोते व्यक्ति के पेट पर चढ़ जाता है, अथवा अपनी छाया फेंकता है। इस स्थिति में सोता हुआ व्यक्ति न तो करवट ले सकता है और न चिल्ला सकता है। इनसे बचने केलिए भुजाओं में लोहा पकड़ कर सोया जाता है, अथवा झोपड़ी के चारों ओर कोयले से रेखाएँ खींची जाती हैं।

जागृत अवस्था में मनुष्य से जो चीजें छिपी रहती हैं, उसे रोअः प्रकट करती है। जैसे— मान

लिया कि किसी ने घर की चाभी खो दी, और वह सो गया, स्वप्न में उसने देखा कि चाभी उसकी चटाई के नीचे है। उसकी रोअः ने चाभी चटाई के नीचे रख दी है। मान लिया किसी वैद्य को अपने रोगी के लिए दवा नहीं मिल रही हो इसी चिन्ता में वह सो जाता है। सुबह उठकर उसी मार्ग से जंगल जाये, जिस मार्ग से उसकी आत्मा गई हो तो वह दवा पा जायेगा।

स्वप्न कभी-कभी उल्टे भी होते हैं। यदि किसी ने स्वपन में शादी उत्सव मनाया तो परिवार में किसी की मृत्यु होती है। परन्तु रात के पहली पहर के स्वप्नों के अर्थ नहीं होते हैं। 3 या 4 बजे सुबह के देखे गये स्वप्नों के अर्थ होते है।

कबाइली संगठन (Tribal organisation)

मुंडा कबीले में बहुत से गोत्र हैं, जिन्हें किली (Killi) कहते हैं। इन लोगों में आपस में विवाह नहीं होता है। मुंडा लोगों के अनुसार सारे किली एक ही परिवार से सम्बन्धित हैं। ये लोग दूसरे कबीलों में विवाह नहीं करते हैं।

जब ये लोग बिल्कुल जंगली जानवरों के समान अपना जीवन बिता रहे थे, तब इसके यहाँ विवाह का कोई नियम नहीं था। किन्तु जैसे जैसे ये लोग समझदार होने लगे वैसे-वैसे इनके समाज में विवाह के निर्धारित नियम बनते गये। यही परिवार बढ़ते-बढ़ते 'किली' बन गये। हर 'किली' का अपना अलग-अलग नाम है। समय के साथ साथ किली का क्षेत्र भी बढ़ता गया। धीरे-धीरे एक-एक किली के कई टुकड़े हो गये और इस प्रकार बहुत सी 'किलियाँ (Kills) बन गईं। जिस समय मुण्डा लोग छोटानागपुर के पठार में आये थे, उस समय उनकी किलियों की संख्या और उनकी जनसंख्या बहुत कम थी। किन्तु जैसे-जैसे इनकी किलियों की संख्या और उनकी आबादी बढ़ती गई, वैसे-वैसे इनकी किलियों की संख्या और उनकी आबादी बढ़ती गई, वैसे-वैसे ये छोटानागपुर के पठार पर फैलने लगे। कुछ प्रसिद्ध किलिओं की जानकारी इस प्रकार है—

(1) तूकी किली

इनके पुरखे पहले राँची जिले के एक गाँव में रहते थे। एक बार यात्रा करते समय उन्हें पानी से भरी हुई नदी से गुजरना पड़ा। इनके एक गिरोह ने तो नदी पार कर लिया, लेकिन दूसरे किनारे पर पहुँचकर वे लोग जाड़े से काँप रहे थे, इसलिए इन्होंने अपने साथियों से कहा कि वे इनके लिए जलावन की कुछ लकड़ी भेज दें। किन्तु उनके पास लकड़ी भेजने का कोई साधन नहीं था, इसलिए उन्होंने तीर के द्वारा थोड़ी सी तुकी (Tuki) की लकड़ी उस पार फेंक दी। लोग सर्दी से बच गये और उन लोगों ने प्रतिज्ञा की कि वे लोग तुकी के पौधों को नहीं खाएंगे इस प्रकार 'तूकी' किली बन गई।

मुण्डू किली

एक बार इस गिरोह का मुखिया पूर्वी परगना से सोनपुर आते हुए अपने घर पर थोड़ा सा भूसा (Straw) ला रहा था, उस समय सारा भूसा जल गया। इस घटना के बाद से वह मुंडा सरदार और उसके नातेदार मुन्डू किली कहलाने लगे।

इसी प्रकार 'सू किली (Sukilli), होरो किली (Horo Killi), नाग किली '(Nag killi) आदि

स्थापित हुए। इस प्रकार ये लोग टोटेमवादी कहे जा सकते हैं।

परहा और पट्टियाँ

धीरे-धीरे 'किली' के सदस्यों की संख्या बढ़ती गई। एक किली के कुछ लोगों ने आस-पास में एक नया गाँव बसा लिया। थोड़े दिनों तक तो इस गाँव के लोग पुराने गाँव को ही अपना असली घर समझते रहे और पुराने गाँव के लोगों से दुःख और सुख के अवसरों पर मिलते रहे। ये लोग इसी गाँव के 'ससन' में अपने मुर्दों को गाड़ते भी थे। धीरे-धीरे पुराने गाँव से संबंध कम होने लगा इन लोगों ने अपना अलग 'सरना' और अखरा बना लिया। अन्त में एकदम अलग हो गये। फिर भी ये लोग सामाजिक संगठन की बातों में साथ रहे। इसीलिए आज भी कुछ गाँवों के लोग सामाजिक और राजनीतिक कार्यों में एक दूसरे का साथ देते हैं। इस प्रकार कुछ गाँवों को मिलाकर जो संगठन कायम होता है, उसे वे अपनी भाषा में 'परहा (Parha) कहते हैं।

भूनिहारी पट्टी

छोटानागपुर के नागवंशी राजाओं ने ऐसे संगठनों को इसलिए पसंद किया क्योंकि इनके द्वारा उन्हें वसूल करने में बड़ी सुविधा होती थी। इन लोगों ने केवल इतना परिवर्तन किया कि 'परहा' के बदले 'पट्टी' नाम रखा और 'मुनकी' जो परहा का मुख्य था उसका नाम 'भूनिहार' रखा। लेकिन बाद में जब भूनिहार सरदारों का अधिकार कम हो गया और नाग-वंशी राजा तथा उनके जागीरदार स्वयं ही आकर लगान वसूल करने लगे, तो गाँव के सभी निवासियों को भूनिहार कहा जाने लगा।

भुनिहारी के इलाके में लगभग एक गाँव सम्मिलित होते है। सारे भुनिहारियों का संबंध एक ही किली से होता है पंचायत का अधिकार एक परहा में उत्तम होता है। इस पंचायत का मुख्य राजा होता है और साथ 'कोयट' (Kowet), लाल (Lall), ठाकुर (Thakur) दीवान आदि होते हैं। इस प्रकार परहा में पंचायत होती है।

राजा इस पंचायत का अध्यक्ष होता है राजा के अतिरिक्त और भी अन्य अधिकारी होते हैं, जिनका पद पैतृक होता है। इस पंचायत में जब कोई मुंडा किसी के विरुद्ध अभियोग लाना चाहता है, तो अपने आशय से गाँव के पहान को अवगत कर देता है। फिर राजा की आज्ञा से गाँव में पंचायत बैठती है। पंचायत के सामने दोनों व्यक्ति उपस्थित होते हैं। जब दोष प्रमाणित हो जाता है, तो दोषी व्यक्ति को कुछ रुपये भी देना पड़ता है यदि वह रुपये नहीं देता है, तो गाँव वाले किसी तरह का सामाजिक संबंध नहीं रखते हैं। अन्त में उसे पंच के सामने झुकना पड़ता है। इस पंचायत में बड़े-बड़े झगड़े लाये जाते हैं।

उपरोक्त पंचायत के अलावे मुंडा जनजाति में और एक पंचायत है, यह भी न्यायालय का काम करता है। जब कभी दो दलों में किसी विषय को लेकर बैर उत्पन्न हो जाता है, तो ऐसी स्थिति में दोनों दलों की ओर से प्रतिनिधि चुने जाते हैं, उन प्रतिनिधियों में से तीन-तीन पंच प्रत्येक दल में प्रतिनिधियों में से चुने जाते हैं। ये 6 आपस में एक सरपंच अथवा प्रमुख का चुनाव करते हैं। इस प्रकार यह पंचायत तत्संबंधित झगड़े का निपटारा करती है।

पैतृक संपत्ति की प्राप्ति

मुंडा परिवार के सभी व्यक्ति धन के सामान्य मालिक होते हैं। लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपने किसी लड़के से नाखुश रहता है, तो वह अपनी जिन्दगी में ही उसे घर से निकाल देता है। पिता की मृत्यु के बाद निकाले हुए पुत्र को उस धन से हिस्सा नहीं मिलता है। बाप को परिवार की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार होता है इसलिए उसकी जिन्दगी में बेटे धन के बँटवारे की माँग नहीं कर सकते। यदि पिता चाहे तो धन का बँटवारा अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है। यह अवसर तब आता है, जब स्त्री के मर जाने के बाद कोई व्यक्ति दूसरा विवाह कर लेता है। बँटवारे के समय सबसे बड़े लड़के को अधिकांश भाग दिया जाता है। बचे हुए धन को दूसरे लड़कों के बीच बराबर-बराबर बाँट दिया जाता है। एक कुँवारे लड़के को सम्पत्ति के अतिरिक्त कुछ रुपये और मवेशी भी दिये जाते है। साधारणतः बँटवारे के बाद एक कुँवारी लड़की अपने किसी भाई या नातेदार के साथ रहती है। कुँआरी लड़कियों को भी पैतृक सम्पत्ति का कुछ भाग मिलता है। यह सम्पत्ति विवाह तक नातेदार के हाथ में रहती है, जो उसे अपने साथ रखता है। लेकिन उसके विवाह के बाद उसकी सम्पत्ति उसके भाइयों में बराबर-बराबर बाँट दी जाती है। कोई मुंडा एक स्त्री के मरने पर अपनी सम्पत्ति उसके बच्चों में बाँट देता है, और दूसरा विवाह करने पर इस सम्पत्ति का कोई भाग दूसरी स्त्री के बच्चों को नहीं मिलता है।

पिता के मरने पर जब उसके लड़कों में नहीं पटती है तो धन का बँटवारा करने के लिए पंचायत बैठती है। यदि मृतक की कोई विधवा हो, तो पंचायत उसके जीवन निर्वाह के लिए सम्पत्ति में से कुछ भाग दिलाती है। यदि वह विधवा अपने बेटों से अलग रहती है, तो मरने पर उसका धन बेटों में बराबरी से बाँट दिया जाता है। किन्तु जब वह विधवा किसी बेटे के साथ रहती है, तो उसके मरने के बाद वही बेटा उसके पूर्ण धन का मालिक होता है। यदि कोई मुंडा लड़का अन्य जाति की लड़की से विवाह करता है, या किसी सामाजिक दंड के कारण उसे जाति से अलग कर दिया जाता है, तो वह पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं रहता है। कभी ऐसा भी होता है कि एक मुंडा की मृत्यु के बाद केवल उसकी विधवा रह जाती है, जो उसकी सारी सम्पत्ति की मालकिन बन जाती है। वह अपनी इच्छा के अनुसार धन का प्रयोग कर सकती है लेकिन खेती-बारी को पति के नातेदारों के पूछे बिना नहीं बेच सकती है। यदि विधवा, अपने बाप के घर लौट आती है, तो पति की सम्पत्ति पर से उसका अधिकार समाप्त होता है, और उसके धन को नातेदारों में बाँट दिया जाता है।

यदि किसी मुंडा के मरने पर उसे केवल पुत्रियाँ ही रहती है, तो वे ही उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारी होती हैं। लेकिन विवाह के बाद उनका अधिकार समाप्त हो जाता है। वह सम्पत्ति बाप के निकट संबंधियों में बाँट दी जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुंडा समाज में स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं दिया जाता है।

विधवा चाहे देवर अथवा विधुर से शादी कर सकती है, अथवा बेटों के पास रह सकती है। विधवा को विधवा-धर्म नहीं निबाहना पड़ता है। मुंडाओं की खेती की विधि, औजार, दैनिक दिनचर्या, खान-पान, अर्थव्यवस्था, इसमें महिलाओं की भागीदारी, खेती के औजार, आतिथ्य सत्कार, बाजार, मेला, सामान्य प्रथाएँ अन्य आदिवासियों के समान हैं, इनकी चर्चा ऊपर द्वितीय अध्याय में हो चुकी है।

अन्य प्रथाएँ

यदि कोई मुंडा बाहर दूसरी जातियों के बीच निवास करके लौटता है अथवा अनजान में भी अपनी जाति या 'किली' के विरुद्ध कुछ आचरण किया हो, तो पत्नी उसका पैर धोती है। यह एक प्रकार का शुद्धीकरण है। यदि प्रवास से लौटने पर घर में पत्नी न हो, पत्नी के लौटने तक वह घर के पिछवाड़े में रहता है। पत्नी, घर आने पर उसका पैर धोती है।

यदि किसी व्यक्ति ने उस परिवार की भलाई की हो, वह अपना संबंधी न होने पर भी, उसका पैर धोया जाता है। लुहार प्रत्येक किसान का 'फाल' अग्नि में रखकर तेज करता है। इसी उपकार के लिए प्रत्येक वर्ष गाँव के लोहार के पैरों को 'बराएली' सोहराई दिन प्रत्येक घर की कृषक पत्नी धोती है।

इसी प्रकार ग्वाला, प्रत्येक घर के गाय-बैल और बकरियों को चराता है। इसलिए धान देने के अलावे, सोहराई के दिन, प्रत्येक कृषक पत्नी उसके पैरों को धोती है।

मुंडाओं के बीच यह कहा जाता है कि स्त्री अपने दोनों हाथों से चेहरा धोती है, क्योंकि उसके दो पति है, एक सिंगबोंगा और दूसरा अपना पति।

उराँव जनजाति के समान मुंडा जनजातियों में भी तीन अर्थात् बेजोड़ संख्या का बहुत महत्व होता है। उदाहरण के लिए-जन्म से लेकर मरण तक की धर्म विधियों में तीन पत्तों का 'दोना' (सखुए पत्ते का बनाया जाता है) प्रयुक्त होता है। दूसरी अन्य धर्म विधियों में 3 या 5 जगह अनाज के छोटे ढेर लगाये जाते हैं और उनमें बलि पशु का खून चुलाया जाता है। शादी से पहले जब सगुन जाते हैं, उस समय भी बेजोड़ नम्बर में अर्थात् 3, 5, 7 या 9 की संख्या में जाते हैं।

पानी से भरा लोटा, ऊपर पत्ते से ढका और लोटे के नीचे भी पत्ता मेहमानों के लिए दिया जाता है, तो इसका अर्थ यह है कि एक खस्सी मेहमानों को दिया जायेगा, जिसे वे ही लोग मारेंगे, जब कन्या के परिवार शकुन विचारने जाते हैं या रिश्ता तय करते हैं अथवा शादी का दाम लेते हैं। शादी के दिन यह प्रथा होती है।

आगोम

किसी इच्छित वस्तु को पाने केलिए पूजा के समय की जाने वाली प्रतिज्ञा 'अगोम' कहलाती है। उदाहरण

(क) बीमार व्यक्ति की चंगाई के लिए बकरा चढ़ाने की प्रतिज्ञा की हो, तो इसके लिए मिट्टी के बरतन (हांडी) को ही छत के किनारे उलट कर रखते हैं।

(ख) यदि बैल या बकरा देने की प्रतिज्ञा हो, तो अरवा चावल उसे खाने को देते हैं।

(ग) यदि मुरगा देने की प्रतिज्ञा हो तो चिड़िया के एक पैर को काटते हैं अथवा उसके पंख निकालते हैं।

अड़िसुम

मुंडाओं का विश्वास है कि व्यक्ति की छाया में कुछ गुण होते हैं। मुर्गा लड़ाने के समय एक मुर्गे की छाया विरोधी मुर्गे पर डालने की कोशिश करता है। जिस मुर्गे पर विराधी व्यक्ति की छाया पड़ती

है वह लड़ाई में मारा जाता है।

मुंडा लोग अपनी छोटी-मोटी बीमारियों का इलाज पेड़ पौधों से करते हैं।

अंकोर वदारु

यह 20 से 25 फीट ऊँची एक झाड़ी है। दस्त के समय इसकी जड़ को दवा के रूप में दिया जाता है। यदि एक बार पाखाना हो तो अंगुली के जोड़ के बराबर पीस कर पानी के साथ पिलाया जाता है। यदि दो बार पाखाना हो तो अंगुली के जोड़ के बाराबर पीसकर पानी के साथ पिलाया जाता है। यदि जड़ अंगुली से मोटा हो, तो जड़ की लम्बाई कम की जाती है। इससे रोगी का पेट साफ होता है, क्योंकि वह दवा के कारण उल्टी करता है।

गठिया बीमारी के इलाज के लिए अंधेर की जड़ को पीस कर, पानी में मिलाकर सुबह और रात सोने के पहले पिलाया जाता है। पीसे हुए जड़ को फूले हुए शरीर के हिस्से में मल दिया जाता है यदि जड़ अधिक मात्रा में लिया जाये तो वह जहर बन जाता है।

अयूब बात

यह एक प्रकार का ऊँचा पौधा है, जिसके लाल अथवा सफेद फूल होते हैं, जो रात में खिलते हैं। इसका विश्वास है कि यदि उस पौधे की जड़ का एक भी टुकड़ा माता के गले में बाँध दिया जाय तो बच्चे के जन्म के बाद माता का पेट साफ हो जाता है। जानवरों के घावों में यदि लगाया जाये तो घाव के कीड़े मर जाते हैं।

अन्तिम सर्वेक्षण

डा. सुशील माधव पाठक, अध्यक्ष स्नाकोत्तर विभाग, राँची विश्वविद्यालय ने अपनी पुस्तक 'मुंडाओं की प्राचीन सभ्यताओं का इतिहास' लिखा है— जिन लोगों ने कभी किसी की अधीनता स्वीकार की, उन्होंने ही वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत शूद्र की संज्ञा प्राप्त की। परन्तु मुंडाओं ने कभी आर्यो की अधीनता स्वीकार नहीं की। जब इनकी सभ्यता और संस्कृति पर हमला हुआ तो भारत के दक्षिण पूर्व झारखण्ड प्रदेश की ओर आये, जहाँ इन्होंने वर्षो सुख और चैन से काटा। कालक्रम में आर्य भी यहाँ आये। तब यहाँ मुण्डाओं का राज्य था, जिसमें मदरा मुंडा काफी शक्तिशाली था। स्वभावत: आर्यो ने उसके साथ समझौता किया, जिससे नागवंश की स्थापना हई। इन नागवंशी राजाओं के साथ ही अन्य आर्य जातियाँ, जिनमें ब्राह्मण जाति प्रमुख थी, का आगमन झारखण्ड में हुआ। यहाँ आने वाले ब्राह्मण कम पढ़े लिखे थे, उसके बावजूद झारखण्ड के अधिकांश भागों में ये पुरोहित का काम करने लगे।

ब्राह्मणों के इन सुदूर गाँवों में बसने के कारण बिरसा मुंडा के गाँवों के आस-पास के आदि वासियों पर महान् परिवर्तन आया। इन ब्राह्मणों ने सीधे सादे आदिवासियों को हिन्दू धर्म की ओर लाने का भरसक प्रयास किया। यही कारण है कि स्वतंत्रता सेनानी बिरसा मुंडा के गाँवों के आस-पास में मुंडा आदिवासियों ने अपने देवी देवताओं और बोंगाओं के साथ हिन्दू देवी-देवताओं को स्वीकार किया। आज बहुत से धार्मिक अनुष्ठानों में आदिवासी और हिन्दू धर्म का मिला-जुला रूप देखा जाता है। आदिवासियों के मुख्य त्योहार करमा, सोहराई और सरहुल हिन्दुओं द्वारा भी मनाये जाते हैं। इसी प्रकार

आदिवासी भी होली, दशहरा त्योहार मनाने लगे हैं।

II. उराँव जनजाति

द्रविड भाषा बोलनेवाली जातियाँ

कुड़ख, माल्टो, गोल्डी आदि हैं। ये उराँव, माल पहाड़िया, सौरिया पहाड़िया और गोंड जाति के लोग है। 1991 की जनगणना के अनुसार झारखंड में इनकी संख्या करीब 16 लाख थी।

उराँव जाति प्रारंभ में कोंकण क्षेत्र में निवास करती थी। आबादी के बढ़ जाने और बाहरी दबावों के कारण वे भारत की पूर्वी तट से उत्तरी भारत में नदी-घाटियों के रास्ते से होकर बिहार की सोन नदी के किनारे जा बसे। जब नई जातियों के विभिन्न समूहों ने उन्हें खदेड़ा तो उन्होंने रोहतास के पठार में शरण ली और उसकी किलेबन्दी की। बाहरी आक्रमणों के कारण इस किले को भी उन्हें छोड़ देना पड़ा। रोहतास से निकलने के बाद यह जाति दो दलों में बँट गई। एक दल गंगा नदी से होता हुए राजमहल की पहाड़ियों पर जा बसा। इसे सौरिया और माल पहाड़िया के नाम से पुकारा जाता है। दूसरा दल उत्तरी कोयल नदी से होकर दक्षिणी-पूर्वी भाग की ओर गया और अन्त में छोटानागपुर के उत्तरी-पश्चिमी भाग में जा बसा, इसे "उराँव" कहा जाता है। उराँव जाति के आगमन के निश्चित समय के बारे में कहना कठिन है। शरत चन्द्र राय के अनुसार मुंडा जाति के आने के कुछ सदियों बाद उराँव जाति आई। अधिकांश विद्वानों के अनुसार उराँवों का झारखंड में आगमन 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुआ।

उराँव के छोटानागपुर में आने से पहले ही मुंडा जाति यहाँ बस रही थी। मुंडाओं ने उन्हें अपने बीच रहने दिया। बाद में मुंडा प्लेटो के पूर्व और दक्षिण पूर्व की ओर चले गये जबकि उराँव देश के पश्चिम, उत्तर पश्चिम भाग में बस गये। उराँव के गांव में रहने वाले मुंडा, गांव के पाहन बन गये इनका काम था प्रेत आत्माओं को खुश करके गांव की रक्षा करना। इन मूल वासिंदों के तीन वंशज खुटकटीदार (मुंडा जाति में) और भुंइहर उराँव जाति में कहे जाते हैं। गांव के लोगों के बीच खुंटकटीदार और भूँइहर की इज्जत होती है। "खुंटकटी" और भुंइहरी इन दोनों प्रकार की भूमि के लिए किसी प्रकार का टैक्स नहीं लगता है। प्रत्येक उराँव और मुंडा जनजातियों के लिए खुंटकटी और भुँइहरी जमीन का बहुत महत्व होता है। अगर ये कहीं दूसरे गांव में बसने चले जाते हैं तो यदि संभव हो तो मृतक की हड्डियों को मूल गांव के ससन अथवा कुंदी (यह एक स्थान है जहाँ एक गोत्र के पूर्वजों का निवास स्थान माना जाता है) में ले जाते हैं। प्रायः खुंटकटीदार और भुँइहर ही गाँव के पाहन और मुखिया बनते हैं।

ऐसे परिवार जो कि उपरोक्त परिवार से नहीं आते हैं परन्तु सर्वप्रथम जंगल को साफ करके खेत बनाया हो उन्हें गैरोर (सामान्य नागरिक) कहा जाता है। परन्तु यह भी सच है कि जो आदमी किसी गाँव में गैरोर है, वह दूसरे गांव का भुँइहर हो सकता है। (Tribal movements-A study in social change, Dr. Philip Ekka S. J.)

उराँव का पर्यायवाची शब्द कुडुख है। पौराणिक साहित्य से पता चलता है कि आर्यों के पूर्व, बंगाल में करख नामक प्राचीन राजा निवास करते थे "स" से "ख" होना नासिकता से संबंध रखता है। कुडुख शब्द संस्कृत के कृष धातु हल चलाने से बना है, क्रमशः कृसर, कुडुखर और

कुडुख हो गया। शरत चंद्र राय अपनी पुस्तक (The oraons of chota Nagpur p. 15) में लिखते है कि उराँव शब्द रावण से आया है ओ रावण-ओराँव। उन्होंने उराँव की उत्पत्ति कथा इस प्रकार दी है :—

एक मुनि एक ही मुद्रा में स्थित रहकर तपस्या कर रहे थे। उनके सिर पर दीमक का टीला बन गया। टीले के चारों ओर एक कंटीली लता उगकर बढ़ने लगी। उस ऋषि की छाती लता के कांटे से चुभ गई। कुछ दिनों बाद एक लकड़हारा लकड़ी काटने के लिए जंगल में गया। उसने दीमक के टीले को वृक्ष का धड़ समझा और दीमक के टीले को कुल्हाड़ी दे मारा। तपस्या में विघ्न होने पर वे उठ खड़े हो गये। उठते ही कांटे से चुभी छाती से खून बहने लगा। धरती माता खून से रँज्जित न हो जाये इसलिए उसे अपने दोनों हाथों में लेने लगा। इसके बाद अपने खून को कोरकोटा पत्ते के दोने में रखकर दोने को पेड़ की छाया में रख दिया। जब मुनि उस स्थान को छोड़ने लगा तो उस खून से एक लड़का और एक लड़की (भैया-बहन) निकले। दोनों ने मुनि को रोकते हुए कहा—"आपने हम दोनों को दुनिया में लाया अब छोड़कर कहा जा रहे हैं। हम दोनों जीकर क्या करेंगे। मुनि ने उत्तर दिया तुम दोनों कृषक बनोगे, जंगल साफ करो ओर खेती को पेशा बनाओ, तुम्हारा भंडार अनाज से घिरा रहेगा। इस प्रकार ये भैया और बहन उराँवों के प्रथम माता-पिता बने। मुनि की छाती (संस्कृत उरस् अथवा उर) से उत्पन्न हुए अतः उरागोन ठाकुर अथवा उराँव कहलाये।

आरंभिक दिनों में ब्राह्मण जैसे पूज्य थे और पवित्र धागा भी पहनते थे। जब बाद में उराँव उच्च स्तर से निम्न स्तर के बन गये, शुद्ध-अशुद्ध चीजों को खाने लगे तो उरागोन ठाकुर से फिर "उराँव" कहलाये।

उराँवों की आकृति

उराँवों के चेहरे पर प्राकृतिक सुंदरता, प्रसन्नता और सरलता होती है। साथ ही साथ चेहरे पर कुछ भद्दापन भी होता है। स्त्री अथवा पुरुष आधी उम्र आते कुरूप हो जाते हैं। उनका ग्राम्य चेहरा-मोहरा होता है। वे नाटे शरीर, संकुचित सिर और चौड़ी नाक वाले होते हैं। चमड़े का रंग गहरा भूरा प्रायः काला जैसा होता है। उनके बाल काले, रूखे और घुंघराले हाते है यद्यपि घुंघराले बाल कम दिखाई देते हैं। उराँवों के चमड़ों में बाल होते हैं। परंतु गाल, पीठ और पैरों में कम बाल होते हैं। दाढ़ी और मूंछ देर से किशोरावस्था के बाद निकलते हैं। छाती विकसित होती है आँखें मध्य आकार की और प्राय छोटी होती हैं। आँखों की परितारिका काली है और भौहे तिरछी नहीं है। जबड़े कुछ बाहर निकले होते हैं ओंठ कुछ मोटे नाक मुँह में ही दबी होती हैं।

जन्म के कुछ दिनों बाद तक आदिवासी माताएँ बच्चे के शरीर में सुबह शाम तेल लगाती हैं। सिर में तेल लगाने से पहले अपने दोनों हाथों को आग में सेककर बच्चे के सिर को दोनों तरफ से दबाती हैं जिससे कि वह सुडौल हो जाये। इसी प्रकार नाक को भी खींचती हैं कि वह कुछ लम्बी हो जाये। बच्चे की नाक छोटी और दबने का कारण यह भी हो सकता है, माताएँ बच्चे को हमेशा पीठ में बाँधती हैं जिससे उनकी नाक माताओं की पीठ से रगड़ती रहती हैं।

उराँवों के शरीर अच्छी तरह संतुलित रहते हैं, चलते समय पैर जमीन पर अच्छी तरह पड़ते हैं। पैर तो सीधे हैं परंतु चलते और दौड़ते समय ऐड़ी कुछ बाहर मुड़ जाती है।

खाते समय उरॉव जमीन पर ऐसे बैठता है— दोनों पैर जमीन में रहते और घुटने ऊपर उठे रहते हैं। इनके शरीर गठ्ठे हुए होते हैं एक जवान उराँव कन्धों पर सिका बहिंगा द्वारा दो मन का धान या दूसरी चीज ढो सकता है।

प्रतिदिन शुद्ध हवा में शारीरिक श्रम करने के कारण वे बीमार कम पड़ते हैं। बीमार पड़ने पर गांव का वैद्य कुछ जड़ी बूटियों के द्वारा उनका इलाज करते हैं, बदले में सिर्फ हँड़िया और भात खाते हैं। मौसमी बुखार तो आराम मात्र से ठीक होता है।

एक उराँव स्त्री और पुरुष वृक्ष चढ़ने में बहुत निपुण होते हैं। यदि स्त्री वृक्ष नहीं चढ़ती हो तो, इसी आधार पर उसका तलाक भी हो सकता है। इसका कारण है कि बहुत से वृक्षों के पत्ते साग के रूप में खाये जाते हैं और स्त्री के कर्तव्यों में से एक कर्तव्य यह भी है, कि वह उन पत्तों को तोड़कर लाये। उराँव लड़के भैसों पर चढ़ते हैं, जब वे उन्हें चरा कर अथवा खेत जोतकर घर लाते हैं। सामान्य जवान लड़के दौड़ने और उछलने में तेज होते है। वे प्रतिदिन 30-35 मील पैदाल चल सकते हैं। परंतु ये तैराकी नही होते हैं। ये तीर धनुष चला कर बढ़िया निशाना बनाते हैं। ये ठंढा गर्मी झेल सकते हैं। दो-तीन रातें नाचते गाते बिता सकते हैं और बहुत कम भी सो सकते हैं।

वस्त्र

पुरुष ''करया'' पहनते हैं यह एक फुट चौड़ी और तीन से चार गज लम्बी होती है। इसे जांघ के बीच से होकर पार किया जाता हैं और करधनी से आगे पीछे निकाला जाता है करधनी में चाबियों का गुच्छा, चुनैटी (तमाखू रखने का डिब्बा) और एक जोड़े चिमटे (कांटे निकालने के लिए) झूलते रहते हैं। कभी बाँस निर्मित बाँसुरी भी घुसेड़े रहते हैं।

बूढ़े और गरीब ''भगवा'' पहनते हैं। यह छोटा, कम चौड़े कपड़े का टुकड़ा होता है। इसे भी जांघ के भीतर से पार करके कमरबन्द में आगे पीछे खोसते हैं। धनी मानी उराँव ठंड के मौसम में कम्बल ओढ़ते हैं। गरीब तो फटे कपड़ों को सिलाई करके ओढ़ता और बिछाता, जिसे लेदरी कहते हैं। कहीं जाते समय (बाजार या कचहरी जाते समय) सिर पर करया का एक टुकड़ा पगड़ी बाँधते हैं और पैछौरी से कमर के ऊपरी भाग को ढाँपते हैं।

ठंढ के दिनों में दो पैछौरी को सिलाई करके ओढ़ते हैं, इस कपड़े को 'बरकी' कहते हैं। रात को चलते समय, और दिन में भी मेहमान जाते समय लाठी पकड़ते हैं। यात्रा करते समय उराँव अपनी करधनी के करया में चुनैटी, कपास के सूत का बना थैला (बुट) भी पकड़ता है पैर में चमड़े का खरपा भी कभी-कभी पहनता हैं।

स्त्रियों के वस्त्र

स्त्रियाँ कपास के सूत से बुना वस्त्र ''खरिया' पहनती हैं। यह 12 हाथ लम्बा होता है। एक हाथ तीस इंच दो फीट होता है, इसलिए घुटने तक ही आता है। कमर के ऊपरी भाग में कुछ नही रहता है।

परंतु धनी-मानी घर की उराँव स्त्रियाँ बोर्डर के बिना साड़ी ''मारकीन' पहनती हैं, जो दस या बारह हाथ लंबी होती है, इसके एक छोर से छाती ढकती हैं। अपने बालों को नगड़ा मिट्टी से हफ्ते में एक दिन धोती हैं।

बच्चों के वस्त्र

बच्चे तीन या चार वर्षों तक नंगे ही घूमते हैं। इसके बाद छोटा लड़का, एक छोटा ''करया'' और लड़की ''पुतली'' (छोटा कपड़ा) कमर में पहनती है। एक अविवाहित लड़की करम में पांच से छः हाथ लंबा कपड़ा कमर में पहनती है, इसे ''गजी'' कहा जाता है। छोटे बच्चे जब रेंगना सीखते हैं तो लोहे के पायल पहनाये जाते हैं। स्त्री और पुरुष आज कल पारम्परिक वस्त्रों को छोड़ कर मिल के वस्त्रों को पहन रहे हैं।

स्त्रियों के आभूषण

कलाई से केहुनी तक काँसा अथवा पीतल के मोटे सात कंगन उराँव युवतियों के प्रिय हाथ के आभूषण हैं। इन्हें शादी के समय माता-पिता देते हैं। इन सात कंगनों के अतिरिक्त एक और मोटा पीतल का कंगन (रसनिया) प्रत्येक हाथ में पहनती हैं। कुछ धनी उराँव युवतियाँ और महिलायें गले में काँसा द्वारा निर्मित हँसौली (हँसली) पहनती हैं। इसके अलावे और धनी युवतियाँ और महिलायें चाँदी के सिक्कों को ''चँदवा माला' बना कर गले में पहनती हैं। उराँव भी 'चँदवा' माला पहन सकते हैं। कान में छेद बना कर पहले ताड़ के पत्तों को सुखाकर और उसे लाल रंग कर और गोल बना कर कान में पहना जाता है, इसे ''बिन्दिया'' कहते हैं। धनी युवतियाँ चाँदी का कर्णफूल पहनती हैं। पैरों में पहनने वाला ''पैरो'' केवल शादी के समय पहना जाता है। छोटी उम्र में ही लड़की की नाक के बायें हिस्से में छेद बनाया जाता है और बड़ी होने पर उसी छेद में चाँदी का आभूषण (बेसर) पहनाया जाता है। सिर के जूड़े में लकड़ी की बनी कंघी (बगिरका) रहती है। जूड़े में चाँदी या पीतल का बना खोंगसो घुसेड़ देती हैं। खोंगसो के ऊपरी भाग में छोटा आयना भी बना रहता है (आयना खोंगसो)। जतरा अथवा त्योहार के अवसर पर नाचते समय जूड़े में फूल लगाती हैं। प्रायः प्रथम बच्चे के जन्म तक अपने को युवतियाँ आभूषणों से सजाती हैं।

पुरुषों के आभूषण

प्रत्येक उराँव युवक पीतल का बेरा कलाई में पहनाता है केहुनी के ठीक उपर पीतल के बने बैंकल अथवा विजैत' पहनता है। अनेक तरह के 'काँसी' घास से बने आभूषण गले में पहनता है। सिर के बालों को न काटकर बढ़ाता है। जतरा जाते समय सिर के पीछे बालों का जूड़ा बनाकर बीच में छोटा आइना जरूर लगाता है।

ताबीज के रूप में आभूषण

एक उराँव सीधा या टेढ़ा लोहे का कंगन कलाई में और लोहे की अँगूठी एक अँगुली में बिजली से बचने के लिए पहनता है। ये लोहे सूर्य अथवा चंद्रग्रहण के समय खुले आकाश के नीचे रहने चाहिये। जन्म के समय जिन बच्चों के पैर पहले निकलते हैं, ऐसे बच्चों को उपरोक्त चीजें पहनाई जाती हैं। दुष्ट

नजरों से बच्चों को बचाने के लिए बच्चों के गले में कौड़ी का शंख गूंथ कर पहनाया जाता है। कुछ उराँव विशेष कर नागमतिया या ''साँप ड।क्टर'' अपने गले में ''घोरा सांप'' की हड्डियों को काले और पीले सूत में गूँथकर पहनते हैं।

उराँवों के घर

सामान्य उराँव की दो झोपड़ियाँ होती हैं, जिसकी चार छोटी मिट्टी की दीवारें होती हैं। छत खपड़े या बाँस का होता है। झोपड़ी का फर्श भी मिट्टी का होता है और जमीन की सतह से थोड़ा उठा हुआ होता है। बड़ी झोपड़ियों के मुख्य दो खंड या खाने होते हैं। बड़े खंड सोने, खाने और रसोई के लिए और दूसरा खंड लकड़ी घर, भंडार घर जिसमें धान के अलावे सब तरह के घड़े तथा कड़ाही आदि रखे जाते हैं। झोपड़ी के सामने छोटा बरामदा होता है जहाँ लोग बैठते हैं, बूढ़े सदस्य प्रायः बरामदा में सोते हैं। बड़े कक्ष में एक कोने को बाँस से घेर देते है, जहाँ मुर्गियाँ रखी जाती हैं। छोटी झोपड़ी में जानवर रखे जाते हैं। इसके बरामदे में सूअर रखे जाते हैं। बड़े परिवारों में छोटी झोपड़ी के बीच का भाग सोने के लिए प्रयुक्त होता है। बाँस की लकड़ी से जानवरों और मुर्गियों के लिए स्थान का विभाजन करते हैं। गरीब उराँव, बड़े कक्ष को ही शयन कक्ष बनाता है। शयन स्थान के आगे एक बाँस से घेरा बनाते हैं, जिसके एक कोने में जानवर ओर दूसरे कोने में मुर्गियाँ रखी जाती हैं।

कुछ धनी उराँवों की दो झोपड़ियाँ अथवा घर होते हैं, साथ ही बीच में आँगन, पीछे सब्जी उपजाने के लिए बारी (बगान) होता है। इनके घर के स्तम्भ, कड़ी और धरन आदि जंगल के साल वृक्ष के होते हैं। धनी या गरीब उराँव के घर में खिड़की नहीं होती परन्तु एक ही दरवाजा होता है। दीवारों को सरहूल पर्व के पहले लीपते हैं।

10-15 घरों का एक गाँव बनता है, जिसमें प्रायः अपने ही गोत्र के लोग रहते हैं परन्तु लोहार, चीक-बड़ाइक, शादी में बाजा बनाने वाले घाँसी, तेली, कुम्हार भी इनके साथ रहते हैं, क्योंकि एक किसान को कभी न कभी इनकी आवश्यकता होती है।

गाँव से सटा अथवा गाँव के बीच में अखरा होता है। यहाँ नाच-गान के अलावे पंचायत की बैठकें होती है। उराँवों के फर्नीचर में चटाई, खटिया, मचिया और पीढ़े बैठने के लिए होते हैं। चटाई और खटिया बैठने और सोने के काम आते हैं।

बरतनों में काँसे की थाली अथवा छिपनी, डुभनी क्रमश भात-सब्जी खाने के लिए और लोटा, जिसका पानी हाथ पैर और मुँह धोने के लिए प्रयुक्त होता है। रसोई के लिए लुहार से बनाये गये करछुल लकड़ी का चम्मच ''दुई'' होता है जिसे बढ़ई बनाते हैं। करछुल से पकते भातको चलाते हैं और दुई से सब्जी, दाल और माँस को भूँजते हैं। लुहार से बनाया गया कोंहा कान्तों' या बड़ा चाकू सब्जी अथवा माँस काटने में प्रयुक्त होता है। तुम्बा (गोंगरा) के भीतरी भाग को निकाल कर कहीं जाते समय उसमें पानी पकड़ते हैं। उराँव महिलायें सखुए पतों को बाँस की चैली से जोड़कर पत्तल और दोना बनाती हैं, जो भात खाने के लिए प्रयुक्त होती हैं। शहर के निकट रहने वाली महिलाएँ पत्तल और दोना बना कर बेचती हैं।

भात, मिट्टी के छोटे घड़े 'चरी' में बनता है, सब्जी बनाने के लिए मिट्टी का बना 'तवा' होता

है, दाल भी इसी में बनती है। गगरी अथवा घड़े में पानी ढोया जाता है। धान उबालने के लिए बड़े घड़े का प्रयोग होता है। डुहड़वा अथवा ''ढुढ़वा'' में तेल रखते हैं। टट्टी (कप) में तेल रखकर बत्ती जलाते हैं। उपरोक्त सभी मिट्टी के पात्र कुम्हार द्वारा बनाये जाते हैं।

बाँस से बनी अनेक छोटी बड़ी टोकरियाँ तुरी, महली के द्वारा बनायी जाती है। 'छटका' बहुत बड़ी टोकरी है जिसमें धान रखा जाता है। 'खैचला' यह छोटी टोकरी है जो धान और खाद ढोने के काम आती है। इसमें अन्य चीजें भी रखी जाती हैं।

'नचु' और छोटी टोकरी है, इसी में धान रखकर खेत में धान को बोया जाता है। 'टोकी' और आकार में छोटी है। स्त्रियाँ इसे महुआ चुनने और साग तोड़कर रखने के काम में लाती हैं। 'कुमनी' इससे मछली पकड़ी जाती है। 'सूप' यह ओसाने, धान साफ करने और धार्मिक कामों में प्रयोग किया जाता है।

उराँव के घर में कुल्हाड़ी अवश्य मिलती हैं। कुल्हाड़ी लकड़ी काटने, फाड़ने और अनेक तरह के घरेलू कामों में प्रयुक्त होती है। कृषि के औजारों की चर्चा हो चुकी है (दे. द्वितीय अध्याय न० 29) अपने घरों को साफ करने के लिए स्त्रियाँ 'बिरनी घास' का झाडू 'चलकी' बनाती हैं। इसी प्रकार सिर पर पानी ढोने के लिए पुवाल का 'नेठो' या पुवाल का तकिया बनाती हैं। इसे सिर के ऊपर रख कर उसके ऊपर घड़ा रखती हैं। जानवरों के गले में लकड़ी की घंटी 'ठरकी' बाँध देते हैं जिससे भटके हुए गाय-बैल या बकरी को जंगल में भटकने पर खोजा जा सके।

वाद्य यन्त्र-मान्दर

यह उराँवों का प्रसिद्ध बाजा है। प्रायः सम्पन्न उराँव परिवारों में मिलता है। गोराइत जाति के पुरुष इसे बनाते हैं। लड़के इसे कन्धे में टाँग कर त्योहार, जतरा और शादी के अवसरों पर बजाते हैं। ''नगाड़ा'' कुछ भारी होता है, तिस पर भी अपने कंधों पर ढोकर उराँव युवक अखाड़े में बजाते हैं। 'ढोल' भी कंधों में टांग कर बजाते हैं। शिकार के समय उराँव युवक पीतल अथवा ताम्बें का बना 'नरसिंगा' फूँकते जाते हैं। गाय-बैल चराते समय चरवाहे 'मुरली' बजाते हैं। शादी के अवसर पर पीतल या ताम्बे की बनी लम्बी तुरही, शहनाई (ताम्बा अथवा काँसा का बना) गोराइत बजाते हैं।

उराँवों की सामाजिक व्यवस्था

1. गर्भावस्था की देखभाल

गर्भ के चिन्ह प्रकट होने पर कुछ चीजों में गर्भवती माता को सावधानी बरतनी पड़ती है। वह न तो मुर्दे को गाड़ने के लिए जाती है, न मृतक को छू सकती है। बिजली चमकने और बादल के गर्ज़न समय अपने घर के द्वार पर खड़ी नहीं रहती है। घर के बाहर जाते समय उसे अपने को साड़ी के पल्लू से पूरी तरह ढाँप लेना चाहिये, नहीं तो दुश्मन अथवा बुरी नजर वाले व्यक्ति उसकी नाजुक स्थिति को जान जायेंगे। अपने को नहीं ढाँपने का दुष्परिणाम उसे झेलना पड़ता है। गर्भावस्था अथवा प्रसव के समय जो औरतें मर गयीं हो, इनकी आत्माएँ और चुरील उसका हमेशा पीछा करेंगी और उसे अकेली पाकर तंग करेंगी। वे दुष्ट आत्माएँ उसे गुदगुदाने लगती हैं। गर्भवती स्त्री को यातना देने के लिए उसे जमीन

पर पटक देती हैं, और हर प्रकार से उसकी हानि करती हैं। ऐसी तकलीफों से बचाने के लिए धनी-मानी हिन्दुआइस्ड उराँव लोग शाम ढलने के बाद गर्भवती बहुओं को बाहर निकलने नहीं देते हैं। ऐसे भी हिन्दुआइस्ड उराँव परिवारों में गर्भवती स्त्री के खाने-पीने में भी प्रतिबन्ध होता है। सभी उराँव परिवारों में स्त्री, बीमारी में भी कुछ दवा नहीं ले सकती है। किसी-किसी उराँव देहात में, यदि स्त्री प्रथम बार गर्भवती हो, तो अपने पिता के गोत्र देवता और पिता के गाँव के अधिष्ठाता देवताओं के लिए एक सूअर की बलि दी जाती है। इस धर्मविधि को 'जोड़ा कामना' कहते हैं। इस धर्मविधि का मुख्य उद्देश्य गर्भवती स्त्री और गर्भ में स्थित शिशु को नाना के परिवार में खूँट भूत से बचाना होता है। साथ ही गर्भवती स्त्री के पिता के गाँव के अधिष्ठाता देवताओं द्वारा सुरक्षा पाना होता है।

2. जोड़ा कामना

गर्भवती स्त्री के पिता को निमन्त्रण दिया जाता है। वर कुछ रिश्तेदारों के साथ घर आता है। आने पर उनके पैर धोये जाते हैं। घर के बाहर खुले स्थान में उनके बैठने के लिए चटाई दी जाती है। उन्हें चूना तमाकू भी खाने के लिए दिया जाता है।

आजकल सूअर का स्थान बकरी ने लिया है। बकरी को घर से बाहर निकाल कर, उसके सामने जमीन पर अरवा धान रखे जाते हैं। जब बकरी धान खाती रहे तो, गाँव के बुजुर्ग उसके सिर पर अनाज फेंकते हुए कहते हैं—''आज के दिन से लेकर हे गर्भवती स्त्री के पिता के पूर्वज देवताओ! भूतो! आप लोगों का इस स्त्री से कुछ सम्पर्क नहीं है। आप लोग इसे छोड़ दीजिये। इतना कहने के बाद कुल्हाड़ी से बकरी या सूअर को काटा जाता हे। इसके बाद उपस्थित मेहमान, गर्भवती के पति के साथ घर के भीतर जाते हैं, उनके पीने के लिए हँड़िया दिया जाता है। उन्हें काटे हुए बकरी अथवा सूअर के माँस के साथ भोजन परोसा जाता है। इसके बाद चूना तमाकू खाने के बाद और एक दूसरे को प्रणाम करने के बाद गर्भवती स्त्री के पिता एवं रिश्तेदार वहाँ से विदा लेते हैं। प्रसव के दिन तक प्राय: महिलाएँ शारीरिक काम करती हैं।

कठिन प्रसव

उराँवों का यह विश्वास है कि प्रसव में यदि जटिलता आ जाये तो यह सब बुरी आत्माओं एवं बुरी नजरों के कारण हो रहा है। प्रसव को सरल बनाने के लिए उसे खाँसने को कहा जाता है। कठिन और लम्बे प्रसव के समय सभी मिट्टी के बरतनों के ढक्कन हटा दिये जाते हैं, उराँवों का विश्वास है कि प्रसव की बाधाएँ हट जाती हैं। यदि इससे भी प्रसव में जटिलता रह जाती है तो एक मुट्ठा अनाज मिट्टी के बरतन में भून कर उपस्थित लोगों को बाँटा जाता है। ऐसा कहा जाता है कि अनाज भूनने की नौबत कम ही आती है, क्योंकि ''तवे को आग के ऊपर रखो'' मात्र इतना ही कहने से प्रसव जल्दी हो जाता है।

कभी-कभी लम्बे प्रसव पीड़ा के समय दूसरा विलक्षण उपाय किया जाता है। वह इस प्रकार है—यदि पड़ोस में ऐसा ईमली पेड़ हो, जिसमें कभी बिजली गिरी हो तो कोई आदमी उस वृक्ष से सट कर खड़ा हो जाता है। कमर को छूने वाली छाल को काटकर लाता है, और उस छाल को थोड़े खुले हुए दरवाजे से भीतर फेंकता है। गर्भवती स्त्री को उसे एकटक देखना पड़ता है। छाल के दूसरे भाग को

वह आदमी बाहर पकड़े रहता है। प्रसव होने पर उसे सूचना दी जाती है और वह तुरन्त छाल को भीतर से बाहर खींच लेता है। नहीं तो ऐसा विश्वास किया जाता है कि गर्भाशय उलट जा सकता है।

गर्भावस्था के समय न प्रसव के समय या बाद, उराँव पति के न तो खान-पान में न व्यवहार में कुछ परिवर्तन आता है।

4. अजन्मे बच्चों का लिंग

यदि गर्भावस्था में गर्भवती स्त्री पतली होती जाती हो, और उसकी आँखें धँस जा रही हों तो यह विश्वास किया जाता है कि वह लड़के बच्चे को जन्म देगी। प्रसव पीड़ा के समय दाहिने तरफ उठने के लिए झुकती है तो विश्वास किया जाता है कि गर्भ के दाहिने ओर शिशु के और पुलिंग है। यदि वह उठने के लिए बायें हाथ का सहारा लेती है तो यह विश्वास किया जाता है कि वह लड़की जन्म देगी। नाभि नाल के जितने गाँठ हाते हैं उतने ही बच्चे होने कि संभावना होती है। कुछ उराँव विश्वास करते हैं कि सफेद गाँठ पुत्र की संख्या और गहरा रंग पुत्री की संख्या इंगित करता है।

5. जन्म

बच्चे के जन्म लेने की स्थिति में पुरुष झोपड़ी को छोड़ देते हैं, और केवल बूढ़ी स्त्रियाँ ही गर्भवती स्त्री की देखभाल के लिए रह जाती हैं। पुरुष किसी भी हालत में प्रसव नहीं देख सकते हैं, क्योंकि उनके देखने से कुछ गड़बड़ी अवश्य होगी और प्रसव पीड़ा बढ़ जाती है। कोई भी महिला सदस्य, यहाँ तक कि कोई लड़की भी खड़ी रह सकती है। प्रसव के समय उसे पीछे की ओर झुक कर घुटने टेकना पडता है। कोई बूढ़ी संबंधी दीवार का सहारा लेकर बैठ जाती है और गर्भवती स्त्री को पीछे से सहारा देती है। दूसरी, परिवार ही की बूढ़ी स्त्री, गर्भवती स्त्री के सामने बैठती है और जन्मते ही बच्चे को अपने हाथ में ले जाती है। ये दोनों स्त्रियाँ 'कुसरैन' और 'प्रसाविका' कहलाती हैं। वे नये बच्चे को कुनकुने पानी से नहलाती हैं, अथवा कुछ देहातों में काँजी पानी से। (काँजी पानी चावल पानी को कहते हैं जो कि दो या तीन वर्षो तक बन्द बोतल में रखा जाता है।)

6. नाभि की नाल और उसके जुड़ने का स्थान (खेड़ी)

कोई बूढ़ी स्त्री चाकू अथवा ठीकरे के टुकड़े से नाभि नाल को काटती है। इसके बदले पारिश्रमिक के रूप में उसे एक आना अथवा आधा आना मिलता है। कभी-कभी यह होता है कि शिशु, झिल्ली के आवरण के साथ जन्म लेता है, तो उस बालक को धोकर उसे खाद के गड्ढे में लिया जाता है। एक औरत बच्चे को गड्ढे में सुला देती है और उसके बाद परिवार की दूसरी महिला बच्चे को गड्ढे से लाती है। अगर किसी और के अनेकों बच्चे जन्म होते ही मर चुके हों, वह स्त्री भी खाद-गड्ढे में एक महिला द्वारा खाद के ढेर के ऊपर बैठा दी जाती है, और दूसरी महिला द्वारा वहाँ से हटाकर ली जाती है। उराँवों का विश्वास है कि ऐसा करने से दुष्टात्माओं की नजरें बालक पर नहीं लगती हैं, क्योंकि दुष्टात्माएँ खाद-गड्ढे में फेंके गये बच्चे को बेकार समझ कर परवा नहीं करती हैं। ऐसे बच्चों का नाम 'फेकुआ' अथवा 'गन्दुर' अथवा 'मादि' रखा जाता है। नाल और खेड़ी को पुराने झाडू और पुराने सूप के साथ ही जमीन में गाड़ दिया जात है। किसी गाँव में तो ये चीजें झोपड़ी के भीतर ही जमीन में गाड़ी जाती हैं। किसी दूसरे गाँवों में आँगन के उस हिस्से की जमीन के नीचे, जहाँ बरतन रगड़े और

धोये जाते हैं, अथवा परिवार के खाद-गड्ढे में गाड़ी जाती हैं। नाभि की नाल का टुकड़ा जब सूख कर गिर जाता है तो उसे झोपड़ी की देहली में गाड़ दिया जाता है। ऐसा नहीं करने से डायन और ओझा उसे बाँझ औरत को खाने दे देंगी। इसका परिणाम यह होगा कि बाँझ औरत सन्तान उत्पन्न करने लगेगी और जिस औरत की नाभि की नाल है, वह बाँझ हो जायेगी। यदि दो बच्चों के जन्म में अन्तराल रखना चाहें तो जो व्यक्ति नाभि नाल के टुकड़े और खेड़ी को गाड़ने के लिए गड्ढा खोदता है वह कुदाली को खोदते समय सिर के उपर उठाये। यदि किसी नवजात बच्चे के दो दाँत जन्म से दिखाई दें तो उसे नमक चटाकर मार डालते हैं। अभी तक उराँव जाति में यह विश्वास है कि ऐसा बच्चा राक्षस होता है और माँ-बाप को मार डालता है। यदि किसी नवजात शिशु कन्या के चर्वण दाँत हों, तो ऐसा विश्वास है कि वह विधवा हो जायेगी। पहले जमाने में ऐसी लड़कियों के लिए पति नहीं मिलते थे।

लड़का या लड़की ने जन्म लिया है, इसकी जानकारी भी अनोखे ढंग से पुरुषों को दी जाती है। प्रसूति कमरे के दरवाजे के बाहर परिवार की स्त्रियाँ लड़का होने पर हल और लड़की पैदा होने पर बाँस की टोकरी रख देती हैं।

7. शोधक स्नान

औरतें जो जन्म में मदद देती हैं, बालक के जन्म के बाद जब तक खेड़ी समाप्त नहीं हो जाता, अशुद्ध मानी जाती हैं। इसके बाद वे पड़ोस के तालाब, नदी अथवा कुएँ के जल से स्नान करके अपने शरीरों में पिसी हल्दी मिला हुआ तेल लगाती हैं, और शुद्ध समझी जाती हैं (गाँव की नदी में स्नान वर्जित है)। इसके बाद वे प्रसूति कमरे से बाहर की चीजों को छू सकती हैं, यदि वे दूसरे घर की स्त्रियाँ हों, तो अपने घरों में प्रवेशकर सकती हैं।

8. पयसारी

जन्म के दिन अथवा दो-तीन दिनों के बाद, बच्चे का बाप अथवा दूसरे संबंधी गाँव के पहान के लिए लाल अथवा भूरे रंग का चूजा, थोड़ा अरवा धान और दो ताम्बे के पैसे देते हैं। पहान के लिए देने से पहले इन चीजों को शिशु के सिर के ऊपर घुमा लेते हैं। गाँव का पहान चूजे के लिए कुछ अरवा धान खाने के लिए देता है, और अपने घर में छोड़ देता है, और कुछ दिन के बाद गाँव के देवताओं के लिए बलि देता है।

किसी-किसी गाँव में पयसारी समारोह से संबंधित प्रथाएँ और विस्तृत हैं। सर्वप्रथम गाँव के पहान को बुलाया जाता है। उसके आने पर एक भूरा चूजा (कहीं-कहीं काला अथवा लाल चूजा), थोड़ी मात्रा में पत्तल में अरवा धान और एक या दो आना उसके सामने रखे जाते हैं। सब से पहले पहान पत्तल को हाथ में लेकर बच्चे के सिर के चारों ओर घुमाता है और अंत में पत्तल से बच्चे के सिर का स्पर्श करके, उसे जमीन में रख देता है। इसी प्रकार चूजे को लेकर भी बच्चे के सिर के ऊपर बार-बार घुमा कर उससे बच्चे के सिर को स्पर्श करता है। इसके बाद चूजे को घर ले जाकर गाँव के देवताओं के लिए बलि देता है। बलि देते समय इस प्रकार प्रार्थना करता है—'नवजात शिशु के कल्याण के लिए पयसारी बलि दे रहे हैं। इस बच्चे की उम्र लम्बी हो, यह बुढापा देख सके। बलि चूजे का कलेजा और गले का माँस काट कर निकाला जाता है और साल पत्ते में बन्द करके आग में पकाया जाता है। बाकी

माँस को चावल के साथ टहरी के रुप में पकाया जाता है। पहान भूने हुए कलेजे को अँगुलियों से रगड़ते हुए जमीन में रखे हुए पत्तल में गिरा कर देवताओं को बलि चढ़ाता है। इसके बाद हँड़िया का एक घूँट लेता है। कुछ गाँवों के एक-दो बुजुर्ग (पंच भी हो सकते हैं) भी उपस्थित रहते हैं। पहान के साथ वे भी अपने हाथों में पत्ते का दोना लेते हैं। तीन दोने, हँड़िया से भर दिये जाते हैं। तीनों व्यक्ति अपने दोने के हँड़िया को भूमि पर चुलाते हुए कहते हैं-'आज हमलोग (बच्चे के पिता का नाम लेकर) फलाँ का पयसारी मना रहे हैं। इसे अपने संबंधियों, मित्रों के बीच बाँट लो, जो चाहे कोयल नदी के इस पार हों, या उस पार हों। तीनों दोनों में बचे हुए हँड़िया में घड़े का हँड़िया मिला दिया जाता है और यही पवित्र किया हुआ हँड़िया उपस्थित लोगों के बीच बाँटा जाता है। इसी प्रकार बलि चढ़ा हुआ माँस, चावल के साथ पका हुआ, उपस्थित लोगों के बीच परोसा जाता है।

9. अशुद्धता के दिनों की प्रथा

प्रसूति के पहले तीन दिनों तक माँ और नवजात शिशु को प्रसूति कमरे में अलग रखा जाता है। न केवल, माँ और बच्चा परन्तु पूरा घर ही अशुद्ध माना जाता है। इसलिए दूसरे घर का उराँव उस घर में किसी तरह का भोजन नहीं लेता है।

जब तक माता पूर्ण रूप से ठीक नहीं हो जाती, तब तक दोनों धात्रियों में से कोई एक प्रसूति कमरे में प्रतिदिन दो बार आती है। तीन दिनों तक अथवा अधिक दिनों तक भी सुबह शाम जन्म देने वाली माता के अंगों में सरसों तेल से मालिश करती हैं। बच्चे को भी सेकती हैं, और माता के साथ बच्चे की रात में देखभाल करती हैं। प्रसव के दूसरे दिन किसी-किसी गाँव में माता को उबाले हुए सिंदुवाइर डंठल मिलकर गुनगुने पानी से नहलाया जाता है। इन तीन दिनों में माता को हल्दी मिला कर, उबाला हुआ भोजन खाने के लिए दिया जाता है। यह भोजन गर्भाशय की जटिलता को सरल बनाने में मदद करता है। दूसरे गाँवों में पहले तीन दिनों के भोजन में माता के लिए हल्दी, उरद, मूंग और चावल को एक साथ पका कर दिया जाता है। उरद और मूंग की दाल से स्तनों में दूध जल्दी आ जाता है। प्रसव के बाद एक पखवारे तक न तो ठंढा पानी पी सकती है, और न दलिया में पकाया हुआ साग खा सकती है। जब तक बच्चे की नाभी का घाव नही छूटता है, प्रसूतुति घर में आग जलायी जाती है। इस आग में सिंदुवाइर की पत्तियाँ एवं डंठल को जलावन के लिए प्रयोग किया जाता है। दूसरे परिवार का कोई भी व्यक्ति इस आग को प्रसूति कमरे से बाहर नहीं निकाल सकता है।

10. दुष्टात्माओं से सतर्कता

बच्चे के जन्म के बाद माता जब अशुद्ध रहती है, इसी समय दुष्टात्माएँ माँ और बच्चे पर आक्रमण करती हैं। रक्त स्राव की गंध दुष्टात्माओं, विशेष कर प्रसव के समय मरने वाली स्त्री (चुड़ैल)को आकर्षित करती है। इसलिए इन दुष्टात्माओं से माता और पुत्र की रक्षा करने के लिए एक छड़ी प्रायः जिसके मूँठ में लोहा हो, इसके अलावे कुल्हाड़ी और हँसुआ और दूसरे प्रकार के हथियार माता के सिर के पास रख देते हैं। लोहे से दुष्ट आत्माएँ डरती हैं। एक मुट्ठा सरसों के दाने भी माता के कपड़े के एक छोर में बाँध दिया जाता है। दुष्ट आत्माओं के साहस करने पर सरसों के दाने छिड़क

दिये जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि दुष्टात्मा फेंके गये दानों को उठाने लगेगा, जो एक लम्बा काम होगा, और वह कुछ दूसरा काम नही कर पायेगा।

इस समय डायन और ओझा भी बहुत भयंकर हो जाते हैं। वे काली बिल्ली का रूप लेकर जन्म देने वाली स्त्री के पास पहुचते हैं। पहुँचने के तुरन्त बाद उसके शरीर से निकलने वाले खून अथवा उसके अंगों को चाटने लगते हैं। इसका दुष्परिणाम अवश्य यह होता है कि वह स्त्री भयंकर रूप से बीमार पड़ती है। कभी-कभी चोरदेवाँ' माता की योनि को चाटने में सफल हो जाता है और रहस्मय ढँग से उसके कलेजे को निकालता है तो स्त्री मर जाती है। इसीलिए पहले कुछ दिनों के रक्त स्राव के समय धात्री उसके पेट में तेल लगाती है, जिससे पेट फिसलने लगे और डाइन उसका कलेजा न निकाल सके। माता और बच्चे को बिल्ली के रूप में डाइन और ओझा से बचने के लिए दोनों अथवा एक धात्री (कुसरैन) प्रसूति घर में निरन्तर रहती हैं। शुद्ध होने के दिन तक दोनों में कोई एक माता और बच्चे के पहने और बिछाये गये वस्त्रों को किसी तालाब अथवा नदी (गाँव की नदी में नहीं) में धोने के लिए ले जाती हैं।

11 शुद्ध होने की विधि

साधारणतः जन्म के चौथे अथवा पाँचवें दिन गोबर को पानी में घोल कर घर की जमीन और आँगन को लीपते हैं। अशुद्धि के दिनों में परिवार के सदस्यों द्वारा पहने गये वस्त्रों को राख मिले हुए पानी में उबालते हैं। माता और बच्चे द्वारा प्रसूति कमरे में प्रयुक्त चटाई भी धात्रियों द्वारा धोयी जाती हैं। दोनों धात्रियों को उस दिन उत्तम भोजन के साथ हँड़िया दिया जाता है। धनी-मानी उराँव अपने मित्रों और संबंधियों को भी निमन्त्रण देते हैं।

उसी दिन अथवा दूसरे दिन जब नवजात शिशु की माँ प्रसव के बाद पहली बार गाँव के कुएँ, का पानी लाने जाती है तो पत्थर के स्लैब अथवा लकड़ी के टुकड़े पर तेल में मिलाकर सिंदूर लगाती है। ऐसा नहीं करने पर डाड़ी भूत नाराज हो जाता है और फलस्वरूप जल, गन्ध देने लगता है अथवा बाल के समान छोटे-छोटे पौधे पानी में निकल जाते हैं।

12. दुष्ट दाँत को काटना

जन्म के आठवें अथवा नवें दिन एक मरतबे में हँड़िया, आँगन में निकाला जाता है। आँगन को पहले ही गोबर पानी से लीप कर साफ किया जाता है। मत्ती अथवा मन्त्र जानने वाले किसी उराँव को बुलाया जाता है। किसी-किसी गाँव में बच्चे का आजा (दादा) अथवा आजा की बहन के पति को इस काम के लिए उपयुक्त समझते हैं, परन्तु इन्हें मन्त्रों को जानना आवश्यक है।

एक मुर्गी का अंडा, छोटा भेलवा की टहनी, थोड़ा चावल की गुंडी (चूर्ण) थोड़ा कोयले का चूर्ण, चूल्हे से निकाली गयी जली हुई मिट्टी, उसके सामने रखी जाती है। इनके द्वारा वह भूमि पर चित्र बनाता है जो उसके जादू-टोने का प्रतीक होता है। अंडे को टहनी के टेढ़े-मेढ़े आखिरी भाग में फाड़कर घुसेड़ दिया जाता है और उसे चित्र के ऊपर रख देता है। तीन रंग, लाल (चूल्हे की जली मिट्टी), सफेद (अरवा चावल का चूर्ण), और काला (कोयले का चूर्ण) यह स्वर्ग अथवा पृथ्वी का सबसे बड़ा और शक्तिशाली धनुष माना जाता है, इसलिए कष्ट पहुँचाने वाले भूतों को भगाने में समर्थ होता है। भेलवा का एक बूंद रस भी किसी की आँख खराब कर सकता है, इसीलिए विश्वास किया जाता है कि भेलवा

की टहनी बुरी आँख को दूर कर सकता है। बुरे दाँत को काटने का अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति, चित्र के सामने बैठता है और गाने की आवाज में लम्बी कहानी कहता है। कहानी का पहला भाग मनुष्य की उत्पत्ति और वृद्धि और खेती की शुरूआत से संबंध रखता है, दूसरे भाग में लोहे की खोज और देवताओं और आत्माओं की उत्पत्ति बताई जाती है। मन्त्रों को कहते समय सूप में रखे हुए कुछ अरवा धान को अपने हाथों से मसलते जाते हैं। मन्त्रोच्चारण की समाप्ति पर वह बायें हाथ से अंडे को लेता है और दाहिने हाथ से उसके ऊपर चावल छिड़कते हुए कहता है-'हे धर्मेस! मैं तुझे अरवा धान चढ़ाता हूँ। आज से लेकर, ये घर और परिवार दुष्टात्माओं और बुरी नजर वाले व्यक्तियों से बचे रहें, जैसे कि तीते झीगें और लौवे व्यक्तियों द्वारा फेंक दिये जाते हैं। घने जंगलों, यहाँ तक कि वृक्षों के ठूँठ और नुकीले काँटे उन्हें हानि न पहुँचायें। मैं यह अंडा तुम्हें चढ़ा रहा हूँ। मैं ने तुझे अर्पण कर लिया। अब में इसे फोड़ रहा हूँ। ऐसा कहकर तुरंत चाकू फोड़ कर जरदी को दाने में रखे हुए चावल के चूर्ण में गिराता है। यह दोनों चूल्हे के ऊपर रखा जाता है। कोयले के चूर्ण और लाल मिट्टी, चित्र बनाने वाले के लिए प्रयुक्त हो चुके हैं, अतः चूल्हे में वर्तमान कोयला चूरा और लाल मिट्टी को हाथों से निकाल कर क्रमशः कोयले के चूर्ण और लाल मिट्टी वाले दोने में रखा जाता है। मन्त्र उच्चरित करने वाला पहान या व्यक्ति इन दोनों को रास्ते के किनारे लेकर रख देता है। घर लौटकर पहान अपना हाथ और पैर अपने सामने रखे गये पीतल के जग के पानी से धोकर उपस्थित लोगों को प्रणाम करता है। पकाये हुए अंडे की जरदी चूल्हे से उतारकर उसके पास लाया जाता है। सर्वप्रथम अनुष्ठान करने वाला व्यक्ति या पहान अपनी अंगुली के नाखून से जरदी को खुरचता है और धर्मेस के नाम पर जमीन पर उसे बलि देते हुए कहता है—हे धर्मेस! मैं बलि का कलेजा तुझे दे रहा हूँ।' अंडे का बाकी भाग बच्चों के बीच बाँट दिया जाता है। पानी का तर्पण धर्मेस के लिए और हँड़िये का तर्पण पूर्वजों की आत्माओं के लिए दिया जाता है। अन्त में अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति अथवा पहान के लिए पर्याप्त हाँड़या दिया जाता है। कुछ गाँवों में तो अनुष्ठान के करने तक नवजात शिशु को दुष्टात्माओं और बुरी नजर से डर के बाहर नहीं निकालते हैं। यह अनुष्ठान 'डंडा कट्टा' (भेलवा छड़ी को फाड़ना) भी कहा जाता है।

13. नामकरण धर्मक्रिया या धर्मानुष्ठान

नामकरण की धर्मक्रिया जन्म के चार अथवा छः अथवा एक महीने के बाद होती है। नामकरण होने के पहले तक बच्चे को उनके जन्म दिन के नाम से पुकारते हैं, जैसे— सोमरा-सोमारी, मंगरा-मंगरी, बुधवा-बुधनी, बिरसा-बिरसी, सुकरा-सुकरो या सुको, शनिचरवा-शनिचरी, एतवा-एतवारी। यदि वह किसी पर्व के दिन जैसे जितिया दिन जन्मा हो तो, जितना-जितनी, करमा पर्व के दिन जन्मा हो तो करमा-करमी फगुआ के दिन जन्मा हो फगुवा (फागु) फगनी नाम होंगे।

नामकरण की धर्मविधि के दिन अविवाहित लड़का अथवा गाँव का गोराइत बच्चे के सिर का बाल कुतरता है, परन्तु सिर पर बालों का गुच्छा छोड देता है। यदि किसी गाँव के निकट नदी हो, तो कुतरे हुए बाल को बहती नदी में फेंका जाता है, यदि नदी न हो तो तालाब में। ऐसा विश्वास किया जाता है कि बहते पानी में फेंकने से नदी के साथ बहते-बहते समुद्र पहुँच जाता है और इसी तरह शिशु बालिका के फेंके हुए बाल से मिलता है, जो कि भविष्य में उसकी पत्नी बनने वाली है। यदि नामकरण के पहले ही बच्चे के बाल कुतरे गये हों, तो भी कुछ बाल सिर में छोड़े जाते हैं। वे ही बाक कुतरे जाकर

बहती नदी या तालाब में फेंके जाते हैं।

बालों को कुतरने के बाद गोड़ाइत बड़े दोने में पानी भरकर उसे जमीन पर रखता है। गाँव के कुछ चुने गये बुर्जुगों में से एक, दूसरे के पंचों की उपस्थिति में एक हाथ से कुछ अनाज के दानों को लेकर तीन दाने एक के बाद दूसरा, क्रमशः पानी से भरे दोने में गिराता है, जब कि दूसरा व्यक्ति, बच्चे के विशेष मृत पूर्वज का नाम लेता है, यह नाम पिता की तरफ का भी हो सकता, अथवा माता की तरफ का। तीनों अनाज के दानों को उसी तरह एक दूसरे से सटना चाहिये, जैसे– धान के पौधों में दाने एक दूसरे से सटे रहते हैं। अनाजों के इस प्रकार सटने पर जिस पूर्वज के नाम पर अनाज के दाने गिराये गये थे, उसी पूर्वज का नाम दिया जाता है। यदि तीनों दाने या एक भी दाना पानी में डूब जाये तो पुनः तीन दाने पहले की तरह दोने के पानी में गिराये जाते हैं, और किसी पूर्वज का नाम लिया जाता है। यदि एक या तीनों दाने पानी में डूब गये तो, पुनः दूसरे पूर्वज का नाम लेकर दोने के पानी में अनाज के दाने गिराने का क्रम दुहराया जाता है, जब तक कि किसी पूर्वज के नाम पर अनाज के दाने तैरते हुए न मिल जायें। यह असम्भाव्य नहीं है कि यह प्रथा प्रारंभ में शकुन के तौर पर आरंभ हुई, यह जानने के लिए कि कौन सा पूर्वज बच्चे के रूप में जन्म लेगा, अथवा जिस पूर्वज का नाम बच्चे पर पड़ रहा है,वह उसकी रक्षा करेगा।

'नामे पिंजा' के दिन के बाद बच्चे का पुराना नाम हटा दिया जाता है और अनाज के तीन दानों के द्वारा अलौकिक रूप से बताये गये नाम से पुकारा जाता है। पुराने नाम के रहते हुए भी उसका असली नाम होता है। यह संभव था कि पहले असली नाम से बच्चे को नहीं पुकारते थे, क्योंकि डाइन और ओझा इस नाम को लेकर दूसरों की हानि पहुँचाते थे। जब इस प्रकार असली नाम का चुनाव होता है तो गोड़ाइत की पत्नी बच्चे को हल्दी मिले तेल से मालिश करके ठंढे पानी से स्नान कराती है। अन्त में गोड़ाइत के लिए तीन ''खाला'' (तीन बड़े पत्तों से बने पत्तल) में धान देकर दसे विदा करते हैं।

14. छठी का उत्सव

यह हिन्दुआइस्ड अथवा अर्ध हिन्दुआइस्ड उराँव परिवारों में मनाया जाता है। छठी द्वारा बच्चा समाज में शामिल किया जाता है। साधारणतः जन्म के छः दिनों अथवा इसके बाद भी मनाया जाता है। शिशु के माता-पिता के सगे संबंधी और पड़ोसी होते हैं। निश्चित दिन में मेहमान आधे आने से लेकर चार आने तक बच्चे को देते हैं। कुछ गाँवों में बच्चे के परिवार के सदस्य और उनके संबंधी अपने नाखून काटते और दाढ़ी भी इस दिन काटते हैं। इसी प्रकार बच्चे के सिर की चोटी में कुछ बालों के गुच्छों को छोड़ कर बालों को कुतरा जाता है। सभी मेहमानों को अच्छा भोजन और हँड़िया मिलता है।

15. नाक छिदवाना

जब एक उराँव लड़की करीब पाँच या छः साल की हो जाती है, तो कहीं-कहीं सुनार अथवा उसकी पत्नी लड़की की नाक का पट छेदने के लिए बलाये जाते हैं। अधिक स्थानों में एक जवान उराँव लड़की, छोटी लड़की की नाक में सूई चुभो देती है, और उसमें एक पतला (खइरका) नड या सरकंडा घुसेड़ दिया जाता है। दो वर्षों के बाद जब छेद कुछ बड़ा हो जाता है तो खइरका को हटा कर लोहे से बना पिन छेद में डालते हैं। तीन या चार वर्षों के बाद पिन (नाकमूत्री) को हटाकर धनी उराँव परिवार चाँदी का पिन (बेसर) लगाते हैं। कान छेदने के समान, नाक, छेदने में कोई धर्मक्रिया या उत्सव नहीं

मनाया जाता है। यदि सुनार बुलाया जाता हो, तो उसे पारिश्रमिक के तौर पर एक पैसा दिया जाता है।

16. ताबीज और बच्चे को हानि से बचाने के लिए शकुन

यदि बच्चा लगातार रोता हो, दूध नहीं पीता हो, अथवा पीने के बाद उल्टी कर सब निकाल देता हो, अथवा उसे नींद नहीं आती हो, तो एक उराँव माता यही समझती है कि बच्चे को बुरी नजर अथवा दुष्टात्माएँ लग गई हैं। इसे दूर करने के लिए एक उराँव माता, शाम के समय खुद सरसों के दाने अथवा नमक और हाथ में तीन मिर्च लेकर, पहले इन सब चीजों को बच्चे के सिर से स्पर्श करा कर, उसके सिर के चारों ओर बार-बार घुमाने के बाद उन चीजों को टूटे हुए मिट्टी के बरतन में रखकर, और यह कहते हुए उस टूटे बरतन को आग में रखती है-बुरा करने वाले की आँखें इससे भी अधिक बुरी तरह फूट जायें, जैसे— बरतन में रखी वस्तुएँ फूट रही हैं। दूसरे दिन सबेरे ही टूटे हुए उस बरतन को जले हुए मिर्च और सरसों के दानों सहित, बाएँ हाथ से पकड़ कर आम रास्ते में रख दिया जाता है। जो व्यक्ति उस बरतन को पकड़ कर ले जाता है, वह पहले बाँयें पैर से एक लात मार कर पात्र को चूर-चूर कर देता है और बिना मुड़कर देखे उस स्थान से चला आता है।

कभी-कभी बच्चे को बुरी नजर अथवा दुष्टात्माओं से बचने के लिए बच्चे के गले या कमर में एक या अधिक कौड़ियाँ बाँध दी जाती हैं। इसी उद्देश्य से कपाल में दोनों भौंहों के ठीक बीच काजल लगाया जाता है।

जन्म के समय जिस बच्चे का पैर पहले निकला हो, तो ऐसे बच्चों को बिजली प्रभावित करती है। इसलिए उसे बिजली और गर्जन से बचाने के लिए उसके पैर में वलय या कंगन (बेरा) पहना देते हैं। इस कंगन को सोहराई, अमावस्या के दिन बनाते हैं और चन्द्रग्रहण के समय उसे खुले आकाश के नीचे रखते हैं।

17. अन्न पहली बार खाना (अन्नप्राशन)

जब बच्चे को पहली बार भोजन दिया जाता है तो केवल कुछ ही हिंदुआइस्ड उराँव परिवारों में कोई अनुष्ठान सम्पन्न कराया जाता है। ऐसे परिवारों में बच्चे के छः महीने से लेकर एक वर्ष पूरे होने पर, बच्चे के माता-पिता अपने कुछ संबंधियों को बुलाते हैं, और माता अथवा पिता बच्चे के मुँह में कुछ पकाया हुआ भोजन बच्चे के मुँह में रख देते हैं। साधारणतः मंगलवार का दिन ''मुँह जूठी'' या ''अन्नप्राशन के लिए शुभ होता है, परन्तु बुध, शुक्र और शनिवार भी उपयुक्त हो सकते है अन्य दिन नहीं।

18. पहले दाँतों का झड़ना

जब लड़का अथवा लड़की का दूध दाँत टूटता है तो वह उस पर थूक कर, गोबर से सान कर (लपेट कर) उसे घर की छत के ऊपर फेंकता (फेंकती) जोर से कहता (कहती है) -''निग्हैं पच्चा, एँगहै पूना'' अर्थात् तुम्हारे पुराने, मेरे नये।

19. गोदना

उराँव लड़की के सात अथवा आठ वर्ष पूरे होने पर मालार स्त्री अपने दाँतेदार लोहे के औजार

से लड़की के कपाल पर तीन समानान्तर लकीरों का और दोनों कनपटियों में दो समानान्तर लकीरों का छेद बनाती है। इन छिन्द्रों में वह तेल में मिलाये गये काष्ठकोयला के चूर्ण के रंग को रगड़ती है। चार अथवा पाँच वर्ष के बाद और बड़े टोटो के चिन्ह उनकी छाती, बाँह और पैर में बनाये जाते हैं। फूल, पत्ती ही प्रायः हाथ-पैर और पीठ में बनाये जाते है।

यौवनारंभ या वयः संधि के अनुष्ठान

लड़के के बारह अथवा उससे अधिक का होने पर उसकी बाँह में सात या उससे अधिक क्षतचिन्ह या ब्रणचिन्ह निम्नलिखित तरीके से बनाये जाते हैं– सात अथवा अधिक गोबर की अँगूठियाँ उसकी बाँह में पहनायी जाती है। अँगूठी के भीतर के चमड़े को जलती हुई बत्ती या वर्तिका से जलाया जाता है। जहाँ धुमकुरिया हो, वहाँ ज्येष्ठ लड़के अपने से छोटे लड़कों की बाँह में ऐसे ही गोबर की अँगूठी लगा कर भीतर-चमड़े को जलाते हैं। जलने के स्थान में चिन्ह रह जाता है, इसे ''सिका'' कहते हैं।

बालों की पहली बार बाँधना

बचपन को समाप्त करने के लिए उराँवों के बीच एक दिलचस्प धर्मविधि है, परन्तु तीस वर्षों से अप्रचलित है। विधि इस प्रकार है– ''माघ महीने के पूर्णमासी के दिन सभी औरत, मर्द, लड़के और लड़कियाँ गाँव के पहान अथवा महतो के घर की ओर जाते हैं। जिन लड़के लड़कियों के बाल पहली बार बाँधे जानेवाले हैं, उनके माता-पिता छोटे पुवाल से बने थैले में (मोरा में) बिना कूटे हुए धान, आधे मन से लेकर तीस सेर तक उसमें रख देते हैं। इन मोरों को दो समानान्तर पँक्तियों में गाँव के पहान या महतो के आँगन में रख देते हैं। लड़के एक पंक्ति में रखे गये मोरों (पुवाल की थैलियों) में बैठते हैं। लड़कियों के मोरे लड़कों की विपरीत दिशा में रखे जाते हैं। लड़के, लड़कियों के सामने मोरे में बैठते हैं। प्रत्येक परिवार से एक औरत एक एक दीया सरसों तेल लेकर निकलती है और मोरे में बैठे हुए प्रत्येक लड़के और लड़की के सिरपर तेल लगाती है। सभी औरतों के एक-के-बाद-एक करके तेल लगाने पर लड़के और लड़कियों के सिर से तेल चूने लगता है। इसी बीच एक उराँव औरत प्रत्येक लड़की के बालों में तेल लगाकर अपने हाथों से बालों को रगड़ती है, और प्रत्येक लड़की के बालों को बाँध कर उसमें लड़की की कंघी घुसेड़ देती है। इसी प्रकार एक जवान आदमी प्रत्येक लड़के के बालों कों बाँध कर उसमें कंघी घुसेड़ देता है। इसके बाद सभी गाना गाकर नाचते हुए विभिन्न गाँव के पहान या महतो के घर जाते हैं, और हँड़िया पीते हैं। बालों को बाँधने की धर्म विधि के बाद ही लड़का धुमकुरिया में रह सकता था, और लड़की की शादी हो सकती थी।

स्वतंत्रता

आदिवासी युवक और युवतियाँ बहुत स्वतंत्र होती हैं। वे बाजार, मेला, अथवा शादी समारोहों में सज-धज कर जाते हैं, एक दूसरे से मिल कर हँसी मजाक भी कर सकते हैं। नृत्य-प्रेमी होने के कारण अखरा में साथ-साथ नाचते गाते हैं।

उराँव के साथ-साथ मुंडाओं की भी विशेषता है कि युवक-युवतियों के लिए धुमकुरिया घर होता है। इसकी जानकारी दी जा रही है–

जोंख एड़पा या धुमकुरिया

उराँव लोगों का एकल शैक्षणिक संस्था है, जिसे हिन्दी में युवा-गृह कहते हैं। इन युवा-गृह में युवकों को सामाजिक और नैतिक शिक्षा दी जाती है।

बनावट

युवा-गृह का भवन मिट्टी की दीवाल से घिरा होता है, जिसके केवल दरवाजा होता है। इसकी छत या तो पुवाल या खपरैल की बनी होती है। इसके भीतर सोने के लिए ताड़ के पत्ते से बना एक मचान होता है। किसी एक कोने पर लकड़ी का ढेर किया जाता है, ताकि जाड़े के दिनों में कमरे को गर्म रखने के लिए जलावन के उपयोग में लाया जा सके। इस घर में लगभग नाच गान से संबंधित यंत्र होते हैं जैसे गाँव के दर्जनों झाँझ, दो-तीन नगाड़े, दो तीन मांदर, दो चार जोड़े नरसिंघे, एवं लकड़ी के बने गोत्र टोटेम के रूप में बड़े या छोटे पशु और पक्षी का स्वरूप रखा जाता है। इन वाद्य यंत्रों का व्यवहार यात्रा, त्योहार, और शिकार आदि के अवसरों पर होता है। युवा-गृह एवं इसके कामों को देखने के लिए एक महतो का होना आवश्यक होता है। इनकी मदद के लिए कोटवार का होना भी आवश्यक होता है। धुमकुरिया के सदस्यों का प्रवेश दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था से लेकर बीस बाईस साल तक की अवस्था तक होता है। इन सब को अपने समाज के रीति एवं सामाजिक कर्तव्यों के पालन और सांस्कृतिक परंपराओं तथा धार्मिक अनुष्ठानों की शिक्षा यहीं दी जाती है। यह सब काम महतो के जिम्मे होता है। मगर कोटवार का काम यात्रा और नाच के अवसरों पर होता है। धुमकुरिया के तरफ से कोटवार को पूरा अधिकार दिया जाता है कि वह युवा-गृह के सदस्यों को नाच और यात्रा में उपस्थित होने के लिए वाध्य करे। जरूरत पड़ने पर वह उन्हें दण्ड भी दे सकता है।

धुमकुरिया का काम सुचारू रूप से चले, इसके लिए सदस्यों को तीन साल तक फीस के रूप में समय समय पर करन्ज का फल देना पड़ता है। इस करन्ज के तेल से युवा-गृह के कमरे को उजाला किया जाता है।

हर तीन साल में युवा-गृह में प्रवेश पाने संबंधी रोचक कथा है। माघ महीने के शुक्ल पक्ष की द्वितीय को लड़कों को तीर और भाले के साथ जंगल में शिकार करने जाना पड़ता है। शाम को शिकार करके वापस लौटते हैं। नये लड़के उस जमीन को साफ करते हैं,जहाँ शिकार को रखा जाता है। अब पुराने लड़के आपस में विचार करते हैं कि कुछ नये लड़कों को इस जोंख एड़पा' में प्रवेश देना चाहिए। जिन लड़कों को अनुमति मिल जाती है उनके घर में शिकार के माँस को साल के पत्ते में लपेट कर पहुँचा दिया जाता है। पूर्णिमा के एक दिन रस्म करके नये सदस्यों को बकरे का माँस खिला कर पूर्ण रूप से धुमकुरिया का सदस्य मान लिया जाता है।

युवा-गृह के सदस्यों का मुख्य कार्यक्रम नाचना और गाना है। रात के समय प्रायः सभी युवतियाँ अखाड़े में जमा होती हैं, और नाचती गाती हैं। मुंडाओं के बीच भी इसी तरह के धुमकुरिया होते हैं। युवक युवतियों की अत्यधिक स्वतंत्रता के कारण कभी कभी युवतियाँ गर्भवती हो जाती हैं। दोनों की इच्छा होने पर शादी हो जाती है। लड़के के इन्कार करने पर दो स्थितियाँ होती हैं—

1. लड़की जबरदस्ती लड़के के घर घुस जाती है, इसे 'ढुकु' प्रथा कहते हैं कुछ दिनों

के बाद खान-पान के बाद वह पत्नी के रूप में रहती है।

2. गर्भवती युवती या उसके माता-पिता गाँव के पंचायत में मामला ले जाते हैं। गाँव का मुखिया जब आश्वस्त हो जाता है कि गर्भ का बच्चा उसी युवक का है, तो लड़के के माता-पिता को जुर्माना करता है, साथ ही उस युवती को, लड़के के लिए सौंप देता है। लड़के अथवा माता-पिता के नहीं चाहने पर भी उन्हें लड़की को अपने घर दुल्हन के रूप में लेना पड़ता है।

विवाह की प्रथा

विवाह की आवश्यकता

उराँव जन जाति, लड़का अथवा लड़की दोनों के लिए विवाह को आवश्यक मानती है। इस जाति में अविवाहित बूढ़े लड़के अथवा लड़कियाँ नहीं पाई जाती हैं। यहाँ तक कि अधिकांश देवता भी पति-पत्नी होते हैं। ये धान के छोटे पौधों, फल के वृक्ष, तालाब और कुओं की भी शादी करते हैं। अगर इनकी शादी न की जाये तो धान के पौधे सड़ जायेंगे, अथवा नहीं पनपेंगे, फलों में कीड़े पड़ जायेंगे, इसी तरह कुएँ और तालाब के पानी में कीड़े भर जायेंगे। इसी प्रकार लड़के और लड़कियों के लिए भी बिना शादी किये एक साथ रहने से अज्ञात खतरा हो सकता है। अतः शादी की आवश्यकता उराँव जनजाति में है।

शादी की उम्र

करीब पचास साल पहले उराँव लड़के लड़कियाँ अपना जीवन साथी स्वयं चुनते थे और यह बात दोस्तों एवं सहेलियों एवं कुटुम्बियों द्वारा उनके माता-पिता तक पहुँच जाती थी। लड़के की उम्र प्राय 18-19 वर्ष, और लड़की की उम्र 15-16 वर्ष की होती थी, या इससे भी अधिक होती थी। परन्तु आज कल स्थिति बदल गई हैं। उराँव माता-पिता शादी के पहले लड़के लड़कियों की छूट नहीं देना चाहते हैं, इसलिए आजकल माता-पिता ही बेटे बेटियाँ के लिए विवाह का प्रबन्ध करते हैं। यदि वे बड़े हों, तो शादी से पहले उनकी राय ली जाती है। आजकल उराँव लड़के 16 से 20 वर्ष के भीतर और कभी कभी 16 से भी कम उम्र में शादी करते हैं। विरले ही लड़के की शादी 20 वर्ष के बाद होती है। कभी-कभी 13 से भी कम उम्र और 16 से भी अधिक उम्र में लड़कियों की शादी होती थी। अगर अधिक उम्र में शादी हुई तो इसका कारण गरीबी अथवा जाति बहिष्कार होता था।

विधवा और विधुर की शादी में उम्र नही देखी जाती है। एक विधवा अपने पिता के गोत्र को छोड़कर किसी भी गोत्र में शादी कर सकती है। इस बंधन को छोड़कर विधुर और विधवा जीवन साथी खोज सकते हैं।

सहवास की स्वतंत्रता

पहले उराँव लड़के लड़कियों को सेक्स की पूरी स्वतंत्रता थी, केवल यह आवश्यक था कि दोनों एक गोत्र के न हों। यदि एक ही गोत्र के लड़के लड़कियों के बीच सेक्स संबंध हों तो दण्ड स्वरूप गाँव वालों को खिला कर अथवा सफेद मुर्गा धर्मेस को देकर मुक्ति समझी जाती थी।

जिन गाँवों में ईसाई धर्म का प्रचार नहीं हुआ था, ऐसे गाँवों के युवक युवतियों के बीच सेक्स

स्वतंत्रता सामान्य बात थी। प्रत्येक युवक की गाँव की कोई लड़की प्रेमिका होती थी। यदि धुमकुरिया का कोई लड़का दूसरे की प्रेमिका के साथ संभोग करे, तो उस लड़के को धुमकुरिया का प्रधान दण्ड देता था। उराँवों का यह विश्वास था कि अरवा धान और हल्दी के कुछ टुकड़ों को नये वर वधू पर छिड़कने से उनके शादी से पहले किये गये संभोग के पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है। कच्चे उम्र की लड़कियों के साथ सहवास नहीं होता है। ऋतुमती होने से पहले किसी बालिका का विवाह होने पर उसका पति ऋतुस्राव होने तक उससे सहवास नहीं करता है।

सगोत्रता

यदि एक ही गोत्र में विवाह हो तो पूरी जाति पर विपत्ति आती है, इसलिए किसी भी हालत में सगोत्र विवाह की अनुमति नहीं दी जाती है। समाज में एक ही गोत्र के अलावे भाई और बहन, दो भाइयों और दो बहनों के बच्चों की शादी बिल्कुल ही नहीं हो सकती है। यदि लड़के के माता-पिता में से किसी ने लड़की के माता अथवा पिता के साथ एक ही माँ का दूध पीया हो, तब भी लड़के-लड़की का विवाह नहीं हो सकता है। व्यवहार में उराँव आजकल विभिन्न गोत्रों में भी तीन पीढ़ियों तक विवाह वर्जित मानते हैं। यदि बाल्यकाल में ही किसी उराँव बच्चे की माँ मर गयी हो, अतः दूसरी स्त्री का दूध पीया हो इस स्थिति में दूध पिलाने वाली उराँव स्त्री के बेटे अथवा बेटी का विवाह पालक बच्चे अथवा बच्ची के साथ नहीं हो सकता है। कभी-कभी उराँव परिवार दूसरे परिवार के साथ "सहिया" का रिश्ता बनाते हैं। ऐसे दोनों परिवारों में भी शादी नहीं हो सकती है। यदि इन दोनों में से कोई परिवार दूसरे गाँव में जाकर स्थायी रूप से बस जाये तो, दोनों परिवारों में शादी संबंध हो सकता है। सामान्यतः अपने बेटे-बेटियों की शादी गाँव में ही करना पसंद नहीं करता है। यह शायद इसलिए कि गाँव में एक ही गोत्र के लोग निवास करते हैं, जिसके बीच शादी वर्जित है। एक उराँव अपनी बड़ी बेटी का विवाह दूसरे परिवार के बड़े बेटे से नहीं करता है। निकट संबंध में शादी करने से धर्मेस की सजा उनपर पड़ती है, चाहे वे अंधे, कोढ़ से ग्रसित, अथवा कष्टदायी घाव उनमें होते हैं। प्रायः पति को ही पाप की सजा मिलती है, पत्नी को नहीं। पाप से प्रायश्चित्त के लिए पति, धर्मेस के लिए एक सफेद बकरा अथवा मुर्गे की बलि देता है, साथ ही साथ बलि बकरे अथवा मुर्गे का कुछ खून पीता है। पंच अथवा गाँव के बुजुर्ग उस पर इतना जुर्माना करते हैं जिससे उराँव समाज खा-पी सके।

यदि दूसरी जाति से शादी हो, तो उराँव लोग अपनी जाति से तब तक उसे अलग रखेंगे, जब तक वह दूसरी जाति की पति या पत्नी को नहीं छोड़ देता अथवा देती है। इसके बाद ही उसे उराँव समाज में शामिल किया जाता है। इसके लिए उसे बलि दिये गये बकरे अथवा मुर्गे का खून पीना पड़ता है। इसके अलावे ताम्बें और तुलसी पत्तों से पवित्र किया गया पानी भी पीना पड़ता है।

उराँव में एक विवाह प्रथा है, परन्तु यदि पहली पत्नी से सन्तान न हो तो, दूसरी पत्नी ला सकता है। बहुपति प्रथा नहीं है। अपनी पत्नी को किसी के लिए देना, बदली करना जैसी सामूहिक विवाह की झलक भी नहीं पाई जाती है, यद्यपि शादी तक लड़की अक्षतयोनि नहीं रहती है। उराँव प्रथा के अनुसार लड़की सिर्फ अपने ही पति द्वारा क्षतयोनि की जायेगी यह आवश्यक नहीं है।

शादी में लड़की का दाम दिया जाता है, घर दामाद इसका अपवाद है। यदि किसी उराँव का

कोई पुत्र न हो, तो दामाद ही ससुर के घर आ जाता है। वह भूँइहरी ज़मीन को छोड़कर ससुर की सम्पत्ति का भावी उत्तराधिकारी बनता है। अथवा यदि कोई गरीब लड़का, कन्या का दाम न दे सके जो शादी से पहले एक या दो साल तक भावी ससुर के यहाँ काम करता है, उसकी सेवाएँ ही कन्या दाम में गिनी जाती हैं। घर दामाद को छोड़कर उराँव दामाद अपने ससुर के यहाँ पूर्ण अथवा आंशिक रूप से भी नहीं रहता है। परन्तु पति अथवा पत्नी, अथवा दोनों कभी-कभी ही दो चार दिनों की मुलाकात के लिए जाते हैं। साधारणतः दुःख-सुख, पर्व त्योहार, शादी-व्याह में ही ऐसा होता है। यह रिवाज अन्य जनजातियों में भी है।

मँगनी

जब उराँव माता-पिता अपने पुत्र के लिए वधू ढूँढ़ना चाहते हैं, तो वे अपने चालाक मित्र अथवा संबंधी को 'अगुवा' अथवा 'मध्यस्थ' बनने के लिए कहते हैं। वही उपयुक्त लड़कियों की खोज पड़ताल करता है। उन लड़कियों के माता-पिता की परिस्थिति, उनका पारिवारिक इतिहास, उनके भाई-बहनों की संख्या, उनके परिवार का नाम और गोत्र देवताएँ, और विशेष कर यह पता करता है कि परिवार में किसी औरत को डायन की सजा मिली है अथवा नहीं। योग्य लड़की पाने पर और लड़के के माँ-बाप के स्वीकार करने पर, अगुवा, लड़की के माता-पिता के घर भादो महीने में करमा के बाद जाकर लड़के के माता-पिता की ओर से शादी का प्रस्ताव रखता है। यदि लड़की के माता-पिता (इनके अभाव में चाचा या भाई) को रिश्ता पसन्द हो तो, वे एक या एक से अधिक मित्रों अथवा संबंधियों को लड़का और उसका घर देखने के लिए भेजते हैं। वे तमाकू चूना के बहाने वहाँ जाते हैं, लड़के तरफ से इस समय लड़की के लिए 'चार आना' दिया जाता है।

पैर धोने की औपचारिकता या समारोह

जब दोनों पक्ष संतुष्ट हो जाते हैं, तो कन्या का पिता, लड़के पक्ष को अपने घर एक निश्चित दिन में पैर धोने के समारोह के लिए निमन्त्रण देता है। उस दिन लड़के के तीन या पाँच मित्र और संबंधी, लड़की के पिता के घर पहुँचते हैं। वे मुर्गे के बाँग देते ही यात्रा शुरू करते हैं और भोर होने के पहले ही पहुँचते हैं, इसका मकसद है कि इस समय कोई अपशकुन न दिखाई पड़े। उनके पहुँचने पर लड़की के महिला संबंधी छोटे मिट्टी पात्रों में सरसों का तेल,और एक या अधिक काँसे की थालियों में पानी भर कर निकालती हैं। काँसे की थालियों को मेहमानों के सामने रखकर उनके पैरों को तेल मालिश करती हैं। इसके बाद मेहमान अपने पैर थाली में रखते हैं, और औरतें थाली के पानी से पैर धोती हैं। मेहमान तेल के पात्र में एक या दो आना इस औरतों के उपहार स्वरूप रखते हैं।

सगुन या शकुन

पैर धुलाई के बाद मेहमानों को, बरामदा या आँगन अथवा घर की किसी कोठरी में चटाई पर बैठाया जाता है। तब लड़की पक्ष का कोई पुरुष सदस्य उन्हें पूछता है कि उन्होंने रास्ते में कुछ शकुन देखा था अथवा नहीं। अपशकुन देखने पर अगुवा अथवा दूसरा पुरुष बताता है। (नहीं तो) उनका जवाब होता है कि हमलोग अच्छी तरह मार्ग में आये। शकुनों में किसी महिला या लड़की के घर पहुँचते समय

दरवाजा खुला रहना, पशु चरकर घर आना, पियो चिड़िया का रोना, घड़े में पानी लाती लड़की अथवा कोई दीपक जल रहा हो, अथवा लोग मुर्दे को ढोकर ले जा रहे हों। अपशुकनों में ढेंचुवें (कौवा राजा) की आवाज सुनना, सियार ने यदि रास्ते को बायें से दायें पार किया, यात्रा शुरू करने के तुरन्त पहले या दूसरे गाँव में प्रवेश करते ही यदि कोई महिला या लड़की पानी भरने के लिए खाली घड़ा लेकर निकलती हो, गोबर, गड्ढे अथवा खेत में ले जा रहे हों, साँप अथवा कीड़े मकोड़े का रास्ता काटना या डँसना।

यदि शकुनों का वर्णन संतुष्ट करने वाला हो, यानि बुरा भी न हो, तो घर के भीतर मिट्टी के पात्र में (किरासन तेल छोड़कर) दूसरे तेल से बत्ती जलाई जाती है और मेहमानों को खाना दिया जाता है यदि खाने के बाद तक दीया जलते रहता है तब अपशकुनों को देखने के बावजूद शुभ माना जाता है। परन्तु रास्ते में शुभ शकुनों के देखने के बावजूद, अथवा रास्ते में अपशकुनों के नहीं दिखाई पड़ने पर भी यदि दीया मेहमानों के खाने से पहले ही बुझ जाये, तो शादी का रिश्ता टूट जाता है, क्योंकि बत्ती का बुझना किसी भी पक्ष के लड़के अथवा लड़की की मृत्यु का सूचक होता है। इसी प्रकार मेहमानों के रहते मिट्टी का घड़ा किसी तरह टूट जाये, बिना तेज आँधी के कोई वृक्ष या डाली टूट जाये, अथवा तेल का पात्र उलट जाये, और उसमें से तेल गिर जाये तो यह अपशकुन माना जाता है और रिश्ता टूट जाता है।

समारोही हँड़िया पान

दीये के जलाने के बाद, परन्तु अतिथियों के खाने से पहले एक हँड़िया का घड़ा (नेगबोड़े) बाहर निकाला जाता है। उसमें पानी मिलाकर रस तैयार किया जाता है। इसके बाद हँड़िये के रस को दूसरी मिट्टी के बरतन (तवा) में उँडेला जाता है। इसी मिट्टी के पात्र से तीन सरखी या मिट्टी के जार में हंड़िया भरा जाता है। दो सरखी, लड़की पक्ष के लोगों के लिए और एक लड़की के गाँव के बुजुर्गों के लिए। लड़का पक्ष का कोई बुजुर्ग, जामुन अथवा सखुआ पत्तों से बने दोने में कुछ हँड़िया डालकर जमीन में तीन बार गिराते हुए पूर्वजों की आत्माओं के लिए देते हुए कहता है—"फलाँ लड़का और फलाँ लड़की की शादी का रिश्ता ठीक (तय) हुआ है। वे अच्छी तरह सुखपूर्वक दिन बिता सकें, दोनों बुढ़ापे तक जीयें।" इसके बाद लड़के पक्ष का कोई व्यक्ति कुछ बातें कहता है, इसका उपर्युक्त जवाब लड़की पक्ष का व्यक्ति देता है। लड़के का पिता अथवा दूसरे अभिभावक लड़की का चेहरा देखने के बाद एक रुपया (या कुछ उपहार) और एक आना 'दुरा खुँदैनी' के नाम पर देते हैं। इसके बाद तो बहुत अधिक मात्रा में मेहमानों को हँड़िया दिया जाता है और वे भोजन के लिए बैठते हैं।

शादी की तिथि निश्चित करना (लग्न बंधी)

एक हप्ते या इसके बाद लड़के पक्ष के दो या तीन व्यक्ति, कन्या के माता-पिता के यहाँ शादी की तारीख निश्चित करने के लिए जाते हैं। चाँद का तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ, बृहस्पतिवार और शनिवार लड़का और लड़की के जन्म दिन अशुभ माने जाते हैं यदि बृहस्पतिवार दिन शादी हो भी जाती है, तो भी उस दिन कन्या की विदाई नहीं होती है। तारीख निश्चित हो जाने पर मेहमानों को खिला-पिला कर विदा किया जाता है।

शादियाँ माघ महीने में होती हैं, क्योंकि इस समय गरीब से गरीब परिवार में भी अन्न रहता है।

कोंहा पाही (बड़ा मेहमान)

निश्चित दिन में संदेशवाहक (अगुवा) के साथ कुछ लोग बड़े सबेरे, लड़की के घर से लड़के के घर जाते हैं। उनके आने पर घर की महिलाएँ काँसे की थाली और काँसे के गिलास में पानी भरकर निकलती हैं और उनके पैर धोती हैं। इसके बाद उन्हें समारोही हँड़िया (जूयब खितार बोड़े) दिया जाता है। इसके बाद नाश्ता 11 बजे दिया जाता है।

इसके बाद दो संदेशवाहकों की उपस्थिति में सूअर अथवा खस्सी काटा जाता है ये व्यक्ति और साथ में कन्या पक्ष के एक या दो व्यक्ति गोश्त काटते हैं। दूसरी बेला सात से लेकर बीस या इससे भी अधिक कन्या पक्ष के मित्र और रिश्तेदार गोड़ाइत वादकों को लेकर आते हैं। ये वादक नगाड़े बजाते और नरहिंसा फूँकते हैं। अतिथियों के आने पर घर की महिलाएँ उनके पैरों में तेल लगा कर पानी से धोती हैं। इसके बदले अतिथि तेल के बरतन में कुछ पैसे रखते हैं। इसके बाद अतिथि लड़के पक्ष के सभी व्यक्तियों को प्रणाम करके बैठ जाते हैं। परिवार के कुछ सदस्य (विधवा अथवा विधुर नहीं) पत्तों की चटाई बाहर निकालते हैं जिसे मैना पिटरी अथवा नेग पटिया (समारोही चटाई) कहते हैं। चटाई को तीन बार उलाटा जाता है। अतिथियों के लिए चूना तमाकू दिया जाता है। दो जार में समारोही हँड़िया (खेता उइना बोड़े) बाहर निकाले जाते हैं और तैयार किये जाते हैं। लड़का पक्ष का कोई आदमी भात से भरे पत्तल को कन्या पक्ष के किसी व्यक्ति के साथ बदलता है। यह आपस का आदान-प्रदान तीन बार होता है। लड़की पक्ष की एक औरत मेहमानों के हाथों में, हाथ और मुँह धोने के लिए पानी उड़ेलती है, और दुलहन का बाप, उसे 'बई नोढ़ना' या मुँह धोने का पैसा, चार आना उस औरत को देता है। वह औरत अतिथियों के धोतियों के एक छोर को हल्दी मिले पानी में डुबोती है। भोजन समाप्त होने पर अतिथियों को चूना तमाकू दिया जाता है। कन्या पक्ष को प्रणाम करने के बाद अतिथि वहाँ से विदा होते हैं।

सनी पाही

फसल काटने के बाद लड़के का पिता अथवा अभिभावक लड़की पक्ष के मेहमानों को अपने घर बुलाता है। किसी निश्चित दिन में लड़की का पिता अथवा अभिभावक कुछ संबंधियों के साथ लड़के के घर जाता है। ऊपर वर्णित पैर धोने की विधि से ही लड़का पक्ष की महिलाएँ उनके पैर धोती हैं। प्रत्येक मेहमान पैर धुलने के बाद दो पैसे सरसों तेल के पात्र में डालते हैं। इसके बाद लड़का बुलाया जाता है, और वह अपने एक साथी के साथ बाहर आता है। वे अतिथियों के पैरों तक झुककर प्रणाम करते जाते हैं। यदि कन्या पक्ष वालों को लड़का पसन्द हो जाये तो वे बैठ जाते हैं। उन्हें समारोही (नेगबोड़े) हँड़िया पिलाने के बाद उत्तम भोजन दिया जाता है। इसके बाद लड़के को बुला कर कन्या का बाप अथवा दूसरे निकट संबंधी अपनी गोद में बैठाते हैं। बैठाने वाला व्यक्ति लड़के के हाथ में दो पैसे से दो आना तक देता है। इसके बाद अतिथियों को चूना तमाकू देकर इज्जत के साथ विदा देते हैं। दूल्हा, प्रत्येक को सिर झुका कर प्रणाम करता है। देहली में कुछ पुवाल जलाये जाते हैं। दो नये मिट्टी के जग हँड़िया

से लबालब भर दिये जाते हैं। इन में से एक को कन्या के गाँव के पंच के लिए दिया जाता है और दूसरा लड़के पक्ष के बुजुर्ग के लिए। लड़के के गाँव का पंच दूसरे गाँव वालों के साथ, हँड़िया के जग और कुछ पत्तों के दोनों के साथ गाँव के अखाड़े में जाता है। इसी प्रकार लड़की के गाँव का पंच और दूसरे आदमियों के साथ हँड़िये के जग और पत्तों के दोनों के साथ अधिक दूर नहीं, पर कुछ खुले स्थान में जाता है। प्रत्येक पार्टी में प्रत्येक गोत्र का एक व्यक्ति एक दोना अपने हाथ में पकड़ता है। कुछ हँड़िया प्रत्येक के दोने में उँडेला जाता है। वह व्यक्ति अपने दोने से तीन बार जमीन पर चढ़ावे के रूप में हँड़िया गिराता है। पहले अपने मरे हुए पूर्वजों की आत्माओं के लिए। प्रत्येक के दोने में जो हँड़िया बच जाता है, उसे दोनों मार्टी के व्यक्तियों के बीच बाँटा जाता है, और लोग उसे 'प्रसादी' के रूप में पीते हैं। इसके बाद सब लड़के के घर लौटते हैं।

वहाँ घर में बाकी बचे खेता उइना बोड़े को सभी उपस्थित लोग पीते हैं। जब वे पीने में लगे रहते हैं तो लड़का हाथ में तलवार (पान सोता) लेकर निकलता है। एक साथी उसके आगे और दूसरा उसके पीछे रहता है। तलवार सहित सब को प्रणाम करता है एक इनमें से एक साथी अपने कंधों में एक ढोने वाला डण्डा लेता है, जिसके एक छोर में जाल के भीतर हँड़िया का बड़ा जार, और दूसरे छोर में जाल के भीतर महुँवा रस से भरे दो जार झूलते हैं। जब तीन लड़के इस प्रकार उपस्थित मेहमानों के सामने खड़े होते हैं, तो कन्या पक्ष के तीन व्यक्ति सामने आते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति एक लड़के को अपनी बाँहों में लेकर बैठ जाता है। प्रत्येक लड़का, प्रत्येक के घुटनों पर बैठता है। कन्या पक्ष के व्यक्ति दूल्हे के लिए एक ताम्बे के पैसे से लेकर एक रुपये तक देते हैं इसके बाद प्रत्येक लड़का उपस्थित लोगों के पैर छूकर (दोनों हाथों से) और दोनों हाथों से अपने कपाल का स्पर्श करता है। इस (गोड़ लगी) के समय कन्या पक्ष का कोई आदमी हँसिये के चारों ओर लोहा बाँधता है, उसके चारों ओर तेल में डुबाया गया कपड़ा लपेट कर जला, कर अपने हाथ में पकड़ता है।

फूल खोंसना

लड़के के गाँव से तीन आदमी आगे बढ़ते हैं। प्रत्येक के हाथ में फूलों से भरा दोना होता है। ये क्रमशः पहले कन्या पक्ष, और बाद में वर पक्ष के उपस्थित प्रत्येक आदमी के बालों में अथवा कान में फूल खोंस कर प्रणाम करते हैं। प्रणाम करते समय दोनों हाथों से अतिथि के पैरों को छूने के बाद अपने माथे का स्पर्श करते हैं। कन्या पक्ष के लोग पुवाल के पत्तों से बनी तीन टोपियाँ बना कर उन तीनों लड़कों के सिर पर रखते हैं। इसके बाद कन्या का बाप अथवा अभिभावक एक आना तीनों लड़कों को देता है। इसके बाद कन्या पक्ष के लोगों को हँड़िया दिया जाता है, जिसे दूल्हा गोड़ लगी या समारोही पैर छूने के समय लाया रहता है। इसी अवसर पर दोनों पक्ष के पंच दुलहन के दाम, और दुलहन पक्ष के नजदीकी व्यक्तियों के देने वाले कपड़ों की संख्या निश्चित करते हैं। अलग-अलग पड़हाओं में दुलहन का दाम अलग होता है जो एक रुपये से लेकर सात रुपये तक, अथवा नव रुपये से लेकर पच्चीस रुपये तक होता है। दो विभिन्न पड़हाओं के कारण प्रथागत दर के अलग-अलग होने पर, वर पक्ष के लोग लड़की पक्ष के पड़हा में ऊँची दर होने पर, उतना देने से इन्कार भी करते हैं। लड़का पक्ष वाले इस बात का सबूत देते हैं कि लड़की पक्ष के लोगों ने लड़के पक्ष के पड़हा की लड़कियों से शादी की है और लड़का पड़हा के अनुसार कम दर में ही दुलहन का दाम दिया है। ऐसी स्थिति में प्रायः समझौता

किया जाता है, कपड़ों की संख्या में पंच कुछ नहीं कर सकता है और लड़की पक्ष की माँग को लड़का पक्ष स्वीकार कर लेता है। कपड़ों में कम से कम एक साड़ी, लडकी की माँ के लिए, दूसरी साड़ी लड़की के पिता माता के लिए (यदि जीवित हो) और एक धोती लड़के के भाई के लिए होता है।,

बाँह जोड़ना

दो हँड़िया के घड़े लड़के के घर से बाहर आँगन में निकाले जाते हैं। उन घड़ों में पानी भरे जाते हैं। दोनों पक्षों के पंच अथवा बुजुर्ग बिछी हुई चटाई पर बैठते हैं, यह चटाई पूर्व से पश्चिम लम्बाई में बिछायी जाती है। टोंटी सहित दो मिट्टी के जग, चटाई के ऊपर विभाजित रेखा के पास रखे जाते हैं। एक जग दूल्हा, दुलहन पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। एक पत्ते के दोने में बरी, अथवा दाल से बनी केक, और तेल से युक्त मिट्टी के पात्र, इसके अलावे चाँदी का एक रुपया, और थोड़ा अरवा धान काँसे की थाली में रखा जाता है। दोनों जग (सरखी) ऐसे रखे जाते हैं कि उनकी टोंटियाँ एक दूसरे को स्पर्श करती हों। लड़की पक्ष का जग, लड़के पक्ष की अपेक्षा ऊँची सतह पर रखा जाता है, जिससे हँड़िया, लड़के पक्ष के जग में टोटी के सहारे घुस सके। जब इस तरह दोनों जग हँड़िया से लबालब भर जाते हैं, तो लड़का पक्ष के जग के मुँह में चाँदी का सिक्का या एक रुपया और ताम्बे का सिक्का लड़की पक्ष के जग के मुँह पर रखा जाता है। कुछ स्थानों में सरखी को अगल-बगल पानी से भरकर साधारण तरीके से रखा जाता है।

दोनों पक्ष के पंच और बुजुर्ग आपस में हँसी मजाक करने लगते हैं, वे एक दूसरे को ताना भी देते हैं। लड़के पक्ष का एक आदमी इस प्रकार कहता है— एक बछड़ा भाग गया। चरवाहा कहता है कि बछड़ा इसी स्थान में भटक गया है। लड़के पक्ष का आदमी जवाब देता है— नहीं चरवाहे ने धोखा दिया है, यहाँ कोई बछड़ा नहीं आया है। कन्या पक्ष का कोई पंच दुलहन के दाम के बराबर बरी (उरद दाल को पीस कर बनाते हैं) वर पक्ष के पंचों की ओर फेंकता है। वास्तविक दुलहन के दाम से ''बरियाँ'' अधिक ही होती है। लड़के पक्ष का पंच वास्तविक दुलहन के मूल्य के बराबर बरी की गिनती करके उतने ही बरियों को कन्या पक्ष के पंच की ओर फेंकता है। इसके बाद पंच उठ जाते हैं और एक दूसरे के हाथों को पकड़ कर आलिंगन करते एक दूसरे की छाती से झूल जाते हैं। दोनों पक्ष के लोग एक दूसरे के आलिंगन में बँधकर नाचने लगते हैं। इसके बाद अपने स्थान में बैठकर हँड़िया पीते हैं। दोनों पक्ष के पंच उपस्थित लोगों को प्रणाम करते हैं। गाँव के पंच लोग ही ऊपर वर्णित समारोह में प्रयुक्त पैसों की देखभाल करते हैं, और लड़के के अभिभावक को सौप देते हैं। लड़के का अभिभावक या पिता और दो घड़ा हँड़िया बाहर निकालता है, एक लड़के पक्ष के लिए, दूसरा कन्या पक्ष वालों के लिए। लड़की पक्ष वाले थोड़ी दूरी पर अलग, बकरे की टाँग के माँस के साथ (जो कि इसी उद्देश्य के लिए रखा रहता है) पीते हैं। इसे वे लोग स्वयं कुछ बरी के साथ भूनते हैं। लड़के पक्ष को हँड़िया और भूने हुए माँस और बरी से कोई मतलब नहीं होता है। माँस, को भूनते समय, लड़का पक्ष के तीन जवान व्यक्ति, लड़की पक्ष वालों को तेल लगाते हैं। तेल लगाने के बाद उन्हें प्रणाम करते हैं और 'इसुन खसरना' या तेल मालिश का हँड़िया निकालते हैं।

अदखा कदरिका

लड़के के गाँव की कुछ स्त्रियाँ, छाती में कपड़ा बाँधकर, बैसाखी के सहारी चलती हुई, सिर पर कुछ दतवन और पत्ते लेकर, उनमें से एक हँड़िया का घड़ा ढोई हुई, लड़की पक्ष की ओर रोती हुई जाती है—''कौन दतवन और पत्ता खरीदेगा? पति दूसरी जगह कमाने गये हैं, हम लोग बहुत तकलीफ में हैं इसलिए इन्हेंखरीद लीजिये। कन्या पक्ष के लोग कहते है—हम दातून और पत्तों से क्या करेंगे। यदि हम रखते हैं तो हमारे साथ रह सकती हो। औरतें उत्तर देती है—हमलोगों के बहुत बच्चे हैं, कौन हमारी परवरिश करेगा। यदि तुमलोग हमारे दातून और पत्तों को खरीदोगे तो धर्म होगा। तब लड़की पक्ष के पंच, दातून, पत्तों और हँड़िये से भरे हुए हाँडी को उनके सिरों से उतारते हैं। कन्या पक्ष के पंच उन तीन महिलाओं के साथ हँड़िया पीते हैं। तीनों महिलायें एक साथ दोनों पक्षों के अतिथियों को प्रणाम करती हैं, कन्या पक्ष के पंच उन्हें दो आना देते हैं। इसके बाद सभी हँड़िया पीते हैं। तत्पश्चात् भोजन में माँस के साथ बरी की सब्जी खाते हैं। शाम को एक दूसरे को प्रणाम करने के बाद अतिथि विदा होते हैं।

दूसरे दिन अथवा इसके बाद के दिन कम से कम दो व्यक्ति (जूरुब खीता) लड़के के घर से, लड़की के घर, कोंहा पाही समारोह के लिए जाते हैं। पहुँचने पर विधियाँ एक ही तरह से सम्पन्न की जाती हैं। अन्तर सिर्फ इतना है कि गोड़ लगी के समय, एक ही उम्र और ऊँचाई की दो सहेली, जो दुलहन ही के रंग के कपड़े पहने हों, दुलहन के साथ निकलती हैं, दूल्हा पक्ष के लोगों को वास्तविक दुलहन पहचानने में कठिनाई होती है। ढोने वाले डांडे को ढोने के बदले (लड़कियों के लिए निषिद्ध है) अपने सिरों पर पानी का घड़ा और दूसरा हँड़िया का घड़ा ढोती है। पहले बताये गये तरीके से बरी फेंकने और लौटाने के समय वास्तविक बरी की संख्या को ग्रहण करते समय, लड़का पक्ष लड़की के पिता अथवा अभिभावक को दुलहन के दाम के रूप में और साड़ियों की संख्या के बराबर, चाँदी के सिक्के अथवा रुपये देता है।

शादी की तैयारी

कोंहा पाही समारोह की रात दुलहन के घर बहुत अधिक गोल-गोल शादी केक (अड़ैसा, चावल की बनी मिठाई) लड़कियों के द्वारा बनते हैं। यह केक प्रत्येक जवान (शादी किये हुए जवान के लिए भी) के लिए दिया जाता है। दोनों पक्षों के लोग सूप, एक बड़ा दौरा (बड़े आकार की टोकरी), एक छोटा दौरा (टीकी), वर्तिका पकड़ने के लिए चार खांचे, कुछ मुलायम दूब घास, थोड़ा सिंदूर, कुछ धूप में सुखाये गये अनाज, थोड़ा अरवा चावल की गुंडी, थोड़ा नमक, कुछ सरसों के दाने, कुछ हल्दी के टुकड़े, तीन अथवा पांच कंद, पुआल सहित एक बंडल धान का पूला, कुछ उरद के बीज, थोड़ा सरसों का तेल, (यह तेल सुहागिन द्वारा सरसों के दानों को अच्छी तरह मसल कर निकाला हो और जो तेल निकालने तक उपवास में रहती हो) दो हँड़िया और दूसरे घड़े में मँहुवे का हँड़िया रहता है।

इस समारोह के लिए धान के डंठल पहले ही कटनी के समय अलग किये जाते हैं। इनका पूला कुँवारे सुबह ही बनाते हैं। चुनते समय न तो वे थूक सकते हैं, और न चुनने से पहले थोड़ी देर के लिए भी वह जगह छोड़ सकते हैं। उपरोक्त सभी चीजों को विधवा नहीं छू सकती है।

न्योता

तिथि निश्चित हो जाने पर दोनों पक्षों की ओर से हल्दी रंगा हुआ चावल देकर अपने अपने कुटम्बियों को निमंत्रण दिया जाता है। यदि चावल के साथ गोटा सुपारी किसी को मिल जाए तो उसे खस्सी भी हँड़िया और चावल के साथ लाना पड़ता है। दोनों ही परिवारों में वर-वधू की शादी निश्चित होने पर मंड़वा गाड़ा जाता है। बूढ़ी स्त्रियाँ जंगल से पत्ते तोड़ लाती हैं और दोना एवं पत्तल बनाना शुरू करती हैं।

मंड़वा

मड़वे में नौ छोटे साल (सरई) के पौधे गाड़े जाते हैं। इनके सिरे के ताजे एवं हरे पत्तों की छोड़ कर, छाल उखाड़ दिये जाते हैं। सबसे ऊँचा वाला खूँटा बीच में गाड़ा जाता है, जो परमसत्ता का प्रतिनिधित्व करता है। इसके बाद बीच वाले के पूरब, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण वाले पौधे (खूंटे) गाँव के पंचों, बुजुर्गों का तथा बचे हुए चार विवाह आँगन के चार कोनों पर एक नये परिवार के घर के चार दीवारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन खूँटों के ऊपर पत्तों सहित साल की डालियाँ रखी जाती हैं, वर-वधू दोनों के घर मड़वा गाड़ा जाता है(न्योता और मंड़वा सभी जनजातियों में प्राय: एक समान है)। इसके बाद शादी के दिन प्रात: आँगन को गोबर से लीपकर साफ किया जाता है। कोंहा पाही की रात तैयार की गई वस्तुओं को मंड़वा के नीचे, आँगन में रखा जाता है। तीन लड़के धान के बंडल के पूलों में से लम्बे पूलों को चुनते हैं। अरवा धान, हल्दी, मुलायम दूब घास और सरसों के दाने मिट्टी के घड़े (कंड़सा भांड) में रखे जाते हैं। चुने हुए धान के डंठल घड़े में इस तरह रखे जाते हैं कि उनके आखिरी छोर घड़े से बाहर निकले हों, और डंठलों में जुड़े पत्ते एक साथ घड़े के मुँह में इस प्रकार रखे जाते हैं कि वे घड़े के जैसे प्रतीत हों। इस ढक्कन के ऊपर दो वर्तिकाओं के साथ दो मिट्टी के दीये में वर्तिका ऐसे रखी जाती हैं कि उनके छोर बाहर निकले होते हैं। प्रत्येक वर्तिका के अंतिम छोर को जलाया जाता है। उन दीयों में तेल और उरद डाला जाता है। किसी किसी गाँव में अलग से लैम्प का स्टेंड (चौखा) बनाया जाता है। ऊपर वर्णित विधि के अनुसार उसमें मिट्टी के दीये रखकर जलाये जाते हैं। छोटी टोकरी (नचु) को सखुए के पत्तों से ढाँप देते हैं। बाकी बचे धान के डंठलों से रस्सी बनाकर नचू को चारों ओर से बाँध देते है (या 'लपेट देते हैं)। इस छोटी नयी टोकरी में दुलहन की माँ के लिए साड़ी (माय साड़ी), कुछ मात्रा में अनाज और तेल, और सिंदूर रखे जाते हैं। यह छोटी टोकरी (नचू) और कड़सा घड़ा एक दूसरे के अगल बगल गोबर से लीपे हुए आँगन में रखे जाते हैं।

गाँव का पहान टोकरी और घड़े में चावल के चूर्ण को पानी से सानकर उन्हें लीपता है, और तीन सिन्दूर की रेखा बनाता है। दोनों घड़ों के हँड़िये तैयार कर एक बरतन में रखते हैं। पहान अनुष्ठान के रूप में थोड़ा टोकरी और घड़े में चुलाते हुए गाँव देवताओं अथवा गाँव के अभिभावक आत्माओं को कहता है—"आप ही लोग गाँव के मालिक हैं, हे गाँव के देवताओ! यह शादी सफलतापूर्वक बीत जाये, और पति-पत्नी आपस में कभी न लड़ें। इसके बाद वहाँ उपस्थित सभी हँड़िया पीते हैं। दो औरतें आँगन में आती हैं, एक के सिर पर (कड़सा भांड) आनुष्ठानिक घड़ा, दूसरे के हाथ में पत्तों का कटोरा होता है, जिसमें चारों ओर कड़सा भांड में रखने के बाद बचे हुए धान के डंठल रखे जाते हैं। इस प्रकार दूसरी महिलाओं के साथ शादी नाच नाचने लगती हैं। इस समय गाँव का गोड़ैइत और अपनी ही जाति के कुछ व्यक्ति बाजा बजाते हैं। ये प्रारम्भिक धर्मविधियाँ दूल्हा और दुलहन के घर में भी की जाती है।

शादी यात्रा

साधारणतः बड़े तड़के सुबह ही दूल्हा और उसकी पार्टी दुलहन के गाँव के लिए प्रस्थान करती है। पार्टी में स्त्री, पुरुष, बच्चे और संबंधी होते हैं।

हिन्दुआइस्ड बने आदिवासी उराँव भगत लोग गाँव के सीमाने में एक आम पेड़ के नीचे रूकते हैं। कुछ सुहागिनियों के साथ दूल्हा वहाँ आता है और पेड़ की धड़ को तीन बार बिना रंगे हुए कपास के धागे से बाँधता है। प्रत्येक बार धड़ को पानी से सने हुए चूर्ण और सिन्दूर से टीका लगाता है। साधारणतः दूल्हा पैदल ही जाता है। केवल अपवाद स्वरूप यदि उसका परिवार अनेक गाँवों का मालिक हो, अथवा परिवार बहुत धनी हो, तो दूल्हा घोड़े पर सवार होकर जाता है प्रायः सभी परिस्थितियों में वह हाथ में तलवार अथवा चाकू और कभी-कभी तो नकली लोहे की छड़ी पकड़ता है। उसके साथ नगाड़े और बाँसुरी बजाने वाले वादक भी साथ बजाते चलते हैं। तलवार, चाकू अथवा छड़ी, दुष्टात्माओं को भगाने के लिए होता है। हँड़िया के पात्रों के अलावे एक बार के भोजन की व्यवस्था करके पार्टी बारात चलती है, क्योंकि शादी की समाप्ति के बाद ही उन्हें भोजन कन्या पक्ष देता है। वास्तविक शादी के खत्म होने तक दूल्हा और दुलहन को उपवास में रहना पड़ता है।

परछाना अथवा स्वागत

दुलहन के गाँव के उपकंठ पहुँचने पर उसके संबंधी मित्र और तमाम आदमी समूह में दूल्हे के पास पहुँचते, मानो दूल्हे पर आक्रमण करने अथवा भगाने का इरादा हो। दोनों तरफ के स्त्री पुरुष भद्दे और गाली देने वाले गाने के साथ चलने लगते हैं। दोनों पक्ष के लोग जिनके हाथों में छड़ी अथवा डंडा, मुदगर आदि रहता है, एक प्रकार से नकली चढ़ाई एक दूसरे पर करते हैं। बहुत पहले जमाने में पच्चास साल पहले दोनों पार्टी के लोग विपरीत पक्ष के प्रहार से अपना बचाव करते समय घायल होते थे और उनके शरीर से खून बहने लगता था। दोनों पक्षों का एक आदमी जलता टार्च पकड़ता था। यह वास्तव में हँसिये का होता था, जिसके दाँत कपड़ों से ढके रहते थे। इसे एक प्लेट में रखा जाता था, जिसमें तेल भरा हो। दुलहन पक्ष की एक बुढ़िया दूल्हे पार्टी में जाती है। उसके सिर पर बिना रंगा और मंजे हुए कपास के धागों और एक कांसे का जग या लोटा रहता है, जिसमें पानी भरा रहता है, पत्तों सहित आम की टहनी, जिसके पत्ते लोटे के मुँह के बाहर निकले होते हैं। वह आम की टहनी से पानी निकाल कर पहले दूल्हे पर उसके बाद समस्त दूल्हे पक्ष पर पानी छिड़कती है। आरम्भ में पानी छिड़कने का उद्देश्य शुद्धीकरण था। परन्तु आजकल हिन्दुआइस्ड लोग इस का अर्थ मांगलिक लेते हैं।

दूल्हे द्वारा दुलहन की एड़ी को अपने पैर की अंगुली से दबाना

वधू पक्ष के दो या दो से अधिक व्यक्ति दूल्हे को अपनी बाँहों से उठाकर दुलहन के घर के भीतर ले जाते हें। कभी-कभी दूल्हे का एक या दो साथी उसके साथ जाते हैं बाकी लोग बताये गये निश्चित स्थान में जाते हैं। दूल्हा और दुलहन के पैर धोये जाते हैं। उन्हें सिलवट पत्थर में चढ़ने के लिए कहा जाता है, जिसके नीचे तीन अथवा पाँच बंडल छप्पर के घास और एक जूआ रखा जाता है। दूल्हा, दुलहन के बगल में खड़ा होता है, और वह बायें पैर की पहली और दूसरी अँगुली से दुल्हन की बाँईं ऐड़ी को एक काँटे के समान घेरता है। कपड़े के परदे सहित दूल्हा-दुलहन चारों ओर घुमाये जाते हैं।

दूल्हा एवं दुलहन की कुछ महिला संबंधियाँ परदे के भीतर रहती हैं। वर-वधू के एक या एक से अधिक पुरुष संबंधी हाथ में तलवार लेकर परदे के बाहर तलवार भांजते रहते हैं मानो अपनी तलवार से बुरी नजर और दुष्टात्माओं को भगा रहे हों। कहीं कहीं पर महिला संबंधियाँ पिसी हल्दी को तेल में मिला कर दम्पतियों के सम्पूर्ण अंगों में मालिश करती है। इसके बाद परदा हटा दिया जाता है। इसके बाद वर-वधू को नहलाया जाता है। इसके लिए दो अविवाहित कन्याएँ, पड़ोस की नदी अथवा तालाब से दो नये घड़ों में पानी लाती हैं। दोनों के सिर पर पानी उड़ेले जाने पर वधू-पक्ष की एक सुहागिन दूल्हे के सिर को अपने हाथों से रगड़ती है। इसके बाद दूल्हा तेल में मिलाये गये सिन्दूर को बायें हाथ के अँगूठे से वधू की माँग में लगाता है। इसी प्रकार दुलहन भी दूल्हे के माथे पर सिन्दूर लगाती है। दो अधेड़ महिलाएँ इसके बाद दोनों के सिरों पर एक सिलवट और लोढ़हा रखती हैं, कुछ औरतें कड़सा भांड और छप्पर के घास का बंडल हाथों में लेकर शादी नाच नाचने लगती हैं। वर-वधू के स्नान के बाद उन्हें बदलने के लिए कपड़े दिये जाते हैं। दूल्हे को अपने बाराती पक्ष में पहुँचाया जाता है।

इसुन सिन्दरी अथवा तेल और सिन्दूर लगाना

कुछ देर के बाद दूल्हे को पुनः दुल्हन के घर लिया जाता है, जहाँ एक चटाई को तीन बार उलट-पुलट किया जाता है, इसके बाद पूरी लम्बाई में उत्तर से दक्षिण फैलाया जाता है। वर-वधू वहाँ बैठाये जाते हैं। दुलहन, दूल्हे के बाई ओर बैठती है। दोनों पूर्व की ओर मुँह करते हैं। दुल्हन पक्ष की कुछ महिला संबंधियाँ एक छोटा लाल लकड़ी का पात्र (माचिस बाक्स के बराबर) लाती हैं जिसमें सिन्दूर भरा रहता है। ऐसा ही वर पक्ष की महिला संबंधियाँ इसी प्रकार का लाल सिन्दूर भरा लकड़ी का पात्र लाती हैं। दोनों पक्ष की महिलाएँ सिन्दूर डिब्बे का आदान प्रदान करती हैं। इसके बाद बड़ी बहन अथवा दुलहन की भाभी, दुलहन के बालों में कंघी लगाकर जूड़ा बाँधती है। सिन्दूर को सिन्दूर बाक्स से निकालकर तेल में मिलाकर दूल्हे के माथे और कनपटियों में और दुलहन की कनपटियों और माथे में दाग लगाती है। कुछ स्थानों में वर वधू एक दूसरे के माथों और कनपटियों में संदूर लगाते हैं। महिला संबंधियाँ डिब्बे को पकड़ कर सिन्दूर लगाने में सिर्फ मदद करती हैं। अनुष्ठान के समय एक या एक से अधिक व्यक्ति बांसुरी, मुरली आदि बाजा बजाते हैं। धनी लोग गोड़ाइत बुलाते हैं जो नगाड़े बजाते और तुरही फूँकते हैं। जवान लड़के लड़कियाँ शादी गाना गाती हैं। बहुत सारे गाने तो दाम्पत्य प्रेम और खुशियों से सबंध रखते हैं, वे अशोभनीय संकेतों और गालियों वाले होते हैं।

आजकल इसुन सिन्दुरी को ही शादी अनुष्ठान का महत्वपूर्ण अंश माना जाता है। बालों को समारोह पूर्वक बाँधने के बाद वह अपनी जाति के ही हाथों से बना भोजन खा सकता है। सिन्दूर लगाने के पीछे उराँव कहानियाँ भी हैं—''चार मित्र अपने गाँव से एक साथ काम की तालाश में निकले। यात्रा के दौरान उन्हें एक रात घने जंगल में बिताना पड़ा। वे एक आम के वृक्ष के नीचे सो गये और बारी-बारी से पहरा देने लगे। पहरा करने की जिसकी पहली बारी थी, वह लकड़ी के नक्काशी करने में उस्ताद था। उसने एक गिरी हुई लकड़ी का टुकड़ा लेकर, छेनी के सहारे उस लकड़ी को एक महिला का रूप दिया। दूसरे नम्बर में जिसकी बारी थी वह एक धातु कर्मी था। उसने आकृति को आभूषणों से सजाया। तीसरा दोस्त बुनकर था उसने नारी की आकृति को पहनाया। चौथा आदमी सिन्दूर बेचने का काम करता था, उसने लकड़ी की आकृति वाली महिला के मांग में सिन्दूर भर दिया, इस प्रकार आकृति

जीवित जैसे लगने लगी। तब चारों उसे पत्नी बनाने के लिए झगड़ने लगे। उसी समय एक साधु का दर्शन हुआ। उन्होंने अपनी बात उसे बताई। उसने जो फैसला दिया वह इस प्रकार है– जिस व्यक्ति ने उसकी आकृति बनाई वह उसका पिता था, जिसने आभूषणों से सिंगारा, वह उसका ममेरा भाई था, कपड़े पहनाने वाला व्यक्ति उसका सगा भाई था और जिसने सिंदूर लगया, वही उसका पति है।''

गुंदारी धुकना

गाँव के जवान लड़के एक कमरे में एक मिट्टी का भंडा लाते हैं। उसमें मिर्च, रसोई घर का काजल, सूखा सूअर का पाखाना और इसी तरह अन्य चीजें उसमें रख कर कमरे के सब दरवाजों को बन्द कर घड़े की उपरोक्त चीजों को जला देते है। घड़े से बाहर आने वाले धुएँ से सभी छींकने लगते हैं। कन्या पक्ष के लोग उन लड़कों को कुछ आना से एक रुपया देते हैं, जिससे वे धुँआ हटा दें।

दूल्हे पक्ष की सुहागिनियाँ अपने डेरे से एक घड़ा हँड़िया लेकर वधू के घर जाती हैं। इसी प्रकार वधू पक्ष की सुहागिनियाँ भी घर से बाहर, एक हँड़िया से भरा घड़ा निकालती हैं। ये इसुन सिन्दरी झरा अथवा समारोही हँड़िया, सिंदूर लगाने के नाम पर होते हैं। कुछ स्थानों में वधू के गाँव का पहान या पुजारी, अथवा कुछ गोत्र बुजुर्ग लोग गाँव का पहान या पुजारी, गाँव देवता के वधू के पूर्वजों की आत्माओं के लिए तर्पण स्वरूप हँड़िया की कुछ बूँदे गिराते हैं। जो औरत दूल्हे को हल्दी मिलाकर तैल लगाती है वह उसे तीन दोना हँड़िया पानी देती है। इसी प्रकार वधू को सिन्दूर लगाने वाली स्त्री भी उसे तीन दोना हँड़िया पीने को देती है।

वधू पक्ष की कुछ महिलाएँ पत्ते से दोनों में हंड़िया, वर पक्ष की प्रत्येक महिला के लिए देती हैं। वर पक्ष की महिलाएँ पत्ते के बने दोनों में वधू पक्ष की प्रत्येक महिला के लिए देती है। वर और वधू प्रत्येक मेहमान को प्रणाम करते हैं। इसके बाद दूल्हे को अपने पक्ष में डेरे में लिया जाता है।

खीरी तेंगना (पहेलियाँ प्रस्तुत करना)

तीन अथवा पाँच दोने वर-वधू के सामने रखे जाते हैं। वधू पक्ष की एक महिला एक के बाद दूसरा सरकण्डा या नड के साथ लेती है। इन सरकंडों को वह चिमटा बनाने के काम में लाती है। ये दोनों हँड़िये से भरे रहते हैं। इन दोनों को दो सरकण्डों के साथ,जो कि चिमटे के रूप में प्रयुक्त हैं, पहले दूल्हे की ओंठ के पास, उसके बाद दुलहन की ओंठ के पास लेती है (इनको हँड़िया की एक बूंद भी नहीं लेना है) और अंत में झोपड़ी की छत में फेंक देती है। कुछ जगहों में प्रत्येक दोना समारोही ढंग से दूल्हा और दुलहन के सामने तीन बार घुमाया जाता है। दूसरी स्त्रियाँ ''उलू लू' की आवाज करती हैं। प्रत्येकबार जब खीरी तेंगना बोड़ेय (पहेली प्रस्तुत करने वाला हँड़िया) दूल्हे के मुँह के पास लाया जाता है, तो औरत उसे इस प्रकार कहती है– ''हे बाबू! हँड़िया पी लो, जब तुम हल जोतने जाओगे, तुम्हें थकान लगेगी तुम्हें भूख और प्यास लगेगी, तब इसी पानी को पीना।'' वधू को भी इसी तरह यह कहते हुए उसकी ओंठ के पास हँड़िया लिया जाता है–''हे मैया! इस पानी को पी लो। जब तुम गोबर जमा करने में, धान कूटने में, पानी लाने में, थक जाओगी, इस पानी को पीना'। हँड़िये के दोने यद्यपि वर-वधू के पास लिए जाते हैं, वे वास्तव में नहीं पीते हैं वर अथवा वधू के पास हंसी रिश्ते वाली स्त्रियाँ खाली दोना वर-वधू के ओंठ के पास रखती हैं, यह कहते हुए- ''बाबू! तुम प्यासे हो, इसलिए पी जाओ

अथवा मैया तो नाराज हो गई और नहीं पी रही है।'' उनके सामने खाली पत्तल रखे जाते हैं। उन्हें भोजन परोसने का और हाथ धोने का भी अभिनय किया जाता है, मानों उन्होंने भोजन कर लिया। इसके बाद वास्तविक हँड़िया पहले दूल्हे के लिए, इसके बाद दुलहन को दिया जाता है। इन्हें देने के बाद उपस्थित अतिथियों (पुरुष ओर स्त्री) को दिया जाता है।

अब एक बूढ़ा अथवा बूढ़ी वर-वधू को संबोधित करते इस प्रकार तीन बार कहती है-मैं अभी तुम लोगों को सच्ची पहेलियाँ सुनाता हूँ। एक आबनूस की झाड़ी में यह ऊपर देखता है। लडके! तुम सुन रहे हो? सुनते जाओ (मैं जो कह रही हूँ उसे याद करना।) लड़का शिकार खेलने जाता है तीर के लगने पर वह लंगड़ा हो जायेगा। परन्तु तुम उसे लंगड़ा नहीं कहना। हे लड़की! तुम सुन रही हो या नहीं? वह चूल्हे में पेशाब करेगा, पैखाना करेगा, धान कूटनेवाले ओखली में पेशाब करेगा, फिर भी यह मत कहना कि उसने पेशाब किया अथवा पाखाना किया। क्या तुम मुझे सुन रहे हो? वह मरे हुए जानवर का माँस बनाने जायेगा। वह उसे घर लायेगा। तुम्हें उसे पकाना पड़ेगा। दोनों आधा-आधा माँस खाना। हे लड़के! यदि लड़की अधिक खा ले तो यह मत कहना कि अधिक खा गई। तुम सुन रहे हो या नही? यदि वह पकैर तोड़ने के लिए गाछ में चढ़े और गाछ से गिर जाये, उसके हाथ अथवा पैर टूट जायें फिर भी है लड़के। यह न कहना कि वह लूली या लंगड़ी है। हे बच्चे! क्या तुम सुन रहे हो या नहीं। खूब कमाओ और अच्छी तरह पीओ। सुनो लड़के! हे लड़की तुम भी सुनो। आज से लेकर एक साथ काम करो और एक साथ खाओ। मैं ने अपना कहना समाप्त किया। अब तुम दोनों उठो और सब को प्रणाम करो।''वर-वधू के उपस्थित लोगों के प्रणाम कर चुकने के बाद, वही बुढ़िया कहती है—''अब तुम लोगों ने समाप्त किया, अपने-अपने डेरे में जाओ'' दूल्हे को अपने पक्ष के डेरे में लिया जाता है।

सभा सिन्दरी

खीरी तेंगना समारोह या अनुष्ठान के बाद वर और वधू को मंड़वे में लाया जाता है, और उनकी विधिवत् खुला सिन्दुर लगाने की विधि सम्पन्न होती है। दोनों के बैठने की चटाई को तीन बार उलटा-पुलटा कर गीले मंड़वे में बिछाया जाता है। वर-वधू के मुँह पूर्व की ओर होते हैं। वधू, वर के बाईं ओर बैठती है। वधू की बहन दूसरी नजदीकी महिला दूल्हे के मस्तक और कनपटियों में तेल में मिला हुआ सिन्दूर लगाती है। वर और वधू को प्रत्येक अतिथि और मेहमानों से परिचय कराया जाता है। वर-वधू प्रत्येक को प्रणाम करते हैं। पुन दूल्हा अपने पक्ष के डेरे में लिया जाता है।

मंडी ओनना, अथवा एक साथ भोजन करना

वधू पक्ष एक के रिश्तेदार एक घड़ा हँड़िया, कुछ तमाकू के पत्ते, एक छोटे पात्र में तेल, एक जग पानी, वृक्ष की टहनियों का दतवन, दूल्हे पक्ष की ओर डेरे में लेकर जाती है। शाम का भोजन तैयार होने पर दूल्हा, फिर से दुलहन के घर लाया जाता है। वर और वधू को भात और बरी की सब्जी खिलाती है (बरी उरद की दाल को पीस कर उसमें कोंहडा मिला छोटे-छोटे गोल टिकिया बनाते हैं। बनाने के बाद उसको धूप में सुखाया जाता है।) भोजन के बाद मेहमानों के लिए चूना तमाकू दिया जाता है। एक-दूसरे को प्रणाम करने के बाद दूल्हा पक्ष वापस लौटने के लिए कन्या-पक्ष वालों से विदा लेते हैं।

सिन्दरी पाबे

डंडा कट्टा अनुष्ठान के बाद गाँव के झरने, तालाब या कुएँ से लाये गये पानी से वधू को स्नान कराया जाता है। इसके बाद परिवार का कोई महिला सदस्य अथवा किसी गाँवों में गोंड़ाइत की पत्नी (बाजा बजाने वाले की पत्नी)। वधू के सिर के बालों में तेल लगाती है, और मांग में सिंदूर भर देती है। इसके बाद गाँव वालों और संबंधियों के लिए भोज दिया जाता है।

पहला स्नान और भोजन

दूसरे दिन प्रातः बड़े सवेरे दम्पती गाँव की डाड़ी या झरना (spring) जाते हैं, जहाँ वधू तेल में सने हुए सिंदूर के तीन दाग झरने में मुँह अथवा झरने को चिन्हित करने वाले पत्थर या लकड़ी पर लगाती है। सिंदूर रेखा किया हुआ पत्ता डाड़ी में फेंक दिया जाता है। पुराने जमाने में दूल्हा, दुलहन के सिर पर लाल मिट्टी के लेप लगा कर सिर के बालों को साफ करके, इसके बाद पानी से धोता था। दुलहन भी इसी प्रकार दूल्हे को धोती थी। परन्तु यह प्रथा अब प्रायः लुप्त हो गई है। इसके बाद वर-वधू दोनों झरने या डाड़ी का पानी, दो छोटे घड़ों में भरते हैं, जिन्हें दूल्हा सिका-बहिंगा में ढोकर घर लाता है। (एक ढोने वाला पतला बाँस, जिसके दोनों छोर जाल से बँधे रहते हैं और उन जालों के भीतर पानी के छोटे घड़े रखे जाते हैं)। वर-वधू के घर पहुँचने पर दूल्हे के बड़े भाई लोग वधू के पैरों में एक आना रखते हैं वे पानी के घड़ों को लेकर फुर्ती से कुछ पानी वधू के सिर पर डालते हैं वह उनसे बचने के लिए बड़ी चतुराई से घर के भीतर घुस जाती है। यह प्रथा दिखाने के लिए होता है कि आज से लेकर वधू और वर के भाईयों के साथ निषेध संबंध होगा। वर-वधू को एक ही कोठरी में परन्तु अलग बैठाया जाता है। पहले दूल्हे के लिए दाल-भात परोसा जाता है उसके बाद दुलहन के लिए। खासियत यह है कि दूल्हे को परोसे गये भोजन में से कुछ भोजन उसके पत्तल से उठाकर दुलहन के लिए दिया जाता है।

दुलहन के माता-पिता उसे एक तीर देते हैं, जिसे पति गृह पहुँचने तक उसे पकड़ना पड़ता है। इस का अर्थ यह होता है कि रास्ते में बुरी नजर न पड़े, साथ ही रास्ते में कोई दुष्टात्मा पीछा न करे। अपने पिता के घर से वधू को, अपने पति के रिश्तेदार बाँहों में ढोकर कुछ दूर तक चलते हैं। भयंसुर या जेठ पहली और आखिरी बार वधू के शरीर का स्पर्श उसे ढोते समय करता है। जेठ थोड़ी दूर वधू को ढोता है, इसके बाद बारी-बारी से महिला संबंधियाँ ढोती हैं। कहा जाता है, पहले जब वधू को इस प्रकार ढोकर लिया जाता था, तब, 3 कन्या पक्ष के लोग उसे झपटने और ले भागने का दिखावा करते थे। दूल्हा पक्ष के लोग दौड़ा कर दुलहन को अपने साथ ले आते थे। वह बनावटी छीना-झपटी एक या एक मील से अधिक चलती थी इसके बाद वधू पक्ष के लोग उसे वर पक्ष के लोगों के साथ छोड़कर लौट आते थे।

वधू का स्वागत

अपने पिया के घर पहुँचने पर परिवार की कोई महिला काँसे के बर्तन में पानी लाकर उसके पैरों को धोती है। आँगन में एक दूसरे के बाद दो टोकरियाँ रखी रहती हैं। दूल्हा, दुलहन की एड़ी को अपने (toe) पैर की अंगूठी से दबाते हुए, दोनों अपने पैरों को एक साथ, पहली टोकरी में, उसके बाद दूसरी टोकरी में रखते हैं। बाँस की बनी इन टोकरियों को पुनः क्रमशः आगे रखा जाता है। वर-वधू एक

साथ पैर रखते हुए आगे बढ़ते हैं। यह क्रम तब तक चलता है, जब तक वे कुटी के दरवाजे तक न पहुँच जाएँ, दरवाजे पर पहुँचकर एक ही टोकरी में पैर रखकर दोनों उसी में खड़े हो जाते हैं। दूल्हे की छोटी बहन दरवाजे को बन्द करती, जब तक दुलहन द्वारा एक आना उसे नहीं मिलता है। दरवाजे के खुलने पर वह भीतर प्रवेश करती है। वह कमरे के भीतर ही रहती है,जब तक डंडा-कट्टा या बुरे दाँतों को काटने का अनुष्ठान मत्ती के द्वारा सम्पन्न नहीं किया जाता है।

वधू चुपचाप बैठी रहती है, और भोजन को तब तक नहीं छूती है जब तक उसे चार आना या इससे अधिक नहीं दिया जाता है।

एरा किरताना और बहारौत

एक या दो दिन के बाद दुलहन के संबंधी उसे अपने माता-पिता के घर ले जाने के लिए, दूल्हे के घर पहुँचते हैं। उनके पहुँचने पर दूल्हे के घर वाले पैर धोने के लिए पानी देते हैं। उनके लिए खूब हँड़िया, भात, दाल, सब्जी देकर अतिथि सम्मान किया जाता है। वे दुलहन को माता-पिता के घर ले आते हैं। साधारणतः दूल्हा भी, उनके साथ ही ससुर के घर लिया जाता है। दूल्हे के दो-तीन संबंधी भी उसके साथ जाते हैं। कभी-कभी दुलहन अकेली मैके लौटती है और दूल्हे को बाद में ससुराल जाने का निमन्त्रण मिलता है। परन्तु यह सब शादी के एक वर्ष के भीतर होना चाहिये। दूल्हा और उसके साथी एक या दो दिन सुसर के घर रहकर, दुलहन के साथ लौट जाते हैं। चूँकि शादियाँ माघ में होती हैं, अतः होली के एक या दो दिन पहले दुलहन अपने पति के साथ मायके पहुँचती है। इस समय वह ससुराल से अड़ैसा रोटी लाती है और संबंधियों को बाँटती है।

झरा गुंडा

अपने ससुराल वापिस जाते समय वह उपहार स्वरूप एक घड़ा हँड़िया और एक टोकरी चावल की गुंडी (चूर्ण) लेती है। ये चीजें उसकी सहेली ढोती है। ऐसा विश्वास है कि झरा गुंडा उपहार नहीं लेने पर वह बांझ रहती है। यदि उसके बच्चे हो भी जायें तो वे बीमार अथवा दर्द या दूसरी तकलीफों से परेशान रहेंगे। जब पति के घर ये चीजें पहुँच जाती हैं तब दूल्हे के परिवार की महिला सदस्य चावल के चूर्ण (गुंडा) को गाँव के प्रत्येक उराँव परिवार में थोड़ा-थोड़ा बाँटती हैं। शादी के दो-तीन वर्षों तक दुलहन, पर्व त्योहारों में माता-पिता के घर जाती है। यदि वे करमा के अवसर पर मैके जा रहे हों, तो पति के परिवार वाले लाल रंगे हुए टोकरी में हँड़िया से भरा घड़ा, एक नयी साड़ी, एक या दो सेर चूड़ा, तीन या चार सेर अरवा चावल, एक सेर या आधा, चाशनी, इसके अलावे एक या एक से अधिक ककड़ी या खीरा देकर भेजते हैं।

अक ओथरना या काँटे निकालना

शादी के बाद लगातार तीन चार वर्षों तक या इससे भी अधिक वर्षों तक लड़की के घर वालों को, लड़की के पति के घर वाले, फगुआ के बाद आने का निमन्त्रण देते ही रहते है। वे एक या दो दिनों के लिए आते हैं। भोजन और हँड़िया द्वारा इनका आतिथ्य सत्कार किया जाता है। इस आतिथ्य सत्कार का उद्देश्य फगु सेंदरा के समय दामाद के पैरों में चुभे काँटों को बाहर निकालना होता है। (शादी के बाद प्रत्येक फगु सेदरा में बेटी-दामाद को लड़की का बाप निमन्त्रण देता है, और दामाद को ससुराल

में शिकार खेलना पड़ता है)

आजकल "अक ओथरना" यह नाम भर लिया जाता है और वास्तविक काँटे निकालने का ढोंग भी नहीं होता है।

शादी के बाद दुलहन अपने जेठ का न तो नाम ले सकती है और न उसके सामने उठ-बैठ सकती है। उसका स्पर्श करना तो कल्पना से परे है। कहीं-कहीं जेठ के सामने हो जाने पर वे अपने सिर को आँचल से ढाँपती हैं।

पुरुषों को प्रणाम करते समय स्त्रियाँ दोनों हाथ जोड़कर और आपस में प्रणाम करते समय एक हाथ, कभी-कभी दोनों हाथों को उठाती हैं। पुरुष प्रणाम करते समय एक हाथ उठाता है।

यदि कोई कुँआरा लड़का विधवा को शादी करना चाहे, तो सर्वप्रथम काँसे के लोटे में शादी की ही तरह सिंदूर लगा कर ही विधवा को पत्नी बना सकता है। यदि विधवा अपने देवर के साथ ही शादी करती है तो उसके पहले पति के परिवार के साथ संबंध पूर्ववत् रहता है। विधुर अथवा विधवा की शादी केवल सगाई के रूप में ही होगी। ऐसी शादी में शादी के रस्म-रिवाज, समारोह, चुमावन आदि संक्षिप्त में होते हैं। कन्या का दाम पाँच रुपये दिये जाते हैं। दुलहन को एक कपड़ा दूल्हे की ओर से मिलता है। दूल्हा, दुलहन की माँग में तेल से सना सिंदूर भरता है। दोनों एक दूसरे के माथे पर सिंदूर लगाते हैं। बारात में किसी तरह के बाजे नहीं होते हैं।

तलाक

साधरणतः एक उराँव एक ही पत्नी रख सकता है, अपने पूरे जीवन भर के लिए। परन्तु कुछ परिस्थितियों में वह अपनी पत्नी को छोड़ भी सकता है तलाक की शर्तें निम्नलिखित हैं—

1. यदि वह कामचोर हो, और बार-बार मैके जाती हो।
2. यदि पत्नी पत्तों को तोड़ने के लिए वृक्ष नहीं चढ़ सकती हो, अथवा खेत का ढेला नहीं फोड़ सकती हो, या खेतों में खाद ढोकर नहीं पहुँचाती हो।
3. यदि वह चोरनी हो, घर का अनाज चुराती हो।
4. यदि वह डायन या बुरी नजर वाली हो।
5. व्यभिचार में पकड़ी गई हो।
6. पति के घर में बीमारी या दुर्भाग्य का कारण बनकर आयी हो।
7. बांझ या पागल हो।
8. यदि दोनों में से किसी ने ईसाई धर्म अपनाया हो।
9. यदि दोनों के बीच लगातार झगड़े होते हों।

स्त्री भी पति के नपुंसक या पागल होने पर, अथवा ईसाई धर्म अपनाने पर, निरन्तर झगड़े होने पर पति को छोड़ सकती है।

तलाक के लिए किसी औपचारिकता की आवश्यकता नहीं है।

कभी-कभी ऐसा होता है कि पति बहुत दिन परदेश में रह जाये, उसका अता-पता भी न रहे, पत्नी ने इस स्थिति में दूसरा विवाह कर लिया हो। पति अचानक आ जाये तो वह अपनी पत्नी को दूसरे पति से वापस ला सकता है, अथवा दुलहन दाम तो वापस ले ही सकता है।

यदि किसी स्त्री ने स्वयं पति को छोड़ा हो और वह उसके पास जाना नहीं चाहती हो, तो पति द्वारा दिये गये दुलहन का दाम, दूसरी शादी से पहले लौटा देना चाहिये।,

सम्पत्ति का उत्तराधिकार

उराँव परिवार पितृात्मक होने के कारण पुरुष या बेटा ही दाय का अधिकारी होता है। चूँकि पुत्री विवाह के बाद दूसरे गोत्र की हो जाती और दूसरे का चूल्हा संभालती है, इसलिए पिता की सम्पत्ति का हकदार नहीं होती है।

पिता के मरने के बाद यदि भाइयों में पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा हुआ, तो ग्राम-पंचायत उस अविवाहित कन्या के लिए भी भरण-पोषण के लिए कुछ खेत देते हैं वह जिस भाई कि साथ रहती है, वही भाई, उसके खेत को जोत कोड़ करता है शादी के बाद वह, बहन के हिस्से के खेत को ले लेता है।

यदि कोई लड़की अविवाहित रहकर बूढ़ी हो जाती है। मान लें कि वह अपने हिस्से की जमीन भाई को न देकर गाँव के अन्य व्यक्ति को कमाने के लिए दिया हो, तो मरने के बाद उसकी जमीन भाइयों के बीच बँट जायेगी। यदि उसकी जमीन पर कोई भाई ही जोत-कोड़ करता है, और वह उसी भाई के पास रहती है, तो मरने के बाद वह खेत पालन-पोषण करने वाले भाई को ही जायेगी।

पिता के जीते जी यदि पंचायत द्वारा बेटों के बीच सम्पत्ति का बँटवारा किया हो तो, बाप को बराबर से अधिक हिस्सा मिलेगा।

विधुर बाप ने यदि दूसरी शारी की हो और दूसरी पत्नी से अगर बेटा हो, तो इस स्थिति में बटवारा होने पर बाप को बराबर हिस्से से अधिक मिलेगा और बच्चे को सिर्फ एक दो खेत मिलेगा। बाप के मरने बाद, उसकी सम्पति को, दूसरी माँ और बच्चे को न देकर स्वयं आपस में बाँट सकते हैं।

पति के मरने के बाद बेटों के संयुक्त रहने पर बड़ा बेटा ही घर का मुख्य होता है। बँटवारा चाहने पर पंचायत इसे सिर्फ भरण-पोषण के लिए जमीन देती है। विधवा भी, अविवाहिता कन्या के समान जिस बेटे के साथ रहती है, मरने के बाद, उस के हिस्से की जमीन, देखभाल करने वाले बेटे का होता है। यदि बेटों से नाराज होकर वह अपनी जमीन किसी और को देती हैं तो इस हालत में, मृत्यु के बाद जमीन का फिर से बँटवारा होगा। विधवा जमीन को न बेच सकती है और न हस्तान्तरित कर सकती है।

परिवार— प्रायः संयुक्त परिवार होता है, परन्तु यह प्रथाः धीरे-धीरे कम हो रही है।

कृषि— अन्य जन जातियों के समान मूल रूप से कृषक हैं खेती पूर्णतः मानसून पर निर्भर होती है। खेती करने का तरीका भी अन्य जन जातियों के समान है (दे. अध्याय 2)।

उपज

धान की अनेक किस्में उपजायी जाती हैं। इसके अलावे उरद, मडुवा, गोड़ा, धान, गोंदली, चीनाबादाम, शकरकन्द और रब्बी फसल में चना, जटंगी, अरहर की खेती करते हैं। अपने घर से सटे बगान में वर्षा ऋतु में बीन, कोंहडा, कद्दू, बोदी, करेला भी उपजाता है। यदि बगान में कुआँ हो तो आलू, बैगन, मूली आदि अपने खाने के लिए उपजाता है।

भोजन

अन्य आदिवासियों के समान ये भी अरवा चावल न खाकर उसना चावल का ही भोजन पकाते हैं। भात के साथ धनी परिवार के लोग बगान में उपजाई गई कोई सब्जी और दाल खाते हैं। गरीब लोग सिर्फ दाल भात खाते हैं। ये प्राय: सब्जियाँ नहीं खरीदते हैं। अप्रैल, मई और जून महीनों मे गरीब परिवार मकई और महुँआ का फूल खाकर रहते हैं। वर्षा ऋतु में जंगल के फफूंदी, बाँस भी इनके भोजन बनते हैं। वसन्त ऋतु में फुटकल की नई पत्तियों और जंगल के वृक्षों की कुछ पत्तियों से साग की सब्जी होती है। जंगली कन्द मूल (गेंठी) चार, डुम्बर, जामून, बेर, सखुए का बीज, कटहल, डहू भी गरीबों का भोजन बनते हैं। प्रत्येक परिवार सूअर, मुर्गी, बकरा पालता है, परन्तु इसके माँस किसी विशेष समय ही खाये जाते हैं। प्राय: इन्हें बेचकर ये पैसे कमाते हैं। कभी-कभी गाँव के युवक एवं पुरुष जंगल में शिकार करने जाते हैं और जंगली चिड़ियों और जानवरों का माँस खाने को मिलता है। कभी-कभी स्त्री पुरुष, बच्चे नदी में मछली मारते हैं तो मछली भी कभी-कभी खाने को मिलती है। स्त्रियाँ घोंघे, केंकड़े, भी खोज लेती हैं। उराँव मांसाहारी हैं परन्तु विशेष अवसरों पर ही माँस खाते हैं, और सालों भर शाकाहारी होते हैं। मुंडाओं के समान उराँव इन खाद्य पदार्थों को सरसों अथवा ज़टंगी के तेल में पकाती हैं। मुंडाओं के समान उराँव महिलाएँ भी पुरुष वर्ग (यदि नौकर हो तो उसे देने के बाद ही) को खिलाने के बाद ही खाती हैं। परन्तु प्रात: कालीन कार्यो को करने के बाद स्त्रियाँ और बच्चे बासी भात खा लेते हैं। साग पकाते समय चुटकी भर तेल देकर पकाती हैं, गरम मसालों का प्रयोग नही होता है।

पेय

अन्य आदिवासियों के समान हँड़ियाँ इनका पेय पदार्थ है। इसे स्त्री-पुरुष दोनों बड़े चाव से पीते हैं। खेत से काम करके लौटने पर कृषक इसे पीते हैं। हँड़ियाँ के तर्पण देवताओं को भी दिया जाता है। शादी, श्राद्ध, अतिथि का स्वागत, यहाँ तक कि मृत व्यक्ति के मुँह में भी हँड़िया की एक दो बूँदें चुलाई जाती हैं। परन्तु यह आदिवासियों के पर्व त्योहार में ही पीया जाता है।

हँड़िया पीने के अलावे बूढ़ी औरतें और महिलायें हुक्का पीती हैं, और पुरुष चूना तमाकू का सेवन करते है। (विस्तृत विवरण के लिए जनजातियों का सामान्य परिचय अध्याय -2 न. 31)

कुटीर उद्योग

1. प्राचीन काल की उराँव महिलाएँ चरखे से कपास का सूत कातती थीं। परन्तु अब कपास की खेती ही लुप्त हो गई। फलस्वरूप चरखे की आवाज भी सुनाई नहीं देती है।
2. रेशे का काम— उराँव पुरुष, कुदरूम, सन या सनाई और सबई घास से रस्सी बनाते हैं। अक्तूबर, नवम्बर महीने में उपरोक्त चीजों को बंडल बाँध कर तालाब में कुछ दिनों के लिए डुबा देते

हैं पानी से निकाल कर उसे तोड़ते जाते हैं और इस प्रकार रस्सी निकालते हैं। जाल अथवा सिक्का बनाने में ये रस्सियाँ काम आती हैं।

3. पत्ता, घास और पुवाल से काम—

(क) उराँव स्त्रियाँ जंगली खजूर के पत्तों से चटाई बनाती हैं। प्रत्येक गरीब से गरीब घर में चटाई मिलेगी। यह बैठने और सोने के काम आती है।

(ख) गुंगु पत्तों को बाँस के चैलों से जोड़कर गुंगु बनाया जाता है (देखिये द्वितीय अध्याय) इसी प्रकार साल के पत्तों को बाँस के चैलों से जोड़ कर दोने बनाये जाते हैं।

(ग) बिरनी एक लम्बा घास है जो नदी के किनारे होता है। इस घास से स्त्रियाँ झाडू बनाती हैं।

(घ) इसी प्रकार के जंगली घासों से पुरुष मछली पकड़ने वाला 'कुमनी' बनाते हैं।

(ङ) पुरुष पुवाल को गूंथ कर रस्सी बनाते हैं। इन रस्सियों से धान रखने के लिए ''मोरे' बनाये जाते हैं।

लकड़ी के काम

उराँव अपना बढ़ई स्वयं होता है। छेनी और बैसला की मदद से वह 'ओखली' 'ढेकी' बनाता है जिनसे धान कूटा जाता है। 'कोल्हू' से महिलाएँ तेल निकालती हैं। ''पीढ़े'' में बैठकर स्त्री-पुरुष और बच्चे भात खाते हैं। घर का दरवाजा भी उराँव पुरुष खुद बनाता है। ''मकड़ी या छड़ से दरवाजे को बन्द करता है। ''पैला'' से धान चावल और अन्य दलहन और तेलहन की उत्पादित वस्तुएँ नापी जाती हैं। हल से खेत जोतता और पट्टे से खेत को समतल करता है।

उपरोक्त सभी उत्पादित वस्तुएँ घर में प्रयुक्त होने के साथ अर्थोत्पादक भी हैं।

स्त्रियों के घर के काम सालों भर चलते हैं। बच्चों की देखभाल के अलावे पकाना, परिवार के सदस्यों यहाँ तक कि नौकरों को खिलाना, उनके बरतनों का धोना, रोज धान उबालना (बरकाना) इस उबले धान को फिर आग में चढाना जब तक कि धान से बिल्कुल पानी न निकल जाये (उसना), इस धान को चटाई में सुखाना, सूखने पर ढेकी अथवा समाठ से कूटना, गोशाले का गोबर फेकना, घर आँगन, गौशाले की सफाई, प्रतिदिन पीने वे लिए दूर चुआँ (डाड़ी) से पानी लाना, अगर बारी (बगान) हो तो साग तोड़ना, जलावन के लिए पास के जंगल से लकड़ी लाना, सप्ताह में एक दिन गोबर से घर आँगन को लीपना, सप्ताह में एक दिन सबों के (नौकर का भी) कपड़ों को राख में उबाल कर पास की नदी में धो कर सुखाना, कपड़ों को सहेज कर रखना, साप्ताहिक बाजार में घर की कुछ उपजाई हुई फसल को बेचकर सप्ताह भर के लिए नमक, तेल, तमाकू की व्यवस्था करना आदि ये काम स्त्रियाँ करती हैं। केवल बाजार जाकर नमक तेल खरीदने का काम कभी-कभी पुरुष भी करते हैं।

उपरोक्त कार्यो को करने के बाद यदि फुर्सत मिले तो हँड़िया तैयार करती, खजूर के पत्तों से चटाई तैयार करती, चरखे द्वारा कपास से सूत निकालतीं, कोल्हू से तेल निकालतीं बालों में लगाने के लिए करंज, सरसों, कुसुम का तेल पेरकर निकालती हैं। महुवे का फूल सिर्फ स्त्रियाँ और बच्चे ही चुनते हैं। गुंगु के पत्तों को जोड़कर वर्षा में रोपनी और घास निकालते समय के लिए गुंगु बनाती हैं। उराँव

परिवार में पत्नी की स्थिति सम्मानजनक है।

उराँवों की अर्थव्यवस्था एवं स्त्रियों की भागीदारी, सामाजिक एकता, अंधविश्वास, अतिथि सत्कार, बाजार अन्य जनजातियों के समान हैं। इसकी चर्चा द्वितीय अध्याय में ऊपर हो चुकी है।

गाँव पंचायत

गाँव के सभी पुरुष और युवक सदस्य होते हैं। वे अपने बीच में से किसी को गाँव पंचायत का मुख्य चुनते हैं। मुख्य अपनी सहायता के लिए गाँव के पुरुषों में से ही चुनता है। मुख्य का पद न तो वंशानुगत होता है और न इसकी कोई निश्चित अवधि। यदि कोई बहुत ही योग्य हो, तो बहुत वर्षों तक भी मुख्य रह सकता है।

जमीन बँटवारा अथवा बँटवारे संबंधी झगड़े, यौन अनैतिकता संबंधी मामले, डायन, चोरी और मार पीट संबंधी मामले गाँव पंचायत में लाये जाते हैं। पंचायत सामान्यतः अखरा में बैठती है।

निर्णय से असंतुष्ट अथवा निर्णय नहीं दे सकने की स्थिति में तीन से लेकर पाँच गाँवों के पुरुषों को आमंत्रित करते हैं। इसे 'पचोरा बैठक' कहते हैं। पचोरा, पंचायत से बड़ा पड़हा सभा होता है, कभी-कभी 24-25 गाँवों को मिला कर बनता है। इसके मुख्य को "पड़हा राजा" कहते हैं। यहाँ आकर सारे मामले सलट जाते हैं।

स्त्रियाँ पंचायत में नही जा सकती हैं।

विधवा की स्थिति

पति के मर जाने पर विधवा बेटों के साथ रहती है। इसके साम्पत्तिक अधिकारों की चर्चा ऊपर हो चुकी है (दे. द्वितीय अध्याय)।

कभी-कभी वह अपने देवर से विवाह कर उसी घर में रह जाती है दूसरे घर में शादी होने पर सिर्फ लड़कियों को अपने साथ ले जाती है, बेटा अपने मृत पति के घर रह जाता है।

विधवा समाज में अपशकुन नहीं मानी जाती है। वह शादी और अन्य शुभ अवसरों पर भाग लेती है। उसके खान-पान और परिधान में कुछ फर्क नहीं होता है।

मृत्यु संबंधी धर्मविधियाँ

मृतक के घर में किसी गाँव में उराँव के मरने पर मृतक के परिवार की महिलायें जोर से रोने लगती हैं। मृतक का सिर दक्षिण और पैर उत्तर की ओर करके घर के मुख्य दरवाजे से होकर उसे बाहर आँगन से निकाला जाता है। ज्यों ही शव को घर के बाहर निकाला जाता है घर की जमीन में राख छिड़के जाते हैं और दरवाजे बन्द किये जाते हैं। जब लोग लाश को गाड़ कर या जला कर "मसान" से लौटते हैं, तब ही केवल दरवाजें खुलते हैं। लाश को आँगन में निकाल कर उसे ठंढे पानी से नहलाते हैं। यदि ऐसी स्त्री का सिर हो, जिसका पति जीवित हो, तो तेल में सना सिंदूर उसके माथे पर और कहीं-कहीं उसकी माँग में दूसरी स्त्रियाँ सिन्दूर लगाती हैं। यदि महत्वपूर्ण व्यक्ति की लाश हो, तो एक दोने में तेल और वर्तिका रख दी जाती है, और वर्तिका को लाश की बगल में जला कर छोड़ दिया जाता है। इस बत्ती को छोड़कर एक टोकरी भी रखी जाती है, जिसमें मिट्टी का एक छोटा घड़ा रखा जाता है।

आस-पड़ोस के सगे संबंधी गाँव वाले सभी क्रन्दन सुनकर नचु या सूप में थोड़ा धान लेकर मृतक के घर पहुँचते हैं। सर्वप्रथम वे लाश की बगल में रखी हुई टोकरी के चारों ओर जाते हैं, और अपने साथ ली हुई चीजों को वहाँ रखते हैं।

श्मशान घाट में

इसी बीच गाँव के कुछ लोग लम्बे खूँटों के बीच डंडे रख कर उन्हें खूँटों से बांध देते हैं। इस लकड़ी के फ्रेम को 'सरहा' कहते हैं। इसी अर्थी पर लाश को पीठ नीचे कर, सिर उत्तर की ओर करके एक नये सफेद कपड़े से ढाँप देते हैं। लाश चाहे मर्द की हो या स्त्री का, केवल पुरुष ही लाश को अपने कंधों या हाथों में ढोकर अर्थी में रखते हैं, साथ ही मसान तक ले जाते हैं। संबंधी पुरुष-स्त्री और गाँव वाले श्मशान तक जाते हैं। मृतक के बुजुर्ग होने पर शव यात्रा में बाजे भी बजाये जाते हैं। पकाया भोजन के अलावे, कुछ तेल, ताम्बे के सिक्के, मृतक के लिए श्मशान घाट में लिए जाते हैं। यदि मृतक धनी रहा हो, तो बालियों सहित पुवाल का बंडल (तिपसी) एक व्यक्ति लाश की बगल में लेकर चलता है। महिलायें भी कुछ किलो (पैला) धान और तेल छोटी टोकरियों में लेकर चलती हैं। मसान घाट पहुँचकर सभी धान, चाहे वह पुवाल हो, अथवा औरतों द्वारा लाया गया हो, जमीन पर रख दिये जाते हैं, जिस पर लाश के सिर को आराम के लिए रखा जाता है। महिला संबंधी, लाश के सिर पर तेल उड़ेलती हैं। औरतों द्वारा भात और ताम्बें के सिक्के मृतक के मुँह में रखे जाते हैं, और प्रत्येक संबंधी द्वारा मृतक के मुँह में हँड़िया की कुछ बूँदें गिरायी जाती हैं। भात को उसके मुँह में रखती हुई औरतें इस प्रकार कहती हैं—''ले लीजिये और खा लीजिये। अभी आपने हम सबों को छोड़ दिया है। आपने अपना रास्ता देख लिया है। हमारे सब पाप और बुराइयों को अपने साथ लेकर जाइये।''

अस्थायी गाड़ना

वर्षा के पहले मृत्यु होने पर लाश को तुरंत गाड़ दिया जाता है। यदि धान के पौधे बढ़ गये हों (जून जुलाई महीने में) तो लाश को अस्थायी रूप से मसान में निम्नलिखित तरीके से गाड़ते हैं—

एक गड्ढा उत्तर से दक्षिण लम्बाई में खोदा जाता है। इसके बाद करंज की तीन लम्बी डालियाँ को U आकार में बनाकर गडढ़े के भीतर इस प्रकार रखते हैं कि प्रत्येक डाल के दोनों किनारे गड्ढे के पूर्वी और पश्चिमी दीवाल से सटकर और ऊपर उठे हों। प्रत्येक डाल का मध्य भाग गड्ढे की जमीन पर सीधा रखा हुआ हो। इसके बाद गड्ढे में तीन सखुए के खूँटे उनके ऊपर आड़े-तिरछे रखे जाते हैं। उनकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण होनी चाहिए। लाश को गड्ढे के चारों ओर तीन बार घुमाया जाता है, इसके बाद गड्ढे के भीतर उतारा जाता है। उतारने से पहले घुमाने वाले को ध्यान में रखना पड़ता है कि गड्ढा उसके हमेशा बाईं ओर रहे। ताम्बे के सिक्के, धनी मानी व्यक्ति मृतक के रहने पर चाँदी के सिक्के उसके मुँह में डाले जाते, अथवा इन सिक्कों को कपड़े में बाँध कर मृतक के सिर के पास रख देते हैं, जिससे मृतक भोजन खरीद सके। सब से निकट का संबंधी सब से पहले बायें हाथ की मुटठी से मिट्टी, गड्ढे में फेंकता है। इसके बाद उपस्थित लोग भी ऐसा ही बाँये हाथ से मिट्टी फेंकते हैं। यदि गिरायी गई मिट्टी से कब्र न भरी हो तो कुछ लोग कुदाल से मिट्टी गिराकर गड्ढे को भर देते हैं। मिट्टी का घड़ा (गगरी) पुवाल के पैड (नेठो) पर मृतक के सिर के ऊपर रखा जाता है। तीन साल वृक्ष की

टहनियाँ (दातून) भी घड़े में रखी जाती हैं, जिससे कि वह मुँह धो सके। घड़े के एक साईड में पानी निकालने के लिए तीन छेद बनाये जाते हैं। पानी में हल्दी मिला कर उसे चारों ओर शुद्धीकरण के रूप में छिड़का जाता है।

इसके बाद सभी झरना अथवा तालाब में नहाने के लिए जाते हैं। नहाने के बाद सभी मृतक के घर पहुँचते हैं। उनके आने के पहले ही आँगन गोबर से लीपा रहता है। एक स्थान पर धान की भूसी रहती है। श्मशान से लोगों के वापस लौटते ही भूसी में आग ला कर धुँआ रोकने के लिए तेल उँडेल देते हैं। इसी धुँए में प्रत्येक व्यति अपने हाथ की हथेली को शुद्धीकरण के प्रतीक स्वरूप रखता है। तेल में सनी हल्दी तैयार रहती है। इस हल्दी को अपने शरीर के कुछ अंगों में लगाकर अपने अपने घर जाते हैं। फसल के बाद लाश को खोद कर बाहर निकालते हैं और जलाते हैं।

फसल के बाद और धान के पौधों के बढ़ने के पहले मृत्यु होने पर उपरोक्त विधि से ही मृतक को श्मशान घाट पहुँचाते है। वहाँ लकड़ी के ढेर छः लकड़ी के छोटे खम्भों के ऊपर रखे जाते हैं। ये छः खम्भे भी, तीन-तीन करके, उत्तर से दक्षिण की ओर दो समानान्तर पंक्तियों में रखी जाती हैं। एक पंक्ति दूसरे के पूर्व की ओर रखी जाती है। मृतक के सिर को दक्षिण की ओर कर, उसे लकड़ी के ढेर के ऊपर रख देते हैं। प्रत्येक मृतक का संबंधी दो पैसे या उससे अधिक उसके मुँह में डालता है। इसके बाद कुछ लकड़ियाँ मृतक के ऊपर रखी जाती हैं इसके बाद मृतक का पुत्रऔर अनुपस्थिति में एक निकट संबंधी पुवाल में आग लगा कर मृतक के मुँह के पास ले जाता है। यही आग सभी लकड़ियों में लगा दी जाती है। वहाँ पर उपस्थित सभी लोग लकड़ियों के कुछ टुकड़े मृतक के ऊपर रखते हैं।

दाहसंस्कार के बाद शुद्धीकरण

चिता में आग लगाने के बाद औरतें जलते मसान को छोड़ कर तालाब अथवा नदी (परन्तु डांड़ी स्रोत में नहीं) में नहा कर पहले मृतक के घर पहुँचती हैं जहाँ वे उपरोक्त तरीके से हल्दी और तेल को अपने शरीर में लगाती हैं। केवल पुरुष सदस्य ही जलाते समय रहते हैं। लाश के पूर्ण जलने पर वे भी नदियों अथवा तालाओं में (जल स्रोत में नहीं) नहाकर मृतक के घर आते हैं और मृतक के घर में रखे हल्दी और तेल अपने-अपने शरीर पर डालते हैं।

यदि मृतक अस्थायी रूप से गाड़ा गया है तो ऊपर बतायी गयी विधि से कोंहा-बेंजा अथवा हरबोरा अनुष्ठान से पहले निकाले जाते हैं और पुनः गाड़े जाते हैं। फसल के बाद और धान के नये पौधे बढ़ने के पहले मृत्यु हो तो धर्मविधियाँ एक समान होंगी। यद्यपि हड्डी को मुँह से नहीं सटाते हैं। वह मृद्भांड पुवाल से बने (नेठो) के गद्दे पर रखा जाता है। फूस घास से मृतक की आकृति बनायी जाती है, यह दिखाने के लिए कि हड्डी सहित उसे मिट्टी के घड़े में रखा गया है। कब्र के पास ही, या जलाने के स्थान में तीन दोनों में भात रखा जाता है। श्मशान का भाग, जहाँ दाहकर्म हुआ हो उसे एक औरत गोबर से लीपती है और दूसरी सिंदुअइर की टहनी वहाँ रखती है

एख मन्खना अथवा छाया भितारना

एक छोटा भूरा या रंग विरंगा (चितकबरा) चूजा भीतर लिया जाता है, जिस स्थान में मृतक ने अंतिम सांस ली थी। सूप में उसका चावल रखा जाता है, जिसे चूजा खाता है। काँसे के लोटे में पानी,

और उसके ऊपर दोने में तेल और वर्तिका को जला देते हैं। एक आदमी कमरे में रहता है, जब कि बाकी स्त्रियाँ श्मशान घाट की ओर जाती हैं। वे अपने साथ फाल, हँसुआ, दतवन के रूप में तीन टहनियाँ, कुछ पुवाल, जलते हुए कोयले का एक टुकड़ा, पानी से भरा काँसे का लोटा, दोने में कुछ चावल, दूसरे दोने में थोड़ा सा पानी। श्मशान की आधी दूरी पर तीन टहनियों को जमीन पर गाड़ देते हैं, मानों वे छोटी कुटिया के ढाँचे हों। उस ढाँचे में छप्पर स्वरूप कुछ पुवाल रखे जाते हैं। जलते हुए कोयले से पुवाल सहित ढाँचे को जला दिया जाता है। जब प्रतीक कुटी जलने लगती है, तो औरतें यह कहती हुई तीन बार चिल्लाती हैं—''(मृतक का नाम लेकर) आप आ जाओ। आप की कुटिया जल रही है। इसके बाद वे चाहे हँसुवे को फाल से मारती हुई, अथवा चुपचाप घर लौटती हैं। घर पहुँचकर मृतक की कोठरी में बैठे हुए व्यक्ति को बाहर बुलाती कहती हैं—''दरवाजा खोलो!'' व्यक्ति पूछता है तुम लोग कौन हो? क्या अपने हो या बाहर के हो? औरतें उत्तर देती हैं ''आपके अपने आदमी हैं।'' आदमी फिर पूछता है— तुम लोग सुख में या दुःख में आ रही हो। औरतें जबाव देती हैं—''हम लोग सुख में आ रही हैं। दरवाजे के खुलने पर सभी भीतर जाती हैं, और वर्तिका के लौ की जाँच करती है। यदि लौ डगमगाती दिखाई दे, तो विश्वास किया जाता है कि घर में मृतक की छाया आ गई। यदि लौ न डगमगाये और स्थिर रहे, तो औरतें फिर बाहर जाकर उपरोक्त 'एख मंखना' या छाया भितारने की धर्म विधियों को करती हैं। मृतक की छाया के भीतर आ जाने का विश्वास होने पर वे जमीन में बिछाये गए राख की जाँच पड़ताल करती हैं कि उसमें किसी जानवर या रेंगने वाले जीव के कदमों के पदचिन्ह हैं या नहीं। यदि किसी का पदचिन्ह पाया जाता तो समझा जाता है कि कुछ भूत या डायन के कारण मृत्यु हुई। कोई चिन्ह न रहने पर विश्वास किया जाता है कि सामान्य मृत्यु हुई है।

उत्तुर खिला

श्मशान घाट से लौटने के बाद एक चौकोर अथवा वर्गाकार गड्ढा, मृतक के आँगन में खोदा जाता है। गड्ढा नव इंच नीचे और छः इंच व्यास का होता है कुछ भूने हुए कपास के दाने (बंगूर) अथवा कुछ दूसरे गाँवों में भूने उरद की दाल, भूने हुए लोटनी और भुना हुआ अनाज (लावा) ये सभी जितिया पिपर की पत्ती से बने दोनों में रखे जाते हैं। इन दोनों की धड़ एक साथ जुड़ी रहती है। कुछ पानी में सने हल्दी के चूर्ण दूसरे दोने में लाये जाते हैं। सभी दोनों को गड्ढे के बगल में रख दिया जाता है।

एक बुजुर्ग गड्ढे के पश्चिम की ओर बैठता है, उसका मुँह पूर्व की ओर होना चाहिए। वह लाल रंग का चूजा अथवा सूअर की बलि देता है। यदि चूजा हो तो हाथ से उसका सिर, यदि सूअर हो तो फाल से उसका सिर अलग करता है। इसी प्रकार चूजे की चोंच अथवा सूअर की थूथनी को अलग-अलग करके खून गड्ढ़े में चुलाता है, और चोंच अथवा थूथनी को गड्ढ़े में फेंक देता है। वहाँ उपस्थित व्यक्ति पहले दोने में रखी गई वस्तुओं में से थोड़ा लेकर, गड्ढ़े के चारों ओर घुमाता है। इसके बाद बायें हाथ से गड्ढे में डालता है। इसके बाद भिंगाये गये हल्दी के पेस्ट को छूता है। ऐसा करते समय अनुष्ठान करने वाला कहता है ''फलाँ (नाम), गोत्र के पूर्वजों में अभी दुनियाँ में नही हैं, आपलोग इस मृतक (नाम) को अपनी संगति में लीजिये।'' इसके बाद सभी दोने गड्ढे में फेंके जाते हैं और गड्ढा मिट्टी से भर दिया जाता है। इसके बाद एक बड़े आकार की रोटी और तीन अइड़सा (चावल के पूर्ण से बना हुआ केक) तैयार किये जाते हैं। एक मृद्‌भांड को बाहर से चावल के चूर्ण को पेस्ट बनाकर

लीपते हैं। इस मृद्भांड में कुछ हँड़िया और आधा पकाया गया भात रखा जाता है। तीनों अइड़सा (केक) को माला की तरह सूत में टाँग कर मृद्भांड के गले के पास रखा जाता है। घड़े के मुँह को चावल की बनी रोटी से ढाँप देते हैं। रोटी में तीन सिंदूर दाग लगाये जाते हैं। घड़े के मुँह को नये कपड़े के टुकड़े से बाँध दिया जाता है। इसी समय डंडा कट्टा की धर्मविधि भी सम्पन्न होती है।

खोचोल पूँप पेसना अथवा हड्डियों को जमा करना

स्त्रियाँ श्मशान घाट (मसान) जाकर मृतक के गले, हाथ, पैर और छाती की हड्डियों को बायें हाथ से उठाती हैं। इन हड्डियों को वे चाहे काँसे की थाली अथवा मृद्भांड में रखती हैं। नये कपड़े के टुकड़े में हड्डियों को धोती हैं, उन्हें हल्दी का लेप लगाती हैं। इसके बाद बाहर से पुते हुए नये मिट्टी के बरतन (घड़े)में रखती हैं। कुछ ताम्बे के सिक्के, परिवार और संबंधी उस घड़े में डालते हैं। प्रत्येक हड्डी को रखते समय प्रत्येक औरत उसे कोंहा बेंजा अथवा हाड़ बोरा (हड्डियों को डुबाना) का मन्त्रोचारण करती है।

सर्वप्रथम मिट्टी के छोटे घड़े बाहर से पुते जाते हैं, तत्पश्चात् उनमें ऐसे उराँव मृतकों की हड्डियों को रखा जाता है, जिनकी हड्डियाँ स्थायी रूप से रखी जानी है। जुलूस के रूप में इन हड्डी युक्त मृद्भांडों को नदी, पुल, अथवा जलमार्ग के किनारे कुंडी अथवा हड्डी डुबोने के स्थान में लिया जाता है। साधारणत: एक गाँव के उराँवों की एक ही कुंडी होती है जहाँ गाँव के भुंइहर परिवार, कुछ जेठ रैयत परिवार, जिन्होंने अपने मृतकों की हड्डियों को कुंडी में लेना बंद कर दिया हो (अपने पुराने पूर्वज भूँइहरी गाँव में हड्डियाँ लेना बंद किया हो) अपने मृतकों की हड्डियों को हवाले कर देते हैं। प्रत्येक गोत्र का अलग-अलग पत्थर का स्लेब या शिला खण्ड, कुंडी के किनारे गाड़ा जाता है। ये पत्थर पुल्खी पत्थर कहलाते हैं। कुछ गाँवों में एक ही गोत्र के परिवार, उराँव भूँइहरों से भिन्न जिनका भूँइहरों और जेठ रैयतों की कुंडी से अलग, अपनी कुंडी होती है। गाँव के दूसरे उराँव परिवार के समान, वे अपने मृतकों की हड्डियों को पुराने भूँइहरी (पूर्वज) गाँव की कुंडी में स्थायी रूप से रखने के लिए लेते हैं। प्राय: यदि नया गाँव, पुराने भूँइहरी गाँव से अधिक दूरी पर होने से एक उराँव मृतकों की हड्डियों को भूँइहरी गाँव की कुंडी में न लेकर अपने ही अपनाये गये गाँव की कुंडी के हवाले करता है। बिरले ही अपने नये गाँव में नयी कुंडी बनाता है। अपने-अपने परिवार की महिला सदस्याएँ हड्डियों से युक्त छोटे मृदभांडों को हथेलियों में रखकर नाचती हुई जाती हैं। इस शवयात्रा के साथ, एक औरत पवित्र कंड़सा घड़ा (भंडा) को लेती है। इसका मुख्य उद्देष्य होता है कि हाल में मरे मृतकों की आत्माएँ पहले मरी हुई रिश्तेदारी की आत्माओं से मिल जायें। यद्यपि कंड़सा लेने की प्रथा प्राय: मृतप्राया हो गई है। परन्तु हड्डी डुबोने की धर्मविधि को अभी उराँव लोग 'कोंहा बेंजा' अथवा पचगी बेंजा (बूढ़ों का विवाह) कहते हैं। गाँव के पुरुष और स्त्री उसी प्रकार दूसरे गाँवों के भी स्त्री पुरुष इस शवयात्रा में भाग लेते हैं। ऊपर खिली धर्मविधि में वर्णित कुछ भात गड्ढे में डालने के बाद, बाकी बचे हुए भात को एक औरत प्रत्येक मृतक के लिए कुंडी ले जाती है। कुछ स्थानों में भात और दाल एक साथ पकाकर ले जाते हैं। गाँव गोड़ाइत बाजा बजाते जुलूस में जाते हैं। कुंडी के पास पहुँचकर पुरुष, अस्थि कलशों को स्त्रियों से छीन लेते हैं, और हड्डियों को पानी के हवाले कर देते है, मृद्भांडों को गोत्र पुलखी पत्थर से मार कर टुकड़े कर देते हैं। औरतें अपने अपने गोत्र के पुलखी पत्थर को धोकर तेल से सना हुआ सिंदूर लगाती

हैं। सभी अन्त्येष्ठि संस्कार बायें हाथ से सम्पन्न किये जाते हैं। किसी-किसी गाँव में चावल के चूर्ण को पानी से पेस्ट बनाकर पुलखी पत्थर पर आलंकारिक आकृति बनाती हैं।

पहान या गाँव का पुजारी हल्दी मिला हुआ पानी तुम्बे से निकाल कर सब ओर छिड़कता है। इसके बाद हड्डियों को कुंडी में फेंकने के पहले मृद्भांडों में जहाँ रखा गया था, उस स्थान में, आधा पकाया भात, अथवा दाल भात की खिचड़ी, स्त्रियों द्वारा पतलों में रखी जाती है। रोटी और अइड़सा (केक) के टुकडे भी रखे जाते हैं इन सब को तीन पतलों में प्रत्येक मृतक के नाम पर पुलखी के सामने रख देते हैं। जहाँ हड्डियाँ फेंकी गई हैं, उस स्थान से ऊपर पुल या नदी में पुरुष स्नान करते हैं, और स्त्रियाँ इस से भी ऊपर जाकर पुल या नदी में स्नान करती हैं।

स्नान के बाद कुछ गाँव के बुजुर्ग चूना तमाकू मिलाकर उस कुंडी के निकट जमीन पर गिरा देते हैं। मृतकों से विदा लेते हुए इस प्रकार कहते हैं—"हे पूर्वजों की आत्माओ, हम लोग आपलोगों को चूना और तमाकू दे रहे हैं, हमलोग अब जा रहे हैं। सभी धर्मविधियाँ पूरी हो गई हैं, हम लोग जा रहे है।" इसके बाद सभी अपने-अपने गाँव लौट जाते हैं। ये लोग अपने-अपने गाँव में 'महतो' के पास जाते हैं। वह मुख्य पहले से ही हल्दी मिश्रित पानी छोटे-छोटे कपों में रखता है, प्रत्येक मृतक के गोत्र में प्रत्येक सदस्य के लिए एक कप। सभी लोग तेल में मिले हुए हल्दी को अपने शरीर में लगाते हैं। इसके बाद महतो काँसे के बरतन में पानी लेकर पानी को एक प्रकार की लम्बी घास (फुटचोरा) के पुलिन्दे से, उनके ऊपर छिड़कता है। इसके बाद वे अपने-अपने घर लौट जाते हैं। गाँव के जवान लड़के और लड़कियाँ गाँव से बाहर, जतड़ा टाँड़ में नाचते हैं। दो या अधिक नाचनेवाली लड़कियाँ सिर पर कड़सा-भंडा ढोकर जतरा टाँड में जाती हैं। इसे 'हरबोरी जतरा' कहते हैं। यह प्रथा भी धीरे-धीरे लुप्त प्राय: हो रही है।

शाम के समय गाँव का गोड़ैइत सभी गाँव वालों को मृतक के घर, और यदि उस वर्ष दो या इससे अधिक मृत्यु हो तो, गाँव के 'अखरा' में बुलाता है। मृतक के घर वाले एक घड़े में हँड़िया, थोड़ा तेल और थोड़ा चावल लाते हैं। पहान जमीन पर तेल को गाँव के परिवार के सभी पूर्वजों की आत्माओं के नाम पर छिड़कता है। पिसे हुए उरद की दाल और चावल को मछली के साथ (यदि मिले तो) पकाते हैं। इस भोजन को 'डुबकी भात' कहते हैं। सब मिलकर खाते-पीते हैं।

पद्दा कमान अथवा गाँव को शान्त करना

एक या दो दिनों के भीतर, गाँव का पहान, गाँव की शुद्धि के लिए अनुष्ठान करता है। गाँव के बुजुर्ग गाँव के अखरा में जमा होते हैं। जहाँ पिछले वर्ष मरे हुए घरों के लोग एक घड़ा हँड़िया लाते हैं। पहान के लिए एक या दो तुम्बियों में पानी लाते हैं। एक तुम्बे के पानी में ताम्बे का टुकड़ा, कुछ जगहों में चाँदी के सिक्के दूसरे तुम्बे में डाले जाते हैं। वह हाथ में तुम्बा या तुम्बियों को लेकर गाँववालों को गाँव से होते हुए जुलूस को लेता है। पार होते समय सभी स्थानों और नालियों को छिड़कते जाता है, और पूर्वज आत्माओं को सम्बोधित करता है—"हे पूर्वज आत्माओ! मैं फलाँ-फलाँ गोत्र की कुंडी को शुद्ध कर रहा हूँ। गाँव शान्त और खुशहाल रहे।" इस प्रकार पहान और उसका जुलूस गाँव के एक कोने से प्रवेश कर, गाँव को पार करता हुआ, दूसरे छोर से निकलता है। वहाँ एक सफेद मुरगी अथवा सूअर

की बलि धर्मेस के लिए सामान्य तरीके से चढ़ाते हैं—"हे सूर्य देवता! हम लोग गाँव को शुद्ध कर रहे हैं। अब से लेकर हमलोगों के काम, पहले की तरह अच्छा होवे। हम कहीं भी जायें (गाँव के बाहर)तो काँटे न चुभें।" इस तरह गाँव, बुरे प्रभाव से बचाया जाता है। नई आत्माओं के प्रवेश से आत्माओं की दुनिया में जो उत्पाद होता है, वह शान्त किया जाता है। शोक संतप्त परिवारों के खर्च पर गाँव वाले आनन्द मनाते है।

किसी-किसी गाँवों में प्रत्येक मृतक के यहाँ पारी-पारी से गाँव वालों को भोज दिया जाता है। इसमें प्रत्येक परिवार मृतक परिवार के घर एक घड़ा हँड़िया लेकर जाता है, भोज के दिन पहान और महतो को शोकसन्तप्त परिवार कुछ "आना" देता है।

पूलखि अथवा यादगार पत्थर

गाँव के मुखिया और दूसरे पैतृक पूज्य लोगों के मरने या दफन के समय उराँव की कोई विशेष धर्मविधियाँ नहीं होती हैं। परन्तु यदि मृतक गाँव का प्रसिद्ध उराँव, हो, अथवा अत्यन्त बूढे हों, तो उनके शोकित परिवार कभी-कभी यादगार पत्थर गाड़ते हैं, जिन्हें पूलखि कहा जाता है। यह पत्थर का स्लैब करीब 3 से 10 फीट लम्बा और 1/½ से 3 फीट चौड़ा होता है। इसे सीधे (ऊपर से नीचे) मृतक की बारी (बगान) अथवा उसकी ही जमीन में गाड़ते हैं। हारबोरा अथवा हड्डी डुबाने की धर्मविधि के समय, एक या दो हड्डियाँ इस पूलखि के लिए अलग रखी जाती हैं। कुछ भूसी और भूसी रहित चावल, कुछ उरद के दाने, कुछ कपास के बीज एक काँसे की थाली एक लोहे का चम्मच, एक चाकू और कुछ सिक्के, और मृतक की चीजों को हड्डियों के साथ एक-दो दिन बाद बगान या खेत में खड्ढा खोदकर डाल देते हैं, और वहीं पूलखि पत्थर खड़ा किया जाता है। पत्थर गाड़ते समय सभी गाँव वाले उपस्थित रहते हैं, और हँड़िया पीते हैं। वहाँ पर उपस्थित सभी, कुछ चावल गड्ढे में डालते हैं। पूलखि पत्थर गाड़ते समय मृतक का पुत्र अथवा कोई नजदीकी संबंधी, आत्मा को सम्बोधित करते कहता है—"देखिये! वृद्ध आदमी! आपके नाम पर यह पूलखि खड़ा किया गया है। आज से लेकर घर की सारी विपत्तियों को लेकर आप चले जाइये। आज से बीमारी का आक्रमण हम पर न हो। आपके नाम पर (आपके आर्शीवाद से) हम लोग बढ़िया से खा पी सकें (हमलोगों के पास पर्याप्त मात्रा में खाना पीना रहे)। यदि एक गाँव को उराँव रैयत, अपनी कुंडि को भुँइहरी या पूर्वज गाँव से वर्तमान गाँव लेना चाहे, जहाँ साधारण रैयत की तरह बसा हो, तब वे साधारणतः अपनाये गये गाँव के कुंडि के बगल में, अथवा अपने चुने हुए नये कुंडि के बगल में एक पूलखि पत्थर गाड़ते हैं। यादगार पूलखि पत्थर के समय में जो अनुष्ठान होते हैं, वे ही अनुष्ठान पूलखि पत्थर के समय भी होते हैं।

ये ही मुख्य दफन संबंधी धर्मविधियाँ हैं, जिसके द्वारा एक उराँव दृश्य से अदृश्य संसार में भेजा जाता है। यद्यपि वार्षिक हड्डी गाड़ना (हारबोरा या संत बोरा) समारोह "बड़ी शादी (कोंहा बेंजा) कहलाता है, तथापि इस शादी में, वास्तविक शादी का उल्टा ही होता है, जैसे शादी में दाहिने हाथ का प्रयोग, इसमें बायें हाथ का प्रयोग, शादी में अरवा चावल का प्रयोग इसनें उसना चावल का प्रयोग होता है।

मृत्यु संबंधी दूसरी प्रथाएँ एवं विश्वास

उपरोक्त दफन संबंधी 3 धर्मविधियाँ बच्चों, गर्भवती महिलाओं, और प्रसूति घर में मरने वाली महिलाओं के अलावे सभी मृतकों के लिए होती है।

कान निकलने से पहले ही मरने वाले बच्चे गाँव के मसान अथवा मसना में नहीं गाड़े जाते हैं उनके लिए हारबोरी अनुष्ठान सम्पन्न नहीं होता है। गर्भवती महिला या प्रसूतिघर में मरी महिला को न जलाकर गाँव की सीमा रेखा में गाड़ते हैं। गाड़ने से पहले उसकी आँखों को काँटों से बन्द करते हैं, हाथ और पैर तोड़ दिये जाते हैं। कब्र में गाड़ते समय उसका चेहरा नीचे करके हथेलियों और तलवों में काँटे चुभो कर बहुत नीचे गाड़ते हैं। मसान जाते समय मत्ती या ओझा सरसों के दानों को रास्ते में बिखेरते जाता है साथ ही मन्त्र बुदबुदाते जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि ऐसी आत्माएँ चुरील बनती हैं और गाँव में फिर नहीं पहुँच पाती हैं क्योंकि सरसों के दानों को चुनने में बहुत समय लगता है, और यह एक असम्भव काम है। कहा जाता है चुरील अपनी कब्र के पास से गुजरने वाले व्यक्ति, विशेष कर मतवाले व्यक्ति का पीछा करती है। वह उसे यातना देती है और तब तक परेशान करती है, जब तक वह बेहोश होकर नहीं गिर जाता है। ऐसा आदमी बीमार होकर कभी-कभी मर भी जाता है। ऐसी स्थिति में मत्ती ही अपने झाड़-फूँक के द्वारा उसे बचा सकता है। यदि चुरील का नाम उच्चरित किया जाये तो वह तुरन्त गायव हो जाती है। चुरील की सहवास की इच्छा अतृप्त ही रहती है, इसलिए कब्र से गुजरने वाले प्रत्येक पुरुष को वह पकड़ती है।

न विधवा और न विधुर को, अथवा न मृतक के रिश्तेदार को विलाप सूचक वस्त्र पहनना पड़ता हैं, और न कोई विशेष नियम धर्म का पालन करना पड़ता है, न ही उसे समाज से अलग रखा जाता है।

धर्म

उराँव एक सर्वोच्च देवता को मानते हैं, जो सूर्य का प्रतीक होता है। इसे धर्मेस कहा जाता है। साथ ही बड़ी या छोटी प्राकृतिक प्रेतात्माएँ, परोपकारी पूर्वजों की आत्माओं, और हानि पहुँचाने वाली कुछ मृतात्माओं इनके अलावे परोपकारी और अनिष्टकारी शक्तियों को मानते हैं। उराँवों का वर्तमान धर्म आदिकालीन, अनिश्चित जीववाद या आत्मवाद का सिद्धान्त कहा जा सकता है, जो आज भी प्राचीन और अनिश्चित जीववाद पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा शरीर से अलग नहीं होती है, जिसमें वह निवास करती है। साथ ही एक अवैयक्तिक प्रकृति का तंत्र मन्त्र न केवल कुछ जीवधारियों में परन्तु वाह्य प्रकृति की वस्तुओं पर ही आरोपित किया जाता है अलौकिक संसार के मुख्य वयैक्तिक शक्तियाँ, और उसके साथ संबंध रखने के तरीके, उन शक्तियों को नियन्त्रण में रखना तंत्र-मंत्र कहा जाता है।

अलौकिक शक्ति में श्रद्धा मिश्रित भय रखते हैं। उसके प्रति पूर्णरूपेण निर्भर रहते उनसे मेल-मिलाप करते और उन्हें अनुकूल बनाते हैं। इनका परिणाम वे उमीद करते हैं वे रहस्यमय अलौकिक शक्तियाँ, बुरी भावनाओं को हटा लें, उनके साथ मित्र भाव रखें,और उनकी फसल, मवेशी, स्वास्थ्य और सन्तति पर कृपादृष्टि बनी रहे।

उराँव धर्म में देवताओं और आत्माओं की मूर्ति नहीं बनायी जाती हैं। परन्तु देवताओं और आत्माओं

को मनुष्य अथवा पशु के रूप में उनकी सजीव कल्पना की जाती है। इसीलिए गाँव की मुख्य देवी 'चाला पचो' अथवा 'सरना बुढ़िया' को सफेद बाल और जटावाली बुढ़िया के रूप में कल्पना की जाती है। उराँव देव कुल के अधिकाधिक प्रेत अथवा देवता अपना रूप बदलते हैं, जैसे शिकार और युद्ध की देवी ''चाँदी''। 'चाला पचो' और 'देवी माई' जिनका एक ही व्यक्तित्व और प्रायः निश्चित स्वरूप और विशेषता मानी जाती है। दूसरी आत्माएँ यद्यपि व्यक्तित्व से सम्पन्न मानी जाती हैं वे वास्तव में सामूहिक आत्माएँ हैं, जो समान वर्ग की होती हैं और उनकी एक ही अथवा समान विशेषताएँ होती हैं।

उराँव धर्म दूसरे धर्मों की तरह मुख्य रूप से पूर्वजों' कुछ दूसरे निश्चित शरीर के बन्धनों से मुक्त आत्माओं, प्राकृतिक प्रेतात्माओं और देवताओं (deities) से संबंध रखता है। उनके साथ मैत्रीपूर्ण या सद्भावपूर्ण संबंध रखने के लिए जो धर्मविधियाँ सम्पन्न की जाती हैं, वे सिर्फ अनुनय-विनय प्रार्थनाएँ, बलि और अनुष्ठान, और कुछ विशेष प्रथा और निषेध के अलावे अनुष्ठानिक भोजन को ग्रहण करना है।

जादू टोना रह स्यमय अवैयक्तिक शक्तियाँ है, जो कृत्रिम अथवा प्राकृतिक पदार्थो में रहती हैं। ये शक्तियाँ, मंत्र, तंत्र-मंत्र, शाप देकर भय दिखाने, झाड़-फूंक, पारंपरिक प्रथाओं और निषेधों द्वारा प्रयुक्त होती हैं। (Or- aon Religion and Customs by Sarat Chandra Roy P. 1.3) उराँवों के मन्दिर नहीं होते हैं। कहीं कहीं हिन्दुओं की प्रथा का अनुकरण करके देवी माई के लिए छोटा छप्पर बनाते हैं। 'देवी माई' उराँवों की देवी न होकर हिन्दुओं से उधार ली गई है। उराँव देवकुल के मुख्य देवता एक अथवा एक से अधिक, साल के झुंड में रहते हैं। परन्तु कुछ गाँवों में यह संख्या कम होकर एक ही वृक्ष हो जाता है, जहाँ देवता रहते हैं।

प्रायः पत्थर ही उराँव देवताओं के प्रतीक चिन्ह होते हैं। जबकि प्रारम्भ में शायद प्रकृति भूत, लकड़ी के खूँटों में रहते थे। ये लकड़ी के खूँटे ही भूतों के प्रतीक थे। इन खूँटों के ऊपरी भाग में लोहे के कील लगा दिये जाते थे। देवी माई के प्रतीक सात मिट्टी के ढेले (स्त्रयों के स्तन के समान मिलते जुलते) माने जाते हैं। (Oraon Religion and custom, Surat Chandra Roy p. 10)

धर्म और नैतिकता

उराँव की नैतिकता का स्तर, रीति रिवाज और परम्परा के द्वारा निश्चित किया जाता है। प्रत्येक गाँव के समुदाय और पड़हा (गाँवों का समूह) संघ, मान्यता प्राप्त आदिवासी प्रथा और परम्परा के अभिवावक होते हैं इस स्तर को समय-समय पर अत्याधिक बुद्धि वाले और उत्तम चरित्र वाले पुरुष व्यक्तिगत तौर पर प्रचुर मात्रा में प्रभावित करते हैं। वर्तमान समय में प्रायः बुद्धिमान, उत्तम चरित्रवाले, सामाजिक अथवा धार्मिक सुधार के लिए उत्साही, जो या तो हिन्दु या क्रिश्चियन अथवा दोनों की उच्च संस्कृति के सम्पर्क में आया हो, युवक भी नैतिकता के स्तर को प्रभावित करते हैं।

वर्तमान में उराँव के जीवन का आदर्श अपने उराँव लोगों के और देवताओं एवं प्रेतात्माओं के साथ अच्छा संबंध रखना है। इसके अलावे वह चाहता है कि उसके पास पर्याप्त जमीन, फसल और मवेशी हो, उसके सन्तान के रूप में स्वस्थ पुत्र हों, ऋण मुक्त हो। उसके पास खाने पीने की वस्तुएँ हों, जिससे वह चिन्ता मुक्त होकर अवकाश के क्षणों में खाने-पीने, नाचने-गाने का आनद ले सके।

प्रथागत जनजातीय नियमावली

उराँव एक दूसरे से झगड़ा करने, अथवा भाई बन्धुओं की किसी तरह हानि करने, दूसरे की पत्नियों से बलात्कार करने और ऋण न चुकाने को मना करता है इस परम्परागत ट्राईबल कोड को नैतिक आचरण के लिए दैवी सामर्थ्य होता है, क्योंकि सर्वोच परमात्मा "धर्मेस" मनुष्य के हर काम और हर सोच को जानता है, और नैतिकता का अभिवावक है। यदि किसी उराँव का आचरण नैतिकता के विरुद्ध हो, तो सुधार के लिए जनजातीय प्रथा के अनुसार धर्मेस के लिए सफेद मुर्गा अथवा एक सफेद बकरा देना पड़ता है।

यदि कोई उराँव किसी प्रेतात्मा के साथ गुप्त समझौता कर अपने व्यक्तिगत जीवन में समृद्धि और दूसरों को हानि पहुँचाता है, और दंड भी नहीं देता है, तो उराँव का यह विश्वास है कि, उस भूत से उसे दंड भी मिलेगा, क्योंकि भूत शकी होता है। उराँव यह विश्वास करता है कि अपने बुरे कार्यो की सजा उसे इसी दुनियाँ में मिलती है। कभी-कभी पुत्रों को अपने माता-पिता के विरुद्ध किये की सजा भी अपवाद स्वरूप मिलती है। प्रत्येक उराँव गोत्र का प्रधान और प्रत्येक उराँव परिवार के मुख्य अपने गोत्र अथवा परिवार की आत्माओं को क्रमश: मनाने के लिए उत्तरदायी है। केवल गाँव के देवताओं की पूजा करने उन्हें मनाने के लिए उराँव गाँव के सभी व्यक्ति एक विशेष पहान (पुरोहित) अथवा दो तीन पहानों की नियुक्ति करते हैं।

पहान और उसका सहायक

पुजारी जो गाँव के देवताओं की समय-समय पर पूजा करते वे पहान (उराँव, नैगस) और दूसरे कुछ गाँवों में बैगस कहलाते हैं। उनके एक या एक से अधिक सहायक होते हैं। पहान का मुख्य सहायक 'पानभरा' होता है उसे 'पुजार' और कुछ गाँवों में 'टहलु' कहते हैं। दूसरे सहायक 'सस्तुरी' (अथवा कुछ एक गाँव में मुर्गी पकड़वा) कहा जाता है। परन्तु साधारणत: पानभरा, पुजारी अथवा मुर्गी पकड़वा एक ही व्यक्ति होता है।

कुछ गाँवों में ये उपरोक्त पद वंशानुगत होते हैं, परन्तु कुछ गाँवों में 3 साल के बाद बदल जाते हैं। इनकी नियुक्ति चुनाव की अलौकिक प्रक्रिया द्वारा अथवा देवताओं द्वारा होती है।

कार्य

पहान गाँव के देवताओं को खुश करने के लिए झाकरा अथवा सरना में पूजा करता है। पूजा अथवा पनभरवा पूजा के लिए आवश्यक जल लाता, पूजा में अर्पित पशुओं अथवा मुर्गियों को पकाता और पूजा में पहान की सहायता करता है। जिन गाँवों में अलग से सुसारी हो तो वह पूजा का माँस पकाता और पूजा के बाद होने वाले पर्व के लिए भोजन पकाता है। जिन गाँवों में 'पहान खूँट' हो परन्तु पहान का पद वंशगत न हो तो पहान का पद प्राय: खूँट को पार नहीं करता है। अर्थात् खूँट से पहान होता है इसके अपवाद स्वरूप यदि गाँव में भूँइहर हो तो पहान की नियुक्ति भूँइहर लोगों के बीच से होनी चाहिए। इसी प्रकार पहान का सहायक भी भूँइहर होना चाहिए। बहुत विरले ही नियम का उल्लंघन होता है। अविवाहित पहान नहीं चुना जाता है क्योंकि सरहूल पर्व के अन्त में पहान और पहनाइन का विवाहोस्तव

मनाया जाता है कि यह पृथ्वी फल दे। यदि पहान विधुर हो तो पहान के पुत्र और पुत्रवधू का विवाहोत्सव मनाया जाता है।

पहान की सहायता के लिए कोटवार, और घोड़ा होता है। सुसारी अथवा कोटवार पहान के लिए चूजा पकड़ता है और घोड़ा, पहान को सरना स्थल से ढोकर घर लाता है।

उराँवों की अन्य धर्मविधियाँ

1. **पालकन्सना**

यह पूर्णरूपेण कुड़ख अनुष्ठान है। जिसमें अकेले धर्मेस को संबोधित किया जाता है और उसे अंडे की बलि चढ़ाई जाती है। यह अनुष्ठान धर्मेस से आर्शीवाद प्राप्त करने के लिए किया जाता है। अच्छा स्वास्थ्य एवं संतान, पालतू पशु में वृद्धि तथा फसलों से भरपूर अनाज की प्राप्ति के रूप में जीवन की खुशियाँ एवं समृद्धि, वंश की भलाई, परिवार एवं गोत्र की निरंतरता इन्हीं आर्शीवादों पर निर्भर है। साथ ही बुराई एवं शैतानी कर्म करने वालों के बुरे प्रभाव से बचाव के लिए यह किया जाता है।

इस अनुष्ठान के लिए किसी पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती, कोई भी पुरुष कुड़ख सदस्यः जो अनुष्ठान-निर्देशों को जानता है, इस अनुष्ठान को संपन्न कर सकता है। वह पारंपरिक कुड़ख उत्पत्ति का मिथक उच्चरित करता है। वह याद करते हुए कि पृथ्वी की रचना थोड़ी सी मिट्टी से हुई, विश्वव्यापी आग की वर्षा हुई, जिसमें भइया-बहिन को छोड़ सभी नष्ट हो गये, धर्मेस ने उन्हें खोज निकाला और कृषि की कला सिखाई, दिन और रात की रचना करके काम करने और विश्राम करने के लिए बताया। उन्हें प्रजनन के रहस्य में दीक्षित किया और पालकन्सना की रहस्यमय विधि बतलाई। संपूर्ण कार्यवाही का प्रारम्भ ब्रह्मांड एवं पृथ्वी के सात कोनों का रहस्यमय चित्र क्रमशः रानू (हँड़िया बनाने की औषधि) के चूर्ण अथवा चावल का आटा, चूल्हे की मिट्टी और लकड़ी के कोयले से सफेद,लाल तथा रंगों में बनाने के साथ होता है। चित्र के केन्द्रीय वृत के बीच में मुट्ठी भर अरवा चावल रखा जाता है। अंडे के ऊपर भेलवा' की एक चीरी हुई टहनी टिका कर रखी होती है। सफेद, लाल और काले रंग इन्द्रधनुष के प्रतीक हैं, जो सृष्टि में सब से बड़ा धनुष है। किसी भी पुष्ट शक्तियों के विरुद्ध यह धर्मेस का अत्यन्त कारगर हथियार है। अंडा जीवन का एक शुद्ध स्रोत है। यह अपने आप में पूर्ण है—आत्मनिर्भर, बिना मुख के। इस प्रकार यह जीवन का एक उन्नत प्रतीक है। धर्मेस को अर्पित करने हेतु यह सब से उचित बलि की वस्तु है, जिसका मुख किसी ने नहीं देखा है। प्रतीक रूप देने के लिए फाड़े हुए भेलवे की टहनी से, एक साथ संपन्न करने के लिए भी अंडा फोड़ दिया जाता है, जो बुरी दृष्टि के फोड़े जाने और डायन-प्रथा, ओझा जैसे असामाजिक तत्वों के बुरे मुँह को चीर दिये जाने का प्रतीक है। इस अनुष्ठान के सम्पन्न करने से यह विश्वास किया जाता है कि जिस व्यक्ति के बदले यह अनुष्ठान किया गया, उसकी फसल उसके पशुओं और बच्चों की कोई हानि नहीं होगी। भेलवा बीज का तेल अम्लीय एवं ज्वलनशील है, आँखों में इसकी एक बूँद निश्चित रूप से स्थायी अंधेपन का कारण हो सकती है। इसी कारण बलि के अंडे के ऊपर भेलवा की टहनी का उपयोग किया जाता है।

धार्मिक विश्वास

उराँव को आत्मा और जीवन के बीच भेद का ज्ञान नहीं है। आत्मा, छाया से मिलती-जुलती

है, परन्तु हल्की और अमूर्त मानी जाती है। यह छाया या आत्मा अंत में पृथ्वी के अन्दर चली जाती है, जब हड्डियाँ कूंडि में रखी जाती हैं। मृतकों की आत्माएँ पृथ्वी के नीचे, कूंडि के निकट, जीवितों के समान एक साथ समूह में रहती हैं। वार्षिक हारबोरा के दिन पत्तल में भात और दोने में दाल, गाँव के ससान (हड्डी गाड़ने की भूमि) में उस वर्ष मरे हुए परिवारों की ओर से रखे जाते हैं। इसी प्रकार गाँव के पचबा-आलर के लिए भात और दाल से भरे दोने रखे जाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है। कि जब कोई आदमी मध्य रात्रि में रास्तों पर न दिखाई दे, तो गाँव के मृतकों की आत्माएँ हारबोरा (हड्डी गाड़ने के स्थान) में आकर चढ़ाये गये दाल-भात .को खाती है।

पूरे वर्ष प्रत्येक भोजन के समय, भोजन का पहला कौर लेने से पहले उराँव अपने पूर्वजों की याद में अपनी थाली से भोजन का दाना और थोड़ी सब्जी भूमि पर गिराता है। ऐसा करते समय वे पूर्वजों का नाम नहीं लेते हैं। ऐसा करने से वे अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि उन्होंने अपने वंशजों का भरण पोषण किया और आगे भी वे करते रहेंगे। अपने पूर्वज का नाम लेने पर उसके नाम पर उराँव, जल की कुछ बूँदे भी चढ़ाता है। प्रत्येक पूजा से पहले अथवा शादी जैसे शुभ अवसरों के समय पचबा-आलरों के लिए जल चढ़ाया जाता है पूर्वज मृतकों की आत्माओं को पृथ्वी पर जीवित वंशजों के साथ अभी भी एक परिवार माना जाता है। बीमारी के समय बीमार व्यक्ति के सिर के पास बैठकर उस की देखभाल करते हैं। स्वप्न में ये पूर्वज दिखाई देते हैं और अपने वंशजों से बातें करते हैं। दुष्टात्माओं के आक्रमण से अपने वंशजों को बचाते हैं।

इस प्रकार विभिन्न अनुष्ठानों द्वारा पूर्वजों की आत्माओं से संबंध बनाये रखते हैं। इन अनुष्ठानों को करते समय पूरे गाँव के लोग निमंत्रित रहते हैं, अतः आपस में भाई एवं एकता कायम रहती है।

शिकार-सामाजिक उत्सव

जंगली प्राणियों के पीछे उनकी हत्या के लिए जाना ही उराँवों में ''शिकार'' (सेंदरा) तथा मुण्डाओं में ''संगार'' कहलाता है। शिकार के औजार तीन-धनुष हैं। इसके अलावे बर्छी, तलवार तथा कुल्हाड़ी आदि हैं। उराँव आवश्यकता पड़ने पर तीर धनुष से दुश्मनों को मार भागते हैं। निपुणता हासिल करने के लिए पशु-पक्षियों पर वार किया जाता है। यदि निशान सीधे गया और खाने योग्य पशु-पक्षी हों, तो उनका माँस खाया जाता है।

यह विद्या उनके आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन से जुड़ा हुआ है। वे सृष्टिकर्ता से सेन्दरा के लिए छुट्टी पाने, दोष के लिए क्षमा और प्रसन्न रखने के लिए दान चढ़ाते हैं। दान सफेद पशु या पक्षी होता है। अन्य देवी-देवताओं के लिए दूसरे रंग के पशु-पक्षी काटे जाते हैं। परमेश्वर के लिये अपने परिवार में अपनी इच्छा के अनुसार दान चढ़ाते हैं।

शिकार के प्रकार

जब शिकार की बात होती है तो पशु-पक्षियों, मछलियों को मारना तथा खाने के विषय समझा जाता है। जो उराँवों के भोजन-प्राप्ति का एक कार्य शिकार भी है। माँस-मछली खाकर ये हृष्ट-पुष्ट जीवन यापन करते हैं। परन्तु गैर आदिवासियों में जीव हत्या पाप समझा जाता है। फलतः लोग माँस-मछली खाना पसन्द नहीं करते और इसके विरुद्ध संघर्ष करते हैं कि ''जीव हत्या बन्द करो।'' उराँवों को इसे

छोड़ना अत्यन्त जटिल हैं। उनमें पुरखौती बलि न चढ़ाने पर परिवार या गाँव को परमेश्वर की ओर से क़ष्ट भेजे जाने का भय रहता है। अतः उसको भी मानना आवश्यक हो जाता है। शिकार खेलना आज का काम नहीं, बल्कि परम्परा से चला आ रहा पेशा है, जो न खेल है और न ही माँस-मछली की खोज, अपितु धर्म और संस्कृति है।

शिकार को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-फगु-शिकार, बिशु-शिकार और जेठ-शिकार। इन शिकारों के अलावे जनी-शिकार, राजाओं का शिकार, मछली-शिकार तथा शिकरा-शिकार। ''शिकरा-शिकारा'' एक धार्मिक शिकार है। शिकार एक पक्षी होता है जिसके द्वारा शिकार खेला जाता है।

इस प्रकार देखा जाता है कि शिकार उराँवों के जीवन को प्रभावित करते आया है जिसे ये कैसे छोड़ सकते हैं? जब तक शिक्षित नहीं हो जाते, जंगल समाप्त नहीं हो जाता, पानी समाप्त नहीं हो जाता तब तक शिकार का काम रहेगा। जंगल समाप्त हो जाने पर कोई पशु-पक्षी बाकी न रह जायेगे और पानी समाप्त होने पर मछलियाँ। जैसे कहावत भी है कि न रहे बाँस, न बजेगी बाँसुरी। पानी समाप्त हो जाने से तो मानव का अस्तित्व ही समाप्त सा है।

फगु-शिकार

जैसे ही पेड़-पौधे पल्लव रूपी नये वस्त्र धारण कर रंग बिरंगे हो जाते है; फागुन माह आ जाता हैं। उराँव फागुन माह में फागुआ-त्योहार मनाकर चैत में फगुआ बासी की रोटी खाकर शिकार के लिए निकालते हैं। यह फागुन पूर्णिमा के दूसरे दिन शुरू होता हैं यही उराँवों का नववर्ष का आरंभ है। फगुआ अनुष्ठान की समाप्ति के पूर्व न तो नये फूल-फल खाये जाते हैं और न खेतों में खाद ही डाले जाते हैं और न ही शिकार खेला जाता है। शिकार-अन्दी आषाढ़ के बाद इसी फगुआ-त्यौहार के बाद चैत में खुलता है। उराँव जेठ के बाद खद्दी के अन्त में आषाढ़ आगमन तक शिकारी देव को बन्द रखते हैं जब तक कि अगला फागुन नहीं पहुँचता है। प्रतिज्ञा में मुर्गी या मुर्गा लेकर और डेढ़ फीट गड्ढा खोदकर तथा चराकर कहते हैं—''हे शिकारी। भूत! चुप रहना, अब खेती-बारी करने जा रहे हैं।'' चावल चुगने पर मुर्गी या मुर्गा को जिन्दा गड्ढे में डालकर बन्द कर देते हैं। फिर फगुआ के दिन यही पूजा चेंगना चराकर कहते हैं- ''हे शिकारी-भूत लो आज हम फिर शिकार खेलने का दिन खोल रहे हैं। जंगल-झाड़, पहाड़, नदी-नाला,, जंगली-पशु, कीड़े, साँप-बिच्छु आदि से रक्षा करता।'' चेंगने को चराकर और गला काटकर लोहू चुलाते तथा शिकार के लिए चल देते हैं। इस प्रकार शिकार आरंभ होता है।

यह प्रत्येक गाँव में एक-सा नहीं होता किन्तु अपने गाँव के दस्तूर मुताबिक, जैसे कि परम्परागत चली आ रही होती है। कभी-कभी किसी गाँव में देवड़ा- ओझाओं से भी काम लिया जाता है बतलाते हैं कि अमुक दिशा में शिकार मिलेगा (यह आधुनिक है)।

फागुन पूर्णिमा के दिन नये दामाद को अपनी पत्नी के साथ ससुराज जाना पड़ता है, और शिकार में भाग लेना पड़ता है जो एक रीति और धर्म की बात होती है। शिकार में लड़के का भाग्य देखा जाता है। यदि शिकार में कुछ कष्ट नहीं हुआ, तो समझा जाता है कि उसका भाग्य खुल गया अर्थात ग्रह-गुनाह कट गया और रैन जीत लिया, भविष्य में शत्रु नुकसान नहीं पहुँचा सकते है।

शिकार से वापसी के समय यदि शिकार हाथ लगा हो, तो गाँव के बाहर ही उसे रखकर, सामान रखने घर आते हैं। फिर जाकर माँस बना लेते हैं। पशु-पक्षियों के सिर, पैर तथा अंतड़ी घर नहीं लिया जाता है। परिवार की स्त्रियाँ इसे खाने योग्य नहीं समझी जाती हैं। अतः घर लाना मना है। वैसे माँस को बुजुर्ग शिकारी ही खाते हैं।

यदि शिकारियों में से किसी की स्त्री गर्भवती हो, तो उस शिकारी को भी सिर, पैर और अंतड़ी का माँस नहीं दिया जाता है। ऐसी स्थिति में गर्भवती स्त्री का पुरुष जान-बूझ कर माँस बनाने की जगह नहीं जाता है, फलतः उसके हिस्से का माँस पहुँचा दिया जाता है।

माँस आपस में बाँटकर अपने-अपने घर ले आते हैं और घर में भूनकर खाया जाता है। कहीं-कहीं इस दिन के माँस को कुछ सुखाकर रखते और धान बोते वक्त हल्दी पानी के साथ भिंगाकर धान के साथ बो देते हैं। कहीं-कहीं घर वापस आने पर शिकारियों के पैर धो दिए जाते हैं।

फगु-शिकार गीत

शिकार गीत विशेषकर शिकार के दिन ही गाया जाता है किन्तु विभिन्न त्यौहारों में भी मौसम के अनुकूल रागों में गाये जाते हैं, जैसे-शादी के मौसम में शिकार गीत शादी राग में गाये जाते हैं। मौसम के विपरीत रागों में गीत गाने से गुप्तांगों में घाव होने का विश्वास है।

आदिवासियों का शिकार खेलना उनके रहस्यमय जीवन का एक धर्म है। उनका भावी जीवन शिकार द्वारा ही परखा जाता है। परिवार का सफल होना भी इसी परख द्वारा पूर्ण समझा जाता है। परिवार की नींव डालनी हो, तो शिकार खेल द्वारा ही परख की जाती है जैसे कि सोना आग से परखा जाता है। मनुष्य अनेक दुर्घटनाओं से अपनी सुरक्षा चाहता है परन्तु कभी मृत्यु अनजान में हो ही जाती है। कभी दूसरों के जरिये ओर कभी स्वयं भी मर जाते हैं, जैसे-पानी में डूबना, टंगाकर मरना आदि। ये सब आकस्मिक घटना कही, जाती हैं। अतः ऐसे मृतकों की छाया (आत्मा) पूर्वजों के साथ सम्मिलित नहीं की जाती है।

उराँवों में कुँवारे लड़के-लड़कियों का दुर्घटनावश मरना बड़ा अशुभ माना जाता है। अतः माता-पिता को जन्म के बाद से ही बड़ी सावधानी से उनका ख्याल रखना पड़ता है। वे प्रत्येक हालत में हर क्षण शिक्षा देना चाहते हैं। इस शिक्षा की परीक्षा वे शादी के पूर्व ही लिया करते हैं। इसलिए कि बच्चे शादी के बाद अपना परिवार संभाल सकेंगे या नहीं तथा माता-पिता देव, रिश्तेदार एवं समाज का ख्याल और परिवार का नाम रख सकेंगे या नही।इसी परीक्षा को ''रैन जीतना'' कहा जाता है। यदि इस परीक्षा में लड़का खरा उतरता है, तो उसका जन्म शुभ माना जाता है या इसे वीर माना जाता है। यों कहा जाता है— माँ के गर्भ से खरा उतरा। जब तक उस परीक्षा में खरा नहीं उतरते, परिवार को संतुष्टि नहीं होती। इसी ''रैन जीत'' के लिए बिशु-शिकार खेला जाता है।

बिशु-शिकार का अर्थ यह भी है कि जब बच्चे जन्म लेते हैं, तो पिता अपने लड़के को और माता अपनी बेटी को शिक्षा देने का भार उठा लेती है। जब वे जवान हो जाते हैं, तो उन्हें शादी कर देना पड़ता है ताकि पारिवारिक जीवन जीएँ। पारिवारिक भार ढोना उनकी जिम्मेदारी हो जाती है, जैसे परिवार की सेवा करना, माता-पिता को मानना, पूजा करना, सामाजिक स्तर पर आना, भगवान के प्रति सेवा-भाव

दिखलाना आदि। अतः घर-द्वार सौंपने के पहले परीक्षा लेना आवश्यक हो जाता है।

पूरे राज्य के लोग-अपने पड़हा-पंच में जमा होकर बिशु-शिकार के लिए जाते हैं। शिकार-अवधि 3 दिन से लेकर डेढ़ माह तक हो सकती है। गाँव के प्रत्येक परिवार से शिकार के लिए जाना अनिवार्य है। नहीं जाने पर उनसे जुर्माना लिया जाता है। अगर किसी परिवार में लड़के की शादी अगले वर्ष करनी हो, तो उनके भाग्य की जाँच के लिए उसे शिकार में ले जाना आवश्यक हो जाता है। उसका पिता उसे लेना अपना परम कर्तव्य समझता है। शिकार नहीं जाने पर शादी का नेग नहीं उठता है। इस तरह पारिवारिक बलि चढ़ाने का पहला कदम यही होता है।

शिकार निकलने की रात विदाई के लिए त्यौहार मनाया जाता है। शिकारियों के निकल जाने पर घर में भारी दुःख होता है तथा रोना-बिलखना भी पड़ जाता है क्योंकि पता नहीं होता है कि किसके भाग्य में मृत्यु ही लिखा हो ओर उनसे मिल पाने की बात सदा के लिए समाप्त हो जाए।

शिकारी, मुर्गे के बाँग देते ही अपने हथियार, चावल-दाल और पकाने के सामान लेकर प्रथा के अनुसार एक निश्चित जगह में जमा हो जाते हैं जहाँ प्रत्येक परिवार के शिकारियों का लेखा लिया जाता है। यहीं पूजा भी होती है जिसमें सबको सम्मिलित होना अनिवार्य है अन्यथा शिकार में शामिल नहीं किया जाता है।

पूजा

जब सभी जमा हो जाते है, तो सबों का हथियार एक जगह जमा रखा जाता है। पूजा-स्थान पर गोबर से लिपाई करके पूजा के लिए आग, धुवन, चावल, घी, नारियल, कसेली, सिन्दुर, अण्डा, सफेद मुर्गी, लाल-काला मुर्गा, बकरा, सूअर, भेड़ आदि प्रथा के अनुसार चढ़ाये जाते और पूजा की जाती है।

यदि भगवान की पूजा हो, तो पूजा-स्थान में अरपन से पल-काँसना का चित्र बनाया जाता है तथा आग में धुवन या घी डाला जाता और यदि अण्डा हो, तो हाथ में लेकर विनती की जाती और फोड़ दिया जाता है। यदि मुर्गा हो, तो चावल देकर विनती की जाती और चुगने पर काटकर उसका लोहू चुलाया जाता है। इसी तरह यदि सफेद बकरा हो, तो भी चावल खिलाते विनती कही, जाती और काटकर लोहू चुलाया जाता है।

विनती

''हे प्रभु! स्वर्ग और पृथ्वी के सृष्टिकर्ता, सभी जीवधारियों के पालनहार और रक्षा करनेवाले! कृपा करके हमारे दान ग्रहण कर। हमारी गलतियों को क्षमा कर। हमें दुःख तकलीफ न दे और शिकार में विजयी बनाकर घर लौटा।''

इतनी विनती होने के बाद बलि-पशु-पक्षी काटकर लोहू चुलाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक भूत के लिए प्रथा के अनुसार किया जाता है।

चंडी भूत के लिए लोग हर तरह से पूजते हैं। यह राज-रजवाड़ों का भूत है। पुराने जमाने में राजा लोग इस भूत को मानते थे किन्तु राज्य के छूट जाने पर जिस स्थान में पूजा होती थी और जो व्यक्ति उसके नाम पर पूजा करता था, उसी के हाथ छोड़ दिया गया है। यह ''वीर भूत पूजा'' कहा जाता है।

जो लड़ाई-झगड़े में दुश्मनों से विजद पाने की शक्ति प्रदान करता है। पलामू जिले में इसका प्रचलन अधिक है। माघ-पूर्णिमा में इसका त्यौहार मनाया जाता है। जिसमें देवी की पूजा के लिए बकरा काटा जाता है। इसके सैकड़ों भक्त आते हैं और जतरा पंक्ति में बैठते हैं। यदि इसकी पूजा बैगा (पहान) द्वारा होती है, तो पशु-पक्षी बलि चढ़ायी जाती है। यह विशेषकर युवकों के लिए होता है। वे जो हिन्दु धर्म में परिणत नहीं हुए हैं और जब शिकार जाते हैं, तो चंडी के नाम से एक पत्थर रख कर, गोबर लिपाई कर, आग में धुवन तथा सिंदुर देकर फिर चेंगना या बकरा चरा-काटकर और लोहू चुलाकर यह प्रार्थना करते हैं-"हे चंडी माय! आज हम वन में शिकार के लिए जा रहे हैं— हमें शिकार दे। हमें जंगली पशुओं से लड़ने में सहायता देना और नुकसानी से बचाना।" इसके बाद बलि-पशु-पक्षी काटकर तथा खा-पीकर शिकार के लिए जाते हैं। ऐसे तो जब भी शिकार के लिए जाते हैं चंडी माय की भेंट करके ही जाते हैं। साधारणसमय में चावल, सिन्दुर तथा आग-धुवन चढ़ाकर जाते हैं।

गढ़ा-ढोढ़ा भूत के लिए भी प्रत्येक दिन तो पूजा नहीं की जाती किन्तु बिशु-शिकार के दिन उसे मनाकर ही निकलना पड़ता है। अतः दूसरे भूतों के साथ उसका भी नाम लिया जाता है किन्तु घर में पूजा करना जरूरी हो जाता है। वैसे तो पर्व-त्यौहारों में भी उसकी तथा माता-पिता देव की पूजा अदा करनी पड़ती है परन्तु बिशु-शिकार के दिन विशेष फर्ज-अदा करनी पड़ती है।

सबकी पूजा हो जाने पर "डंडा-कटा" करते और "पाई" चलाते हैं तथा जिस दिशा में लोड़हा, सूप या डंडा जाता है, उसी दिशा से शिकार के लिए चलने को तय किया जाता है। प्रसादी तथा भोजन, खाकर चांटी (डेरा) में किसी को रखकर शिकार के लिए चल पड़ते हैं। चांटी पर रहने वाले, सामानों की रक्षा के लिए, होते हैं। लौटने पर दल में या अपना-अपना खाना पकाकर खाते हैं। खाना खाकर फिर अगले दिन के लिए रह जाते हैं। जंगल में मारे पशु-पक्षियों का माँस बनाकर प्रत्येक को बाँट दिया जाता है। प्रत्येक अपने हिस्से के माँसों को सुखाकर रखते हैं। यही क्रम 20 दिनों तक चलता रहता है। यदि दूसरे सीमाने में पशु-पक्षी मारे जाते हैं, तो उसी सीमा वाले व्यक्तियों को पशु-पक्षियों का सिर दे दिया जाता है। ऐसा नहीं करने पर कभी झगड़ा हो जाया करता है।

शिकार में बैगा भी जाता है। यदि पशु-पक्षी हाथ नहीं लगते, तो फिर से "पाई" चलाकर पता किया जाता है कि किस दिशा में शिकार मिलेगा। पाई चलने की दिशा में फिर से चल देते हैं। जब पशु मारते हैं, तो उसकी कलेजी तीन टुकड़े कर, तीन पत्तियों में बिना नमक डाले बन्द कर आग में पकाते और निकालकर केन्दु के भाख-खूटा से 6—3 गड्ढे में गिराकर ढक देते हैं और यह प्रार्थना करते हैं— "हे शिकारी नाद! इन्ना एम निंग्गागे गौरो चिआ लगदम कि एमन उर्मी इल्वका ती बछा-बआके।" पशु मारने का प्रतिदिन यह क्रिया डेरे में की जाती है।

जंगल में मुसीबतें भी हुआ करती हैं। धूप-शीत में भूखे-प्यासे रहना पड़ता है। यदि जानवर अधमरा किया गया हो तो बहुत दूर तक उसका पीछा करना पड़ता है। यदि खूँखार जानवर, जैसे-बाघ, भालू के पल्ले पड़ा, तो जान तक गंवाना पड़ जाता है। मृत शरीर को जंगल में ही दफना दिया जाता है। लाश घर ले आना मना और नियम के विरुद्ध समझा जाता है। कभी किसी व्यक्ति का किसी दूसरे के साथ आपसी दुश्मनी हो, तो अपने विपक्षी को तीर मार देता या उस पर गोली चला देता है। इस तरह शिकार में किसी व्यक्ति के मारे जाने पर फौजदारी केस भी नहीं चलता है। अतः लोग आपसी दुश्मनी

का बदला चुकाने के लिए भी तुले रहते हैं। यदि इन सब घटनाओं से बच जाते हैं, तो इसे ही ''रैन जीत'' कहते हैं।

कभी कोई युवती या स्त्री शिकारी अड्डे (चांटी) पर पहुँच गयी, तो बेइज्जत हुए बिना नहीं लौट पाती। अतः उन्हें इस पड़ाव में जाना मना है। किसी नारी के वहाँ जाने पर उसका बाल काट दिया जाता है चाहे वह किसी शिकारी परिवार का ही क्यों न हो। मना करने वाला भी कोई नहीं होता वह उम्र के अनुसार शिकारियों से बेइज्जत होती है। विवाहित लड़की से कुँवारे लड़के का मिलना अनुचित है और ठीक इसी प्रकार कुँवारी लड़की से शादी-शुदा लड़के का मिलना पाप समझा जाता है। नियम पालन करना जरूरी होता है। अतः इस अवसर पर नारियाँ अपना घर छोड़कर मेहमान आदि नहीं जाती हैं।

जब 20 दिन या एक माह पूरा हो जाता है, तो सभी शिकारी शाम के समय घर की ओर प्रस्थान करते हैं। घर-परिवार वाले खाना-पीना तथा हँड़िया के साथ उनके पहुँचने के इन्तजार में रहते हैं। पहुँचने पर उनका सामान रखकर बैठने के लिए चटाई बिछा दी जाती है। घर-मालकिन खुशियाली में पैर धो देती और यदि लड़का भी हो, तो सब कुछ परोसती है।

तब पति अपनी स्त्री को शबासी देकर कहता है— ''परिवार में लड़का शुभ है। धन्य तू मेरी पत्नी, जिसने ऐसे लड़के को जन्म दिया है। परिवार के इष्ट-कुटुम्ब, देव सभी खुश हैं।

परिवार का मालिक सूप में पूजा सामान लेकर घर के पिछवाड़े में जाता है। अपने साथ एक बत्ती, चेंगना, आग-धुवन, सिन्दुर, चावल, अरपन, लोटे में पानी तथा एक फाल ले जाता है। एक स्थान में गड्ढा बनाता और पानी गिराकर लिपाई करता, सिन्दुर देता, अरपन से चित्र बनाता, आग जलाता, उसमें धुवन तथा चावल गिराकर चेंगना चराता है— 'जब चेंगना चावल चुगता है तो जिन्दा ही उसे गड्ढे में दफना देता है। इसके बाद परिवार में जोर-शोर से त्योहार मनाया जाता है। त्योहार शुरू करने के पहले पारिवारिक देव के लिए ''सित'' गिराकर माँस का टुकड़ा धान के बीज में मिलाकर रख दिया जाता है जो मूठ छोड़ते समय तक रहता है।

इस तरह ''रैन जीत'' की शिकार प्रक्रिया समाप्त हो जाती है, तो बाद के दिनों में लड़के की शादी के लिए माता-पिता को चिन्ता हो जाती है। फिर जेठ समाप्त हो जाने पर खद्दी मनाया जाता है। जो प्रत्येक गाँव में अलग-अलग होता है। गाँव में ठहराये मुताबिक खद्दी के दूसरे दिन मूठ छोड़ा जाता है अर्थात् उस दिन के बाद किसी दिन धान बोया जा सकता है। खद्दी का अर्थ बच्चा पैदा करना होता है याने एक धान के बीज से अनेक बीजों का पैदा होना समझा जाता है। यों खद्दी के दो अर्थ होते है—

1. भगवान की खेती— बाल -बच्चे।
2. खेती-बारी— अन्न-धन की खेती बारी।

धान मूठ छोड़ने के दिन पहले शाम के समय ही माँस मिले धान को हल्दी पानी से भिंगाकर रखते और मुर्गा बाँग देने के पूर्व चुपचाप खेत में बोकर आते हें। बोने के लिए जाते और बोकर आते वक्त किसी व्यक्ति या पशु-पक्षियों से मुलाकात नहीं होनी चाहिए। यदि हो भी जाए, तो कुछ नहीं कहना चाहिए। गाँव की प्रथा के अनुसार इस दिन त्योहार मनाया जाता है।

इस दिन पारिवारिक रीति के अनुसार देवता के लिए मुर्गी-मुर्गा चराकर छोड़ दिया जाता है।

पूजा-स्थान पर वेदी बनाकर प्रत्येक देव के लिए बलि हकवा करते है इस दिन लोहू नहीं चुलाया जाता है। वे प्रत्येक देवों के लिए मुर्गी चराते हैं जो निम्न प्रकार हैं–

1. एक लाल मुर्गा-गाँव रक्षा, अन्न-धन के पौधे ठीक हों, उसे पशु-पक्षी तथा हानिकारक कीड़े-मकोड़े न खाएँ तथा किसी की हानि न हो।
2. पालतू पशुओं को चरते-फिरते कोई नुकसान न हो।
3. बाल-बच्चे जंगल-झाड़ से बचें।
4. माता-पिता देव के लिए।
5. शिकारी भूत के लिए।

धान-बुनी के समय माँस मिलाये धान को बोया जाता है उससे उत्पादित धान को पुआल रहित लड़के की शादी के कंड़से के लिए रखा जाता है। शादी के समय इससे ही कंड़सा उठाया जाता है और पारिवारिक कामना पूरी समझी जाती है।

जेठ-शिकार

उराँव बिशु शिकार के बाद जेठ-शिकार के लिए जाते हैं। जेठ-शिकार बैशाख समाप्त होने पर अपने गाँव की प्रथा अनुसार खेला जाता है। इसमें बिशु शिकार के समान पूरे राज्य के लोग नहीं जाते।

जेठ के समय पेड़ों के पत्ते झड़ कर साफ हो जाते हैं। इस समय शिकार खेलने पर किसी पशु-पक्षी के आने की आवाज मिल जाती है जिससे शिकारी सजग हो जाते है और जानवरों पर वाण चलाने में भी सुविधा होती है। इस समय पानी के अभाव में और धूप के कारण पशु-पक्षियों का पीछा करने पर जल्द ही थक जाते हैं। अतः लड़के या बूढ़े भी शिकार के लिए दिन के दोपहर के लगभग जाते तथा तीन-चार बजे तक वापस लौट आते हैं। यह छोटा शिकार कहलाता है।

जब पूरे गाँव के लोग शिकार के लिए जाते हैं, तो सभी एक स्थान में जमा हो जाते तथा हथियार भी एक जगह रख देते हैं। जब गाँव का पहान या ओझा-देवड़ा या कोई बुजुर्ग आग रखकर धुवन जलाता और चावल छीटकर यह प्रार्थना करता है–"हे मालिक! हमारी आशा है कि शिकार पकड़कर आना, मार कर आना, मराकर नहीं। फिर रखे गये तीन ताम्बे के पैसों को किसी स्थान पर, जहाँ तीन पेड़ हों, खोंस कर चल देते हैं। दिन भर शिकार करते हैं। पशु-पक्षियों के मारे जाने पर ढोकर चलते हैं तथा शाम होने पर घर लौट आते हैं, किन्तु पशु-पक्षियों के माँस बिना बनाये घर नहीं घुसते। माँस बनने पर मात्र शरीर का माँस लाया जाता है तथा सिर पैर और अंतड़ी वहीं पकाकर खा दिया जाता है।

यदि विशेष शिकार के लिए जाते हैं, तो एक जगह जमा हो, वेदी बनाकर बकरा या मुर्गे की बलि शिकारी भूत को चढ़ाकर चुपचाप चले जाते हैं। अच्छे निशानेबाजों को आगे की ओर भेज दिया जाता है। वे आगे जाकर बैठ जाते हैं और पशुओं को हाँक कर पहुँचाये जाने पर उन्हें मार देते हैं किन्तु खतरा हमेशा बना रहता है। यदि मारा गया जानवर न मरा, तो उन पर ही टूट पड़ता और जान तक नहीं छोड़ता है। यदि इस समय शिकार हाथ लगा हो तो शाम के समय बनाया जाता है। बड़ा जानवर हो, तो मारने वाले को दो हिस्से एक टाँग दिया जाता है।

कभी-कभी वृष्टि हो जाने पर जमीन पर जानवरों के पद्-चिन्हों को देखकर उनका पता लगाना बड़ा आसान हो जाता है। इस प्रकार इस समय का शिकार, लोग पसन्द काफी करते हैं।

जनी शिकार

परम्परागत कहानियों से पता चलता है कि ''जनी-शिकार'' एक घटित त्योहार है जो प्रत्येक युग अर्थात् 12 वर्षो बाद आता है। कहानी के अनुसार किसी काल में आदिवासियों का राज्य था, इनका गढ़ भी था। पूर्वज रोहतासगढ़ का नमूना देते हैं। उराँवों में आज भी यह देखा जाता है कि किसी त्योहार में काफी दिनों तक खा-पीकर मदहोश होते हैं। जैसे उनके पूर्वज रोहतास में नशे में धुत्त रहा करते थे। दुश्मन इनकी स्थिति से परिचित थे। दुश्मनों ने ऐसे अवसर पर उन पर चढ़ाई कर दी। उनके इस चढ़ाई से स्त्रियाँ घबरा गई चूँकि उन्होंने देखा कि सभी पुरुष नशे में मदहोश हैं। अतः वे पुरुषों के वेश धारण कर तथा तीर-धनुष लेकर दुश्मनों का सामना करने निकल पड़ीं। इनके दल देखकर ही दुश्मन भाग खड़े हुए।

फिर समय देखकर दुश्मनों ने फिर आक्रमण किया। किन्तु पुनः स्त्रियों ने पुरुष रूप में मात कर दिया। इसी प्रकार तीसरी बार उन्होंने गढ़ को बचाया।

आदिवासी राजा इनके इस बचाव पर बहुत खुश हुए और कपाल तथा दोनों कनपट्टियों में तीन विजय चिन्ह अंकित कर दिए। इन चिन्हों के विषय लोगों में मतभेद है। कोई इसे लड़ाई के समय का चिन्ह और कोई 111 ई. की बात मानते हैं। इस तरह स्त्रियाँ भी धनुष-वाण चलाने में काफी निपुण थी। अतः राजा ने सोचा कि जंगल में स्त्रियों को शिकार करने में छूट दी जाए तथा विद्या को बढ़ावा दिया जाए, किन्तु पुरखों ने उसे रोककर रख दिया। फलतः राजा ने गाँवों में पशु-शिकार करने के लिए उन्हें छूट प्रदान की जिसके संस्मरण में प्रत्येक 12 वर्ष में ''जनी-शिकार'' खेला जाता है। किन्तु यह शिकार जनता को नहीं भाती, इसलिए बंद कर दिया जा रहा है।

आगे फिर कहा जा रहा है कि तीसरी चढ़ाई के बाद चौथी चढ़ाई में आदिवासी स्त्रियाँ हार गईं। जब दुश्मन पड़ाव पर पड़े आदिवासियों की संख्या देखकर सहमे हुए थे। उसी समय एक ग्वालिन दूध बेचकर वहाँ से गुजर रही थी जिसने उनसे कहा—''आप सभी पुरुष होकर स्त्रियों से डर जाते हैं, वे तो सब के सब स्त्रियाँ है।'' उन्होंने पूछा-''हम कैसे जानेंगे कि वे स्त्रियाँ हैं।'' ग्वालिन ने जवाब दिया ''नदी में चेहरे धोते समय उन्हें देखिएगा, यदि पुरुष हैं, तो एक हाथ से और यदि स्त्रियाँ हैं, तो दोनों हाथ धोती नजर आएँगी।''

जब दुश्मनों ने इस तरीके की परख की, तो बात सच निकली। उन्होंने पुनः गढ़ पर चढ़ाई शुरू कर दी और विजय प्राप्त कर ली। इस के बाद आदिवासियों का पुनः गठन नहीं हो पाया है।

बेलसेंदरा राजाओं का शिकार

बहुधा देखा गया है कि राजा गर्मी के दिनों में अपने राज्य के जंगलों में शिकार के लिए जाया करते थे। जशपुर, उदयपुर, अम्बिकापुर, बरवे, बीरू, उड़ीसा आदि के राजा इसी प्रकार किया करते

थे। राजाओं का जंगली पशुओं के शिकार के लिए जाना ही ''बेल-सेंदरा'' कहलाता था।

जब शिकार खेलना होता, तो जंगल में बकरी लेकर बाँध दिया जाता और किसी जानवर द्वारा खाये जाने पर पता लगता था कि अमुक जंगल में कौन सा जानवर है।

राजा के साथ रानी भी शिकार के लिए जाया करती थी जिसे पालकी में ढोकर लिया जाता था। उनके लिए जंगल में गद्देदार मचान बना दिया जाता था जिसमें बैठकर वे पशुओं का इन्तजार करते थे।

इस शिकार के लिए एक माह पूर्व ही गाँवों में कोतवाली द्वारा सूचना दी जाती थी कि शिकार के लिए जाना है। सबों को जाना अनिवार्य था। दिन पहुँचने पर सभी तैयार होकर चल पड़ते और राजा-रानी की ओर जंगली पशु हाँकते थे। प्रत्येक व्यक्ति तीर-धनुष या बाजा लेकर चलता था। कभी-कभी पशु डर कर पीछे की ओर लौटते, जो आदमियों पर धावा बोलते निकल जाते थे। कभी राजा द्वारा गोली चलाये जाने पर पशु व्याकुल हो, अंधाधुंध भागते जो आदमियों को रौंदते चीड़ते-फाड़ते निकल जाते जिसके कारण किसी-किसी की जान चली जाती थी। यही ''बेल-सेंदरा'' है।

शिकरा

शिकरा-शिकार पुरखौती धर्म से आता है। यह उराँव लोगों की धार्मिक कला है। यदि कोई अच्छा कृषक है तो शिकरा शिकारी पक्षी रखना आवश्यक हो जाता था। वे शिकरा पालना अपना धर्म समझते थे। आदिवासियों की उत्पत्ति कथा में कहा जाता है कि भगवान ने ही स्वयं शिकार के लिए शिकरी पक्षी पाल रखा था जिसका नाम ''बंडी बेसरा'' था। एक कुत्तिया ''लिली भूली खैरी कुटी, भी थी। धर्मग्रंथ के अनुसार भगवान ने ही आदिवासियों को शिकार खेलना सिखलाया।

शिकरा पक्षी दो प्रकार के होते हैं-एक छोटा तथा दूसरा उससे बड़ा। बड़े पक्षी को ''बेसरा'' कहा जाता है। दोनों पक्षी पोस मानते हैं अर्थात् पालने वाले को पहचानते तथा उसकी भाषा भी समझते हैं। ये माँसाहारी होते हैं। पालते समय उन्हें गिरगिट पकड़कर दिया जाता है जिससे वे बड़े चाव से खाते हैं। ये साधारणत: दूसरे पक्षियों को पकड़ते हैं। ये शरीर के गठीले, उड़ने में तेज, निडर, तेज आँख तथा कड़े नाखून वाले होते हैं। किसी प्राणी को शिकंजे की भांति पकड़ लेते हैं जिससे पकड़ में आनेवाले छूट नही पाते। उड़ने की रफ्तार अन्य पक्षियों से दुगुणी है। छोटे शिकरा पक्षी से बड़े पक्षी नहीं पकड़े जाते। वह तीतर, बटेर, पंडुक आदि जंगली पक्षियों को पकड़ सकता है। बड़ा बेसरा पक्षियों और खरगोश जैसे छोटे जानवरों को भी पकड़ सकता है। ये पक्षी जब दूसरे पक्षियों को पकड़ते, तो सर्वप्रथम उनका सिर खाते हैं।

आधुनिक समय में इन पक्षियों को पालते बहुत कम पाया जाता है। पालते भी हैं तो छोटा बेसरा। ये ऊँचे पेड़ों पर अण्डे-बच्चे देना पसन्द करते हैं। 50 वर्ष पूर्व छोटानागपुर के जंगलों में ये काफी पाये जाते थे किन्तु अब नहीं। छोटा बेसरा कहीं-कहीं घने जंगलों में मिल जाता है। इनके बच्चों को पेड़ से उतारकर लाना काफी जटिल है। कभी व्यक्ति के शरीर को नोच लिया, तो एक टुकड़ा मांस ही ले जाता है। बच्चे को बांस की ढोंटी में रखा जाता है। जब कुछ बड़ा हो जाता है तो पैर में रस्सी बाँधकर डंडे पर बैठाना सिखलाते हैं। पालक उसे प्रतिदिन छूता सँवारता है। छः माह होते यह काफी बड़ा हो जाता

है। किन्तु नवसिखवा ही रहता है। इसके बाद कुछ शिकार करना शुरू कर देता है। एक वर्ष में यह काफी वीर बन जाता है। तब इसे छः फीट बाँस की लाठी पर बैठना सिखलाया जाता है। बैठने के स्थान पर रस्सी होती है। बाँस के सिरे में लोहा जड़ा होता है, जो नुकीला होता है ताकि कहीं भी गाड़ा जा सके तथा रस्सी बैठने पर फिसलने से बचने के लिए होता है। एक सूतली भी डंडे पर बँधा होता है जिससे पक्षी बाँधा जाता है।

लाठी दूसरे तरीके से भी बनाया जाता है जिसकी लम्बाई लगभग अपनी उँचाई के बराबर रखी जाती है। एक सिरे पर रस्सी बँधी होती है और झुनकी भी लगा दिया जाता है। इसे ''ठेहरी''कहा जाता है। कभी लाठी में ताड़ पत्ती भी बाँध दिया करते हैं। शिकारी का कपड़ा और ढोंटी कोंची उसी में बँधा होता है। ढोंटी में गिरगिट पकड़कर रखा जाता है।

पक्षी को शिकार करने की शिक्षा बड़ी सावधानी से दी जाती है। इस वक्त उसे भूखा रखा जाता है। उसे टाँड़ में ले जाया जाता तथा हाथ में कपड़े लपेटकर और उसे बैठाकर किसी चिड़िया के पीछे छोड़ा जाता है। वह नवसिखवा हालत में पकड़ नहीं सकता और किसी पेड़ पर बैठ जाता है। तब पालक लाठी पर गिरगिट रखकर ''उहू-उहू'' की आवाज से बुलाता है; चूँकि उस पक्षी को गिरगिट खाने की आदत पड़ गयी होती है, फलतः लालच में फिर वापस चला जाता है। यही क्रिया बार-बार दुहरायी जाती है। जब कभी यह चिड़िया पकड़ लेता, तो गिरगिट दिखाकर बुला लिया जाता है।

प्रशिक्षित हो जाने पर शिकार के लिए जंगलों में ले जाया जाता। फिर झुनकी या ताड़ पत्ती द्वारा आवाज देकर, पक्षियों को उठाकर शिकरा को उनके पीठे छोड़ दिया जाता है। वह पकड़ कर तुरन्त सिर खा जाता है। सिर खा लेने पर पुनः गिरगिट दिखाकर बुला लिया जाता है। वह खरगोशों को भी पकड़ सकता है।

परन्तु देखा गया है कि यह शिकार माँस प्राप्ति के लिए नहीं खेला जाता है। सर्वप्रथम तो यह धर्म की बात होती है। जो उराँवों के धर्म-ग्रंथ से आता है जिसमें परमेश्वर ने स्वयं मानव बच्चों की खोज में शिकार किया था। दूसरा खेल-बहादुरी की एक कला है। इसमें लोगों की विशेष रुचि होती है। यदि इसमें धर्म की बात नहीं होती, तो मेहनत से गिरगिट पकड़कर जमा नहीं करते। इसमें लोगों की भक्ति है फलतः उरॉव इस पक्षी को पालते हैं। इस खेल में अन्य कार्यों के लिए बाधा नहीं होती है। अवकाश के समय ही इससे शिकार किया जाता है।

मछली मारना

उराँवों के जीवन में हर प्रकार का शिकार खेल होता आया है और प्रत्येक ऋतु में गीतों द्वारा मनोरंजन होता रहता है जिसमें उनके भाव भी स्पष्ट है। इस प्रकार उनके जीवन में मछली मारना भी महत्वपूर्ण है जिसका समय निर्धारण निम्न प्रकार है--

1. चढ़ती मछली मारना वर्षा के आरंभ में
2. उतरती मछली मारना वर्षा के अंत में
3. जेठवारी मछली मारना गर्भी में

1. चढ़ती मछली मारना

वन्य पशु: पक्षियों का शिकार करना अंत कर, उराँव अपने खेतों में व्यस्त नजर आते हैं। मई माह के अंत में बादलों की गड़गड़ाहट शुरू हो जाती है और वर्षा का पानी एक बार खेतों को भर देता है किन्तु चिलचिलाती धूप में तपे होने के कारण धरातल इसे सोख लेता है। फिर कभी 15 जून तक वृष्टि आरंभ हो ही जाती है। आजकल प्रथम जुलाई तक में जोर से वृष्टि होती है तथा खेतों में मेड़ और बाँधों को भी तोड़कर ले जाती है।

मछली के शरीर में इस समय अण्डों की भरमार होती है। अत: अण्डों के अच्छे पालन के लिए अच्छे पानी और दाह की खोज में जिधर पानी बह निकलता उधर ही उछलती चल देती हैं। साथ ही अपना अण्डा भी पानी में बिखेर देती है। इसी वक्त उराँव अपने मछली मारने का सामान जाल आदि लेकर बाढ़-पानी की ओर दौड़ पड़ते हैं। वृष्टि या बाढ़ कितना ही अधिक क्यों न हो, लोग मछली पकड़ने में लगे नजर आते हैं। वे आवश्यकता से अधिक मछली भी मार लेते हैं और खा नहीं सकने पर सुखाकर रखते हैं। सुखाने के लिए चूल्हे के उपर एक चौड़ी झरनी टाँग दी जाती है जिस पर मछलियाँ फैला दी जाती हैं। जब चूल्हे में आग जलायी जाती है, तो झरनी गर्म हो जाती और मछलियाँ सूख जाती हैं।

2. उतरती मछली मारना

आदिवासियों को सदियों से अनुमान है कि धान में फूल लगना तथा काँस में फूल लगना वर्षाअंत का द्योतक है। मछली भी इस समय गहरे पानी की खोज में क्यारियों से उतरने लगती है। तब तो ये लोंडरा,कुमनी से मछली फँसाने की ताक में खेतों में दौड़ पड़ते हैं। वे अधिक पानी उतरने वाले स्थानों में लोंडरा या कुमनी लगा देते हैं जिससे पानी निकलता जाता है और मछलियाँ उसमें फंसकर रह जाती हैं। ऐसे उनको काफी मछलियाँ मिल जाती हैं। कभी-कभी साँप भी फँस जाते हैं और फँसी सभी मछलियों को चट कर जाते हैं।

आदिवासियों के अनुमानानुसार भादो से मछलियाँ उतरना शुरू करती हैं। इस दिन उनका "राजी करम" भी होता है। करम के दूसरे दिन ही ये मछली मारने चले जाते हैं। अपने साथ कुमनी, कुदाली, बाल्टी आदि लेकर चलते और पानी छींट-छींट कर छोटी-बड़ी सभी मछलियों को पकड़ लेते हैं यहाँ तक कि केकड़ों को भी नहीं छोडते। यही क्रम जेठ तक यदा-कदा चलता रहता है।

3. जेठवारी मछली पकड़ना

इधर धीरे-धीरे गर्मी पहुँचने पर जलाशयों का पानी समाप्त होने लगता है और कभी-कभी आधा पानी बाकी रह जाता है। यह समय मार्च से आधा जून तक होता है। जिससे मछली मारने वाले, बाँध तालाब तथा नदियों में नजर आते हैं। संगठन में मछली मारी जाती हैं, जिसे "हेलो नन्ना" कहा जाता है। जब किसी किसान को अपने बाँध की मछली मारना होता, तो डुगडुगिया पिटवा देता है। लोग बड़े-बड़े जाल लेकर पहुँच जाते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार मछली मारकर अपने-अपने घर ले जाते हैं। इसमें किसानों को काफी फायदा भी होता है। अधिक आदमियों केबाँध में घूमने-फिरने तथा कादो-कीचड़ करने से बाँध भर जाता है तथा बाद में खेत बन जाता है।

जानने योग्य बातें—

शिकार का माँस खाना निम्नलिखित स्थिति में वर्जित है:—

1. शिकारियों में से किसी की स्त्री गर्भवती हो, तो शिकार माँस में पशु–पक्षियों के सिर, पैर, अंतड़ी, तथा कलेजी खाना मना है। खाने पर उनके बच्चे उन्हीं लक्षणों के होते हैं।
2. कुँवारे लड़के को सुया चिड़िया का माँस खाना वर्जित है। खाने पर उस लड़के केलिए बन्दोबस्त ठीक नहीं होता है।
3. शिकार के समय मारे गये पशु–पक्षियों के सिर, पैर, अंतड़ी, तथा कलेजी आदि को घर नहीं ले जाना चाहिए तथा स्त्रियों को भी नहीं खिलाना चाहिए। खिलाने पर शिकारी–गुण उनके हाथ से चला जाता है।

निम्नलिखित स्थितियों पर शिकार नहीं मिलता—

1. शिकार के लिए निकलते समय स्त्रियों द्वारा खाली घड़ा दिखाये जाने पर।
2. यदि किसी लड़की को अपने शरीर पर गोदना करते हुए लड़का देखे, तो जीवन भर उसे शिकार नहीं मिलता।
3. शिकार के लिए निकलते समय कोई पशु–पक्षी या व्यक्ति दाहिना रास्ता काटे।
4. शिकार जाते वक्त निर्मुच्छिया व्यक्ति के मिल जाने पर।
5. ठेस लगने पर।
6. बाघ शिकार जाते वक्त खरगोश के मिलने पर।
7. जंगल में सुया चिड़िया के बोलने या रास्ता काटने पर।

उपर्युक्त सभी परिस्थितियाँ अशुभ मानी जाती है। अत: इनसे बचकर जाना है।

निम्नलिखित स्थितियों में शिकार मिलता है—

1. शिकार जाते वक्त पानी भरा घड़ा देखने पर।
2. खरगोश मारने पर ढोनेवाले को आँख बन्द करके खरगोश ढुलाने तथा खरगोश के मूत्राशय या मलाशय के पास का बाल मिलने पर।
3. किसी लड़की के ऋतु–स्राव कपड़ा मिलने पर उसे शिकार में ले जाने पर।
4. मछली मारने जाते वक्त दो–मुहाने रास्ते में बेर काँटा को पत्थर से दबा रखने पर।
5. मछली मारने के लिए शुरूआत करने पर जाल या टोकरी में घृणा की दृष्टि से थूकने पर।

तीर–धनुष परिवार के लिए रक्षक हथियार—

जब शादी विवाह होता है तो तीर–धनुष का विशेष खेल होता है। उसमें यह दिखाया जाता है कि यदि लड़के को कोई दुश्मन हो, तो साथ देना और इसी वाण से परिवार की रक्षा करना।

1. उराँव लड़की को जब माता-पिता के घर से विदा किया जाता है तो लड़की के बायें हाथ में तीर पकड़ाकर उसका बड़ा भाई गोद में उठाकर बारात पार्टी को जिम्मा देता है। इस तीर को लड़का हथियार के रूप में यादगारी के लिए जीवन पर्यन्त रखता है।
2. प्रत्येक आदिवासी तीर-धनुष अपने मतलबों से रखा करते हैं। विशेषकर दुश्मनों से रक्षा और शिकार के लिए रखा जाता है। किन्तु जाति के आधार पर भी रखा जाता है, जैसे मुण्डाओं में कोरवा जाति बिना तीर-धनुष के नही रहती है।

III. संथाल जनजाति

संथाल बिहार की एक प्रमुख अनुसूचित जनजाति है, जो मुख्य रूप से संथाल परगना प्रमंण्डल एवं सिंहभूम, हजारीबाघ, धनबाद, गिरिडीह जिले में निवास करती है। इसकी कुल आबादी भागलपुर, पूर्णिया, सहरसा तथा मुंगेर प्रमण्डल में भी पायी जाती है। बिहार, छोटानागपुर के अलावे यह जनजाति पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा असम राज्योंमें भी वास करती है। इस जनजाति को पश्चिम बंगाल के मिदनापुर जिले के साओत क्षेत्र में लम्बे अर्से तक रहने के कारण साओन्तर कहा जाता था, जिसे कालान्तर में संथाल कहा जाने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के दौरान संथाल जनजाति पश्चिम बंगाल के बीरभूम से छोटानागपुर के संथाल परगना जगीर के हंडवे तथा बेलपेट्टा में यथेष्ट संख्या में आकार बस गई।

संथाल परगना में संथालों मे बसने से पहले सौरिया तथा माल पहाड़िया जनजाति राजमहल के पहाड़ी क्षेत्र में रहा करती थी। संथालों के इस क्षेत्र में आगमन के पश्चात् वर्षो तक संथाल तथा पहाड़िया जनजाति के बीच पुश्तैनी दुश्मनी बनी रही। इनकी आपसी संघर्ष की समस्या के निदान के लिए भागलपुर के तत्कालीन संयुत्त दण्डाधिकारी सदरलैंड ने (1819 ई.) सरकार से इनके लिए एक पृथकप्रदेश बनाने की सिफारिश की, जिसके आधार पर 1832-33 में सरकार द्वारा दामिन इ कोह प्रदेश की स्थापना की गई, जो संथाल परगना जिले के राजमहल, पाकुड़, गोड्डा तथा दुमका अनुमण्डल के लगभग 1, 338 वर्ग मील में फैला हुआ था। दामिन इ कोह का पर्वतीय भू-भाग के आगोश में फैला लगभग पाँच सौ वर्ग मील का क्षेत्र संथाल जनजाति के बसने के लिए निर्धरित किया गया, जो पश्चिम बंगाल के बीरभूम तथा अन्य जगहों से आकर यहाँ बसी थी। संथालों का यह प्रदेश जंगलों से भरा पड़ा था जिसे संथालों ने शीघ्र साफ कर कृषि योग्य बना डाला। 1851 ई. तक दामिन कोह प्रदेश के 1, 473 गाँवों में लगभग 82, 795 संथाल रहने लगे थे।

संथाल जनजाति ''संथाली'' भाषा बोलती है, जिसका संबंध आष्ट्रो-एशियाई भाषा परिवार से है। संथालों की कोई लिपि नहीं है। यह भाषा मुंडारी भाषा परिवार से आती है।

उत्पत्ति कथा

इनकी उत्पत्ति के विषय में इनकी पौराणिक कथाएँ विचित्र प्रकार की हैं-प्राचीन समय में पृथ्वी पर केवल जल ही जल था और कहीं स्थल का पता नहीं था। ठाकुर जी आकाश पर पधारते थे। वही सभी वस्तुओं के विधाता हैं। कभी-कर्भा आकाश से उतर कर पृथ्वी की ओर दृष्टि डाला करते थे। एक बार अपनी इच्छा से एक सुन्दर पक्षी की रचना की। ठाकुर-स्त्री पृथ्वी पर उतर कर स्नान किया

करती थी। उन्होंने ठाकुरजी से उस पक्षी का नर भी उत्पन्न करने के लिए निवेदन किया। ठाकुरजी ने अपनी स्त्री की बात मान ली, तथा नर पक्षी बना दिया। नर-मादा बड़े प्रेम से रहने लगे। उनकी सन्तति पृथ्वी पर फैलने लगी। एक बार ठाकुर जी पृथ्वी पर आकर स्नान कर रहे थे कि एक पेन्सिल उनके कान से गिर गई, और उसी से बाद में कर्म का पेड़ (Karma Tree) उपजा। इसी पेड़ पर सभी पक्षी बैठा करते थे। उनके अण्डों से दो मनुष्य उत्पन्न हुए। ठाकुरजी ने पृथ्वी पर प्रकाश फैलाने के लिए चन्द्रमा और सूर्य की रचना की। उन मनुष्यों ने एक झोपड़ी बनाई और उसमें आराम से रहने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने पृथ्वी से अन्न उपजाना भी सीख लिया और उनका व्यवहार भी उचित रूप सें करने लगे। उन लोगों के आठ लड़के और आठ लड़कियाँ हुई। इनमें विवाह होने लगा और इए प्रकार जनसंख्या बड़ी तेजी से बढ़ने लगी। इस प्रकार संथाल लोग उत्पन्न हुए।

पोशाक तथा आभूषण

संथाल जनजाति के परम्परागत पोशाक कुपनी, कांचा, पारहांड, दहड़ी, पाटका इत्यादि हैं। महिलायें अपने जूड़े को गोलाकार रूप में एक विशेष ढंग से बाँधती हैं। इनके हाथ पैर तथा गले में गोदना चिन्ह भी मिलते हैं, किन्तु गोदना का रिवाज अब धीरे-धीरे लुप्त होता जा रहा है। गरीब संथाल केवल एक टुकड़े कपड़े से अपना शरीर ढँकते हैं। धनी लोग धोती ओर कुर्त्ता पहनते हैं। इनकी स्त्रियाँ साधारणत: मोटे कपड़े की साड़ियाँ पहनती हैं। मुख्य वस्त्र 'पंची-प्रहन्द'' है। प्रहन्द से वे अपने शरीर का निचला भाग ढँकती है, और पंची को शरीर के ऊपरी भाग में पहनती हैं।

संथाल युवतियाँ तथा महिलायें प्राय: शंख, काँसे, पीतल, ताम्बे तथा चाँदी से निर्मित आभूषण पहनती हैं। हाथों में शंख निर्मित सांखा, काँसे, पीतल या चाँदी के बने साकोम, बाँह में खागा, गले में हँसली तथा सकड़ी तथा कानों में सोने से निर्मित पानरा, नाक में मकड़ी, पाँवों में काँसे की बांक-बंकी तथा पाँव की अँगुलियों में ब़टरिया इनके सामान्य आभूषण हैं। युवकों के आभूषणों में हाथों में चाँदी के टोडोर, बाँहों में खागा तथा कानों में कुण्डल है। इनके अलावे फूल तथा पत्तियों से भी अपने शरीर को सजाते हैं।

वास स्थान

संथाल जनजाति गाँवों में प्राय: दूसरी जनजाति के साथ निवास करती है। यद्यपि संथालों के पूर्वज स्थायी घर की कम परवाह करते थे। विभिन्न जंगलों को काटकर उपजाऊ भूमि भी उन्हें स्थायी निवास के लिए आकृष्ट नहीं कर सकी। परन्तु धीरे-धीरे घर बना कर रहने लगे। उनकी झोपड़ियाँ मिट्टी की बनी होती है। इनके गाँव का आकार छोटा होता है, जिसमें प्राय: 10 से 50 विभिन्न गोत्र के संथाल परिवार निवास करते हैं।

मकान का आकार आयताकार होता है, जिसमें सोने, भंडार तथा पशु रखने के कमरे होते हैं। बरामदा भी अवश्य होता है। छत, फूल या खपरैल की छावनी की गयी होती है। इनके मकान के चारों ओर प्राय: एक चौडा चबूतरा होता है। कमरे में बाँस तथा लकड़ियों से बने मचाननुमा छत होते हैं, जिन पर अनाज तथा अन्य सामग्रियाँ रखी जाती हैं। इनके मकान की दीवारें प्राय: चारकोल के काले रंग से रंगे होने के कारण आकर्षक दीखते हैं। संथाल पहिलायें अपने घर को साफ सुथरा रखती हैं। वे अपने

घरों की दीवारों पर प्रायः कलात्मक परिरूप खींचती हैं, जो उनके सौदर्य मीमांसा की अभिव्यक्ति है।

संथालों की रूप रेखा

प्रजातीय तत्व की दृष्टि से संथाल जनजाति का कद मध्यम, रंग काला या गहरा भूरा, कपाल दीर्घ, बासल कालेव सीधे परन्तु कभी-कभी घुँघराले, नाक मध्यम आकार तथा जड़ से बदी सी, आँखे मध्यम आकार की तथा काली, मुँह बड़ा, एवं होठ मोटे और लटके हुए, शरीर पर बालों की संख्या नगण्य तथा दाढ़ी विरल होती है।

जन्म संस्कार

संथाल जनजाति में प्रसव के समय घर या पड़ोस की बुजुर्ग महिलाएँ प्रायः दाई (दगरिन) के रूप में कार्य करती हैं। नवजात शिशु का नाल तीर के नुकीले हिस्से से काटे जाने की प्रथा है।

छठी

बेटा के जन्म के पाँचवें दिन तथा बेटी के जन्म के तीसरे दिन "जानम-छठियार" मनाया जाता है। इस अवसर पर गाँव के मांझी तथा कुदुम नायके सहित अन्य लोग नाई द्वारा अपने बाल मुंडाते हैं। फिर बच्चे का मुंडन किया जाता है। तथा उसके द्वारा काटे गये बालों को एक दोने में रखते हैं। फिर हल्दी और तेल लगाकर सभी स्त्री-पुरुष स्नान करते हैं। बच्चे के कटे हुए बाल को घाट पर नहाते समय बहा दिया जाता है। घर पर जच्चे-बच्चे को भी नहलाया जाता है। स्नान करके लौटने के बाद दाई चावल के चूर्ण को पानी में घोलकर सबों पर बारी-बारी से छिड़काव करती है, जिससे छूतक का दूर होना समझा जाता है। इसके बाद दाई हास्य व विनोद के वातावरण में बारी-बारी से सभी को प्रणाम करते हुए बच्चे के नाम की घोषण करती है। प्रायः पहली संतान को दादा या दादी तथा दूसरी को नाना या नानी के नाम पर नामकरण किया जाता है। इस अवसर पर नीम की पत्तियों के साथ पकायी गई खिचड़ी या मांडी लोगों के समक्ष खाने के लिए परोसी जाती है, जिसे नवजात शिशु की ओर से उपहार माना जाता है। लोग इसे ग्रहणकर अपने-अपने घर लौट जाते हैं। लड़के होने पर दाई को एक साड़ी एक मन धान तथा कंगन और लड़की होने पर एक साडी, आधामन धान, तथा कंगन देने की प्रथा रही है। बच्चे के जन्म लेने पर माता-पिता को 5 दिनों बाद शुद्ध होना पड़ता है।

विवाह के पूर्व बच्चों का चाचो छठियार मनाया जाता है। इसके लिए कोई उम्र या दिन निश्चित नहीं होते। इस संस्कार केद्वारा ही संथाली बच्चों को जाति प्राप्त होती है। इसलिए जिस शिशु की मृत्यु उसके चाचो छठियार के पूर्व हो जाती है उसका न तो शव दाह किया जाता है न श्राद्ध ही।

इस अवसर पर गाँव के बड़े-बूढ़े इकट्ठे होते हैं, जिन्हें तेल-हल्दी लगायी जाती है। फिर हँड़िया की छाक ढाली जाती है वृद्ध लोग सृष्टि से लेकर आज तक के भ्रमण का वर्णन अपनी जानकारी के आधार पर करते हैं।

गोत्र

संथाल जनजाति बहिर्विवाही गोत्रों में विभक्त है। इनके गोत्र गोत्रार्द्ध या सिव में बँटे होते है। संथाल अपने गोत्र तथा सिव में विवाह नहीं करते। वे अपनी माता के सिव में विवाह कर सकते है। संतान

पिता का गोत्र लेती है, माता का नहीं, लड़की शादी के बाद अपने पति का गोत्र धारण करती है। प्रत्येक गोत्र का अपना गोत्र चिन्ह होता है। यह गोत्र चिन्ह किसी पशु पक्षी या पौधे के नाम पर होता है। गोत्र चिन्ह को मारना, कष्ट पहुँचाना या खाना निषिद्ध माना जाता है। गोत्र चिन्ह के नाम पर ही गोत्र का नामकरण होता है। विवाह इत्यादि जैसे विशेष अवसरों पर गोत्र चिन्ह की पूजा अर्चना भी की जाती है। गोत्र वंश का ही एक विस्तृत रूप होता है। गोत्र का संगठन एक सामान्य पूर्वज की कल्पना पर आधिारित होता है जो वास्तविक भी होता है और काल्पनिक तथा पौरणिक भी। एक गोत्र के सभी सदस्य अपने को एक सामान्य पूर्वज की सन्तान मानते है। इसलिए वे आपस में एक दूसरे के भाई-बहन होते है। संथालों के बीच पितृवंशीय गोत्र पाये जाते है। बिहार की संथाल जनजाति विभिन्न गोत्रों में विभाजित है (दे. आदिवासी और उसका गोत्र) इन गोत्रों के अतिरिक्त डेढ़-दो सौ खूँट (उप गोत्र) भी पाये जाते हैं, जो मुख्य, रूप से देवी-देवताओं की पूजा अर्चना से संबंधित है।

नातेदारी

समाज द्वारा स्वीकृत जिन विशिष्ट सामाजिक संबंधों द्वारा मानव बँधा रहता है नातेदारी कहलाता है। संथाल जनजाति के बीच रक्त तथा विवाह संबंधों पर आधारित नातेदारी व्यवस्था पायी जाती है। समरक्त तथा वैवाहिक दोनों प्रकार क्रे संबंध देखने को मिलते है। समरक्त संबंधमाता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी, मामा, नाना-नानी, चाचा-बुआ इत्यादि के रूप में देखने को मिलती है। निःसंतान दम्पत्ती द्वारा ली गई संतानों को भी अपनी संतान जैसा ही लालन-पालन करने का प्रचलन है। संथालों के बीच वैवाहिक संबंध सास-बहू, पति-पत्नी, जीजा-साली, देवर-भाभी, ननद-भौजाई, साला-बहनोई, मामी-भांजा, भतीजा-फूफा के रूप में मान्य है। संथाल जन जाति के बीच नातेदारी की कुछ रीतियाँ भी प्रचलित हैं।

परिहास संबंध भी देखने को मिलते हैं। भैंसुर तथा जेठ सास को देवता स्वरूप माना जाता है तथा उनसे नहीं स्पर्श किया जाता है। उनकी चारपाई पर भी नहीं बैठा जाता है। यदि भूल से स्पर्श हो जाये तो ''आरूप जांगा'' की रस्म पूरी करने की प्रथा है। संथाल महिलायें सिर पर घूँघट नहीं डालती, किन्तु गुरुजनों के समक्ष वे बालों को खुला नहीं छोड़तीं। संथाल जनजाति में देवर-भाभी, छोटी ननद-भाभी, जीजा-छोटी साली, जीजा-छोटा साला, दादा-दादी, पोता-पोती, नाना-नानी, नाती-नतनी, समधी-समधिन या समधिन-समधिन, में परिहास संबंध होता है। देवर-भाभी तथा छोटी साली बहनोई में तो विवाह या पुनर्विवाह भी होता है।

संथाल जनजाति में पति की बहन को आदर सूचक शब्दों से सम्बोधित किया जाता है।

संथाल युवक-युवती के लिए धुमकुरिया जैसा अलग से सोने का घर नहीं होता है। परन्तु नाचते गाने के लिए उन्हें पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाती है य संगीत और नृत्य के प्रेमी होते है। बाँसुरी, ढोल, नगाड़े, केन्दरा (वायलिन) आदि इनके प्रमुख वाद्य यन्त्र हैं।

नृत्य

संताल युवक और युवती ''जगमाँझी'' गाँव का प्रधान पुरुष के घर के सामने खुली जगह में नाचते-गाते हैं। संथाल युवक बाँसुरी बजाने के लिए प्रसिद्ध बाप या भाई से सीखते हैं, यह कला बाद

की पीढ़ी को परंपरागत मिलती है।

शाम के भोजन के बाद संथाल युवक नृत्य स्थल में जाकर बाँसुरी बजाने के साथ नगाड़े भी बजाते हैं। बाजे की मधुर आवाज युवतियों को आकर्षित करती है। वे तुरंत अपने लम्बे बालों पर कंघी करके जूड़ा बनाती है और जूड़े में एक-दो फूल अवश्य लगाती है।

संथालों का नृत्य, व्रज और वृन्दावन में कृष्ण के रास लीला में समानता रखता है (विष्णु पुराण अध्याय 13, पुस्तक पाँच) इनका नृत्य ''संथाल झूमैर'' कहलाता है। युवक-युवती दोनों ही फूलों से और चमकते कंगनों से सुसज्जित रहते हैं। युवक के गले में फूलों का हार पहने रहते हैं वे अपने को मयूर के पंखों से सजाना नहीं भूलते हैं। अपने हाथों को इस प्रकार दबाकर पकड़ते हैं कि उनके पीछे गोल में नाचने वाली लड़कियों की छाती उनकी पीठ का स्पर्श करती है। उनके अंग इस प्रकार संचालित होते है, मानो वे एक ही जीव हों, पैर भूमि पर पूर्ण लय के अनुसार उठता और गिरता है। नृत्य के बीच में गायकों के संगीत को नाचने वाले दुहराते हैं। बीच में बाँसुरी एवं नगाड़ा बजाने वाले साथ में नाचते भी हैं और गोलाकार नृत्य की धुरी बनते हैं।

इस प्रकार नृत्य का केन्द्र बिन्दु, बाँसुरी की लय कृष्ण और उसकी सखाओं के समान मन को आह्लादित करता है ''मधुर बाँसुरी की आवाज नृत्य की मानों जान है।''

जिस प्रकार शरत की शुभ उजाले में गोपियाँ कृष्ण की बाँसुरी की मधुर आवाज से आकर्षित होकर घर से निकल कर श्रीकृष्ण की रास लीला में होश-हवास खो बैठती थीं, उसी प्रकार पूर्णिमा की रात संथाल युवक-संथाल युवतियों को बाँसुरी से आकर्षित करते है। बाद में शरत महीनों में कोल और उराँव के अनेक जतरा पर्व होते हैं, जिसमें वे गोलाकार नाचते हैं।

पुरोहित के कार्य

व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्ति जिन्हें संथाल पर्वों में बलि चढ़ाना रहता है, वे उपवास, प्रार्थना और मानसिक तन्मयता द्वारा अपने को तैयार करते हैं। नगाड़े की आवाज उन्हें उत्तेजित करती है, वे बुरी तरह से अपना सिर और बाल तब तक हिलाते हैं, जब तक वे प्रेतात्मा से आविष्ट नहीं हो जाते हैं। वे भविष्य के बारे पूछे गये प्रश्नों का देववाणी सदृश जवाब देते, आह्वान किये गये, अथवा तुष्ट किये जाने वाले प्रेतात्मा की इच्छा प्रकट करते हैं। वे इतने आविट हो जाते हैं कि बलि पशु को खींच कर पकड़ लेते, उसका सिर काट कर खून थाली में चुलाते हैं।

संथालों के देवता

इनके सर्वोच्य देवता सिंगबोंगा (सूर्य) है जो सृष्टिकर्ता और रक्षक भी है। दूसरे देवता ''जाहिर-इरा,'' मोनिका, और मंरग बुरू हैं, जो दुष्ट स्वभाव की और अनिष्टकारी है। छोटानागपुर के पूर्वी जिलों में ''बाघ'' की पूजा करते है, परन्तु रामगढ़ में सिर्फ वे, जिन्होंने उसकी क्रूरता को झेला है, उसकी कृपालुता के लिए उसकी पूजा करते हैं। यदि किसी को बाघ ने खा दिया तो परिवार का मुख्य ''बाघ भूत'' को मनाता है। समय-समय पर सभी गाँव के लोग मिलकर बैल अथवा भैंस की बलि मरंग बुरू के लिए देते हैं। उन्हें यह भी नहीं मालूम है कि किस बुरू अथवा पर्वत की पूजा करते है, परन्तु इतना निश्चित है कि मरंग बुरू जंगल का स्वामी है।

संताल और भी देवी-देवता जैसे ''चंदो बोंगा'' चन्द्र देवता, बाघ की आराधना करते है।

सिंगबोंगा को बलि हमेशा दी जाती है कि उनपर, उनकी कृपा दृष्टि हमेशा बनी रहे। दूसरे देवताओं की बलि तब दी जाती है जब परिवार में पता चलता है कि किसी विशेष प्रेतात्मा के कारण विपत्ति आई है, तब वे उसे बलि देकर संतुष्ट करते है।

पूर्वजों की पूजा

सोहराई पर्व के समय पूर्वजों की पूजा होती है, या यूँ कहें तो उनकी याद की जाती है। परिवार का मुख्य घर में ही पूर्वजों के लिए बलि देता है। इसी बीच नया (नायक) स्थानीय भूतों, आत्माओं की बलि देकर उन्हें चुप करता है।

संथालों की शादी

प्राय: प्रेम विवाह होता है, बाद में भी सुखी रहते है। परन्तु माता-पिता के द्वारा व्यवस्थित शादी उत्तम मानी जाती है।

संथालों में विवाह शब्द ''बाप्ला'' नाम से जाना जाता है। अपने ही वंश में विवाह इन लोगों में निषेध है। वे किसी वंश में विवाह कर सकते हैं। लेकिन यह प्रचलित प्रथा है कि तीन पीढ़ीके बाद आपस मे विवाह किया जा सकता है। परन्तु कभी-कभी कुछ वंशों में विवाह परम्परागत संघर्षो की वजह से निषिद्ध माना जाता है जिसका ये लोग आज पालन करते है। अक्सर विवाह में लड़कियों को वरण का अवसर मिलता है।

विवाह दो विशिष्ट प्रकारों से सम्पन्न होता है– (1) वह जिसमें विवाह ''रैबर'' (मँझवा Marriage maker) के द्वारा तय किया जाता है, जिसका प्रचलन आज कल बढ़ गया है। (2) जिसमें विवाह बिना ''रैबर'' की सहायता के लड़के तथा लड़की के माता-पिता अथवा स्वयं लड़का-लड़की निश्चित करते हैं।

रैबर द्वारा निश्चित किया गया विवाह ''रैबर बाप्ला'' कहा जाता है, जिसमें लड़के अथवा लड़की के माता-पिता रैबर की सहायता से विवाह निश्चय करते हैं। रैबर, लड़की तथा लड़के के माता-पिता के बीच बातचीत कराने में सहायक होता है। यदि लड़की का पिता विवाह के लिए उत्सुकुता प्रकट करता है, तो रैबर उसे लड़के वालों के गाँव ले जाता है, वहाँ जाकर लड़की का पिता लड़के के परिवार की आर्थिक स्थिति तथा लड़के के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। उसके संतुष्ट हो जाने के बाद लड़के के माता-पिता भी लड़की पसन्द करने जाते हैं, तथा लड़की के परिवार के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। यदि दोनों पक्ष राजी हो जाते हैं, तो लड़के तथा लड़की के मिलने का उचित प्रबन्ध किया जाता है। अक्सर गाँव के निकटवर्ती स्थान में मेले के अवसर पर मिलने का आयोजन किया जाता है।

इसके बाद लड़के का पिता, रैबर तथा गाँव के कुछ विशिष्ट सयानों को लेकर कन्या के गाँव जाता है। जब ये लोग गाँव की सीमा के निकट पहुँचते है, तो रैबर गाँव के मुखिया से भेंट करता है, तथा लड़के के आने की सूचना देता है, तथा कुछ समय बाद ही समस्त ग्रामवासी इस बात से परिचित हो

जाते हैं तब कन्या का पिता गाँव के जग माँझी एवं अन्य व्यक्तियों को साथ लेकर वर पक्ष वालों की आगवानी के लिए जाता है, तथा उन्हें अपने घर लाता है। जैसे ही वे घर पहुँचते हैं, कन्या के माता-पिता तथा कन्या सभी मेहमानों के पैर धोते है। कन्या को स्वीकारने के बाद वे लोग भोजन करते हैं तथा अपने गाँव वापस आ जाते हैं। इस प्रकार लड़के का पिता, रैबर तथा अन्य सयानों के समक्ष विवाह की स्वीकृति देता है, हालाँकि इससे पूर्व भी व्यक्तिगत रूप से वह अपनी स्वीकृति दे चुका होता है।

जबाँईधोती तथा बहुबन्धी उत्सव

कन्या तथा वर के माता-पिता से मिलकर रैबर इस उत्सव की तिथि निश्चित करने को कहता है। दोनो पक्षों की सुविधा के अनुसार तिथि निश्चित की जाती है। निश्चित दिन कन्या का पिता गाँव के मुखिया तथा अन्य रिश्तेदारों को साथ लेकर लड़के के गाँव जाता है। गाँव के पास पहुचने पर वर का पिता अगवानी के लिए आता है तथा सभी मेहमानों का आतिथ्य-सत्कार करता है। कन्या का पिता लड़के से मिलता है और उसे नये वस्त्र भेंट करता है तथा साथ में कुछ रुपये भी भेंट स्वरूप देता है। कन्या का पिता लड़के को मद्यपान कराता है, और उसका जीजा उसे कन्धे पर बिठाता है। दोनो पक्षों के लोग उसके साथ हँसी मजाक करते हैं, सब लोग हांड़िया पीते हैं। इसके बाद नाच-गान का कार्यक्रम प्रारंभ हाता है, और लोग आपस में एक दूसरे को गले मिलते है। इसके बाद कन्या-पक्ष वाले अपने गाँव वापस आ जाते हैं।

कुछ ही दिनों के बाद इसी प्रकार का उत्सव कन्या के घर में भी मनाया जाता है। वर पक्ष वाले कन्या के घर पहुँचते हैं और भावी ससुर, कन्या को नये वस्त्र तथा चूड़ियाँ पहनाता है।

टकाचल (कन्यामूल्य)

आमतौर पर कन्या-मूल्य की प्रथा भी इन लोगों में विद्यमान है, लेकिन यह मूल्य अधिक न होकर मात्र परम्परा को निभाने के रूप में दिया जाता है। पहले ये लोग नकद रुपया न देकर चावल आदि वस्तुएँ दिया करते थे, परन्तु अब नकद 5 रुपया देने का रिवाज है। इस उत्सव के बाद विवाह की तिथि निश्चित की जाती है। संथाल जनजाति में बैशाख अथवा फाल्गुन माह में ही विवाह सम्पन्न किया जाता है। इन महीनों को ये शुभ मानते हैं। इनका रिवाज है कि बच्चे जिस महीने में पैदा होते है, उसी महीने में उनका विवाह सम्पन्न नहीं होता है। अतः यदि ये दो माह उपयुक्त न हो पायें तो अन्य माह में विवाह किया जाता है। वर का पिता रैबर के हाथ एक कपड़ा, जिसमें गाँठे पड़ी होती हों, कन्या के पास भेजता है। गाँठों की संख्या के अनुसार यह अनुमान लगाया जाता है कि विवाह किस दिन सम्पन्न किया जाना है। यदि कन्या का पिता इससे सहमत होता है तो दूसरे कपड़े में इतनी ही गाँठे बनाकर रैबर के हाथ वापिस भेजता है। लेकिन यदि वह उस तिथि में से पूर्व अथवा बाद में विवाह की तिथि उचित समझता है, तो कपड़े में उसी अनुसार गाँठे बनाकर भेजता है, जो लड़के के पिता को मान्य होती है।

मण्डपोत्सव

यह उत्सव विवाह के रोज अथवा उसके एक या दो रोज पूर्व सम्पन्न किया जाता है। इस उत्सव को वर तथा कन्या दोनों के घरों में एक ही प्रकार से मनया जाता है। अपने-अपने घर के आँगन में वे एक मंडप बनाते हैं, जिसे "मंडप खुन्ती" कहा जाता है, जिसे बनाने वाले व्यक्ति "मंडप कौर" कहे

जाते हैं। मण्डप के मध्य में महुँआ वृक्ष की टहनी को गाड़ा जाता है, तथा गाँव की कुँआरी लड़कियाँ हल्दी के पौधे की पाँच जड़ें, धान की पाँच बालियाँ तथा पाँच पैसे, अविवाहित लड़कों द्वारा बनाये गये एक छिद्र में रखती हैं तथा सभी उपस्थित लोगों के हाथों में तेल और हल्दी लगाती हैं।

प्रत्येक सुबह कपड़े की गाँठ को अधीर होकर वर खोलता है। अन्तिम गाँठ के खुलने के बाद बाजे-गाजे के साथ दूल्हा अपने मित्रों के साथ दुलहन के गाँव की ओर निकलता है। गाँव के निकट आने पर जग माँझी उनकी अगुवाई के लिए निकलता है। उसके साथ स्त्रियाँ भी होती हैं, जो उनके पैर धोती है। दूल्हे सहित बाराती पक्ष को दुलहन के घर लिया जाता है। दोनों पक्ष के लोग मिलकर नाचते गाते हैं।

रात्रि के तीसरे पहर दूल्हे को कोई सखा अपने कूल्हे में बैठाकर और वधू को भाई अथवा जीजा टोकरी में बैठाकर मंडप में लाते हैं। वर, वधू की माँग में उपस्थित लोगों के सामने सिन्दूर भरता है। उपस्थित लोग इस समय जोर से -''हरि बोल'' कहते हैं। इसके बाद वर और वधू दिन भर के उपवास के बाद एक साथ बैठकर खाना खाते हैं। यह शायद वधू के जीवन में पहला मौका होता है, कि वह किसी पुरुष के संग भोजन करती है। दूसरे दिन वे दोनों एक बुद्धिमान व्यक्ति के द्वारा सचेत किये जाते हैं—''हे लड़का! हे लड़की! अब से लेकर तुम्हें एक दूसरे को बीमारी अथवा दु:ख में दिलासा देना है। आज तक तो तुम दोनों सिर्फ खेलते रहे और काम करते रहे, अब घर की जिम्मेदारियाँ और कर्तव्य तुम दोनों के ऊपर है, अतिथि सत्कार करना, और जब कोई रिश्तेदार तुम्हारे घर पहुँचता है तो उसका पैर धोकर आदरपूर्वक उसे प्रणाम करो।''

संथालों की शादी में न तो पहान और न कोई पुरोहित ही रहता है। वर और वधू का एक साथ भोजन करना महत्वपूर्ण है, क्योकि साथ भोजन करने से वधू, लड़के के घर का सदस्य बन जाती है, अपने पिता के घर की सदस्यता समाप्त हो जाती है।

दूसरे दिन बारात अपने गाँव वापस आ जाती है। साथ में कन्या का भाई भी साथ जाता है।

संथालों के बीच निम्नलिखित विवाहों का प्रचलन है—

1. सादाई बाप्ला

इस प्रकार के विवाह प्राय: वर-वधू की पसन्द के आधार पर ही सुनिश्चित होते हैं। इस प्रकार के विवाह के पहले घर देखी, तिलक चढ़ी तथा टाका चाल की रस्में पूरी की जाती है। टाका चाल में वधू के लिए वर के परिवार की ओर से उसके पिता को पोन (पण) अथवा वधू मूल्य दिया जाता है, जो प्राय: 12 रुपये का होता है। विवाह के एक, तीन या पाँच दिन पहले वर तथा वधू के यहाँ मण्डप छाये जाते हैं। निश्चित तिथि को वर, पालकी तथा गाजे-बाजे के साथ वधू पक्ष के यहाँ बारात जाता है। बारात के भोजन का खर्च वर पक्ष वहन करता है। सिन्दूर दान विवाह का प्रमुख संस्कार होता है। बाराती नाचते-गाते वधू के दरवाजे पर जाते हैं। वधू को हल्दी से रंगे नये कपड़े में एक टेकरी में बैठाकर दरवाजे पर कंधे में उठाकर लाया जाता है। इसी अवस्था में वर, वधू का घूँघट हटा कर उसकी माँग में पाँच टीका (सिन्दूर दान) करता है। हरिबोल शब्द के उच्चारण के साथ विवाह सम्पन्न होता है। सिन्दूर दान के दिन वधू की विदाई होती है, जिसके साथ उसका भाई तथा उसकी सहेलियाँ भी जाती है।

विवाह के छट्टे दिन वधू अपने भाई और पिता के साथ नैहर लौट आती है तथा साथ में हँड़िया तथा चूड़े का संदेश भी लाती है। दो दिनों के बाद नवदम्पती अपना घर लौट जाते है।

2. गोलाइटी बाप्ला

इस प्रकार के विवाह में जिस परिवार की बेटी ब्याही जाती है उसी परिवार से पतोहू लायी जाती है। इस प्रकार के विवाह में पोन नहीं लिया जाता है। वधू मूल्य से बचने के लिए दो परिवार के लड़के-लड़कियों का बिना पोन दिये विवाह कर दिया जाता है।

3. बहादुर बाप्ला

इस प्रकार के विवाह में लड़का-लड़की जंगल में भाग जतो हैं तथा एक दूसरे को माला पहनाते हैं पुनः घर लौटकर अपने को एक कमरे में बंद कर लेते हैं। इसके बाद उनका विवाह सम्पन्न माना जाता है।

4. राजा-राजी बाप्ला

इस प्रकार के विवाह में लड़का-लड़की गाँव के माँझी के पास जाते हैं। माँझी उन्हें लड़की के घर ले आता है तथा गाँव के वयोवृद्ध लोगों के समक्ष वह औपचारिक रूप से दुलहन की सहमति प्राप्त कर लेता है। लड़का, लड़की की माँग पर सिंदूर लगा देता है। इस प्रकार उनका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

5. संग बाप्ला

इस प्रणाली में तलाक दी गई अथवा विधवा स्त्री तलाक दिये गये व्यक्ति अथवा विधुर के बीच विवाह होता है। इस प्रथा के अनुसार वर तथा कन्या स्वयं ही अपना विवाह ठहराते हैं। कन्या का मूल्य दिया जाता है। एक निश्चित दिन लड़का अपने पिता तथा अन्य गाँव वालों के साथ लड़की के घर जाता है। महत्वपूर्ण उत्सव सिन्दूर लगाना होता है, जिसके अनुसार लड़का, लड़की की माँग में सिन्दूर लगाता है।

6. कुदाम बाप्ला

यदि कोई लड़की विवाह से पूर्व गर्भवती हो जाती है, तो संबंधित पुरुष को उससे विवाह करना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रथा के अनुसार व्यक्ति जोगमाँझी को समस्त स्थिति से अवगत कराता है। जोगमाँझी, गाँव के मुखिया तथा लड़के एवं लड़की के माता-पिता को उस विषय की सूचना देता है। लड़के वालों को कन्या मूल्य के रूप में कुछ रुपया एवं अन्य वस्तुएँ देनी पड़ती है। इसके बाद एक निश्चित दिन जोगमाँझी वर और कन्या को लड़के के पिता के घर ले जाता है, साथ में गाँव का मुखिया एवं कुछ अन्य व्यक्ति भी होते हैं। वर, कन्या के माथे पर गन्धाक्षत करता है। गन्धाक्षत करते समय वर, पश्चिम की ओर मुँह करता है तथा कन्या पूर्व की ओर मुँह करके खड़ी रहती है। इस प्रकार विवाह पूर्ण माना जाता है।

7. किरिंग बाप्ला

यदि लड़का तथा लड़की एक ही कुल के होते हैं, तो गाँव का मुखिया पंचायत बुलाता है, तथा

पंचायत का निर्णय सर्वथा नकारात्मक होता है, अर्थात् विवाह सम्पन्न नहीं होगा। लड़के के पिता को लड़की के अन्य व्यक्ति के साथ विवाह में होने वाले खर्च को बर्दाश्त करना पड़ता है। तब गाँव का मुखिया लड़की का विवाह बाहर गाँव के किसी लड़के के साथ ठहराता है। लड़की को एक बड़े थाल में बैठाया जाता है और लड़का, लड़की की माँग भरता है। बाद मे समस्त गाँव वालों को भोज दिया जाता है। इस प्रकार विवाह का कार्य सम्पन्न माना जाता है। इस प्रथा के अनुसार कभी-कभी लड़की, जो गर्भवती हो गयी हो; के लिए एक पति ढूँढ़ने की आवश्यकता होती है। उससे सम्बन्धित पुरुष या तो उस समूह से संबंधित होता है, जिसमें विवाह निषेध है, अथवा कोई ऐसा व्यक्ति जो विवाह कर सकने में असमर्थ है; विवाह का कुल खर्च उस दोषी व्यक्ति को बर्दाशत करना पड़ता है।

8. धर्दी जावांय बाप्ला

इस प्रकार का विवाह तब होता हैं जब लड़की, माता-पिता की इकलौती सन्तान हो, अथवा किसी व्यक्ति के छोटे-छोटे लड़के तथा युवा लड़की होती है। वह घर जवाँई रखता है जो कि उस व्यक्ति के कृषि कार्य मे मदद करता है इस प्रणाली के अनुसार विवाह का सम्पूर्ण खर्च आमतौर पर कन्या का पिता ही करता है। विवाह के रस्म रिवाज इस प्रकार है—"एक निश्चित दिन दूल्हा गाँव के कुछ विशिष्ट लोगों को साथ लेकर कन्या के गाँव की ओर रवाना होता है। बारात के पहुँचते ही कन्या का पिता गाँव के मुखिया एवं जोगमाँझी तथा कुछ अन्य व्यक्तियों को बुलाता है। उन सबकी उपस्थिति में वर, सिन्दूर-दान करता है। तत्पश्चात् भोजन का आयोजन होता है जिसके बाद अन्य बाराती अपने-अपने गाँव वापस आ जाते है, लेकिन वर अपनी ससुराल मे ही परिवार के एक सदस्य की भाँति रहने लगता है।

9. अपंगिर बाप्ला

संथाल युवक-युवती अकसर मेले व त्योहारों के अवसर पर मिलते जुलते हैं। कभी-कभी इस प्रकार का मिलन प्रेम में परिणत हो जाता है और बाद में विवाह के बन्धन के रूप में सम्पन्न होता है। प्रेम के संकेत के रूप में लड़के द्वारा लड़की को दिया गया एक पुष्प होता है। यदि वह उस पुष्प को स्वीकार कर लेती है, तो यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि लड़की भी लड़के को चाहती है। न चाहने पर वह फूल स्वीकार नहीं करती। इसके बाद वे किसी मांगलिक अवसर पर मिलते है और लड़का, लड़की की तरफ फूल फेंकता है, तथा ये संगीत के माध्यम से वार्तालाप द्वरा विवाह के बारे में निश्चय करते हैं। उनकी प्रेमलीला का पता धीरे-धीरे उनके माता-पिता तथा निकट के संबंधियों को लग जाता है। माता-पिता पंचायत बुलाते हैं। पंचायत में लड़के तथा लड़की दोनों के माता-पिता आते हैं। पंचायत का निर्णय होता है कि या तो उनका विवाह किया जाये, अथवा वे भविष्य में आपस में गुप्त रूप से नहीं मिल सकेंगे। दोनों पक्षों के माता-पिता की सहमति से पंचायत विवाह सम्पन्न करने की घोषणा करती है। दोनों गाँवों के मुखिया एवं पंचायत के सदस्यों के समक्ष सिन्दूरदान होता है। इसके बाद लड़के अथवा उसके पिता को कुछ रुपये जुर्माना देना पड़ता है, जिससे पूरे गाँव वालों का भोज दिया जाता है।

10. तुन्की दिपिल बाप्ला

अत्यधिक गरीब व्यक्ति इस प्रकार के विवाह करते हैं। चूँकि रैबर प्रथा के अनुसार खर्च करने

के लिए उनके पास रुपये नहीं होते हैं। अतः वे इस प्रणाली को अपनाते हैं। इस प्रथा में किसी प्रकार का लेन-देन नहीं हाता है। वर अपने एक दो साथियों को लेकर कन्या के घर जाता है। कन्या एक छोटी सी टोकरी को अपने सिर पर रखकर वर के साथ उसके घर आती है। टोकरी में वही सामान होता है जो कि पिता के घर से उसे मिलता है, चाहे व निजी हो अथवा कुछ और हो। जब ये लोग लड़के के घर पहुँचते हैं तो लड़का, लड़की के माँग में सिन्दूर भरता है तथा विवाह सम्पन्न माना जाता है।

11. इतुत बाप्ला

इसे अपहरण विवाह भी कहा जा सकता है। यह तब किया जाता है जब लड़की अथवा लड़के के माता-पिता विवाह के इच्छुक लड़के-लड़की को विवाह की स्वीकृति नहीं देते हैं अथवा लड़के को यह शंका होती है कि वह जिस लड़की से विवाह करना चाहता है, शायद वह उसे स्वीकार नहीं करे। ऐसी स्थिति में लड़का इस बात की प्रतीक्षा करता है कि किसी मेले अथवा अन्य स्थान पर लड़की के माथे पर जबरदस्ती सिन्दूर लगा सके। ऐसा करने के बाद वह भाग कर अपने गाँव वापस आ जाता है। इसके बाद लड़की के रिश्तेदार लड़के के गाँव जाते है और गाँव के मुखिया, लड़के के परिवार की सम्पत्ति में से कुछ बकरियाँ माँगकर खाने की इच्छा प्रकट करते हैं साथ ही कन्या-मूल्य के रूप में दूगुना पैसा माँगते हैं। बहुधा इस प्रकार की स्वीकृति मिल जाती है। इस प्रकार का विवाह वैधानिक माना जाता है, तथापि यदि लड़की उस लड़के से विवाह करने से बिल्कुल इन्कार कर देती है, अथवा लड़की के माता-पिता विवाह नहीं चाहते हैं तो ऐसी स्थिति में तलाक दे दिया जाता है, क्योंकि ऐसी लड़की को विवाहित समझा जाता है, जिसका पुनः विवाह कुँवारी लड़की के रूप में नहीं हो सकता है।

12. निर्बोलोक बाप्ला

यह विवाह भी इतुत विवाह की ही भाँति है, परन्तु इसमें पहल लड़के के बजाय लड़की के द्वारा की जाती है। यदि कोई लड़की, लड़के के साथ विवाह कर सकने में असमर्थ होती है, जिसे वह चाहती है, अथवा लड़के की तरफ से इन्कार कर दिया जाता है तो ऐसी स्थिति में लड़की, एक बरतन में हँड़िया (Rice beer) लेकर लड़के के घर जाती है, तथा वहीं रहने की चेष्टा करती है। ऐसी स्थिति में लड़का अथवा उसके परिवार के सदस्य बल प्रयोग से उसे नहीं निकाल सकते हैं, अतः वे काफी मात्रा में लाल मिर्च अग्नि में डालते हैं, जिसके धुँए (खार) से लड़की का बैठना कठिन हो जाता है। लड़की के साथ गाली-गलौच व भद्दे शब्दों का प्रयोग भी किया जाता है, परन्तु उसे मारा-पीटा नहीं जाता। यदि लड़की वहीं बैठी रहती है तथा लाल मिर्च के धुँए को सहन कर लेती है तो उसकी जीत समझी जाती है। अन्ततः लड़का अथवा उसके माँ-बाप उस लड़की को स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाते हैं।

सामाजिक जीवन

संथाल जन जाति की 96.93 प्रतिशत आबादी गाँवों में निवास करती है। इस जनजाति के परिवार का स्वरूप पितृ सत्तात्मक, पितृ वंशीय तथा पितृस्थानीय है। पैतृक सम्पत्ति का पहला अधिकार पुत्रों का, फिर अविवाहित पुत्रियों का, तब पट्टीदारों का होता है। इनके बीच एकाकी तथा संयुक्त दोनों प्रकार के

परिवार देखने को मिलते हैं। पिता परिवार का मुखिया होता है। संथाल महिलाओं की दिन चर्याओं में नारी स्वतंत्रता की झलक दृष्टिगोचर होती है। संथाल महिलायें सरल तथा काफी परिश्रमी होती हैं। बच्चों का लालन पालन, भोजन बनाने, पानी लाने तथा कृषि तथा अन्य व्यवसायी कार्यो के सम्पादन में संथाल महिलाओं की अहम् भूमिका होती है। हाटों में वस्तुएँ बेचने तथा आवश्यक चीजों की खरीद्दारी करने में संथाल महिलाएँ काफी प्रवीण होती हैं।

गर्भवती स्त्री का इनके समाज में ख्याल रखा जाता है। उसके खाने-पीने पर अधिक ध्यान देते हैं। वह प्रसव तक शारीरिक काम करती रहती है। उसका पति भी बहुत सी रीतियों का पालन करता है। वह न तो किसी चीज को मारता है और न ऐसे स्थान पर जाता है, जहाँ किसी की मृत्यु हो।

संथाल अपने बच्चों से बड़ा प्रेम करते हैं। ये बच्चों को बहुत बड़ी सम्पत्ति समझते हैं। फिर भी लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को अधिक प्यार करते हैं। इसका कारण है कि पुत्र बुढ़ापे का सहारा होता है, किन्तु लड़कियाँ विवाह के बाद अपने पति के घर चली जाती हैं।

एक विवाह प्रथा प्रचलित है। परन्तु पति कभी-कभी परिस्थिति वश दूसरी पत्नी ला सकता है, जब पहली स्त्री से कोई सन्तान नहीं होती है, या पत्नी व्यभिचारिणी हो।

कन्या जब तक अविवाहित रहती है, अपने पिता की सम्पत्ति मानी जाती है तथा विवाह के समय उसे प्राप्त करने के लिए पोन (वधू-मूल्य) चुकाना पड़ता है। विवाह के बाद वह अपने पति की सम्पत्ति समझी जाती है।

पति की मृत्यु के बाद यदि जमीन का बँटवारा हो तो उसे भी दाय का एक भाग मिलता है। बँटवारा न होने पर पुत्रों के साथ सामूहिक रूप से पति की सम्पत्ति में हकदार बनती है।

विधवा अशुभ नहीं मानी जाती है वह शादी विवाह जैसे शुभ अवसरों पर भाग लेती है। जवान विधवा का तो पुनर्विवाह भी हो जाता है।

अंधविश्वास

परिवार में किसी की मृत्यु, बीमारी का कारण ये एक तो भूत प्रेत की नाराजगी समझते हैं। उन्हें बलि देकर खुश किया जाता है ताकि भविष्य में बाल-बच्चे पशुधन स्वस्थ रहें।

दूसरे यह समझते हैं कि किसी डाइन या ओझा का काम हैं। सोखा की मदद से डायन तथा ओझा का पता लगाकर उसे बेदम होने तक मारते हैं।

किसी विधवा स्त्री की सम्पत्ति हड़पने के लिए उसे डायन सिद्ध कर उसकी हत्या कर देते हैं।

तलाक

संथाल जनजाति में तलाक बहुत प्रचलित है। लड़का अथव लड़की में से कोई भी तलाक दे सकता है। तलाक के मुख्य कारण निम्न होते है—

1. चरित्रहीनता

2. एक-दूसरे के साथ रहने की अनिच्छा

3. एक-दूसरे के प्रति शंका की भावना

पुरुष अथवा स्त्री में से जो भी तलाक की इच्छा प्रकट करता है, उसे विवाह के खर्चे के रूप में एक दूसरे को हर्जाना देना पड़ता है। लेकिन पुरुष तलाक देना चाहता है, तो उसे कन्या मूल्य वापस लेने का अधिकार नहीं होता। यदि लड़की बिना खास कारण तलाक लेती है तो लड़की के पिता को कन्या-मूल्य वापस देना पड़ता है।

तलाक की विधि इस प्रकार है–

लड़का गाँव के लोगों के सम्मुख सूर्य की ओर मुँह करके एक पैर से खड़ा होता है। वह गले में एक कपड़ा लपेटे रहता है, जिसके दोनों सिरों पर साल वृक्ष की तीन-तीन पत्तियाँ बँधी रहती हैं। तब ''सिन-बाँग'' नाम पुकारते हुए वह इन तीन पत्तियों को फाड़ता है इन पत्तों को फाड़ना, तलाक की निशानी के रूप में माना जाता है। यह कार्य पत्नी भी करती है।

टैबू

स्त्रियाँ भैंसुर (जेठ), जेठसास का स्पर्श नहीं कर सकतीं। उनकी चारपाई पर भी नहीं बैठती हैं। संथाल महिलायें शिकार पूजा-अर्चना तथा पंचायत की कार्यवाहियों में भाग नहीं ले सकती है। इसी प्रकार हल जोतने, छप्पर छाने, मुखाग्नि देने में पाबन्दी होती है।

बिटलाहा

संथाल एक अन्तर्विवाही जनजाति है, जिसके बीच समगोत्रीय यौन संबंध निषिद्ध है। जब कभी कोई निषिद्ध यौन संबंध की मर्यादा का उल्लंघन करता है, तो वैसे अपराधियों को ''बिटलाहा' यानी जाति से अलग कर दिये जाने के प्रथागत कानून के अन्तर्गत दंडित किया जाता है। संथाल जन जाति में यौन संबंधी अपराधी सबसे अधिक दंडनीय माना जाता है। अनैतिक यौन संबंध को संथाल ईश्वरीय कोप मानते हैं। बिटलाहा द्वारा अपराधी को दंड देकर वे अपने देवताओं को प्रसन्न करते हैं, क्योंकि ईश्वरीय कोप से अकाल, अतिवृष्टि, महामारी इत्यादि फैलने का उन्हें, डर होता है।

पी. ओ. बोडिंग द्वारा प्रतिपादित संथाल के शब्दकोश में बिटलाहा का शाब्दिक अर्थ निर्वासित (out cast) बहिष्कृत (Excommunicate) विधि बहिष्कृत (out law) इत्यादि बतलाया गया है।

सामाजिक बहिष्कार की यह सजा अपराधियों को परम्परागत संथाल पंचायत के निर्देशानुसार निर्धारित की जाती है। किसी संथाल महिला के अपने ही गोत्र या निकट सम्बन्ध के किसी पुरुष या किसी गैर संथाल पुरुष के साथ यौन अपराध की सजा सुनिश्चित करने के लिए गाँव का माँझी (मुखिया) अपने सहयोगियों के साथ पारस्परिक विचार-विमर्श तथा जाँच पड़ताल कर बिटलाहा संबंधी सजा का निर्धारण करने के लिए अधिकृत होता है। यौन अपराध सिद्ध न होने की स्थिति में अफवाह फैलाने वालों को कड़ी सजा दिये जाने का भी प्रावधान है। बिटलाहा संबंधी-निर्णय लिए जाने के पहले यथासंभव यह प्रयास किया जाता है कि यह मामला आपसी सहमति से गाँव स्तर पर निपटा दिया जाये क्योंकि बिटलाहा करने पर अपराधी, उसके परिवार तथा संबंधियों, ग्रामवासियों को काफी कष्ट सहना पड़ता

है। बिटलाहा किये जाने वाले लोगों को पुन: समाज में शामिल किये जाने का भी प्रावधान (जातिजोम) है, वर्शते कि अपराधी क्षमा याचना कर एक बड़े भोज का आयोजन करने में सक्षम हो।

संथाल प्रथागत कानून के अन्तर्गत गैर-संथालों के साथ यौन अपराध के लिए सजा अपेक्षाकृत सबसे अधिक जटिल समस्या है। यह प्रक्रिया एक समुदाय का दूसरे समुदाय के प्रति जनाक्रोश का एक सर्वोत्तम उदाहरण है, जिसके अन्तर्गत संथाली मूल्यों के नकारात्मक के प्रति जनजातीय सामुदायिक भावना परिलक्षित होती है। गैर संथालों के साथ संथाली महिलाओं का यौन या वैवाहित संबंध संथाली एकात्मकता के लिए खतरे की स्थिति उन्पन्न कर सकता है। संथाल जनजाति के प्रसंग में यही डर संथाली संस्कृति के अन्तर्गत बिटलाहा जैसी प्रक्रिया के उद्‌भव तथा आरोपण के लिए जिम्मेवार है। संथालों के बीच यह मान्यता है कि यदि कोई संथाल महिला गैर-संथालों के साथ खाती-पीती है तो वह न केवल स्वयं को बल्कि सम्पूर्ण संथाल जनजाति को प्रदूषित करती है और यदि वह गैर-संथालों के साथ यौन संबंध रखती है तो अपने जनजातीय समुदाय को बिघटित करती है। यही कारण है कि ऐसी स्थिति में संलिप्त संथाल युवती तथा गैर-संथाल युवक को पकड़ कर पीटा जाता है, तथा ग्राम सभा में लाकर सजा दी जाती है।

निषिद्ध यौन संबंध की घटना प्रमाणित हो जाने की स्थिति में गाँव का माँझी पड़ोस से कम से क़म पाँच गाँवों के माँझियों के साथ विचार विमर्श कर बिटलाहा करने का निर्णय लेता है, जिसकी अन्तिम स्वीकृति परगनैत द्वारा की जाती है। बिटलाहा सुनिश्चित किये जाने के बाद गाँव का जोगमाँझाी या कोई एक अन्य व्यक्ति अपने साथ पत्तियाँ सहित एक साल की टहनी लेकर लगभग एक सप्ताह पहले निकटवर्ती जनजातीय हाट में जाता है। साल की टहनी में जितनी पत्तियाँ लगी होती हैं, बिटलाहा उतने दिनों के बाद किया जाता है। साल की टहनी की पत्तियों की गणना कर लोग बिटलाहा किस दिन किया जायेगा, इस बात का अनुमान लगा लेते हैं। कहीं-कहीं साल के टहनी के साथ-साथ नगाड़ा बजाकर बि़टलाहा की सूचना प्रचारित की जाती है। बिटलाहा की कारवाई के दौरान गाँव और पड़ोसी गाँव के माँझी तथा परगनैत के अलावे पड़ोसी गाँव के सभी नवयुवक तथा पुरुष शामिल होते हैं।

कालान्तर बिटलाहा की कार्यवाई के दौरान अनुमण्डलाधिकारी या किसी दंडाधिकारी को भी कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रतिनियुक्त किया जाने लगा। बिटलाहा के लिए निश्चित किये गये दिन को सुबह 8-9 बजे गाँव तथा पड़ोसी गाँव के नवयुवक तथा अन्य पुरुष सकवा (भैंस के सींग से निर्मित वाद्ययंत्र) बाँसुरी, ढोलक, नगाड़ा, तीर तथा धनुष के साथ गाँव के निकट खाली स्थान में एकत्रित होते हैं तथा अभियुक्त को समझा-बुझाकर बिटलाहा की प्रक्रिया को टालने की कोशिश करते है। अभियुक्त द्वारा नहीं मानने पर बिटलाहा संबंधी अन्तिम निर्णय लिए जाते हैं। इसके बाद उस गली के छोर पर जहाँ अभियुक्त का घर होता है, लोग एकत्रित होते हैं। इस भीड़ के द्वारा अभियुक्त के नाम तत्कालिक तौर पर अश्लील गीत रचे जाते हैं। ढोल तथा नगाड़े पर इस तरह के जोरदार थाप लगाये जाते हैं कि मीलों तक उसकी आवाज सुनाई पड़े। एकत्रित भीड़ में लोग अपने साथ तीर व धनुष लेकर ठहाका लगाते हुए तथा जोरों से नगाड़ा, ढोल व बांसुरी बजाते हुए तथा अश्लील गीत गाते हुए आगे बढ़ते हैं तथा गली के इस छोर से उस छोर तक दो-तीन बार चक्कर लगाते हैं इस अवसर पर संथाल दुगर नृत्य करते हैं। इस समय गाँव की महिलायें अपनी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए दूसरी

जगह चली जाती हैं। अपराधी के घर की गली में प्रवेश द्वार पर गाँव का माँझी (मुखिया), जो अपने हाथ में जल भरा लोटा लिए होता है उस को देखते ही लोग अश्लील गीत गाना बन्द कर देते हैं।

जब भीड़ अभियुक्त के घर में पहुँचती है, तो लोग अभियुक्त के घर के आँगन के प्रवेश द्वार पर एक जली हुई लकड़ी का टुकड़ा (मर जाने का प्रतीक), एक पुराना झाड़ू, तथा कुछ उपयोग किया हुआ जूठा पत्तल (देवता के भाग जाने का प्रतीक), बाँस के एक लम्बे लट्ठ में बाँध कर गाड़ देते हैं। भीड़ में शामिल लोग घर के अन्दर के चूल्हे, घड़े तथा अन्य चीजों को तोड़ डालते हैं। घर में रखे हुए अनाज को तितर बितर कर देते हैं। यहाँ तक कि कभी-कभी घर को भी तोड़ने का प्रयास करते है या तोड़ डालते हैं। भीड़ में शामिल लोग नग्न होकर उस घर को अपने मूत्र तथा शौच से अपवित्र कर देते हैं। समाज में बहिष्कृत अभियुक्त तथा उसके परिवार के सदस्यों को दूसरे लोगों के साथ उठने-बैठने, भोजन करने, कुएँ से पानी भरने तथा अन्य सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता है। उस परिवार के लोगों के साथ शादी-विवाह भी निषिद्ध कर दिया जाता है, तथा जो व्यक्ति उन्हें शरण देता है उसे भी जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इस तरह अभियुक्त का बहिष्कृत परिवार, सामाजिक रूप से मृत हो जाता हैं इस दौरान चूँकि बहिष्कृत परिवार के साथ-साथ गाँव के लोग भी काफी कष्ट महसूस करते हैं, इसलिए गाँव के लोग इस बहिष्कृत परिवार को इतना परेशान करते हैं, कि बहिष्कृत परिवार या तो गाँव छोड़कर अन्यत्र चला जाता है, जहाँ उसके विषय में कोई नहीं जानता या वह फिर समाज में पुनः शामिल होने का प्रयास करता है।

गैर संथालों के साथ यौन अपराध करने पर अभियुक्तों को संथाल जनजाति में पुनः प्रवेश नहीं दिया जाता है,इसलिए वे लोग गाँव छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं। उदाहरणार्थ— यदि कोई संथाल लड़की ने गैर संथाल लड़के से यौन संबंध स्थापित किया तो वह लड़की उस गैर संथाल के साथ गाँव से बाहर चली जाती है, किन्तु उसके परिवार के लोग उस लड़की को मृत मानकर लोगों को उसकी अन्त्येष्टि भोज देकर संथाल जन जाति में शामिल हो जाते हैं किन्तु अन्तर्जनजातीय निषिद्ध यौन अपराध करने वालों को, जो क्षमा याचना कर अपने समाज में पुनः शामिल होना चाहते हैं, उन्हें संथाल जनजाति के अन्तर्गत शामिल कर लिया जाता है। संथाल जनजाति के अन्तर्गत पुनः वापसी के लिए अभियुक्त गाँव के माँझी से निवेदन करता है। गाँव का माँझी जिले के परगना तथा बाद में बारह अन्य परगना को सूचित करता है। इस समारोह (जातिजोम) के लिए एक तिथि निश्चित की जाती है, तथा शामिल होने वाला व्यक्ति एक बड़े भोजन का आयोजन करता है। जब इस समारोह की तैयारी पूरी हो जाती है, तो बहिष्कृत व्यक्ति गाँव की गली के अंतिम छोर पर अपने गर्दन में एक कपड़ा लपेट कर, हाथ में जल भरा लोटा लेकर दयनीय स्थिति में निगाहें नीची कर खड़ा हो जाता है। सबसे अधिक श्रद्धेय परगना अपने सहयोगियों तथा गाँव के माँझी से कहता है— आयें! हमलोग इसे सान्त्वना दें। यह दया का पात्र है। फिर वह उस पश्चात्तापी पापी की ओर बढ़ता है, जो यह स्वीकार करता है कि उसने घोर पाप किया है, और अब उस पर दया दिखायी जाये। श्रद्धेय परगना उस अभियुक्त के हाथ से लोटा ले लेता है तथा सूर्य के समक्ष अपना सिर झुकाता है, तथा बहिष्कृत व्यक्ति से कहता है, चूँकि तुम अपना अपराध स्वीकार कर चुके हो, इसलिए हमलोग तुम्हें वापस ले लेते हैं। इसके बाद वह लोटा से थोड़ा जल लेकर अपना मुँह धोता है, तथा लोटे को अन्य व्यक्ति के बीच आगे बढ़ा देता है तथा सभी व्यक्ति उस लोटे के जल से अपना

मुँह धोते हैं। इसके बाद वे लोग गाँव में प्रवेश करते हैं तथा अभियुक्त के आँगन में जाते हैं, जहाँ अभियुक्त व्यक्तिगत तौर से परगनैतों तथा माँझियों के पैर धोता है। इसके बाद उन्हें पंक्तिबद्ध रूप से भोजन करने के लिए बैठाया जाता है। इनके सामने पत्तल रखे जाते हैं। प्रत्येक परगना तथा गाँव के माँझी के पत्तल पर पाँच-पाँच रुपये तथा अन्य माँझी के पत्तल में एक-एक रुपए रखे जाते हैं। फिर अभियुक्त स्वयं चावल तथा दाल लोगों के पत्तल पर परोसता है।

इस भोज के बाद वृद्ध परगनैत कहता है कि आज से इस आदमी को अपने समाज में पुनः ले लिया जाता है, तथा इसके सभी दोष धो दिये जाते हैं। आज से हम लोग इसके यहाँ हुक्का पानी पी सकते हैं तथा शादी विवाह कर सकते हैं। अब हम लोगों ने इसे छने हुए नदी तथा झरने के पानी की तरह स्वच्छ तथा परिशुद्ध बना दिया है। यदि आज से कोई इस विषय पर बातें करेगा, या इसे बुरा कहेगा, तो उसे हमलोग एक सौ रुपये का जुर्माना करेंगे तथा भोज लेंगे। इसके बाद वे लोग एक छोटा खड्‌ढा खोदते हैं, जिसमें गोबर का पिंड गाड़ते हैं जिसके ऊपर एक पत्थर रख दिया जाता है जो यह सूचित करता है कि मामला हमेशा के लिए दफना दिया गया है। इस प्रकार अभियुक्त पुनः संथाल जनजाति में शामिल कर दिया जाता है।

आर्चर (1984) ने अपनी पुस्तक ''ट्राइबल लॉ एण्ड जस्टिस'' में कई संथाल युवती तथा विवाहित महिलाओं के साथ गैर संथाली तथा मुस्लिम, हिन्दू युवक तथा विवाहित पुरुषों के साथ यौन संबंध का उदाहरण देते यह स्पष्ट किया है कि अब बिटलाहा सम्बन्धी सजा में काफी शिथिलता आयी है तथा सजा के स्वरूप काफी बदल गये हैं।

मनोरंजन

विपत्ति के दिनों को छोड़ कर एक संथाल बहुत-बहुत सुखमय जीवन विताता है। वह चाहे तो कृषि कार्य करता अथवा अपनी बाँसुरी बजाता अथवा लड़कियों के साथ नाचता अथवा शिकार खेलता है। शिकार खेलते समय वह अदम्य साहस का परिचय देता है। प्रत्येकवर्ष एक दिन शिकार का उत्सव मनाया जाता है, जिसमें गाँव के लोग भाग लेते हैं। जंगल में ये चक्रव्यूह बना लेते हैं। उनके साथ हँकवैया (हल्ला करने वाला) व्यक्ति होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ तीर-धनुष और कुल्हाड़ी लिए रहता है। हल्ला करने वाले लोग जोर से हल्ला करते हैं। कुत्ते भौंकने लगते हैं। सब शिकारी चिल्लाते हुए दौड़ते हैं। इस भंयकर आवाज को सुनकर जंगल के पशु-पक्षी भागने लगते हैं। इस के बाद तो भयभीत चिड़ियों को छड़ी या तीर से मारते हैं। हिरण, जंगली सूअर, जंगली मुरगे, खरगोश आदि मारे जाते हैं। परन्तु बाघ और भालू को नहीं मारते हैं।

इस प्रकार का शिकार चार अथवा पाँच दिनों तक चलता है। प्रत्येक दिन संथाल माँस पकाकर खाते और आनन्द मनाते हैं। जिस जानवर पर जिसका प्रहार होता है, वही उस जानवर का मालिक होता है। ये लोग तीर चलाने में भी बड़े कुशल होते हैं। इनके समाज में शिकार खेलना महत्वपूर्ण माना जाता है। यदि कोई पुरुष शिकार में भाग नहीं लेता है, तो लोग उसे ''स्त्री''कहकर पुकारते हैं। शिकार के अलावे संतालों को मछली मारने का भी बहुत शौक होता है।

आर्थिक जीवन

संथाल जनजाति का आर्थिक जीवन मुख्य रूप से कृषि पर आधारित है। कृषि मुख्य रूप से मौनसून पर निर्भर करती है। कुछ कृषि, कुओं, तालाबों तथा नदी-नालों की सहायता से भी की जाती है। धान इनकी मुख्य फसल है। धान के अलावे गेंहूँ, मकई, बाजरा कोदो, मडुवा, अरहर, सुतनी, कुलथी, घँघरा, सरसों, सुरगुजा, सब्जियाँ इत्यादि की खेती भी होती है। सिंचाई के साधनों का अभाव तथा कृषि में वैज्ञानिक प्रविधियों के उपयोग न किये जाने के कारण कृषि उत्पादन पर्याप्त नहीं होता। संथाल पशुपालन भी करते हैं जैसे— बैल, गाय, भैंस, भेड़, बकरी, मुर्गी, सूअर इत्यादि जो उनकी आय के पूरक स्रोत होते हैं। पहले वे गाय के दूध को दूहना वर्जित मानते थे, किन्तु अब वे धनोपार्जन के लिए दूध बेच भी लेते हैं।

संथाली लोग वनों से लघु वन पदार्थ जैसे-आम, जामुन, कटहल, शरीफा, केऊन्द, पियार इत्यादि के फल, महुआ के फूल, सेमल की रूई, कन्द-मूल, पत्तियाँ, जंगली साग, दतवन, शहद, ईंधन की लकड़ियाँ इत्यादि का भी संकलन कर स्थानीय हाटों में बेच कर अर्थोपार्जन करते हैं। जंगलों में यह जनजाति खरहे, चूहे, गीदड़, जंगली सूअर, जंगली पक्षियों इत्यादि का शिकार करती है। प्रायः बैशाख-जेठ माह में संथाल महिलायें साग तोड़ने व सीप, घोंघे चुनने के लिए खेतों, जंगलों तथा तालाबों में जाती हैं। सीप तथा घोघें के माँस बड़े चाव से खाये जाते हैं।

संथाल जन जाति नदी-नालों, झरनों, तालाबों तथा पानी से भरे खेतों में मछली भी पकड़ती है। प्रायः सायरा, टापा, जाल, गिरगिरा या हाथों से मछलियाँ पकड़ी जाती है। कभी-कभी किता, चारचो, कुमीर इत्यादि पौधों की छाल, फल या कन्द पानी में डालकर मथ दिया जाता है, जिससे मछलियाँ अधमरी से होकर पानी के ऊपर तैरने लगती हैं तथा आसानी से पकड़ में आ जाती है।

आजकल संथाल लोग परंपरागत ह्रास के कारण कल-कारखानों, खदानों, चाय बगानों, ईंटा-भट्ठों गृह, बाँध तथा सड़क निर्माण के कार्यो में, वृक्षारोपण इत्यादि क्षेत्रों में संलग्न देखे जाते हैं। गाँव में आजीविका के सीमित आयाम होने के कारण ये अपने गाँव से दूर अन्य राज्यों में जीविकोपार्जन के लिए जाते हैं। यद्यपि यह प्रवास प्रायः अस्थायी होता है, किन्तु कुछ लोग नियमित तथा मनोनुकूल रोजगार मिलने के कारण वहाँ स्थायी तौर से बस भी जाते है। रोजगार की तलाश में अपने गाँव से पलायन की दशा से संथालों की संस्कृति कुछ हद तक प्रभावित हुई है जिसके कारण उनके खान-पान, पहनावा तथा सामाजिक रस्म रिवाजों में परिवर्तन देखने को मिलते हैं।

सरकारी नौकरियों में अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था होने के कारण संथाली, नौकरी में शामिल किये गये हैं। कुछ संथाल विभिन्न कार्यालयों, कल-कारखानों, अस्पतालों तथा व्यवसायिक संस्थानों में काम किया करते हैं। कुछ लोग अपने निजी व्यापारिक धंधो में भी संगलग्न हैं।

कृषि के परंपरागत तरीके, कृषि में संरचनात्मक सुविधाओं का अभाव, सिंचाई कृषि-प्रशिक्षण, यातायात, विपणन तथा विस्तार सेवाओं की कमी, मानसून की अनिश्चितता, मिट्टी के अम्लीय संलक्षण, जंगलों का ह्रास, ऋण-ग्रस्तता, मद्यपान, असमान आर्थिक विकास बढ़ती जनसंख्या के कारण संथालों की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है।

सरकारी स्तर पर अनुसूचित जनजातियों के विकास के लिए चलाये जा रहे विभिन्न कल्याणकारी योजनाएँ जैसे-समकेतिक जनजातीय विकास योजना, वन विकास निगम, आदिवासी सहकारी विकास निगम, ट्राइसम योजना,समकेतिक बाल-विकास सेवा योजना, विशेष पशुधन उत्पादन कार्यक्रम इत्यादि से संथाल जनजाति के सदस्यों को अशिक्षा-रूढ़िवादिता, स्वस्थ नेतृत्व का अभाव, गुटबंदी इत्यादि के कारण समुचित लाभ नहीं मिल पाया है। संथाल परगना टेनसी एक्ट (पूरक अधिनियम 1947) के द्वारा इनकी भूमि हस्तांतरण की प्रक्रिया को रोकने में मदद मिली है।

राजनीतिक जीवन

संथाल जनजाति का परम्परागत राजनैतिक, जीवन काफी सुसंगठित तथा व्यवस्थित रहा है। प्रत्येक गाँव में एक ग्राम पंचायत होती है, जिसके माँझी, परमानिक जोग माँझी, जोग परमानिक तथा गौरैत सदस्य होते हैं। संथाल जन जाति में राजनीतिक संगठन इसी ग्राम-पंचायत से प्रारंभ होता है, जिसका प्रधान माँझी कहलाता है। माँझी का सहायक जोग माँझी कहलाता है। माँझी की अनुपस्थिति में ग्राम-परिषद की अध्यक्षता परमानिक करता है। परमानिक का सहायक जोग परमानिक कहलाता है। माँझी का कार्य विवाह संबंध स्थापित करने के लिए अनुमति देना तथा ग्राम पंचायत के द्वारा गाँव के निवासियों के झगड़े निपटारा करना है। जोग माँझी का प्रमुख कार्य अपनी जनजाति के लोगो के आचरण का ध्यान रखना एवं विवाह संबंधी समस्याओं को सुलझाना है। जन्म एवं विवाह के कार्य जोग माँझी की सलाह से ही सम्पन्न किये जाते हैं।

गाँव का पुजारी नायके कहलाता है जो धार्मिक अनुष्ठान तथा समारोह के सम्पादन के लिए उत्तरदायी होता है। नायके का सहायक कुदुम नायके कहलाता है जिसका कार्य जंगल तथा पहाड़ियों के भूत को प्रसन्न करना है।

गाँव का संवाद वाहक गौरैत कहलाता है, जिसका काम माँझी तथा परमानिक की आज्ञा का पालन करना एवं बैठक तथा उत्सव के अवसरों पर ग्रामवासियों को एकत्रित करना है।

परम्परागत ग्राम पंचायत के सभी उपर्युक्त पदाधिकारियों के कार्य जनजातीय व्यवस्था के अनुसार होते हैं। संथाल के ग्राम सरकार का स्वरूप लोकतांत्रिक होता है तथा गणतंत्रीय आधार पर कार्यों का सम्पादन किया जाता है। गाँव के परिवार विभाजन, सम्पत्ति का बँटवारा, विवाह-विवाद, तलाक, अत्याचार, कन्या अपहरण, जमीन विवाद, निषिद्ध यौन संबंध, भूत या डाईन का विवाद, पालतू पशुओं से फलों की रक्षा इत्यादि संबंधी विवाद परम्परागत ग्राम-पंचायत में रखे जाते हैं, जिनका फैसला माँझी के नेतृत्व में ग्राम परिषद सभा द्वारा किया जाता है। ग्राम पंचायत के सभी पदधिकारियों का चुनाव प्रथागत रूप से गाँव की स्थापना के समय किया गया था, तथा इसके बाद ये सभी पद वंशानुगत रूप से पिता के बड़े पुत्र को प्राप्त होने लगे। यदि ग्राम पंचायत का कोई पदाधिकारी अयोग्य तथा स्वार्थी होता है तो गाँव के किसी दूसरे योग्य व्यक्ति को उसके स्थान पर चुना जाता है। पहले माँझी, जोग माँझी तथा नायके को लगान मुक्त जमीन दी जाती थी।

प्रत्येक संथाली गाँव के राजनीतिक संगठन ''परगना'' की एक ईकाई होती है। प्रायः दस-बारह गाँवों को मिलाकर एक परगना होता है। परगना के प्रधान का चुनाव ग्राम-पंचायत के माँझियों द्वारा होती

है, जिनसे ''परगनैत'' कहा जाता है। परगनैत का एक सहायक होता है जो देश माँझी कहलाता है। देश माँझी संदेश वाहकों की नियुक्ति करता है, जिये चाकलादार कहा जाता है। परगना में शामिल सभी गाँव का माँझी, परगनैत परिषद के सदस्य होते है। परगनैत परिषद में ग्राम के भीतर के झगड़ों का निपटारा किया जाता है। परगनैत ही, परगनैत परिषद् की अध्यक्षता करता है तथा दोषी व्यक्ति को सजा देता है। दोषी व्यक्ति पर लगाये गये जुर्माने में से कुछ हिस्सा परगनैत को भी मिलता है। परगनैत अपने क्षेत्र के सभी गाँवों के सामाजिक कार्यो का संरक्षक होता है। इसकी अनुमति के बिना कोई विवाह सम्पादित नहीं कर सकता है। बिटाहा जैसी सामाजिक बहिष्कार की प्रक्रिया को सुनिश्चित करने में परगनैत की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

संथाल जनजाति में सेन्दरा जैसी (शिकार परिषद) की भी परम्परा है, जिसके प्रधान को दिहरी कहा जाता है। ''सेन्दरा बैसी'' को संथालों का उच्च न्यायालय भी माना जाता रहा है, जिसके अन्तर्गत माँझियों तथा परगनैतों के फैसलों की अपीलें की जाती थीं, जिसकी बैठक वर्ष में एक बार शिकार के समय आयोजित की जाती थी।

आगे चलकर संथाल जनजाति के परम्परागत राजनैतिक संगठन में काफी परिवर्तन आया है। मुगलकाल तथा अंग्रेजी शासन के दौरान जमींदारी प्रथा के कारण संथालों की परम्परागत राजनीति संगठन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी शासकों ने कड़ा प्रशासन लागू करने तथा ज्यादा से ज्यादा कर की वसूली करने के लिए संथालों की स्वायत्त शासन व्यवस्था में परिवर्तन के कार्य क्षेत्रों में अंग्रेजी शासन दखल देने लगी। बिटलाहा के अवसर पर कानून व्यवस्था बनाये रखने के लिए दंडधिकारी प्रतिनियुक्त किये जाने लगे।

ईसाई धर्म के प्रचार के परिणामस्वरूप भी संथाल जनजाति के परंपरागत राजनैतिक संगठन के विघटन को बल मिला।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद पंचायती राज्य व्यवस्थ्या लागू किये जाने के कारण संथाल के गाँवों में वैधानिक पंचायतों की स्थापना की गई, जिसके तहत बहुमत के आधार पर मुखिया तथा सरपंच का चुनाव किया जाने लगा। इसके फलस्वरूप भी संथाल जनजाति की परम्परागत राजनैतिक संगठन में ह्रास के लक्षण उत्पन्न हुए। लोकतांत्रिक प्रक्रिया तथा शिक्षा के प्रचार के कारण अब संथाल जनजाति के परम्परागत शक्ति संरचना में प्रदत्त परिस्थिति के स्थान पर अर्जित परिस्थिति की महत्ता बढ़ने लगी। वैधानिक न्यायालयों की स्थापना के कारण संथाल जाति के परम्परागत पंचायतों का स्वरूप कमजोर पड़ने लगा है, किन्तु राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में वे परम्परागत पंचायतें जनजाति के आधार पर संगठित होने के कारण वर्तमान समय में भी चुनावी शक्ति का प्रमुख स्रोत बनी हुई हैं। लोकसभा तथा विधानसभा के चुनाव के अवसरों पर आज भी संथाल जनजाति के राजनीतिक संगठनों का महत्त्व बढ़ जाता है।

लव वीर

लव वीर संथाल समुदाय की सर्वोच्च न्यायिक संस्था है। यह भी पूरे संथाल समुदाय के द्वारा जरूरत पड़ने पर आयोजन किया जाता है, जिसमें पूरे समुद्राय के पूरे दिशुम परगना के अन्तर्गत प्रत्येक

संताल परिवार के पुरुष सदस्य अपने पारंपरिक हथियारों तीर-धनुष, गंडों, फरसा, कुल्हाड़ी, वल्लम, वर्छी के साथ अपने गाँव से दूसरे जंगल में प्रवास करने के लिए निकल पड़ते हैं, इसे पूर्व ''लव'' एक प्रकार के जंगली लतर के पत्ती को घर-घर परगनैतों के निर्देश से घुमा कर आयोजन की जानकारी दी जाती है, साथ ही साथ यह भी बताया जाता है कि यह आयोजन किस-किस समस्या विशेष के समाधान हेतु किया गया है। जिस व्यक्ति विशेष या गाँव या व्यक्तियों के माामले को लेकर किया गया है, उसे पहले ही खबर दी जाती है कि अमुक दिन उसे या उन्हें अनिवार्य रूप से उपस्थिति होना है।

मामले संबंधित व्यक्ति या व्यक्तियों की उपस्थिति सुनिश्चित करने के लिए उस गाँव के माँझी-हड़ाम तथा उस परगना के परगनैत को जिम्मेदारी दी जाती है। उस गाँव के नायके को भी इस अवसर पर उपस्थित होना अनिवार्य होता है। मामलों की संख्या या गंभीरता को देखते हुए तीन से पाँच दिनों का समय सुनिश्चित किया जाता है। निश्चित दिनों तक जंगल प्रवास करने के दरम्यान मामलों की सुनवाई की जाती है, और दो पक्षों के बीच के सभी तथ्यों और सच्चाई की गंभीर जाँच पड़ताल की जाती है, और बिना किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित हो न्याय-प्रदान किया जाता है। यह फैसला लव वीर के दरम्यान सर्वसम्मत निर्णय होता है। यदि कोई व्यक्ति पूरे समुदाय के सर्वसम्मत निर्णय को अस्वीकार करता है, तो उसे मृत्युदंड तक की सजा दी जा सकती है। लेकिन इसके पहले संताली रीति-रिवाज के अनुसार वादी, प्रतिवादी व्यक्तियों को आयोजन स्थल के तालाब, झरना, स्रोता या नाले के नहाने के लिए भेजा जाता है। नहाकर आने के बाद नायके के द्वारा संताली इष्ट देवताओं और देवियों का आह्वान करने के बाद उसे उन दोनों व्यक्तियों पर सवार कराया जाता है, और संताल हथियार को भी अभिमंत्रित करके उसे दोनों व्यक्तियों को अपने माथे पर सटाते हुए अपनी गलती स्वीकार करने या अपने आप सच्चाई बयान करने को कहा जाता है। जो व्यक्ति सचाई की जगह झूठ बोलता है तो दैवी शक्ति के प्रकोप से या तो मृत्यु हो जाती है, या जैसा होने के लिए या कहने के लिए नायके कहता है कि ''यदि मैं झूठ बयान कर रहा हूँ तो मेरी दोनों आँखें अंधी हो जाये, या घर वापस होते हुए मेरी मृत्यु हो जायें, तो वे दोनों ही उस बात को दुहराते हैं, यह अनोखा तरीका है, जिससे पूरे समुदाय के सामने दैवी शक्ति से सच्चाई का पता चल जाता है और उसे स्वयं सजा मिल जाती है।

यदि इस विधि से भी फैसला नही होता है और तथ्यों के जाँच पड़ताल से यह पता चल जाता है कि अमुक व्यक्ति ही दोषी है तो उसे दोष स्वीकार करने के लिए कहा जाता है। यदि वह फिर भी इन्कार करता है तो सर्वसम्मति से मौत की सजा सुना दी जाती है और उस दोषी व्यक्ति को जंगल में ही दफनाने के बाद पूरा समुदाय जंगलों में आखेट करता हुआ अपने घर लौट जाता है।

मृत्यु संस्कार

संथाल जनजाति में मरणोपरांत शव संस्कार, अस्थि प्रवाह तथा श्राद्ध की रस्में पूरी की जाती हैं। प्रायः शव को जलाते हैं, कहीं-कहीं गाड़ते भी हैं। मृतक की निजी उपयोग में लायी जाने वाली वस्तुएँ जैसे– बरतन, धनुष, वाण, लाठी, वाद्ययन्त्र, कपड़े शव के साथ ही रखी जाती हैं। संथालों का यह विश्वास है कि मृत व्यक्ति की आत्मा मायामयी दुनिया में चली जाती है, जहाँ उसे इस दुनिया की वस्तुओं की आवश्यकता होती है। लाश को चारपाई में रखकर साथ में एक मुर्गी के बच्चे, हल्दी, छप्पर का

पुवाल, अनाज के लावा के साथ नये कफन में ढँककर मृतक के रिश्तेदार उसे घर से बाहर ढोकर निकालते हैं। चौराहे पर पहुँचकर भूना हुआ अनाज का लावा और कपास के बीच फेंके जाते हैं, कि दुष्टात्माएँ अनुष्ठान में बाधा उत्पन्न न करें। वे जलाशय अथवा नदी के निकट बनी हुई चिता पर लाश को रख देते हैं।

जलाते समय चिता उत्तर दक्षिण की ओर बनायी जाती है। मृतक का सिर दक्षिण की ओर रखा जाता है। शव को चिता में रखने के बाद चिता की खूँटी पर मुर्गी के बच्चे की बलि चढ़ाई जाती है। मृतक का प्रथम उत्तराधिकारी उसके मुँह में अग्नि देता है। मुखाग्नि देने का अधिकार मृतक के क्रमशः पुत्र, पौत्र, भ्राता, भतीजा और चाचा को है। महिलायें मुखाग्नि नहीं दे सकतीं। मुखाग्नि देने के बाद मृतक के उपस्थित पट्टीदारों में सभी एक-एक लकड़ी चिता पर डालते हैं। यदि दफना रहे हों तो एक-एक मुट्ठी मिट्टी डालते हैं। फिर चिता प्रज्वलित कर दी जाती है या कब्र को भर दिया जाता है। जलने के बाद खोपड़ी की हड्डियों को रखते हैं। सन्ध्या समय राख के पास एक व्यक्ति सूप के साथ बैठता है। सूप में धान को तब तक उछालता है, जब तक एक छाया आकर उसे न पकड़ ले। छाया पकड़ने पर वह भूत से आविष्ट हो जाता है और अनोखी बातें करने लगता है।

मृतक के रिश्तेदार पाँच दिनों तक अशुद्ध रहते हैं। छठे दिन में अपनी दाढ़ी बना कर स्नान करते हैं। फिर मृतक के घर आत्मा, पितर तथा मरंग बुरू के नाम तीन व्यक्ति मृतक के घर झूमते हैं। लोग उनसे मृतक की मौत का कारण पूछते हैं तथा भविष्य की विघ्न बाधाओं से मुक्ति पाने के लिए आग्रह करते हैं। शाम को छोटे स्तर के भोज का आयोजन होता है। इस अवसर पर एक मुर्गे की बलि दी जाती है तथा बिना नमक की खिचड़ी पकायी जाती है। मृतात्मा को भी खिचड़ी का भोग चढ़ाया जाता है।

इतनी विधियों के बाद एक दिन एक निकट संबंधी हड्डियों को दामोदर नदी ले जाता है। टोकरी में मृतक के पवित्र अवशेष को सिर में ढोकर नदी में प्रवेश करता है। जहाँ नदी की तेज धारा हो, वहाँ डूब कर टोकरी सहित हड्डियों को पानी के हवाले कर देता है, जिससे पानी हड्डियों को महासागर तक पहुँचा दे, जो संथाल जनजाति का विश्राम स्थल है (दे. पृ० 688)।

भाण्डान (श्राद्ध) मृतात्मा का अंतिम संस्कार माना जाता है। जब तक भाण्डान नहीं होता, तब परिवार और 3 गाँव में अशुद्धता मानी जाती है। इस बीच परिवार के सदस्य किसी सामाजिक या धार्मिक समारोह में हिस्सा नहीं लेते हैं। वे न तो सिन्दूर का प्रयोग करते हैं न किसी देवता को हँड़िया का अर्पण करते हैं। भाण्डान के लिए कोई निश्चित तिथि नहीं होती है। भाण्डान के अवसर पर मृतात्मा का श्राद्ध तथा कुटुम्ब लोगों को भोज दिया जाता है। इस अवसर पर बकरे की बलि दी जाती है। भाण्डान का भोज रात्रि को दिया जाता है। लोग हँड़िया पीकर नाचते गाते हैं। भाण्डान का भोज संथाल समाज द्वारा अशुद्धता से मृतक के परिवार वालों की मुक्ति की स्वीकृति मानी जाती है।

IV. हो जनजाति

सिंहभूम जिले के अन्तर्गत ''हो'' जनजाति का निवास स्थान है। अन्य आदिवासियों जैसे-संताल, उराँव एवं मुंडा के बाद ''हो'' का स्थान आता है। ''हो'' मुंडा ही हैं। ये मुंडाओं के समान

पहले नागपुर में रहते थे। मुंडाओं की भाषा एवं सांस्कृतिक समानताएँ पायी जाती हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि ये दोनों ही शताब्दी पूर्व एक दूसरे से अलग हुई हैं। पिर भी कोल्हान में ''हो'' की व्यापकता, उनके सांस्कृतिक जीवन में परिवर्तन के स्पष्ट अधिकार की प्रथा ''मुंडा'' और ''हो'' में एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न है।

हो जाति कद का छोटा, सीना गहरा, नाक चिपटी और चमड़े का रंग काला होता है। उनकी आँखें छोटी पर काली होती हैं। उनके बाल लहरदार से घुँघराले तक होते हैं। दाढ़ी और मूँछें लुप्त प्रायः ही रहती हैं। इनके ओंठ मध्यम आकार तथा दाँत बहुत स्वच्छ और स्वस्थ होते हैं। ये प्रधानतः कृषक होते हैं। भोजन के लिए कभी-कभी जंगल पर इन्हें आश्रित होना पड़ता है, जहाँ से फल-फूल, कंद मूल, पत्ते लकड़ी एवं शिकार आदि प्राप्त होते हैं। अब ये खदानों एवं कारखानों में भी मजदूरी का काम करते हैं। आजकल इस औद्योगिक युग में भी हो जनजातियों का मुख्य पेशा औद्योगिक मजदूरी हो गया है।

धर्म

हो न तो अपने देवताओं की मूर्ति बनाते और न प्रतीक की पूजा करते हैं। उनका विश्वास है कि देवताओं को इन आँखों से नहीं देख सकते हैं। परन्तु पूजा से संतुष्ट होकर देवता ''ऊँची जगहों और वृक्षों के झुंडों में निवास करते हैं। ऊँची जगह तो कोई विशाल चट्टान हो सकती है, जहाँ से मनुष्य कुछ भी अपने लिए नहीं लेता है। झुंड, मूल जंगल का टुकड़ा होता है, जहाँ के वृक्ष की वर्षों पहले से देखभाल की जाती है, यहाँ तक कि जब सब से पहले जंगल साफ किये जा रहे हैं, उस समय भी इन वृक्षों को छोड़ा गया है। अभी भी यदि पवित्र झुंड (झरिया या सरना) के वृक्ष काटे जाते हैं, तो वहाँ रहने वाले देवता नाराज होकर मौनसून वृष्टि को रोक देते हैं।

''हो'' कबील में मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में निम्नलिखित कथा प्रचलित है– ''ओटाबोरम'' और सिंग-बोंगा का जन्म अपने-आप हुआ। उन्होंने पृथ्वी पर घास और पेड़-पौधे उपजाये। उसके बाद उन लोगों ने पशुओं का निर्माण किया। अन्त में एक लड़का और एक लड़की बनाई गई, जिससे पृथ्वी पर जनसंख्या बढ़ सके। किन्तु जब ''सिंग-बोंगा'' ने देखा कि उनमें एक दूसरे के साथ यौन संबंध नहीं हो रहा तो उसने ''इली'' (चावल की शराब, हँडिया) बनाई जिससे उन्हें नशा आये और यौन संबंध हो सके। ''सिंग-बोंगा'' ने पहले पैदा होने वाले जोड़े से पूछा कि वे सब से अधिक कौन सा पशु पसन्द करते हैं। उन लोगों ने अपने लिए भैंस और गाय पसंद की। इन्हीं लोगों की संतान ब्राह्मण और क्षत्रिय है। दूसरे जोड़े ने बकरी और मछली को पसन्द किया और उनसे शूद्र जाति के लोग उपन्न हुए। दो जोड़ों ने सूअर पसन्द किया और कबीले के लोग पैदा हुए।

इसी कथा को दूसरे रूप में इस प्रकार कहा गया है– सिंग-बोंगा आप ही पैदा हुए। उन्होंने पृथ्वी बनाई। फिर इसमें पेड़-पौधे, पक्षियों और भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं को बनाया। इनके अतिरिक्त नदियों और पहाड़ों को भी बनाया, मनुष्य का एक जोड़ा एक हंस के अंडे से पैदा हुआ। ये संसार में सब से पहले मनुष्य थे। लेकिन ये लोग अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सके। सिंग-बोंगा ने क्रोध में आकर सब लोगों को जला डाला, किन्तु बाद में बहुत पछताये। उन्होंने छोटे देवताओं से प्रार्थना

करके एक जोड़ा मनुष्य प्राप्त किया। ''सिंग-बोंगा'' ने इन्ही दोनों से पृथ्वी बसायी। किन्तु ये दोनों सगे भाई-बहन थे, इसलिए इनमें लिंग-संबंध असंभव था, ''सिंग-बोंगा'' ने उनके पीने के लिए हँड़िया बनाया। इस प्रकार ''हो'' कबीला फला-फूला।

''हो'' लोग अपने देवताओं को बोंगा कहते हैं। इनका सब से बड़ा देवता ''सिंग-बोंगा'' है, जिसने सम्पूर्ण संसार का निर्माण किया।

नागा बोंगा, जल की देवी हैं और सिंग-बोंगा की पत्नी भी। इनके अतिरिक्त दिसौली, मराँग, बोंगा, ''हाटू'' आदि इनके दूसरे देवता हैं। इनके अनुसार ''बोंगा एक ऐसी महान् शक्ति है, जो सभी वस्तुओं को जीवन देती है, या मार सकती है। यह शक्ति विभिन्न रूपों में उपस्थित हो सकती है। इसी कारण कभी आँधी, कभी बाढ़, कभी अकाल के प्रकोप होते हैं। संसार में मनुष्य को सुख या दुःख देने वाला यही ''बोंगा'' है।

सृष्टिकर्ता और पालनकर्ता सिंगबोंगा सूर्य के रूप में पूजित होता है प्रार्थना और पूजा द्वारा वह खुश हो जाता है। वह अपनी सृष्टि को प्यार करता है परन्तु उद्दंड बच्चों को सजा भी देता है। सिंगबोंगा ने चन्द्रमा विवाह किया, परन्तु चन्द्रमा ने उसे धोखा दिया, इसलिए सिंगबोंगा ने उसे दो टुकड़ों में काट दिया अपने क्रोध को शान्त करते हुए महीने के आधे भाग में पूर्ण सुन्दरता में चमकने दिया। तारे उसके बच्चे हैं सूर्य को सर्वोच्च देवता मानना ही हो और अन्य जनजातियों के धर्म का मूल सिद्धान्त है।

वह मनुष्यों को बीमारी अथवा विपत्ति नहीं देता है, परन्तु जब छोटे-छोटे देवता विपत्ति दूर नहीं कर सके तो सिंगबोंगा के पास प्रार्थना की जाती है। ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक परिवार के मुख्य को अपने जीवन भर, प्रत्येक वर्ष सिंगबोंगा की पूजा करनी पड़ती है। परन्तु हो जनजाति में यह प्रथा अब लुप्त हो रही है।

दूसरे देवी देवता सिंगबोंगा के अधीन समझे जाते हैं। यद्यपि वे अलौकिक शक्तियाँ धारण करते है, फिर भी उनके भक्त किसी विपत्ति को दूर करने के लिए उन्हें पुकारते हैं, तो उन्हें सिंगबोंगा से अनुनय कर शक्ति प्राप्त करनी पड़ती है।

चनाला देसुम बोंगा और उसकी पत्नी पंगोरा हो जनजाति के छोटे देवता माने जाते हैं। किन्तु ये सब तरीके हैं, जिनके द्वारा सिंगबोंगा और उनकी पत्नी चन्दो ओमोल चाहते हैं कि स्त्री भक्त उनकी पूजा करें। चनाला, स्त्रियों के लिए है, और सिंगाबोगा पुरुषों के लिए है।

हो जनजातियों का विश्वास है कि प्रारंम्भ में सिंगबोंगा की सेवा करने के लिए आदमी रहते थे। एक बार उन्होंने दर्पण में अपना रूप देखकर कहा—''हम लोग तो रूप में ईश्वर के समान हैं, तो हम क्यों सिंगबोंगा की सेवा करें। हमलोग सिंगबोंगा के बराबर हैं।'' उनकी मनोवृत्ति को जानकर सिंगबोंगा ने उन्हें धक्का देकर स्वर्ग से नीचे धकेल दिया। जिस स्थान में वे गिरे वह स्थान ''टेरासी पिरही एकासीबिडि'' कहलाता है। उस स्थान में कच्चा लोहा बहुतायत से मिलता था। उन्होंने सात भट्ठी बनाकर उसमें लोहा गलाना शुरू किया। उसमें से निकलने वाली आग ने घास और वृक्ष को जला दिया। इसी प्रकार धुँआ और चिनगारी स्वर्ग की ओर उठने लगी। इससे सिंगबोंगा विचलित हो गये, इसलिए उन्होंने उन्हें आज्ञा दी, कि यदि वे दिन का काम करते हैं तो रात को आराम करें, और रात को काम करें तो

दिन को आराम करें। लेकिन उन्होंने नहीं सुना। सिंगबोंगा ने दो कौवों और उल्लू को उन्हें समझाने भेजा। परन्तु अपने भट्ठी के चिमटों से उन्होंने चिड़ियों को पकड़ना चाहा और पक्षियों के पंख झुलस गये। सिंगबोंगा ने पुनः एक कौवा और एक लिपि (चिड़िया विशेष) को भेजा। सिंगबोंगा ने जब कौवों को भेजा तो उस समय रंग सफेद था, परन्तु धुँए से काले हो गये। उन्होंने लिपि को लाल बना दिया और सिर को चौड़ा किया, इतना होने पर भी उन्होंने सिंगबोंगा का कहना नहीं सुना। सिंगबोंगा ने दूसरा संवादवाहक भेजा, परन्तु सफलता नहीं मिली। तब सिंगबोंगा खुद आये और लुटकुम हरय और लुटकुम बूढ़ी के यहाँ रहने लगे जो काठकोयला बनाते थे। सिंगबोंगा गुप्त रूप से उनके पास रहकर लोहा गलाने वाले के बच्चों के साथ खेलते थे। एक दिन बूढ़ा अपनी पत्नी के साथ कोयला बनाने के लिए जंगल लकड़ी लाने गया। उसने सिंगबोंगा से कहा—''झोपड़ी और उसके बाहर सूखते हुए धान का पहरा करना।'' परन्तु सिंगबोंगा खेलने में सब कुछ भूल गया और चिड़ियों ने सब धान चुग लिया, बहुत थोड़ा धान ही बाकी रहा। जंगल से लौटने पर बूढ़ा-बूढ़ी अनाज नहीं देखकर विलाप करने लगे। सिंगबोंगा ने उन्हें दिलासा दिया और थोड़े बचे हुए धान से ही सभी घड़ों को भर दिया। वृद्ध को लगा कि घटे धान की पूर्ति के लिए इसने चोरी की है, और सिंगबोंगा को गाली देने लगे। पर सिंगबोंगा ने उत्तर दिया—''नहीं, ईश्वर ने यह सब दिया है।''

गलाने वालों की भट्ठी लगातार गिरने लगी। गलाने वालों ने एक ओझा बुलाकर कारण जानना चाहा। ओझा किसी का नाम नहीं बता पाया तो, सूप में धान रखकर देखने पर सिंगबोंगा दिखाई पड़ा। उन्होंने सिंगबोंगा से ही पूछा कि क्या करना चाहिये। सिंगबोंगा ने नरबलि की माँग की, परन्तु उन्हें कोई मनुष्य नहीं मिला। इस पर सिंगबोंगा ने स्वयं बलि होना स्वीकार किया। सिंगबोंगा के निर्देशानुसार उन्होंने नयी भट्ठी बनायी और लोहे के बदले सिंगबोंगा को ही भट्ठी में डाल दिया, और धौकनी फूँका। भट्ठी में अधिक ताप आ जाने पर उन्होंने पानी छिड़का। सिंगबोंगा नहीं जले थे, परन्तु भट्ठी से सोना और चाँदी का झरना निकलने लगा। बहुमूल्य पत्थर सूर्य की तरह चमक रहे थे। सिंगबोंगा ने कहा- देखो तो एक आदमी ने क्या कर दिया। यदि तुमलोक भट्ठी में घुस जाओगे तो तुम्हें अधिक धन मिलेगा। वे पिघल जाने को तैयार हो गये। धन के लोभ में वे भट्ठी में घुस गये और बन्द कर दिये गये। सिंगबोंगा ने उनकी पत्नियों को धौंकनी फूँकने के लिए कहा। आग की गर्मी से जब वे झुलसने लगे, तो चिल्लाना शुरू किया। इसे सुन कर उनकी पत्नियाँ थोड़ी देर के लिए रुक गईं। इस पर सिंगबोंगा ने कहा—''और जोर से धौंकनी फूँको, वे प्राप्त सोना-चाँदी के लिए झगड़ रहे हैं। इस प्रकार सिंगबोंगा ने उन सब को नष्ट कर दिया। पत्नियों ने सिंगबोंगा से कहा—''आपने हमारे पतियों को मार डाला, हमें अब क्या करना चाहिये।'' सिंगबोंगा ने प्रत्येक स्त्री के लिए एक स्थान दिया। ये ही स्त्रियाँ और उनके पति छोटे भूत बन गये। किसी का चट्टान, किसी का वृक्षों का झुंड, किसी का पुल, किसी का नदी निवास स्थान बना। इस प्रकार पर्वतों के मरंग बुरू अथवा बुरू बोंगा, वृक्ष के झुंडों के देसौली और नदियों के नगा-इराओं की उत्पत्ति हुई।

मरंग बुरू या बुरू बोंगा

सिंगबोंगा के बाद इस पर्वतीय देवता का नम्बर आता है। यह देवता अथवा भूत विशिष्ट अथवा सबसे ऊँची पहाड़ी या चट्टान में रहता है। यदि पहाड़ी में लकड़ियाँ या हों तो 'हो' जनजाति का विश्वास है कि वर्षा अवश्य होगी, और बुरू बोंगा ही स्वर्गिक पानी विभाग में है इसीलिए बुरू बोंगा का विशेष

ख्याल करते हैं। प्रत्येक तीन वर्षों में कुछ स्थानों में बुरू बोंगा को खुश रखने के लिए भैंसे और प्रत्येक वर्ष बकरे और मुर्गे दिये जाते है। बीमारी को दूर करने के लिए इस देवता का आह्वान किया जाता है।

प्रत्येक गाँव के समीप वृक्षों का झुंड होता है। जब पुरखे जंगल को काटकर खेती कर रहे थे, तो उन्होंने कुछ वृक्षों को नहीं काटा ये ही वृक्ष समूह स्थानीय भूतों अथवा आत्माओं के निवास स्थान बन गये। इसी वृक्षों के झुंड में गाँव के उपकारी देवता देसौली, और उसकी पत्नी, "झार एरा" अथवा "मा बुरू" अपने भक्तों की माँग पूरी करने के लिए निवास करते हैं। प्रत्येक गाँव में देसौली होता है। उसका अधिकार गाँव के घेरे के बाहर नहीं जाता है, जिस गाँव के दायरे में वृक्ष के झुंड आते हैं वहीं उसका क्षेत्र होता है। यदि कोई मनुष्य दूसरे गाँव में हल चलाने जाता है तो वह दोनों गाँवों के देसौली की पूजा करता है। ये देवता कृषकों के धान की रक्षा करते हैं। इसीलिए प्रत्येक कृषि त्योहार में इसकी विशेष पूजा की जाती है। बीमारी में भी इन देवताओं की पूजा की जाती है।

नैदस, "नगा इरा"

इनका निवास स्थान तालाब, कुएँ और किसी तरह के स्थिर पानी में रहता है। मुंडा इन्हें 'इखिर बोंगा" कहते हैं। दूसरे "गड़हा इरा," ये नदियों की देवी हैं। ये "नगा इरा" और "गड़हा इरा" लोगों के बीच बीमारी फैलाते हैं। बलि से शान्त होकर अपने लोगों से रोग दूर करते हैं। पुरखों की आत्माएँ भी हैं, जो अपने वंशजों की भलाई या हानि करने के लिए मँडराती रहती हैं। इनको भी बलि देकर खुश किया जाता है। इसके अलावे प्रतिदिन पकाये जोने वाले भोजन में से कुछ हिस्सा उन आत्माओं के लिए अलग रखा जाता । पूर्वज कुल देवता होते हैं और "हम हो" कहलाते हैं।

मृत पूर्वजों की पत्नियों को "होरातन हो" कहते हैं। इसका कारण है कि उनको "होरा" (पथ) में बलि दी जाती है। होरा अर्थ रास्ता, जिसमें होकर बूढ़ी औरतें घर में वधू बनकर आयी थीं

किस प्रेतात्मा ने बीमारी भेजी है, इसे शकुन द्वारा पता लगाते हैं। अनेक तरह के शकुनों का प्रयोग होता है। सामान्य शकुन विचारने की विधि इस प्रकार है— किसी आत्मा का नाम लेकर पानी से भरे पात्र में तेल की कुछ बूदें गिराने पर यदि बूँद गोल बन जाये तो समझा जाता है कि उचित प्रेतात्मा का पता लग गया। यदि तेल, पानी में फैल जाये, तो समझा जाता है कि उचित देवता का आह्वान नहीं हो रहा है। वे और दूसरी आत्मा का नाम लेकर फिर पानी के पात्र में तेल की कुछ बूँदे गिराते हैं। शकुन विचारने वाला पेशेवर होता है लेकिन वह पूजा-पाठ नहीं करता है। हो जनजाति में वंशगत पहान नहीं होता है। प्रत्येक गाँव में कुछ प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं, जो सामान्य बलि देते हैं। परन्तु दूसरे अवसरों पर परिवार का मुख्य ही पूजा-पाठ करता है।

पानी साँप को, हो, अपनी भाषा में 'लुरबेंग" कहते हैं। आकाश के इन्द्र धनुष को भी "लुरबेंग" ही कहते हैं। हो जनजाति की मान्यता है कि यही साँप वर्षा के जल को रोकता है।

घर कहाँ बनेगा, अथवा गाँव कहाँ बसेगा, इस के लिय मुंडा और हो जनजाति शकुन से परामर्श लेते हैं, और साथ में सिंगबोंगा से प्रार्थना करते हैं। जिस स्थान में घर बनाना हो, वहाँ चारों कोनों में छेद बनाकर वहाँ चावल के कुछ दाने छोड़ दिये जाते हैं। अगर पूरी रात रहने पर भी चावल के दाने ज्यों

के त्यों रह जायें, तो जमीन, घर अथवा गाँव के लिए उपयुक्त है दो बार प्रार्थना की जाती है— पहली बार जो जाँच हो रही है, वही सही निकले, कि जमीन अच्छी है या बुरी। दूसरी बार चुनी गई जमीन पर सिंगबोंगा को आशिष हो। हो अनेक जातियों में विभक्त हैं— ये जातियाँ ''किली'' कहलाती हैं। अपनी ही किलि की लड़की से शादी नहीं होती है। उनके गोत्र किसी जानवर के नाम पर होते हैं। अपने गोत्र वाले जानवर का माँस नहीं खाते हैं।

गाँव

साधारणतः हो लोगों का घर ऊँची भूमि पर होता है जहाँ से वे अधित्यका में अपने लहराते सीढ़ीदार खेतों को देखते हैं। किन्तु अब नये गाँव नदियों के किनारे जंगलों से दूर बस रहे हैं। अधिकतर गाँव पूर्व से पच्छिम की लम्बाई में बसे हैं। कोल्हान के प्रत्येक गाँव में बहुत से टोले होते हैं। गाँव के बीच में अखाड़ा होता है। इसी स्थान पर सभाएँ बैठती हैं। गाँव के चारों ओर पुराने इमली, आम, जामून और बाँस के वृक्ष पाये जाते हैं।

घर

कुछ धनी हो किसान के घर लम्बे-चौड़े मजबूत कीचड़ अथवा टट्टर की दीवालों से बनते हैं। ऊपर फूस की छत होती है, एक साफ बरामदा, और साथ ही अच्छी तरह उठाई गई जमीन की सतह होती है। घर का बाहरी भाग ऐसा बना रहता है कि उसमें परिवार के सदस्यों का रहना भी होता है, तीन अथवा चार वर्गाकार के बने घर और बीच में एक बड़ा सा कबूतर घर होता है। मृतकों के राख प्रायः मुंडा घर के निकट जमा किये जाते हैं। कब्र के पत्थर के रूप में प्रयुक्त बड़े स्लैब रहस्यमय ईमली वृक्ष की छाया के नीचे रहते हैं। इन पत्थरों पर गाँव के वृद्ध काम के बाद गपशप करने अथवा चिलम पीने के लिए बैठते हैं।

गाँव के लोग सूअर प्रायः पालते हैं और उनके घर बहुत साफ- सुथरे होते हैं। परन्तु मजदूरों के घर तो काफी छोटे होते हैं, इसलिए उनके सूअर के घर उतने बड़े और साफ भी नहीं होते हैं। हो जनजाति के लोग मुरगा-मुरगी और मोटे खस्सी भी पालते हैं। परन्तु खस्सी को न बेचकर अपने ही प्रयोग (खाने) के लिए रखते हैं।

वे बत्तख और हंस भी पालते हैं, इसी प्रकार मेमने और बकरे भी पालते हैं। परन्तु ये बकरे प्रायः पूजा पाठ के मतलब से पाले जाते हैं। देवताओं को संतुष्ट करने के लिए मारे जाते हैं, बाद में उनका माँस खाते हैं। गाय, बैल और भैंस भी पाले जाते हैं। गाँव के गाय-बैल को सामूहिक रूप से ग्वाला जाति का कोई व्यक्ति चराता है जिसे प्रत्येक परिवार अगहन में निश्चित किया हुआ धान देता है। हो जनजाति के लोग गाय का दूध नहीं पीते हैं बछड़ा ही दूध पी लेता है।

जिन्होंने बाद में घर बनाये हों, ऐसे हो लोगों के घर दूर-दूर फैले हुए है। परन्तु जिन्होंने पहले ही घर बना लिया है उनके घर काफी सटे-सटे होते है।

शारीरिक बनावट

हो जाति के लोग बहुत ही तगड़े होते है। पुरुष पाँच अथवा छह फीट लम्बे और स्त्रियाँ भी पाँच

फीट ऊँची होती हैं। हो जाति के व्यक्तियों के नाक-नक्शे अनेक प्रकार के होते हैं, ऐसा प्रतीत होता है, कि इनमें आर्यों का खून मिश्रित है। कुछ की नाक लम्बी है, उनके चेहरे चौड़े हैं। सुन्दर चेहरे वाली, लम्बी नाक वाली लड़कियाँ, लड़कों द्वारा पसन्द की जाती हैं। परन्तु बड़ी चमकीली आँखों वाली लड़कियाँ प्रायः कम मिलती हैं। मंगोलियन आकृति वाली कन्याएँ बहुतायत से मिलती हैं। कुछ काली और मोटी लड़कियाँ भी हो जनजाति में हैं। उनकी आँखें गहरी भूरी रंगवाली, बाल काले, सीधे अथवा घुघराले हैं। हाथ और पैर लम्बे होते हैं। पुरुष अपने शरीर पर ध्यान कम देते हैं।

परिधान

पहले स्त्री और पुरुष कपास के बुने धोती और साड़ी पहनते थे, परन्तु धीरे-धीरे अब मशीन के बने कपड़े-पहनने लगे हैं। स्त्रियाँ अपने बालों को पीछे से दाहिने कान के निकट बाँधती हैं। वे स्थूल कंगन, बाजूबन्द और पायल पहनती हैं। अपने केशविन्यास में फूलों का प्रयोग करती हैं। 'हो' औरतें अपने शरीर में गोदना गुदवाती हैं और इसे राष्ट्रीय चिन्ह समझती हैं।

बच्चे का जन्म

बच्चे के जन्म के बाद माता और पिता दोनों अछूत आठ दिनों के लिए माने जाते है। इस समय परिवार के अन्य सदस्य घर से बाहर भेज दिये जाते है, और पति ही खाना बनाता है। यदि प्रभाव जटिल हुआ तो वे इसे बुरी आत्मा की करतूत समझते हैं। शकुन विचारने के बाद उस आत्मा को मनाने के लिए बलि दी जाती है।

बच्चे का नामकरण

आठ दिन बीत जाने पर घर से बाहर गये सदस्य वापस घर लौटते है। दोस्तों को भी नामकरण उत्सव के लिए निमन्त्रण दिया जाता हैं। प्रथम बच्चे को दादा (बच्चे के पिता के पिता) का नाम प्रायः दिया जाता है। परन्तु कठिन परीक्षा (छान-बीन) के बाद यह पता लगाते हैं कि नाम भाग्यशाली है अथवा नहीं।

नाम के चुने जाने पर एक उरद का बीज पानी से भरे पात्र में गिराया जाता है। यदि वह बीज पानी में तैरने लगे तो दादा का नाम बच्चे को मिल जाता है। यदि बीज पानी में डूब गया तो दूसरे नाम पर विचार करते हैं।

एक सुन्दर प्रथा "हो जनजाति" में है कि ये किसी भी जाति अथवा धर्म के लोगों की उपाधि अथवा नाम अपने परिवार के बच्चों को दे सकते हैं। इसीलिए कोल्हान में मेजर, केप्टन, टिकेल, डाक्टर आदि नाम प्रचलित है।

नामकरण संस्कार के बाद शादी तक कोई धर्म विधि नही है।

विवाह तथा परिवार

हो लोगों के यहाँ विवाह आवश्यक समझा जाता है। ये लोग अविवाहित रहना पसंद नहीं करते हैं। ये हर वस्तु का जोड़ा देखना चाहते हैं। इनके अनुसार पेड़-पौधों, चन्द्रमा, सूर्य, आकाश आदि के

भी अपने-अपने जोड़े हैं। इनके देवता भी इसी प्रकार अपना-अपना जोड़ा रखते हैं। यही कारण है कि बलिदान देते समय ये लोग इस बात का ध्यान रखते हैं तथा लिंग का विचार करते हुए बलिदान के लिए पशुओं को चुनते हैं। वे समझते हैं कि सिंग-बोंगा की स्त्री "चन्दा-बोंगा" है।

इनके समाज में लिंग की आवश्यताओं की पूर्ति के नियम भी बने हुए हैं और ये लोग उन नियमों का पालन भी करते हैं। खेती-बारी के समय यौन संबंध नहीं रखते हैं। इसी प्रकार बच्चा पैदा होने पर तीन महीने तक ये लोग यौन संबंध से परहेज करते हैं। हो जनजातियों में बहु विवाह की प्रथा है। जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक स्त्रियाँ होती है, समाज में उसी के अनुसार उसका सम्मान होता है। कोल्हान के लोग अपने पूर्वजों की स्त्रियों की संख्या के बारे में बड़े अभिमान से बातचीत करते हैं। किसी व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने "किली की किसी लड़की से विवाह करे, विवाह के बाद लड़के अपने माता-पिता के साथ नहीं रहते हैं।

यदि विवाह के बाद तीन साल तक किसी व्यक्ति को कोई संतान नहीं होती है, तो वह अपनी साली से बिना गोनांग या पण के शादी करता है। कोल्हान में कभी-कभी पुरुष भी अपनी अवस्था से बड़ी स्त्रियों से विवाह करते हैं। अत: स्त्रियाँ जल्द बूढ़ी हो जाती हैं, तब पुरुष अपनी सालियों से विवाह करते हैं। परन्तु यह तब होता है जब पहली स्त्री की मृत्यु हो जाती है। एक "हो" अपनी मौसेरी बहन से विवाह कर सकता है।

"हो" जनजाति में विवाह के बहुत से नियम हैं, जिनमें निम्नलिखित मुख्य है — (1) अण्डी (2) दिकु अण्डी (3) ओपार तिपि (4) राजी खुशी (5) अनादर अण्डी और दिकु अण्डी। इनमें में रीतियों पर बड़ा ध्यान दिया जाता है, किन्तु दूसरे प्रकार के विवाह में यह बात नहीं है। ऐसे परिवार जो अपने बेटों के विवाह में गोनांग या पण देते हैं, उनको हो समाज में बड़ा सम्मान होता है। एक हो अपने परिवार में दिये गये गोनांग (पण) का विचार करके बहुत गौरव का अनुभव करता है और साथ-साथ यह भी याद करता है कि कब कितना गोनांग दिया गया लेकिन अब यह प्रथा उठती जा रही है।

आज कल राजी-खुशी विवाह अधिक प्रचलित हो गया है। कभी-कभी लड़के बलपूर्वक लड़की को उठाकर ले भागते हैं और विवाह हो जाता है।

कोल्हान में अंडी और दिकु अंडी दो मुख्य विवाह के नियम हैं, जिनमें बहुत रीतियों का बहुत ख्याल रखा जाता है। अंडी की प्रथा उनके समाज में प्राचीन काल से चली आ रही है, किन्तु दिकु अंडी को इन लोगों ने आस-पास के हिन्दुओं से सीखा है। दिकु अंडी केवल धनी घरानों में प्रचलित है, किन्तु अंडी साधारण रूप में प्रचलित है। जब कोई लड़का किसी लड़की से विवाह करना चाहता है, तो अपने किली के कुछ मित्रों से अपनी इच्छा की चर्चा करता है। फिर ये लोग एक दूतम के द्वारा विवाह की बात तय करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि लड़के के माता-पिता किसी दूतम को स्वयं किसी लड़की के विषय में बातचीत करने के लिए भेजते हैं। यदि लड़का-लड़की दोनों एक दूसरे से प्रेम करते हैं तो माता-पिता विवाह की अनुमति दे देते हैं।

इन्हीं दिकु में पहले प्रकार के विवाह की बहुत सी रीतियाँ पायी जाती हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त कुछ और विशेष बातें भी पायी जाती हैं। इसमें एक यह है कि एक ब्राह्मण, विवाह करने वाले

जोड़े से यह प्रतिज्ञा भी कराता है कि वे दोनों एक साथ अपना जीवनव्यतीत करेंगे और विवाह के बन्धन को नहीं काटेंगे। लड़का अपनी भावी पत्नी के चारों ओर हाथ में छूरी लेकर सात बार-घूमता है। इसके बाद वह अपनी पत्नी के माथे पर सिन्दुर लगाता है। फिर लड़की भी ऐसी ही करती है। साधारणत: लड़के के माता-पिता कन्या शुल्क देते हैं।

उनके समाज में यह बहुत खराब समझा जाता है कि लड़की के माता-पिता अपनी लड़की के विषय में आप ही बात चलायें। उनकी लड़की चाहे जीवन भर ही कुँआरी क्यों न रह जायें, वे उसके विवाह की चेष्टा कभी नहीं करेंगे।

विवाह का प्रस्ताव लड़के की ओर से आना चाहिये। साधारणत: लड़कियों का जीवन अपने माता-पिता के घर सुख से नहीं व्यतीत होता है, इसलिए वे कभी-कभी किसी लड़के के साथ बाहर निकल जाती हैं अथवा कोई लड़का बलपूर्वक उन्हें अपने घर ले आता है तो वे विवाह के लिए तैयार हो जाती हैं। इसलिए उनके यहाँ आजकल ''उपारतिपि' प्रचलित हो गया है। इस प्रकार के विवाह में कुछ मूल्य देने की आवश्यकता नहीं होती है। इन दिनों इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है, इसलिए ये लोग ऐसे ही विवाह करना पसन्द करते हैं, जिनमें रुपये खर्च करना न पड़े। यही कारण है कि अब इनके यहाँ बलपूर्वक तथा राजी-खुशी का विवाह अधिकतर प्रचलित है। राजी खुशी के विवाह की बातचीत लड़का-लड़की आप ही तय कर लेते हैं।

शादी में लड़के को ही लड़की का दाम देना पड़ता है। पहले 40-50 बैल देने पड़ते थे। कन्या के इस प्रकार दाम देने को ''पण'' कहा जाता है। लड़के का बाप इतने बैल नहीं दे सकता था, इसलिए लड़कियाँ अपने पिता के घर बूढी हो जाती थीं। ''पण'' व्यवस्था में सुधार हुआ और एक जोड़ा बैल, एक गाय और सात रुपये निश्चित किया गया, इसे दस बैलों के बराबर मान लिया गया। कभी-कभी जवान प्रेमियों ने कन्या के लोभी पिता के षडयन्त्र के खिलाफ कदम उठाते हुए कन्या को जबरदस्ती उठाकर भागने का साहस किया। आजकल भी प्रेमी-प्रेमिका घर छोड़ कर भाग जाते हैं।

हो लड़कियों के लिए शुद्धता कोई मायने नहीं रखता। वे लड़कों को खुश करने के लिए कुछ भी कर सकती हैं। वे लड़कों को आकर्षित करने के लिए अपने को तरह-तरह से सजाती है। बाजार से लौटते समय लड़के-लड़कियों की जोड़ियों को एक-दूसरे के कन्धे पर हाथ रख कर लौटते हुए देखा जा सकता है। प्रणय की प्रस्तावना लड़कियाँ ही करती हैं। सुन्दर लड़कियाँ प्राय: कहती हैं, मेरी सुन्दरता से क्या लाभ! जवान लड़के मुझे नहीं देखते हैं। यदि किसी लड़के ने अपनी प्रेमिका से शादी करने का निश्चय कर लिया, परन्तु अपशकुन के कारण शादी या तो टूट जाती है, अथवा स्थगित हो जाती है। जब लड़के के बाप ''पण'' देने में असमर्थ, अथवा देना नहीं चाहता है।

अपनी पसंद की लड़की चुन लेने के बाद, लड़का इसकी सूचना अपने माता-पिता को देता है। परिवार के सदस्य और मित्र, लड़की के घर जाते है, ओर परिवार, लड़की को उम्र, रूप-रंग, आर्थिक स्थिति आदि का पता लगा कर लौटते हैं। यदि लड़का पक्ष संतुष्ट हो कर लौटता है, रास्ते में शुभ-शकुन देखने को मिले, लड़का पक्ष देवताओं को बलि देता है। इसके बाद प्रतिनिधि मंडल के साथ कुछ खान-पान होता है।

इसके बाद निश्चित दिन में दोनों पक्षों के बाप ''पण'' निर्धारण के लिए बैठते हैं। इस बैठक में अनेक प्रेमियों की जोड़ी टूट जाती है, क्योंकि या तो लड़की का बाप लोभी होते जाता है, और लड़के का बाप नहीं देने पर अड़ जाता है। ''निर्धारित पण' शादी के पहले किसी दिन कन्या के घर पहुँचा दिया जाता है। यदि पण जानवरों के रूप में दिया जाता है, तो लड़की पक्ष एक पशु के लिए एक हँड़िया का घड़ा देता है।

पण देने के बाद शादी के लिए निश्चित तिथि में सहेलियाँ नाचती-गाती और बजाती दुलहन को अपने भावी पति के गाँव की ओर ले जाती हैं। दूसरी ओर गाँव के लड़के-लड़कियाँ, और पड़ोस के निमन्त्रित लोग दूल्हे के पक्ष में जुलूस बना कर दुलहन पक्ष की अगुवाई के लिए जाते हैं। इसके बाद झुंड में नाचते हैं, जिसमें दूल्हा और दुलहन भी भाग लेते हैं। दो सहेलियों के कूल्हों पर बैठकर वर-वधू घर के भीतर घुसते हैं। घर में नाचने-गाने के साथ ही हँड़िया भी खूब पीते है। धर्मानुष्ठान का मुख्य बिन्दु तब होता है, जब दूल्हा और दुल्हन एक दूसरे के साथ जीने की प्रतिज्ञा करते हैं। दोनों को एक-एक दोना हँड़िया दिया जाता है। दूल्हा अपने दोने में से कुछ हँड़िया वधू के दोने में उड़ेलता है, वधू इसका सम्मान करती है। हँड़िया मिलाने का अर्थ होता है– ''कि दोनों एक किली, के हो गये, दुलहन अपने पति के गोत्र (किली)में शामिल की गई और वे दोनों एक हो गये।''

अपने पति के साथ केवल तीन दिन रहने के बाद, पत्नी ससुराल से भाग जाती है। मायके में पहुँचकर अपने सहेलियों को बताती है कि उसका पति उसे प्यार नहीं करता इसलिए उसके पास दुबारा नहीं जायेगी। पत्नी को पश्चात्ताप होता है कि स्वयं पति के घर गई। पति को उसे पाने के लिए अधिक मेहनत करनी पड़ती, पति अपनी पत्नी के लिए बहुत चिन्तित होकर खोजने निकलता है। अपनी पत्नी को कहीं पाने पर वह बलपूर्वक उसे भगा ले जाता है। कभी-कभी नई दुलहनें भरे बाजार में पति के हाथों से छूटने के लिए छटपटाती हैं। परन्तु कोई भी हस्तक्षेप नहीं करता है।

इस शरारत के बात पत्नी स्थिर हो जाती है और घर का पूर्ण संतुष्ट मालकिन बन जाती है। ''हो'' पति अपनी पत्नी को स्थायी सहचरी बनाता है। सभी कठिन परिस्थितियों में वह पत्नी की सलाह लेता है। वास्तव में पत्नियाँ अपने पतियों पर शासन करती हैं। पूरे कोल्हान में यह देखने को मिलता है कि पति, जोरू के गुलाम बन जाते हैं।

हो जनजाति में पुरुष आम तौर से अपने आलस्य के लिए प्रसिद्ध हैं। वे स्त्रियों पर ही आश्रित रहते हैं। पुरुष कोई भी श्रमयुक्त कार्य तब तक नहीं करते हैं, जब तक कि वह अत्यावश्यक न हो। जब तक कि स्त्री की कमाई से उसे दो जून रोटी प्राप्त होती है, वे कुछ काम नहीं करते है। यहाँ तक कि वे अपनी स्त्रियों को खदानों में मेहनत मजदूरी करने के लिए भेजते हैं, तथा स्वयं गाँवों में निष्काम पड़े रहते हैं।

अपने पति के प्रति विश्वास्रघात तो बिरले पत्नियाँ करती हैं। ऐसी पत्नियों को, पति घर से बाहर निकाल देते हैं, ओर वह अपने पति को शादी के, लिए गये ''पण'' को लौटा देती है।

किसी ''हो'' की मृत्यु होने पर उसकी भूमि उसके बेटे को मिल जाती है, किन्तु कोई ''हो'' अपनी इच्छा के अनुसार अपनी भूमि का व्यवहार नहीं कर सकता है। भूमि यद्यपि उनकी पैतृक सम्पत्ति

है, फिर भी उन्हें इसे बेचने का अधिकार नहीं है। यदि किसी ''हो'' को बेटा नहीं होता है, तो उसकी सारी सम्पत्ति का मालिक उसका कोई निकट का नातेदार होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी विधवा और कुछ लड़कियों को छोड़ कर मर जाता है, तो जो व्यक्ति उसकी सम्पत्ति का मालिक होता है, वही उसकी देखभाल करता है। यदि कोई संबंधी नहीं होता है, तो भूमि पूरे समाज की चीज हो जाती है। बाप के मरने पर उसकी सम्पत्ति सभी बेटों के बराबर-बराबर बाँट दी जाती है। साधारणतः बड़े लड़के को सबसे अधिक भाग मिलता है। यदि कोई व्यक्ति दूसरा विवाह कर लेता है तो पहली स्त्री के बच्चों को दूसरी स्त्री के बच्चों की अपेक्षा अधिक भाग मिलता है।

ऊपर हमलोगों ने देखा कि बेटों को पिता की सम्पत्ति का बराबर हिस्सा मिलता है। बहनें भाईयों के लिए जानवरों के सामान बाँटी जाती हैं। यदि किसी बाप की तीन लड़कियाँ, तीन लड़के और तीन जानवर हो तों उसकी मृत्यु के बाद प्रत्येक लड़के को दस जानवर के साथ एक बहन दी जायेगी। केवल एक बहन होने पर ''पण'' को तीनों भाई मिल कर देते हैं। वह किसी भी भाई के साथ रह सकती है।

हो लोग हर काम को मिल जुलकर करते हैं। शिकार खेलने और मछली मारने के लिए एक साथ मिलकर जाते हैं। वे लोग अपने खेत भी एक दूसरे की सहायता से जोतते हैं। इससे सबसे पहले बड़ी हानि यह होती है कि समूचे गाँव के खेतों को जोतने में अधिक समय लगता है। लेकिन लाभ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का खेत अच्छी तरह जोता और बोया जाता है। वे इस बात का बड़ा विचार करते हैं कि कौन-कौन व्यक्ति उनके साथ खेत में काम करते हैं और कौन-कौन अपने घरों में रहते हैं। जो व्यक्ति दूसरों के खेत में काम करने नहीं जाते हैं, उनके खेत में दूसरे लोग भी अवश्यकता पड़ने पर काम नहीं करते हैं, या करते भी हैं तो मजदूरी ले लेते हैं।

कृषि के औजार

हो जनजाति के कृषि औजारों में लकड़ी का हल, जिसके अग्र भाग में लोहे की फाल होती है, सामान्य जनजातियों के समान पाटा, पटरा, कुदाली अथवा बड़ा फावड़ा, हँसिया, टाँगी, कुल्हाड़ी, ठेला, मिट्टी को समतल करने का औजार । इन औजारों को वे अपने से बनाते हैं। प्रत्येक पुरुष कुछ अंश में बढ़ई होता है अपने हाथ में ''बैसला'' पकड़ कर साधारण औजारों को बना लेता है (दे. द्वितीय अध्याय)।

कोल (हो जनजाति) गाय और बैल दोनों से खेत जोतते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि हल जोतने के अलावे गाय और बैल का उपयोग और कहीं नहीं होता है। वे गाय का दूध छूते भी नहीं हैं। बैलों की अपेक्षा काड़ा (भैंसा) खेत जातने के लिए उत्तम समझे जाते हैं। प्रत्येक गाँव में तेल निकालने के लिए कोल्हू (लकड़ी का बना हुआ) होता है।

फसल

मौनसून पर कृषि आधारित होती है। मुख्य खेती धान है। गोड़ा, गोंदली, उरद, गेहूँ, चना, सरसों की खेती करते हैं। कपास और तमाकू भी थोड़ी बहुत मात्रा में उपजाते हैं,परन्तु ये अपनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं।

कृषि कार्य

सामान्य जनजातियों के समान है (दे. अध्याय 2)। धान को मिसने के बाद खलिहान से ''हो'' स्त्री और पुरुष टोकरियों में रखकर अपने-अपने घरों में ले जाते हैं। इसमें से थोड़ा धान ''बोंगा'' के लिए निकाल दिया जाता है। बचे हुए भाग में से एक भाग बंडी में रख दिया जाता है, जहाँ धान निकाल घरेलू कार्यों में खर्च किया जाता है। दूसरा मालगुजारी देने के लिए रख दिया जाता है।

कृषि कार्य में स्त्रियों की भागीदारी उराँव, मुंडा महिलाओं के समान ही है। अर्थव्यवस्था और इसमें महिलाओं की भागीदारी भी समान है। सामान्य जनजाति का विवरण देते समय इन सभी बातों पर विस्तार से चर्चा हो चुकी है (दे. द्वितीय अध्याय) पेय और भोजन की चर्चा भी इसी अध्याय में ऊपर हो चुकी है (दे. वही)।

हो जनजाति के पुरुष वर्ग तीर चलाने में बहुत निपुण होते है, और अच्छे खिलाड़ी भी होते हैं। बचपन से ही वे तीर चलाने का अभ्यास करते हैं। जानवरों को चराते समय अथवा फसलों की देखभाल करते समय वह चिड़ियों पर निशाना साध कर तीर चलाता है। जब खेती का काम न रहे तो बड़ी संख्या में लड़के दूर जंगल चिड़िया मारने जाते हैं। मई महीने में संथाल युवकों के साथ मैच खेलते हैं, जिसमें आस-पास के गाँवों के लड़के भाग लेते हैं। पानी गिरने पर हो जनजाति के लोग लगन से खेती करते हैं। हल चलाने को छोड़कर बाकी सभी खेती के काम महिलायें करती हैं। सुबह से दोपहर तक खेत में काम करते हैं। दोपहर में भोजन के बाद अपने मन पसन्द का काम करते हैं। जवान लड़के अपने को तैयार करके चाहे अपने गाँव अथवा दूसरे पड़ोस के गाँवों में घूमने जाते हैं। बूढ़े, पत्थरों पर बैठकर चाहे हँड़िया अथवा चिलम पीते हैं तथा गपशप करते अथवा सो जाते हैं।

अंधविश्वास

हो जन जाति में अंधविश्वास बहत अधिक है। उनके अनुसार व्यक्ति अथवा जानवरों की बीमारी दो कारणों से होती है—

1. दुष्टात्माओं के कोप के कारण
2. किसी डायन अथवा ओझा (जादूगर) के जादू या बुरी नजरों के कारण।

बीमारी दूर करने के लिए उन्हें या तो मार डालना है या देश से बाहर निकाल भगाना है। यदि डाइन या ओझा ही बीमारी के कारण हैं, तो एक ''सोखा'' या डायन पकड़नेवाले को शकुन बिचारने के लिए नियुक्त किया जाता है, कि किस डायन या ओझा से यह विपति आई है।

शकुन के लिए अनेक प्रकार के तरीके अपनाये जाते हैं। एक प्रसिद्ध तरीका-पत्थर और पैला से शकुन का विचार किया जाता हे (पैला लकड़ी का बना कप जैसा होता है। इसका आकार आधे फाड़े हुए नारियल के टुकड़े के समान होता हे। इससे धान नापते हैं।)पैले को समतल पत्थर के नीचे धुरी के लिए रखा जाता है, जिससे पत्थर घूमता है। एक लड़का पत्थर के ऊपर बैठता है, और दोनों हाथों से पत्थर को पकड़ कर अपने को गिरने से बचाता है। सोखा, आस-पड़ोस के सभी लोगों (स्त्री-पुरुष) के नाम धीरे से उच्चारण करता है। प्रत्येक नाम के उच्चारण के साथ कुछ अनाज के दाने लड़के पर

फेंकें जाते हैं। किसी डायन या ओझा का नाम आने पर पत्थर के घूमने पर लड़का लुढ़क जाता है लडका बेहोश हो जाता है और स्वयं अपने हाथों से अपने को नहीं संभाल सकता है। प्राचीन काल में दोषारोपित व्यक्ति और उसके पूरे सदस्यों को मार दिया जाता थे। यह विश्वास था कि डाइन ही डाइन को उत्पन्न करता है। उनके खून में ही यह विकृति होती है।

1857 के सिपाही विद्रोह के समय कुछ समय के लिए सिंहभूम जिले (झारखण्ड) में कोई अफसर नहीं थे। जो वर्षों पूर्व से डायन और ओझा का दुष्कर्म कर रहे थे, उनके विरुद्ध एक भयानक छापा मारा गया। शंकित डायन और ओझा भी पकड़े गये। उन्हें बड़ी क्रूरता से मारा गया। बड़े बुजुर्ग, युवकों को उन्हें जान से मारने के लिए आज्ञा देते थे, चाहे दुष्कर्मी किसी उम्र अथवा लिंग के हों। जब आज्ञा वापस ली गई तो अपराधियों को सजा मिली। तब से लेकर डायन हत्या बन्द हुई और साथ ही अंधविश्वास भी कम हुआ।

दूसरे जिलों में भी डायन बता कर उन्हें सताने की प्रक्रिया समाप्त नहीं हुई है। यदि उनकी हत्या नहीं की जाती है, तो उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया जाता है कि वे जीवित रहते भी मर जाते हैं। कुछ सोखा डायन अथवा ओझा के नाम पर शकुन बिचारने के बदले खुले तौर पर अपने अन्तरंग प्रेतात्माओं को बुलाता है, जो उन्हें आवश्यक सूचना देते हैं सोखा कुछ अनाज के दाने सूप में फेंकता है, और उसके सामने एक दीया रखता है। इसके बाद कुछ मंत्रों को बुदबुदाते हुए धान को मसलता है। जब दीये की लौ टिमटिमाती है तो समझा जाता है कि अन्तरंग प्रेतात्मा उपस्थित है, उसे सिर्फ सोखा देख सकता है। सोखा यह अभिनय करता है कि उसके अन्तरंग प्रेतात्मा ने रहस्योद्घाटन करके बीमारी के कारण उस डायन या ओझा का नाम बता दिया है। इसके बाद वह बीमारग्रस्त व्यक्ति के माता-पिता या संबंधियों को डायन या ओझा का नाम बता देता है। इसके बाद गाँव वाले उस डायन या ओझा को जबरदस्त, खींच कर वहाँ लाते हैं। उसे तब तक पीटते हैं, जब तक वह अपना दोष स्वीकार न कर ले। इतनी क्रूरता से उसे मारते हैं कि वहीं दम तोड़ देता है। इसमें मेरा हाथ नहीं है, ऐसा कहना, गिड़गिड़ाना बेकार होता है। इस दुर्दशा से बचने के लिए वे अपना दोष स्वीकार करते हैं। यदि रोगी की हालत में कुछ सुधार दिखाई दे, तो लोग समझते हैं कि डायन या ओझा ने उस रोगी से अपने अन्तरंग प्रेतात्मा को वापस बुला लिया है। परन्तु यदि उसकी हालत में सुधाना न हो, तो उसकी पिटाई मरने तक होती है।

नरम या मध्यम तरीके से भी डायन या ओझा को दंड दिया जाता है। दोष आरोपित डायन या ओझा, प्रेतात्मा को संतुष्ट करने के लिए जानवरों की बलि देता है। यदि बीमार व्यक्ति ठीक होने लगता है तो विश्वास किया जाता है कि प्रेतात्मा ने बीमार व्यक्ति को छोड़ दिया है। यदि बीमारी बढ़ती जाये तो डायन या ओझा को अपने गाँव और घर से निकाल दिया जाता है।

सोखा, सब डायन या ओझा का नाम नहीं लेता है। कभी-कभी वह कहता है कि परिवार का भूत ही नाराज है, इसलिए यह दुःख हुआ है। इसलिए वह परिवार के मुख्य को, उस भूत को शान्त करने के लिए बलि चढ़ाने को कहता है। उस बलि का बहुत बड़ा हिस्सा सोखा लेता है। कभी-कभी यह भी बताता है कि गाँव का भूत ''देसौली'' ने नाराज होकर यह विपत्ति दी है। अधिक पूछने पर बताता

है कि किसी विद्वेषी बूढ़ी औरत ने ''देसौली'' का अपमान किया है। यद्यपि जानवर की बलि देकर ''देसौली'' को संतुष्ट किया जाता है, फिर भी उस डायन बुढ़िया को बहुत सताया जाता है।

शकुन और शुभ लक्षण

'हो' भी अन्य जनजातियों के समान शकुन पर बहुत अधिक विश्वास करती है। विशेष कर यदि वे कोई नया या महत्वपूर्ण कार्य करने जा रहे हों। शादी के पहले के रस्म रिवाजों पर शकुन या अपशकुन का प्रभाव होता है शादी के संबंध बनते अथवा बिगडते हैं। कुछ शकुन और अपशकुन निम्नलिखित हैं—

1. लड़की देखने जाते समय रास्ते में यदि उड़ती गिलहरी दिखाई दे, तो पार्टी आगे नहीं बढ़ेगी और घर वापस जायेगी। यह अपशकुन है।
2. यदि रास्ते में कोई लकड़ी की शाखा अपने से गिर जाये तो भी शादी निश्चित हो, तो दोनों पक्ष के किसी व्यक्ति की मृत्यु तुरंत होगी।
3. यदि गुबरैला (पक्षी) रास्ते में अपने लीद के गोला को विषम तरीके या अनुपातहीन लुढ़काते दिखाई पड़े, तो गरीबी का यह सूचक है।
4. यदि असन वृक्ष पर कुछ-कुछ चिड़िया चहके, अथवा साँप रास्ते को पार करे, तो धन पाने की पूर्व सूचना होती है।
5. हनुमान बन्दरों के झुंड रास्ते में दिखाई पड़े तो पालतू जानवरों में वृद्धि होती है।
6. यदि एक चिड़िया केऊँद अथवा तेंदू वृक्ष पर आवाज करे, तो जिस लड़की को वधू बनाने जा रहे हैं, वह झगडालू होगी।
7. रास्ते में पानी से भरे घड़े ढोती स्त्रियाँ या लड़कियाँ मिल जायें तो शुभ, खाली घड़ा अशुभ।

मृत्यु के बाद की प्रथाएँ

मुर्दों के प्रति हो जनजाति का बहुत आदर भाव रहता है। मुर्दे को मजबूत ताबूत में आदर के साथ रखकर लकड़ियों के समूह के ऊपर रखते हैं। शव को भली भाँति नहला कर, उसमें तेल और सिंदूर लगाते हैं। ताबूत में शब के साथ उसके कपड़े, आभूषण उसके द्वारा प्रयुक्त कृषि के औजार, मृत्यु के समय यदि रुपये पैसे हों, तो ये सब भी रखे जाते हैं। इसके बाद ताबूत का ढक्कन बन्द किया जाता है। इसके बाद ताबूत के ऊपर और चारों ओर लकड़ियाँ रखने के बाद जला देते हैं। मृत व्यक्ति के घर के सामने ही दाह-संस्कार सम्पन्न होता है। दूसरे दिन प्रातः ही राख में पानी छिड़क कर कुछ हड्डियों को मिट्टी के छोटे पात्र (भाँड में) रखकर, मुख्य रूप से विलाप करने वाली की कोठरी में टाँग देते हैं (साधारणतः माँ अथवा विधवा की कोठरी में)

जहाँ ये हमेशा मिट्टी के बरतन में रखी हड्डियों को देखकर विलाप कर सकें। मिट्टी के पात्र को अस्थि कलश भी कहते हैं। ये हड्डियाँ तब तक घर में रहती हैं, जब तक उन्हें उनके आखिरी निवास स्थान में पहुँचाने की व्यवस्था नहीं होती है।

समारोही

एक बहुत बड़े कब्र के पत्थर का इन्तजाम होता है। वह इतना बड़ा होता है कि कभी-कभी अनेक गाँवों के लोग मिल कर उसे ढोते हैं। कुछ धनी व्यक्ति यह सोचते हैं कि उनके वंशज अपने समान प्रभावशाली नहीं होंगे, इसलिए अपने जीते जी एक समारक पत्थर का चुनाव करते हैं, जिससे उनकी योग्यता अथवा गुण का स्मारकोत्सव मनाया जा सके। उनके मरने के बाद उस स्मारक पत्थर को हो प्रथा के अनुसार घर के समीप कब्रिस्तान में लाते हैं। स्मारक पत्थर के निकट एक गोल गड्ढा अस्थिकलश को रखने के लिए कोड़ते हैं। जब यह तैयार हो जाता है तब मृतक के घर के पास शव यात्रा के लिए लोग जमा होते हैं इसमें तीन या चार लोग जोर से बाजा बजाने वाले और आठ जवान लड़कियों का समूह भी होता है।

मुख्य विलाप करने वाली एक सुसज्जित ट्रे में मृतक की हड्डियों को रखकर सामने आती है। उसके पीछे लड़कियाँ दो की कतार बना कर चलती हैं। सामने की लड़कियाँ आधे टूटे हुए घड़े और टूटे हुए तांबे के बरतन सिर पर ढोती हैं। इसके पीछे बाजा बजाने वाले और उनके पीछे भीड़ रहती है। भीड़ प्रेत के समान नाचते आती है, जिसे हम समारोही मन्द नृत्य भी कह सकते हैं। बाजे की ध्वनि का उतार-चढ़ाव भी शोक सूचित करता है।

मुख्य विलापी प्रायः ट्रे को सिर में ढोती है, पर बीच-बीच में धीरे से उसे नीचे कर देती है। उसका अनुसरण करती लड़कियाँ भी टूटे घड़े और टूटे पीतल के बरतन को धीरे से औंधा कर देती है। कुछ देर तक आँखों में आँसू लिए आँखों से उन्हें एक-टक देखती हुई मानो कहती है—"हाय! ये सब खाली हैं।"

इस प्रकार गाँव के कुछ मील के अन्दर के प्रत्येक पड़ोसी, मित्र अथवा संबंधी के घर, मृतक की हड्डी समारोही रूप में पहुँचायी जाती है। प्रत्येक घर के लोग बाहर आते हैं, और ट्रे में हड्डियों को देखकर रोते हैं। इसके बाद मृतक की हड्डियों को उन स्थलों में भी लेते हैं, जहाँ वह खेती करता था। उन वृक्षों के पास, जिन्हें उसने लगाया था, तालाब के पास जिसे कोड़ा था, खलिहान, जहाँ उसने काम किया था, अखरा, जहाँ उसने नाच-डेग किया था। प्रत्येक स्थानों में जाने के बाद विलाप और बढ़ जाता था।

इस प्रकार की विधि पूरी होने पर जुलूस गाँव लौटता है, और धीरे से बड़े पत्थर के चारों ओर गोलाकार घूमता है। इसके बाद पकाया अथवा नहीं पकाया हुआ चावल, दूसरे खाद्य पदार्थ कब्र में रखे जाते हैं ट्रे से हड्डियों को उतार कर नये मिट्टी के घड़े में उन्हें रखा जाता है। इसके घड़े में ढक्कन भी रहता है। तब घड़े को छेद में रख कर मिट्टी से भर देते हैं। उसके उपर बड़ा पत्थर का स्लैब रख दिया जाता है।

मृत्यु के बाद का विश्वास

हो जन जाति स्वर्ग या नरक पर विश्वास नहीं करती है। उनका कुछ अस्पष्ट विश्वास है कि मृतक की प्रेतात्मा घूमती रहती है, इसलिए उन प्रेतात्माओं के लिए बलि दी जाती है। कुछ लोग अपने

घर में बेदी या पूजा स्थान बनाते हैं। जहाँ प्रतिदिन अपने भोजन का कुछ अंश देते हैं। वे इन प्रेतात्माओं से डरते है और दुष्ट प्रवृति के प्रेतात्माओं को बलि दे कर शान्त करते हैं। प्रेतात्माएँ घर में घुसती हैं, इसका पूर्वाभास मृतक के परिवार हो जाता है। इसलिए वे पहले से ही तैयारी करते हैं। कुछ मात्रा में भात उसके लिए अलग से रखा जाता है। फर्श में राख छिड़कते हैं, जिससे कि मृतक के पदचिन्ह पहचाने जा सकें। घर के निवासी सब निकल जाते हैं और चिता की परिक्रमा करने के बाद आत्मा को पुकारते हैं। चिता से लौटने के बाद वे ध्यान से राख और भात को देखते हैं। यदि थोड़ा भी भात गायब हो, या थोड़ा भी राख में चिन्ह हो, तो वे समझते हैं कि प्रेतात्मा प्रवेश कर चुका है। वे डर के मारे काँपने लगते हैं और जोर-जोर से रोते हैं।

अन्य बातें

हो जनजाति के स्त्री और पुरुष बहुत संवेदनशील होते हैं। एक-दूसरे की कठोर बातों को बिल्कुल सहन नहीं करते हैं, और आत्महत्या करते हें। जवान बेटे-बेटियों को कठोर वचन कहने पर उन्हें मनाना नहीं भूलते हैं। परिवार में कलह विरले ही होता है, एक दूसरे के लिए अपशब्दों का प्रयोग नहीं होता है। अपनी पत्नियों के प्रति हो पुरुष बहुत उदार होता है, परन्तु पत्नी के डायन होने पर तो बुरा व्यवहार किया जाता है।

हो जाति के लोग प्राय: झूठ नहीं बोलते हैं। उनका विश्वास है कि झूठ बोलने पर पत्नी, बच्चे अथवा धन नष्ट होंगे। वह धान बोने पर धान नहीं काट सकेगा। काटने पर भी धान घर के भीतर नहीं आयेगा, अन्त में बाघ उसे खा जायेगा।

हो जनजाति में मुण्डा-मानकी प्रथा

संगठन और अधिकार की व्यापकता की दृष्टि से ''हो'' समाज की मुण्डा-मानकी स्वशासन पद्धति अत्यन्त विकसित और स्थापित हैं। पोराहाट एवं कोल्हान क्षेत्र में मुंडा मानकी प्रशासन पद्धति अनादि काल से प्रचलित रही है। इसकी शुरूआत गाँव या टोले से होती हैं वह व्यक्ति जो मंत्र-तंत्र का ज्ञाता होता था, उसे ''देवा'' कहा जाता है और गाँव पर उसका नियन्त्रण होता था। योग्यता के चयन में विशेष पद्धति से गाँव के अगुवा का चयन होता था। इस प्रकार कई गाँव के योग्यतम व्यक्ति को दिऊरी अर्थात् पुजारी नियुक्त किया जाता था। उसे पहान भी कहते थे। उसके मातहत 30 या हर गाँव होते थे। 'दिऊरी' गाँव का मुखिया माना जाता था। दिऊरी का कार्य होता था पूजा-अर्चना, जन कल्याण तथा गाँव में अमन चैन कायम करना। कालांतर में दिऊरी और मुंडा के रूप में संस्थागत विकास हुआ। पूजा-पाठ करने वाला दिऊरी तथा शासन एवं लगान वसूलने वाले मुण्डा कहे जाने लगे।

दिऊरी से उच्चपद 'मानकी' जो 'पीड़' या इलाके का मानकी कहा जाता था। पीड़ का निर्माण पढ़हा पर निर्भर था। पड़हा का अगुवा जातीय सरदार मानकी होता था। मानकी से उच्च विपुई होते जो पूर्ण निपुण और सामर्थ्यवान होने पर राजा की पदवी से अलंकृत होते थे। वीर विक्रम मुण्डा चक्रवर्ती राजाके रूप में ख्यात प्राप्त एवं चर्चित रहे।

इस संदर्भ में कोल्हान में विल्किसन लाँ की चर्चा प्रासंगिक है। ब्रिटिश काल के प्रारंभ में वहाँ 1830-32 में कोल विद्रोह हुआ, विल्किसन ने ऐसा महसूस किया कि कोल जनजाति के रिवाज,

संस्कृति शासन और अर्थव्यवस्था की एक स्थापित परंपरा है। इसके विखंडन से विरोध और क्रान्ति को रोका नहीं जा सकता है। ब्रिटिश सरकार ने संपूर्ण कोल्हान को 36 पीड में बाँटा। कोल्हान पुलिस विहीन राज्य था। प्रशासनिक सुविधा के लिए प्रत्येक मानकी के अंतर्गत 33 गाँव थे जिसमें 10002 से 31346 एकड़ भूमि आते थे। मुण्डा गाँव का मुखिया कहलाता था। इलाके के योग्यतम व्यक्ति मानकी के रूप में चुने जाते थे। यह वंशानुगत भी नहीं था, बल्कि प्रभावशाली व्यक्ति ही मानकी के रूप में चयनित होते थे। उनका कार्य मूलवासी ''हो'' को पूर्ण सरक्षा प्रदान करना, दिकुओं द्वारा भूमि से बेदखल होने से बचाना तथा लगान वसूलना था। दायित्व पूरा नहीं करने की स्थिति में उपायुक्त के द्वारा मुण्डा और मानकी को निलंबित किया जाता था इसमें रैयत की सहमति से मुण्डा एवं मानकी को पदच्युत किया जा सकता है और अन्य व्यक्ति की नियुक्ति हो सकती है। यह 1837 से ब्रिटिश काल तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद 1964 से भारत सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त है। गाँवों में इसकी न्याय व्यवस्था है। गाँव का मुखिया मुण्डा, दरोगा अर्थात् थानेदार तथा उसके अधीन डाकुआ का दर्जा सिपाही एव मानकी का दर्जा पुलिस अधीक्षक के स्तर का है। मुण्डा एवं मानकी विवादों को निपटाता है। मुण्डा मानकी स्वशासन प्रणाली जनतंत्र पर आधारित प्रशासन की प्राचीन जनजातीय पद्धति है।

प्रशिक्षण तथा मनोरंजन

''हो'' जनजाति में पुरुषों से अधिक परिश्रमी उनकी स्त्रियाँ होती हैं। स्त्रियाँ अपने बच्चों को तीस से छत्तीस माह तक दूध पिलाती हैं। इनकी महिलाये दूसरे कबीले की स्त्रियों के समान अपने बच्चों में दिनभर नहीं लगी रहती है, परन्तु बालक के जन्म के बाद दस-बारह दिनों के बाद वे घर के विभिन्न कार्यो में लग जाती हैं। जब माता-पिता खेतों में काम करने के लिए निकल जाते हैं, तब घर की छोटी-छोटी लड़कियाँ बच्चों की रखवाली करती हैं। छः-सात साल की अवस्था से लड़के और लड़कियों के कार्यों तथा उनके वस्त्रों में बड़ा अन्तर हो जाता है। लड़के नंगे रहा करते है, किन्तु लड़कियाँ कमर के नीचे एक पुतली पहना करती हैं।

गाँव के बड़े-बूढ़े, छोटे लड़कों को समाज की रीतियों तथा सदाचार से अच्छी तरह परिचित करा देते हैं। बच्चों को यह बताया जाता है, कि किस प्रकार बड़े लोगों को प्रणाम और मुण्डा लोगों का सम्मान तथा प्रतिष्ठा करें। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी बताया जाता है कि अपने ''परिवार'' अथवा ''किली'' के अतिथियों का स्वागत करना चाहिये। ''हो'' लोगों के समाज से अब संस्कार की प्रथा उठती जा रही है। अब एक युवक को विवाह के बाद से पूर्ण सामाजिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं।

उराँव लोगों की तरह इनके अधिकांश गाँव में ''धुमकुरिया'' या ''युवागृह'' नहीं पाये जाते हैं। अतः बच्चे दस-बारह की संख्या में गाँव के किसी घर में एक साथ सोते हैं। इन लड़कों में धीरे-धीरे प्रेम हो जाता है। जो लड़का सबसे सुन्दर और पुष्ट होता है, वह उन लड़कों का नेता बन जाता है। वह अपने साथियों के चाल-चलन की निगरानी करता है।

साधारणतः ''हो'' कबीले के बच्चे जीवन की आवश्यक बातों को नहीं जानते हैं। उनके माता-पिता अपनी जिन्दगी में अपने लड़कों को किसी प्रकार की कंष्ट होने नहीं देते हैं। इनकी मृत्यु के बाद लड़कों को जीवन के विभिन्न दुःखों की जानकारी प्राप्त होती है।

तमाम कष्टों और दु:खों के होते हुए भी ये लोग अपना जीवन मनोरंजन और आनन्द में बिताते हैं। संध्या समय ये लोग अपना जीवन मनोरंजन और आनन्द में बिताते हैं। संध्या समय ये लोग एक स्थान पर बैठकर कहानियाँ सुनते हैं और साथ-ही-साथ गाने और नाच में दिल खोलकर भाग लेते हैं। इन्हें अपनी मातृभूमि से बहुत प्यार है, अत: अपना देश छोड़कर दूसरे स्थान जाना पसन्द नहीं करते हैं।

तैरना पेड़ों पर चढ़ना, दौड़ना, नाच-गान इनके मनोरंजन के साधन हैं। इनके मुख्य खेलों में "छोर", "काँजा," छोटा-डंडा और "कुलाचाल" इत्यादि मुख्य हैं।

मुर्गा लड़ाई

हो, मुर्गा लड़ाने के शौकीन होते हैं इस कारण मुर्गे पालते हैं। प्रत्येक बाजार या निश्चित दिन मुर्गे की लड़ाई होती है। जवान मुर्गे की टाँग में खूँखार स्टील के कंट बाँध दिये जाते हैं। दोनों मुर्गे एक दूसरे को इसी कंट से काटने का प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी दोनों लोहूलुहान हो जाते हैं। विजयी मुर्गा दूसरे मुर्गे को मार डालता है। स्त्रियाँ अपने कोमल स्वभाव के कारण इस लड़ाई को नहीं देख पाती हैं।

कोल्हान में अनगिनत मेले लगते हें। इन मेलों से हो लोगों को काफी दिलचस्पी है और समय निकाल कर मेलों में जाते हैं और वहाँ नाच और गानों द्वारा अपना मन बहलाते हैं।

इन मेलों के अतिरिक्त साप्ताहिक बाजार भी लगते हैं, जहाँ दूर-दूर से "हो" लोग आया करते हैं, इस बाजार में विभिन्न वस्तुएँ बेची जाती हैं। यहाँ पुरुष और स्त्रियाँ दोनों आते हैं। इसी बाजार में साधारणत: विवाह की बातें तय हो जाती हैं। ओपारतिपी अर्थात् बलपूर्वक विवाह और राजी-खुशी से विवाह दोनों यहाँ अंजाम दिये जाते हैं। इस बाजार में विभिन्न सभ्यताओं का संयोग होता है और लोग एक दूसरे की बातें सीखते हैं। इसी बाजार में पति अपनी भागी हुई पत्नी को ढूँढ़ने आता है और कुँआरे लड़के अपने लिए अनुकूल जीवन संगिनी की खेज में रहते हैं। इसी बाजार में स्थानीय अधिकारी जन समाज में नोटिस दिलवाते हैं, या किसी सूचना की घोषणा कराते हैं। गाँव का डाकिया यहीं आकर लोगों को चिट्ठियाँ बाँटता है।

V. खड़िया

खड़िया कबीले के लोग अधिकर उड़ीसा के मयूरभंज, बिहार के सिंहभूम और मानभूम और मध्यप्रदेश की पूर्वी पहाड़ियों में पाये जाते हैं। इस कबीले के कुछ लोग आसाम और बंगाल में भी पाये जाते हैं। खड़िया लोगों को तीन भागों में बाँटा जा सकता—

1. **पहाड़ी खड़िया**— ये लोग अधिकतर उड़ीसा में पाये जाते हैं। झारखण्ड में भी थोड़ी संख्या में है। ये लोग बिल्कुल जंगली है। जंगल के पशुओं और फलों पर इनका गुजारा होता है। ये मानव समाज से अलग रहना पसन्द करते हैं।

2. **दूध खड़िया**— इनकी अधिकांश आबादी झारखण्ड के सिंहभूम तथा मानभूम में पायी जाती है। तमाम खड़ियाओं में इनकी संख्या सबसे अधिक है। ये लोग गाँवों में रहते हैं और इनकी आर्थिक स्थिति पहाड़ी खड़ियाओं से बहुत अच्छी है। ये लोग छोटे पैमाने पर खेती भी करते हैं।

3. **ढेल्की खड़िया**— ये अधिकतर मध्यप्रदेश में पाये जाते हैं। ये लोग भी दूध खड़िया के समान गाँवों में रहते और खेती करते हैं।

पहाड़ी खड़ियाओं की खेती-बारी की हालत बहुत खराब है। ये लोग पहाड़ियों की ढालवाली जमीन पर झूम की खेती करते हैं। अधिकतर पहाड़ी खड़िया तो केवल जंगली जानवरों तथा फलों पर ही निर्भर करते हैं। दूसरे लोगों से इनका सामाजिक सम्पर्क करीब-करीब नहीं के बराबर है। इनकी अपनी कोई खास भाषा भी नहीं है। मयूरभंज के इलाके में ये लोग उड़िया बोलते हैं और झारखण्ड में बंगला या हिन्दी।

दूध खड़िया और ढेल्की खड़िया गाँवों में बसे हुए है। ये लोग खेती-बारी करते हैं।

सन् 1971 की जनगणना के अनुसार उनकी आबादी अविभाजित बिहार में 1 लाख 27 हजार थी। खड़ियाओं की अलग-अलग जनसंख्या तो नहीं ली जा सकी है, लेकिन यह बात स्पष्ट है कि दूध खड़ियाओं की संख्या ढेल्की और पहाड़ी खड़ियाओं से कहीं अधिक थी।

भाषा

खड़िया लोगों की भाषा मुंडारी भाषा की एक शाखा है। सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार यह आष्ट्रो एशियाटिक भाषा से निकली है। पहाड़ी खड़ियाओं ने अपनी बोली को बिल्कुल ही भुला दिया है, और भिन्न-भिन्न इलाकों में वे स्थानीय बोली बोलते हैं। अपनी शारीरिक बनावट और नस्ल की दृष्टि से इनका संबंध मुंडारी बोलनेवाले दूसरे कबीलों से है।

मुंडारी भाषा-भाषियों में कोलारियन समूह के कबीले (मुंडा, संथाल, हो) खड़ियाओं, बिरहोर, जुआंग और कोरबा लोगों से अधिक प्रसिद्ध हैं। जैसा कि हमलोग पहले ही जान चुके हैं, खड़िया कबीले को मोटे तौर पर तीन भागों में बाँटा जा सकता है-पहाड़ी खड़िया, दूध खड़िया और ढेल्की खड़िया। ये तीन समूह तीन दर्जे (grade) की संस्कृतियों को व्यक्त करते हैं।

पहाड़ी खड़िया के लोग अभी तक जंगली जानवरों का शिकार करके और जंगली फलों को जमा करके अपना जीवन बिताते हैं। ये लोग भी झूम की खेती करते हैं। इनके सामाजिक संगठन, धार्मिक विचार तथा व्यवहार भी इसी प्रकार से बहुत ही पिछड़े हुए हैं। ढेल्की खड़िया के लोगों की-जो निःसंदेह पहाड़ी खड़ियाओं की अपेक्षा अधिक उन्नत है— सामाजिक तथा आर्थिक दशा भी काफी अच्छी है। ये लोग खेती-बारी करते हैं। फिर भी भौतिक संस्कृति की दृष्टि से ये लोग दूध खड़ियाओं की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए हैं। दूध खड़िया के लोग इस दृष्टि से मुंडा, हो और संताल लोगों के बराबर हैं। शारीरिक बनावट के दृष्टिकोण से भी दूध खड़िया के लोग अधिक सुन्दर हैं दूध खड़ियाओं का नाम इसलिए ऐसा रखा गया, चूँकि ये लोग खान-पान में अधिक प्रतिबन्धों पर विश्वास करते हैं और इस प्रकार दूध की तरह पवित्र हैं।

शारीरिक बनावट के विचार से ये लोग औसत कद के होते हैं। इनका रंग बादामी या काला होता है। महिलाओं का रंग कुछ साफ होता है। इनका शरीर बड़ा स्वस्थ होता है। इनकी नाक जड़ पर धँसी होती है। चेहरा उभरा और चौड़ा होता है। ठुड्डी चौड़ी और निकली होती है।

विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि खड़िया लोग पहले-पहल रोहतासगढ़ और मध्यप्रदेश के भागों में रहा करते थे। धीरे-धीरे ये लोग अपना निवास स्थान छोड़कर झारखण्ड और उड़ीसा के मयूरभंज में बस गये।

पहाड़ी खड़ियाओं के जीवन में उनका अधिक समय भोजन की वस्तुओं की प्राप्ति में लगता है। उनकी महिलायें सवेरे ही पौ फटने के पहले उठ जाती हैं, अपने घर को साफ करती हैं, तालाब और झरनों से पानी लाती हैं। पुरुष भी साधारणत: सबेरे उठते हैं। मुँह हाथ धोकर उबाला हुआ (भात) खाते हैं। उसके बाद जंगली जानवरों के शिकार और भोजन की खोज में निकल जाते हैं। यदि उनके पास झूम-काश्तकारी के लिए भूमि होती है, तो वे खेत पर काम करने के लिए चले जाते हैं। प्राय: ये दूसरे मालिकों के खेतों पर एक मजदूर ही हैसियत से काम करते हैं। अगर उनका कार्य घर के निकट ही होता है तो वे दोपहर में खाना खाने के लिए घर लौट आते हैं। अपने साथ बच्चों के लिए "भूंजा" लेते आते हैं। किन्तु जब उन्हें अपने घर से अधिक दूरी पर काम करना पड़ता है, तो वे सन्ध्या समय घर आते हैं और अपने साथ दिन भर की मजदूरी लाते हैं। संध्या समय (यदि मिल गया तो) वे लोग भात ही खाते हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि खड़ियाओं की आर्थिक दशा ऐसी नहीं है कि वे लोग साल भर चावल का प्रयोग कर सकें। साल के अधिकतर भाग में उन्हें जंगली फलों और पशुओं पर निर्भर करना पड़ता है। जंगलों से ये लोग शहद जमा करते हैं। यह भी उनका एक मुख्य भोजन है। तीर चलाने में ये लोग बड़े तेज होते हैं। इसी के द्वारा वे बड़े-बड़े शेरों को मार डालते हैं। सन्ध्या समय ये लोग (पुरुष और महिला) एक साथ इकट्ठा होकर नाच-गान द्वारा मनोरंजन करते हैं।

पहाड़ी खड़ियाओं की अपेक्षा दूध और ढेलकी खड़िया अधिक उन्नत हैं। बहुत पहले ही ये वे लोग गाँव बसा कर रहने लगे थे। यही कारण है कि भोजन सामग्री में वे अच्छे हैं। उन्हें अपने भोजन प्राप्ति में पहाड़ी खड़ियाओं की तरह व्यस्त नहीं रहना पड़ता है। इसीलिए उन्हें अपनी भौतिक संस्कृति को उन्नत करने का अच्छा अवसर मिल सका। उनके घर सुन्दर बने होते हैं। उनके कपड़े भी अच्छे होते हैं। उनके पास अच्छे और अधिक बरतन, यन्त्र और साधन हैं। उनकी स्त्रियाँ गहने भी पहनती हैं।

घर का स्वामी सबेरे उठकर या तो स्वयं ही मवेशियों को खोल देता है या बच्चों को ऐसा करने को कहता है। इसी प्रकार बूढ़ी स्त्रियाँ लड़कियों से घर के दूसरे कार्यो को करवातीं हैं। लड़कियाँ कुएँ, तालाब या झरने से पानी लाती हैं। घर की सफाई करती हैं। कोई लड़की भोजन के लिए साग तोड़कर लाती है, कोई खेत में काम करती है और कोई घर का भोजन तैयार करती हैं। इसी प्रकार मर्द भी खेतों में या किसी दूसरे स्थान पर काम करने के लिए चले जाते हैं। वे दोपहर घर लौटते हैं। इच्छा होती है, तो वे किसी तालाब या झरने में स्नान भी कर लेते हैं। उनका साधारण भोजन भात, दाल, तरकारी या साग है। मर्द खेतों में काम करने के अतिरिक्त जंगल से लकड़ियाँ भी काट कर लाते हैं। स्त्रियाँ भी इसी प्रकार सूखी हुई पत्तियाँ और पेड़ की टहनियों को जलावन के लिए जमा करती है।

पहाड़ी खड़िया साधारणत: किसी गाँव में नहीं रहते हैं। कई परिवार मिलकर किसी स्थान को साफ-सुथरा करके रहने लगते हैं। कभी-कभी तो भिन्न-भिन्न परिवारों की झोपड़ियाँ एक दूसरे से काफी दूर-दूर पर हुआ करती हैं। इन लोगों के विपरीत दूध खड़िया और ढेलकी खड़िया के लोग गाँव में रहा

करते हैं। इनके घर बहुत अधिक सुन्दर तरीके से बसे नही होते हैं। हर गाँव में अखरा होता है जहाँ ये लोग नाचते-गाते हैं।

इनके गाँवों में कुँआरी लड़कियाँ के लिए युवागृह होते है, जिन्हें ''गीति-ओ'' (giti-o) कहते हैं। यहाँ गाँव के एक किनारे पर बना होता है। यह घर कभी-कभी मेहमानों के ठहराने के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है। इनकी बनावट साधारण खड़िया घर जैसी होती है। फिर भी यह युवागृह खड़िया लोगों के समाज में उतनी उन्नति प्राप्त नहीं कर सका है, जितना की उराँव लोगों के यहाँ यह संस्था उन्नत है।

पहाड़ी खड़िया भी घर बनाकर रहते हैं, किन्तु ये घर बहुत मामूली होते हैं। साधरणतः एक पहाड़ी खड़िया के घर में केवल एक ही कोठरी होती है, जिसमें ये लोग सोते और खाते हैं। प्रायः खाना किसी खुले स्थान पर बनाया जाता है। साल की लकड़ी के खम्भों और मिट्टी की दीवालों के सहारे घर खड़ा होता है। छत को घास, भूसा और कीचड़ से पाट दिया जाता है। सूखी हुई लकड़ियाँ जलावन के रूप में प्रयुक्त होती हैं। किन्तु दूध खड़िया और ढेलकी खड़ियाओं के घर उनसे भिन्न होते हैं। घर की बनावट बहुत हद तक परिवार की हैसियत पर निर्भर करती है। घर की दीवारें, साल की लकड़ी, बाँस या पेड़ की शाखाओं से बनी होती है। घर में खिड़कियाँ नहीं रहती हैं। अमीर परिवार को एक से अधिक घर होते हैं।

साधारणतः खड़िया लोग अपने घर के एक भाग में खाना तैयार करते हैं। अधिकतर लोगों के यहाँ दिन रात आग जलती है। जब कभी किसी व्यक्ति के यहाँ आग बुझ जाती है, तो वह किसी पड़ोसी के यहाँ आग लाने जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उनके यहाँ आग जलाने की प्रथा अपनी संस्कृति की उपज नहीं हैं। फिर भी ये लोग लकड़ियों के द्वारा आग प्राप्त करते हैं।

चावल खड़ियाओं का मुख्य भोजन है। किन्तु पहाड़ी खड़ियाओं को हमेशा चावल नहीं मिलता है, क्योंकि वे स्वयं धान पैदा नहीं करते है। अतः जानवरों और जंगली फलों पर ही भरोसा करना पड़ता है। कद्दू, कोंहड़ा, बैगन आदि सब्जियाँ खाते हैं। भोजन में नमक का व्यवहार अधिक करते हैं। मिलने पर माँस-मछली भी खाते हैं। तमाकू और दारू अधिक पीते हैं। चावल से बनी हुई शराब इन लोगों की भाषा में ''गोलांड'' (goland) कही जाती है।

दूध और ढेल्की खड़ियाओं की आर्थिक दशा पहाड़ी खड़ियाओं से कहीं अच्छी है। ये लोग कृषि पर अधिक निर्भर करते हैं। किन्तु इनके यहाँ सिंचाई का प्रबन्ध बिल्कुल नहीं है जिसके कारण इनकी खेती हमेशा मौनसून पर निर्भर करती है। यही कारण है कि अतिवृष्टि और अनावृष्टि के समय ये लोग बहुत तबाह हो जाते है, और मजबूर होकर साहूकारों से सूद पर रुपये या अन्न प्राप्त करते हैं। कुछ शिक्षा प्राप्त खड़िया नौकरियों में काम करते हैं।

सामाजिक संगठन

दुनिया के अन्य समाजों के समान खड़ियाओं के समाज का आधार परिवार है। परिवार में माता-पिता और उनके बच्चे रहते हैं। कभी-कभी दूसरे व्यक्ति भी परिवार में रहते हैं। पितृ सत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। यही कारण है कि पितृस्थानीय निवास और पितृवंशानुक्रम के अनुसार परिवार का

नाम चलता है। बहुविवाह की प्रथा नहीं है। ये लोग एक विवाह (Monogamy) पर ही चलते हैं खड़िया पुरुष का कर्तव्य होता है कि वह अपनी पत्नी और बच्चों की रक्षा करे। लिंग के आधार पर श्रम-विभाजन का तरीका भी पाया जाता है। ये लोग अपनी स्त्रियों के साथ अच्छा व्यवहार रखते हैं। यद्यपि किसी स्त्री को जायदाद का स्वामित्व प्राप्त नहीं है, तथापि अपने कपड़े, गहने और अन्य वस्तुओं पर उसका पूरा अधिकार होता है। आजीवन वह अपने पति की सम्पत्ति की स्वामिनी होती है।

पति के मरने के बाद उसकी आवश्यकता के अनुसार उसे अधिकार प्राप्त है। विवाह के पहले कोई लड़की अपने पिता की जायदाद पर अधिकार नहीं रखती है, किन्तु उसे विवाह का खर्च तथा अपने पालन-पोषण का खर्च लेने का पूरा अधिकार प्राप्त है।

खड़िया जनजाति बच्चों के सामाजिक तथा आर्थिक महत्व को अच्छी तरह समझते हैं। उनके समाज में लड़का और लड़की दोनों का बराबर सम्मान किया जाता है। उनके समाज में शिशु हत्या का रिवाज नहीं है। बाल्यावस्था में बच्चे माँ की निगरानी में रहते हैं, लेकिन पुरुष भी जब अपने कामों से छुटकारा पाते हैं, तो स्त्रियों की सहायता करते हैं। माताएँ बच्चे को पीठ में बाँधकर काम करती हैं। कभी-कभी बड़ी बेटी-छोटे भाई या बहन को पीठ में बाँधकर खेलाती है।

पहाड़ी खड़िया लोगों में गोत्र का संगठन लगभग नहीं के बराबर है। लेकिन दूध और ढेलकी खड़ियाओं में गोत्र के आधार पर सामाजिक संगठन पाये जाते थे, लेकिन अब उनके यहाँ न तो गोत्र है और न टोटेम। उनके यहाँ विवाह के संबंध में वहिर्वैवाहिक नियम पाये जाते हैं। लेकिन उनके नाम दूध या ढेल्की खड़ियाओं के गोत्रों से भिन्न है।

दूध और ढेल्की खड़ियाओं के यहाँ यद्यपि परिवार ही समाज का सबसे महत्वपूर्ण समूह है, तथापि उनके समाज में बहिर्वैवाहिक टोटेम संबंधी गोत्रों को भी बहुत बड़ा सामाजिक स्थान प्राप्त है। इन्हीं गोत्रों के आधार पर विवाह और नातेदारी का संचालन होता है।

इन खड़ियाओं को अपनी उत्पत्ति के विषय में बहुत ही धुँधली स्मृति है। ये अपने सामान्य पूर्वजों के नाम नहीं बता सकते हैं। किन्तु इनका ऐसा विश्वास है कि इनके विभिन्न गोत्रों की उत्पत्ति, विभिन्न सामान्य पूर्वजों द्वारा हुई है। यही कारण है कि एक ही गोत्र के सदस्यों में विवाह का संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता है। इसलिए दूध और ढेल्की खड़िया के लोग विभिन्न बहिर्वैवाहिक गोत्रों में बँटे हैं। हर गोत्र का अपना टोटेम होता है। इस तरह ढेल्की खड़ियाओं में आठ गोत्र हैं। आगे चलकर ये गोत्र छोटे-छोटे उपगोत्रों में विभाजित हो गये हैं। दूध खड़ियाओं का विचार है कि जिस समय ये लोग छोटानागपुर प्लेटो पर आये थे, उस समय उनके समाज में नौ गोत्र थे।

रक्त संबंध (Kinship)

जैसा कि हमलोग पहले ही देख चुके हैं, खड़िया कबीला विभिन्न बहिर्वैवाहिक गोत्रों में बँटा हुआ है। हर खड़िया का संबंध किसी न किसी गोत्र से होता है। इनके अनुसार एक ही नाम से कई रिश्तेदारों का बोध कराया जाता है। उदाहरण स्वरूप "काका" से सौतेला पिता-छोटे चाचा भी समझे जाते हैं। "मामा" से फूफा और मामा समझे जाते हैं। कभी-कभी नातेदारी व्यक्त करने के लिए लिंग और आयु का भी विचार किया जाता है।

राजनीतिक संगठन

हमलोग पहले जानकारी प्राप्त कर चुके हैं कि पहाड़ी खड़ियाओं का कोई निश्चित स्थान नहीं होता है। ये बनजारा लोगों के समान एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। उनका कोई स्थायी पेशा नहीं है, न तो उनकी खाद्य सामग्री ही उनकी आवश्यकता के अनुसार है। अतः वे किसी स्थान पर अधिक दिनों तक ठहर नहीं सकते हैं। और न तो उनकी जनसंख्या ही किसी निश्चित स्थान पर काफी बढ़ती है। ये लोग छोटे-छोटे टोले बनाकर रहते हैं। यह स्थान उसी समय तक आबाद रहता है, जब तक वहाँ उनलोगों को भोजन के लिए सामान मिलते रहते हैं, और ज्यों ही भोजन के सामान समाप्त हो जाते हैं वे दूसरे स्थान के लिए कूच कर देते हैं। इसीलिए उनके यहाँ कोई बड़ा सामाजिक या राजनीतिक संगठन नहीं पाया जाता है। किन्तु छोटे-छोटे समूहों में सामाजिक परम्पराओं और मूल्यों का पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता है।

दूध और ढेलकी खड़ियाओं की स्थिति इसके विपरीत है। कृषि ही इनका मुख्य पेशा है। इसीलिए ये लोग निश्चित निवास स्थान पर बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। इस प्रकार इनके स्थायी गाँव है, जहाँ इनकी संख्या अधिक है। इसलिए इनके यहाँ सामाजिक संगठन बड़े प्रभावशाली होते हैं।

गाँव के बड़े-बूढ़े लोगों को सामाजिक मामले में बड़ा अधिकार प्राप्त होता है। उनकी बुद्धि तथा अनुभव से गाँव के युवक और साधारण लोग अधिक लाभ उठाते हैं। प्रायः सब से बड़ा और बुद्धिमान व्यक्ति गाँव का नेता हुआ करता है। यह नेता कभी तो कोई पुजारी होता है, या कोई अन्य व्यक्ति। ढेल्की खड़िया लोगों के यहाँ इसे ''कालो,'' दूध खड़ियाओं के यहाँ ''बैगा'' या ''पहान'' और पहाड़ी लोगों में ''देहरी'' कहा जाता है। किन्तु यह नेता ही गाँव में सब कुछ नहीं होता है, बल्कि इसके अतिरिक्त भी गाँव में अन्य बुद्धिमान और प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं, जिनकी सलाह लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। वास्तव में गाँव के ऐसे व्यक्तियों तथा पहान को मिलाकर एक ग्रामसभा का निर्माण होता है, जो गाँव के सारे कार्यो की देख-रेख करती है। इसे ये लोग ग्राम-पंचायत कहा करते हैं। इस पंचायत को गाँव के लगभग सभी महत्वपूर्ण बातों में अधिकार प्राप्त है, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक हर प्रकार की बातें इसके कार्यक्षेत्र में आती हैं।

गाँव का सरदार पंचों की सलाह से विभिन्न कार्यो के लिए चन्दा करता है। ये रुपये धार्मिक त्योहारों, सार्वजनिक पूजा इत्यादि में खर्च किये जाते हैं। यदि कोई विधवा या कम उम्र का युवक अपने खेत की देखभाल अच्छे ढंग से नहीं कर पाता है, तो गाँव का सरदार और दूसरे अधिकारी गाँववालों को उनका खेत जोतने के लिए कहते हैं। इस प्रकार गाँव के सभी लोग बारी-बारी से अवसर पाकर खेत को अच्छी तरह जोत-बो देते हैं, और लाचार व्यक्तियों की सहायता हो जाती है। विवाह और मृत्यु के अवसर पर गाँव के सभी लोग सहायता करते हैं। इस प्रकार एक व्यक्ति का बोझ हल्का हो जाता है। विभिन्न प्रकार के निषेधात्मक कार्यो को करने वाले गाँव के नियमों के अनुसार दोषी समझे जाते हैं। किसी प्रकार के अपराध की सजा उनके यहाँ जातीय बहिष्कार है। किन्तु यह सजा केवल पहली ही बार दी जाती है। यदि कोई व्यक्ति कोई गुरुतर अपराध बार-बार करता है, तो उसे बड़ा दण्ड देना पड़ता है। उनके समाज में सबसे बड़े अपराधों को किसी की हत्या करना, गौ या भैंस को मारना या अपने

गोत्र में यौन संबंध रखना समझा जाता है। यदि कोई व्यक्ति गाँव के सरदार के निर्णय से सन्तुष्ट नहीं होता है, तो फिर वह अपने कबीले की सभा में पुनः निर्णय के लिए निवेदन करता है। यदि कोई व्यक्ति अपराधों के लिए क्षमा माँगकर फिर से गाँव में रहना चाहता है, तब भी ग्रामसभा का फैसला आवश्यक समझा जाता है। किसी व्यक्ति को क्षमा उसी समय दी जा सकती है, जबकि वह ग्रामसभा की आज्ञा से शुद्धि के संस्कारों का पालन करे और गाँववालों को भोज दे। छोटे-मोटे अपराधों के लिए दूसरे प्रकार के दंड रखे गये हैं।

पहाड़ी खड़िया लोगों में बाप के मरने के बाद उसकी जायदाद बेटों में समान रूप से बाँट दी जाती है। लड़कियों को इसमें से हिस्सा नहीं मिलता है, किन्तु उनका विवाह न होने के समय उनका खर्च भी उसी सम्पत्ति से चलाया जाता है। विधवा को भी उसकी मृत्यु तक उसी पैतृक धन से सहायता दी जाती है। यदि बच्चे नहीं होते तो विधवा अपने जीवन भर उस सम्पत्ति पर अधिकार रखती है। दूध और ढेल्की खड़ियाओं में भी लड़की को पैतृक सम्पत्ति से बराबर-बराबर हिस्सा मिलता है, लेकिन उनके यहाँ उराँव और मुंडा लोगों के समान सब से बड़े लड़के को कुछ अधिक हिस्सा मिलता है। मवेशी रुपये और अन्य वस्तुओं को भी बराबर-बराबर बाँट दिया जाता है। पिता के जीवित रहते जायदाद के बँटवारा होने पर सारी सम्पत्ति का एक भाग पिता के लिए छोड़ दिया जाता है।

खड़िया लोगों के यहाँ ग्राम-पंचायत से बढ़कर कबीले के आधार पर राजनीतिक संगठन कायम है। यहाँ तक कि पहाड़ी खड़ियाओं में भी इस तरह का महान् सामाजिक संगठन पाया जाता है। उनके यहाँ भिन्न-भिन्न समूहों के नेता आवश्यकता पड़ने पर एक सभा में मिलकर बैठते हैं, जहाँ सम्पूर्ण गोत्र या कबीले की विभिन्न बातों पर विचार किया जाता है। इस तरह की अन्तर्ग्रामीण पंचायत को पहाड़ी खड़िया अपनी भाषा में ''भीरा'' और उसके सभापति को ''दंदिया'' कहते हैं। ढेल्की लोगों में भी इस प्रकार का एक संगठन है जिसे वे लोग ''परहा'' कहते हैं। इस जातीय परिषद में विभिन्न गोत्रों के प्रतिनिधि होते हैं। इसी प्रकार दूध खड़ियाओं में भी संगठन पाये जाते हैं। सारे सामाजिक समूह नेताओं की सत्ता को स्वीकार करते हैं।

विवाह

खड़िया लोगों ने विवाह को पर्याप्त महत्व दिया है। ये लोग हर व्यक्ति के लिए विवाह आवश्यक समझते हैं। जबतक कोई व्यक्ति विवाह नहीं कर लेता, तब तक समाज में उसे कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जाता है। जैसा कि हमलोग पहले पढ़ चुके हैं खड़िया कबीला विभिन्न गोत्रों में बँधा हुआ है, इन गोत्रों के सदस्यों में विवाह नहीं होता, अर्थात् यह कबीला वहिर्वैवाहिक गोत्रों में बँटा हुआ है। इन गोत्रों के सदस्यों में विवाह नहीं होता। तीनों खड़िया (पहाड़ी खड़िया, और ढेल्की खड़िया) एक दूसरे के साथ वैवाहिक संबंध नहीं रखते हैं। अपने ही कबीले के विभिन्न गोत्रों में इनका विवाह संबंध हुआ करता है। इसी प्रकार कोई खड़िया दूसरी जाति या कबीले में विवाह नहीं कर सकता है।

खड़ियाओं के बीच प्रायः बाल-विवाह की पद्धति नहीं चलती। जब तक कोई लड़का अपनी रोजी-रोटी करने के योग्य नहीं हो जाता, तब तक उसका विवाह नहीं किया जाता है। विवाह की विभिन्न रीतियों में एक ''असली'' विवाह कहलाता है। इस प्रकार के विवाह में लड़के या लड़की की अपने इच्छा से विवाह नहीं होता है, बल्कि माता-पिता की पसन्द के अनुसार होता है। इसके अतिरिक्त दूसरे

प्रकार के विवाह भी हैं, जिनके अनुसार एक व्यक्ति अपनी इच्छा के मुताबिक अपना जीवन-साथी चुन सकता है। पहाड़ी खड़ियाओं के यहाँ साधारणत: विवाह माता-पिता द्वारा तय किया जाता है, किन्तु ढेल्की तथा दूध खड़ियाओं में अन्य प्रकार के विवाह भी प्रचलित हैं। जब माता-पिता किसी ऐसे विवाह की आज्ञा नहीं देते, जिसमें लड़का और लड़की में प्रेम उत्पन्न हो गया है, तब या तो वे लोग कहीं एक साथ भागकर चले जाते हैं या लड़का अपनी शक्ति से लड़की को अपने घर में ले आता है।

विवाह संबंधी बातचीत, अगुवा लोगों के द्वारा चलती है। इसके पहले लड़के के संबंधी लड़की को उसके माता-पिता के घर जाकर किसी तरह देख लेते हैं। यदि लड़की उन्हें पसन्द आ जाती है, तो लड़की के पिता के घर एक ''बिचवा'' (go-between) को भेजते हैं। इसे ''डाण्डिया'' भी कहा जाता है। यदि लड़की के सम्बन्धियों को स्वीकार होता है, तो ये लोग, लड़के को देखने के लिए उसके घर पर जाते है। रास्तेभर ये लोग अच्छे और बुरे शकुनों (Omens) को देखते जाते हैं। यदि किसी साँप या बाघ (Tiger) को देख लेते हैं, तो उसे बुरा समझकर वहीं से घर लौट आते हैं यदि अच्छे शकुन को देखकर ये लोग लड़के के घर पहुँचते हैं, और लड़का इन्हें पसन्द हो जाये, तो विवाह करने के लिए राजी होते हैं। फिर भी ये लोग घर जाकर अपने डाण्डिया द्वारा इसके विषय में लड़के के पिता को कहला देते हैं।

कुछ दिनों के बाद लड़के का पिता अपने संबंधियों के साथ लड़की के घर आता है। ये लोग अपने साथ कुछ मिठाइयाँ और चावल ले जाते हैं। जब ये लोग वहाँ पहुँचते हैं तो इनके हाथ-पैर धुलाये जाते हैं। फिर ये लोग घर के आँगन में बैठकर तमाकू खाते-पीते हैं। फिर लड़की वहाँ बुलायी जाती है और लड़के का पिता उसके गले में एक ''नेकलेस' डाल देता है। इसी समय ''कन्या-धन'' भी तय किया जाता है, और किसी निश्चित दिन को सामाजिक नियमों के अनुसार विवाह कर दिया जाता है।

इनके समाज में विधवा-विवाह भी किया जाता है। विधवा को ''कन्या-धन'' नहीं दिया जाता है, परन्तु लड़का उसके लिए नये कपड़े लाता है।

तलाक

खड़िया जनजाति में तलाक देने का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को दिया गया है। तलाक के लिए निम्नलिखित कारणों पर विचार किया जाता है—

1. स्त्री या पुरुष का किसी दूसरे व्यक्ति से यौन संबंध।
2. स्त्री का बाँझ होना।
3. पत्नी का आलसी होना और गृहस्थी के कार्यों पर ध्यान न देना।
4. पत्नी का अपने पति के घर में रहने से इन्कार करना।
5. पत्नी की चोरी करने की आदत होना।
6. ग्राम पंच का यदि निर्णय हो कि पत्नी डायन (witch) है।

इससे पता चलता है कि खड़िया लोग विवाह के सामाजिक महत्व को बहुत अच्छी तरह समझते

हैं। पति-पत्नी के संबंध पर उनका बड़ा ध्यान रहता है। यदि दोनों प्रेमपूर्वक साथ रहते हैं तब इनका वैवाहिक संबंध स्थापित रहता है। तलाक की भी गुंजाइश है। कन्या-धन का तरीका इनके समाज में भी प्रचलित है। बाल-विवाह पर विशेष प्रतिबन्ध है, किन्तु विधवा-विवाह की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई है।

धर्म और त्योहार

आदिवासी लोगों के समाज में उनके धर्म को अत्याधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उनके सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन को अच्छी तरह समझने के लिए उनके धार्मिक विश्वासों तथा विधियों (Rituals) की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। उनके जीवन के विभिन्न कार्य कभी-कभी तो धार्मिक कार्यो से इतने सम्बन्धित होते हैं कि उनका पता लगाना कठिन हो जाता है। खड़िया लोग भी इस प्रकार अपने धर्म-कार्यों द्वारा अपना जीवन सुखी बनाना चाहते हैं। वे इनके द्वारा अति मानवीय (super-human) तथा अति प्राकृतिक (supernatural) शक्ति की सहायता प्राप्त करते हैं।

खड़िया लोगों को वर्तमान जीवन के बाद एक विशेष जीवन का विश्वास है। ये शरीर और आत्मा को अलग वस्तु समझते हैं। वे प्राकृतिक वस्तुओं की पूजा नहीं करते, बल्कि किसी हद तक उनके यहाँ पूर्वज-पूजा (Ancestral worship) की जाती है। उनके विश्वास के अनुसार सब वस्तुएँ अपने भौतिक रूप के अतिरिक्त एक आत्मा भी रखती हैं। प्रकृति पर वे अपना अधिकार रखना और अपने को उसके अनुकूल बनाना चाहते हैं। उनका विश्वास है कि कुछ अतिमानवीय शक्तियाँ भी हैं, जो मनुष्य के जीवन को व्यापक रूपसे प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि वे अधिकांश धार्मिक कार्यों द्वारा उन्हें प्रसन्न करना चाहते हैं।

खड़िया लोगों के अनुसार उनके वातावरण की हर वस्तु में छिपी हुई अति प्राकृतिक आत्मा है। पहाड़ियों की आत्मा, अपने गोत्रों की आत्मा, गाँव की आत्मा तथा देवियाँ, जंगल की देवियाँ, पूर्वजों की आत्मा स्वर्गीय महान् व्यक्तियों की आत्मा तथा अन्य अतिप्राकृतिक शक्तियाँ खड़िया लोगों के द्वारा पूजी जाती हैं।

किन्तु इन सभी छोटे-मोटे देवताओं तथा देवियों के अतिरिक्त उनका विश्वास एक ऐसे महान् ईश्वर में है, जिसने मनुष्य तथा अन्य जीवों का निर्माण किया। जब अन्य देवताओं की सहायता उन्हें नहीं मिल पाती है तो वे अन्त में इसी परमेश्वर का सहारा लेते हैं। ईश्वर को ये लोग अपनी भाषा में 'गिरिंग'', ''बेरो'' या ''धर्मराजा'' कहते हैं। परमेश्वर के बाद पूर्वजों की आत्मा का सहारा लिया जाता है। इनके अधिकतर देवी-देवता मुंडा, हो और संथाल लोगों से मिलते जुलते हैं।

इनके धर्म-विश्वासों तथा धर्म-कर्मों का अध्ययन करने से ऐसा अनुमान होता है कि ये लोग अपने परमेश्वर से डर या भय से अधिक प्रेम और सद्भावना रखते हैं। जीवन के संकट में वे इसी भगवान तथा अन्य देवताओं की पूजा द्वारा सहायता प्राप्त करते हैं।

पहाड़ी खड़ियाओं के यहाँ अभी तक कृषि का पूर्ण रूप से आविष्कार नहीं हुआ है इसीलिए उनके अधिकतर त्योहार साधारणतः खेती-बारी से बहुत कम संबंध रखते हैं। उनके सार्वजनिक त्योहारों का (जिनमें गाँव का पुरोहित संस्कारों को करता है) संबंध अधिकतर शिकार और झूम की खेती से होता

है।

दूसरे खड़ियाओं के समान ये लोग भी सबसे पहले परमेश्वर की पूजा करते हैं और फिर बाद में दूसरे देवताओं की ओर ध्यान देते हैं। पहाड़ी खड़ियाओं के यहाँ (Phago) 'फागो' त्योहार उनकी आर्थिक स्थिति को स्पष्ट करता है। इस त्योहार को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक का संबंध शिकार के संस्कारों से होता है और दूसरे का मौसम के विभिन्न फलों, तरकारियों तथा अन्य खाने योग्य वस्तुओं के संस्कार से होता है। इनका दूसरा सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत त्योहर जेथ-नवा-खिया (Jeth-nawa-khia) है, जिसका शहद-संग्रह तथा झूम के संस्कारों से संबंध है।

दूध तथा ढेल्की खड़िया वाले अधिक उन्नत हैं, अतः खाद्य सामग्री-संग्रह तथा शिकार को इन लोगों ने छोड़ दिया और अब अधिकतर कृषि पर निर्भर करते हैं। फिर भी इनमें जिन व्यक्तियों को अधिक अन्न नहीं होता है, वे कभी-कभी शिकार तथा जंगली फलों पर गुजारा करते हैं। साल (सखुए) के पत्ते और फल उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार महुआ भी उनलोगों के लिए बड़ा लाभदायक है। इसीलिए फरवरी-मार्च के महीने ये लोग एक धार्मिक त्यौहार मनाते हैं, जबकि साल और महुए के पेड़ हरे-भरे होते हैं।

पहाड़ी खड़ियाओं के अनुसार दूध तथा ढेल्क्री खड़िया लोग भी ''बाघया'' तथा कुन्त दाँत (Kunt Dant) देवताओं की पूजा करते हैं। इन देवताओं का संबंध महुआ और साल के पेड़ों से है। किन्तु ये लोग इन देवताओं से जंगली फलों की प्राप्ति या शिकार में सफलता की प्रार्थना नहीं करते हैं, बल्कि जंगली पशुओं से अपने पशुओं की संरक्षा चाहते हैं। इस से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पहाड़ी खड़िया वाले अभी तक खाद्य संग्रह तथा झूम की खेती ही के स्तर पर हें, इसलिए वे देवताओं से उन्हीं वस्तुओं के लिए प्रार्थना करते हैं, किन्तु दूध तथा ढेलकी खड़ियाओं ने उस अवस्था से उन्नति प्राप्त कर ली है और वे खेतिहर तथा काश्तकार हो चुके हैं। अतः वे अपने पशुओं का भला चाहते हैं।

इसी प्रकार कृषि से सम्बन्धित इनके यहाँ अन्य त्योहार भी हैं। कुछ त्यौहार बीज बोने के समय और कुछ त्योहार कटनी के समय मानाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में ''रोनोल'' या ''बाँगरी'' त्यौहार, पोलो तथा ''गोओ-गंजारी'' प्रसिद्ध हैं।

मुंडाओं के समान खड़िया जनजाति भी सूर्य को परमेश्वर का प्रतिरूप मानते हैं। मुंडा, हो तथा बिरहोर इसे सिंगबोंगा अर्थात् सूर्यदेवता कहते हैं ये लोग इसे ''गिरिंग'' कहते हैं और इस प्रकार इनके यहाँ भी सूर्य पूजा होती है। इसके अतिरित पूर्वज-पूजा भी की जाती है।

जादूगरी (Magic) भी धर्म के समान अतिप्रकृति से संबंध रखती है। खड़ियाओं के यहाँ पुजारी ''कालो'' या ''दीहरी'' कहलाता है। इस प्रकार अच्छा जादूगर तथा वैद्य (Medicine man) उनके यहाँ ''देओरा'' कहलाता है। इनके यहाँ दो प्रकार की जादूगरी होती है— बुरी जादूगरी (Black magic) तथा अच्छी जादूगरी (White magic) बुरी जादूगरी करने वाले को बुरा, किन्तु अच्छी जादूगरी करने वाले को अच्छा समझा जाता है। संकट के समय में वे अच्छे जादूगर से सहायता लेते हैं। कालो ''पुरोहित'' तथा देओरा (जादूगर) इस समय में बहुत काम करते हैं। अकाल पड़ने पर कालो की सहायता ली जाती है, जो जादू की शक्ति से वर्षा का प्रबन्ध करता है। देओरा उस समय होता है, जब कभी बुरी जादूगरी

के प्रभाव को काटना होता है। खड़िया लोग भी दूसरे कबीलों के समान इस पर विश्वास करते हैं कि रोग या कोई दुर्घटना बुरी जादूगरी के कारण ही होती है। इसी प्रकार व्यापक रोग को रोकने के लिए जादू की सहायता ली जाती है। आदिवासियों में धर्म तथा जादूगरी में इतना घनिष्ट संबंध होता है कि दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं समझा जाता है। इसीलिए उनके जादूगरी तथा धार्मिक विश्वासों (Magico-religious beliefs) को एक साथ ही रखकर उनके सामाजिक महत्व को समझा जा सकता है।

खड़िया, अन्य आदिवासियों के समान खेल और मनोरंजन के बड़े प्रेमी होते हैं। प्रायः लड़के और लड़कियाँ साथ ही मिलकर खेलती हैं। युवक नाच और गाना अधिक पसंद करते हैं। उनके गानों और अन्य लोक साहित्य का विश्लेषण करने से पता लगता है कि उनमें समाज की महत्वपूर्ण बातें सम्मिलित होती हैं। उनकी परम्परायें, सृष्टि का इतिहास, संस्कृति के मूल्य तथा वातावरण की विशेषताएँ उनमें पाई जाती है। उनके गानों में प्रेम-कहानी के अतिरिक्त जीवन के अनुभव और वातावरण के प्रतिरूप मिलते हैं। अपने कठिन तथा सकंटमय जीवन को वे लोग इन गानों, नाच, तथा मनोरंजन के अन्य कार्यो द्वारा सुखी बनाते हैं।

VI. सौरिया पहाड़िया-सामान्य परिचय

सौरिया पहाड़िया, झारखंड की आदिम जनजाति है, जो मुख्य रूप से संथाल परगना प्रमंडल के साहेबगंज तथा गोड्डा जिले के उत्तरी भाग तथा दुमका जिले में निवास करती है। इस अनुसूचित जनजाति की कुछ आबादी सहरसा, कटिहार, भागलपुर, तथा सिंहभूम जिले में भी पाई जाती है। संथाल परगना के दामिन-ई-कोह (पहाड़ का आंचल) के उत्तरी भाग में जिसका अधिकांश हिस्सा राजमहल की पहाड़ियों से आच्छादित है, इस जनजाति का मुख्य संकेन्द्रण है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय (302 BC) मेगस्थनीज ने अपने भारत-भ्रमण के दौरान राजमहल पहाड़ियों के अधो भाग में रहने वाली जंगली आदिम जातियों का उल्लेख माल्ली (मानव) या सौरि के रूप में किया है, जो अब अपने को मलेर या सौरिया पहाड़िया कहा करते हैं। इस जनजाति का कद नाटा, नाक चौड़ी, कपाल दीर्घ, रंग हल्के भूरे तथा बाल घुंघराले व लहरदार होते हैं। यह जनजाति प्रोटोआस्ट्रेलॉयड प्रजातीय तत्वों वाली है।

सौरिया पहाड़िया जनजाति "मालतो" बोली बोलती है, जो द्रविड़ भाषा समूह से सबन्धित है। मालतो, उराँव जनजाति की बोली कुडुख से काफी मिलती है। इतिहासकारों तथा भाषाविदों का मत है कि सौरिया पहाड़िया छोटानागपुर की उराँव जनजाति की एक शाखा है। शरतचन्द्र राय के अनुसार ये लोग दक्षिण भारत से विंद्याचल पर्वत श्रेणी को पार कर नर्मदा नदी के उर्ध्व प्रवाह का अनुसरण करते हुए गंगा को लाँघ कर आरामानगर (आरा) व व्याघरानगर (बक्सर) में आ बसे तथा मुण्डा जनजाति द्वारा खाली किये गये रोहतास गढ़ तक फैल गये। यहाँ इन्हें मुस्लिम दुश्मनों से संघर्ष करना पड़ा, जिसके कारण वे दो शाखाओं में बिखर गये। इनकी एक शाखा (उराँव) मुण्डाओं के मार्ग का अनुसरण कर छोटानागपुर में जा बसी, जबकि दूसरी शाखा (सौरिया पहाड़िया) गंगा की अधोभागी प्रवाह का अनुसरण करते हुए राजमहल की पहाड़ियों के बीच रहने लगी।

सौरिया पहाड़िया कई शताब्दियों तक अपने पड़ोसियों से अलग-थलग ही। अंग्रेजों के आगमन के पहले तक भौगोलिक अलगाव के कारण सोरिया पहाड़िया अपनी स्वतंत्रता को कायम रख सकी।

राजमहल की पहाड़ियों के निवासी कभी भी मुगलों की अधीनता में नहीं रहे। वृहत् पहाड़ी भू-भाग होने के कारण मुगल प्रशासक कभी भी इस जंगली क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सके। 1742 ई. में मराठों ने भी राजमहल क्षेत्र पर आक्रमण किया था। 1779 ई. में जब क्लेवलैंड भागलपुर जिले का कलक्टर बना तो इस भू-भाग को व्यक्तिगत संम्पर्क तथा सहानुभूति के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन कर लिया।

वास स्थान

सौरिया पहाड़िया जनजाति के अधिकांश गाँव लहरदार पहाड़ियों की चोट्यिों पर तथा जंगल से भरे पहाड़ी ढलानों पर बसे होते हैं। तराई के समतल भू-भाग में इनकी बस्तियाँ बहुत कम हैं। इनके गाँव छोटे तथा बिखरे हुए होते हैं, जिसमें 10 से 40 परिवार निवास करते हैं। यह जनजाति प्रायः बाँस, खर पतवार तथा मिट्टी से निर्मित छोटी-छोटी आयताकार झोपड़ियों में रहा करती है, जिसमें प्रायः एक ही कमरे हुआ करते हैं। इस कमरे का उपयोग सोने, पकाने तथा अन्य भंडारण के लिए किया जाता है। झोपड़ी के एक कोने में मिट्टी से निर्मित एक चूल्हा होता है। जिसके इर्द गिर्द बरतन तथा अनाज संग्राहक रखे होते हैं। चूल्हे के ऊपर प्रायः मकई के बाल लटकाकर रखे जाते हैं ताकि गर्मी के कारण उनमें कीड़े न लग पाये। कभी-कभी मकई के बालों को मकान के बाहर खुले प्रांगण में बाँस से विशेष प्रकार से निर्मित मचाननुमा घेरे के अन्दर भी रखा जाता है।

पोषाक तथा आभूषण

सौरिया पहाड़िया पुरुषों के लिए परम्परागत पोशाक धोती, गंजी, व पगड़ी तथा महिलाओं के लिए साड़ी तथा टोपवारे हैं। सौरिया पहाड़िया महिलायें प्रायः पीतल का आभूषण पहनती हैं। अंगूठी, नकेरसा, हंसुली (गलेहार) चूड़ी इरपिन (पिन), कादवे अंगटी (कनबाली), माला, सुकी (सिक्के का माला) कोकटो पायल) इत्यादि सौरिया पहाड़िया महिलाओं के गहने हैं। इनके बीच गोदना गोवाने की भी प्रथा है।

सामाजिक-जीवन

सौरिया पहाड़िया जनजाति एक अन्तर्विवाही जनजाति है, जिनके बीच गोत्र जैसी सामाजिक ईकाई का अभाव है। इस जनजाति के परिवार पितृसतात्मक, पितृवंशीय, तथा पितृस्थानीय होते हैं। इनके बीच एकको परिवार की बहुलता होती है, तथा संयुक्त परिवार बहुत कम देखने को मिलते हैं। विवाह के बाद प्रायः लोग अपना अलग घर बसा लेते है। इनके बीच एक पत्नी विवाह का प्रचलन है, किन्तु बहुपत्नी विवाह भी इनके बीच अपवाद नहीं है। सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र होता है। महिलायें पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा परिश्रमी होती हैं। इन्हें गृहकार्यों के अतिरिक्त कृषि और अन्य व्यवसायिक कार्यो का सम्पादन करना पड़ता है। ये हाट बाजारों में विक्री की कला में दक्ष होती हैं।

इनके बीच नारी स्वतंत्रता स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है। धार्मिक कृत्यों तथा पंचायत की बैठकों में भाग नहीं लेती हैं।

नातेदारी

गोत्र व्यवस्था के अभाव में विवाह तय करने के क्रम में नातेदारी को ध्यान में रखा जाता है। माता-पिता की तीन पीढ़ियों तक संबंधियों के बीच प्राय: विवाह नहीं किये जाते हैं। इनके बीच वर्गात्मक संबंध सूचक संज्ञायें पाई जाती हैं। पिता तथा माता के बड़े भाई के लिऐ 'पियो' तथा उनकी पत्नियों के लिए 'पेनी' संम्बोधन शब्दों से पुकारा जाता है। इसी प्रकार पिता की दूसरी पत्नी, पिता की छोटी बहन, पिता के छोटे भाई की पत्नी तथा माताके छोटे भाई की पत्नी को एक हि नातेदारी संज्ञा 'काली'' से पुकारा जाता है।

जहाँ तक नातेदारी के नियामक व्यवहार का प्रश्न है, इस जनजाति के बीच खास, ससुर, भावज; पत्नी के बड़े भाई की पत्नी तथा पत्नी की बड़ी बहन के साथ परिहार संबंध पाये जाते हैं, तथा साली, भाभी, तथा देवर के साथ परिहास संबंध देखने को मिलते हैं। इस जनजाति के बीच सह-प्रसविदा प्रथा का प्रचलन है, जिसके अनुसार पति, पत्नी के प्रसव के समय घर के बाहर नहीं निकलता और दाढ़ी, न बाल कटवाता है। यह प्रसविता काल प्रसव के पाँचवें दिन खत्म हो जाता है।

जन्म संस्कार

सौरिया पहाड़िया जनजाति में शिशु के जन्म के पाँचवें दिन 'माँ, सांक शेटी' (छट्ठी) मनायी जाती हैं। इन दिनों शिशु का बाप बच्चे और जच्चे की देखभाल करता है। इस अवधि में वह न तो कोई काम करता है और न दूसरे के घर जाता है। छट्ठी के दिन नवजात शिशु और उसकी माँ को स्नानकरा कर पवित्र किया जाता है। परिवार के अन्य सदस्य भी इस अवसर पर नहाते हैं। इस दिन प्रसौती भोजन बनाकर लोगों को भोजन कराती है। इसी दिन नवजात शिशु का नामकरण होता है। बालक का नाम प्राय: दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मामा-मामी के नाम पर रखा जाता है। इनके बीच शिशु के दो नाम रखे जाने की परंपरा है। इनका विश्वास है कि वास्तविक नाम भूत-प्रेत द्वारा जान लेने पर वे हानि पहुंचायेंगे, इसलिए, उन्हें धोखा देने के लिए शिशु का एक दूसरा नाम रख दिया जाता है।

विवाह संस्कार

सौरिया पहाड़ी जनजाति के बीच गोत्र नहीं होते किन्तु विवाह निकट के संबंधियों के साथ संपादित नहीं किये जाते। चचेरे, फुफेरे या ममेरे भाई-बहनों के बीच शादी नही की जाती है। इनके बीच एक ही गाँव में विवाह किया जाना बुरा नहीं माना जाता है।

विवाह के लिए वर पक्ष की ओर से एक सिटू (अगुआ) मध्यस्थता कर दोनों पक्षों से बातचीत कर विवाह तय करता है। वधू मूल्य भी इसी के द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। नगद राशी के रूप में दिया जाने वाला वधू मूल्य 'पोन' तथा माल के रूप में दिया जाने वाला वधू मूल्य 'बन्दी' कहलाता है। 'पोन' प्राय: 10 रुपये से लेकर दो सौ रुपए तक दिये जाते हैं। पोन के अलावे एक सूअर, चावल दाल तथा अन्य खाद्यान्न और कपड़े भी दिये जाते हैं। विवाह के दिन सुनिश्चित कर दिये जाने के बाद गाँव के निवासियों तथा संबंधियों के साथ बारात कन्या के गाँव जाती है।

बारात में पालकी तथा बाजे-गाजे का अभाव होता है। लोग साधारण वेष-भूषा में पैदल बारात जाते हैं। कन्या के गाँव बारात पहुँचने पर सब से पहले वर के पाँव पखारे जाते हैं, तथा बारात को घर में बैठाया जाता है। रात्रि को बारात तथा गाँव के लोगों के समक्ष विवाह संपन्न होता है। वर को पूरब

मुँह तथा वधू को पश्चिम मुँह आमने-सामने बैठाकर वधू के हाथ में वर की ओर से एक रुपया तथा एक सफेद माला की दो-तीन लड़ियाँ प्रदान की जाती हैं, जिसे वधू स्वीकार करती है। बेद सिटू वर के दाहिने हाथ की सबसे छोटी अंगुली में सिन्दूर लगा देता है जिसे वर, वधू के कपाल तथा नाक के ऊपर योग चिन्हाकार टीका के रूप लगा देता है। ऐसा पाँच बार किया जाता है। फिर वधू का पिता या भाई वर के माथे पर सिन्दूर का एक टीका लगाता है। इसके बाद वधू के हाथों को धोकर बेद सिटू के हाथ में सौंपते हुए वधू का पिता कहता है, कि लड़की हम आपको सौपते हैं, जिसे आप ले जायें तथा इसका भरण-पोषण करें। बेद सिटू भी उसी प्रकार वधू को वर के पिता अथवा वर के हाथ में सौंपता है। इस प्रकार विवाह की रस्में पूरी की जाती हैं।

विवाह के बाद एक पशु (बैल) मार कर एकत्रित लोगों को भोज दिया जाता है। वर-वधू को एक साथ ही थाल में भोजन कराया जाता है। इस भोज के बाद कन्या की विदाई होती हैं। घर से विदाई के बाद नव दम्पत्ति झण्डी गोसाईं के स्थान पर थोड़ी देर बैठती है, जहाँ गाँव का भंडारी नव-दम्पति की मंगल कामना तथा प्रार्थना करते हुए झण्डी गोसाईं, बेरू गोसाईं (सूर्य) तथा बलपू गोसाईं (चन्द्रदेव) के नाम से जल और एक मुर्गे की बलि चढ़ाता है तथा मुर्गी के खून के छींटे देवताओं के आर्शीवाद स्वरूप नवदम्पति पर छिड़के जाते हैं। इसके बाद नव दम्पति अपने गाँव के लिए प्रथान करती है।

वर के गाँव पहुँचने के दो दिन बाद नवदम्पती बेद सिटू के साथ कन्या के पिता के घर जाती है, तथा साथ में पोचाई (हँड़िया) तथा एक मारा हुआ बकरा, या सूअर भी ले जाया जाता है, जिससे एक प्रीति भोज का आयोजन किया जाता है। भोज के बाद नवदम्पति उसी दिन अपने घर लौट जाती है, जहाँ वे अपने गृहस्थ जीवन की शुरूआत करते हैं।

सौरिया पहाड़िया जनजाति के बीच कन्या का हरण विवाह करने की भी प्रथा है। जब कभी किसी गाँव में कोई उत्सव का आयोजन होता है, तो सभी युगल आपस में मिलते हैं, तथा वहीं से सीधे वर के घर पहुँच जाते हैं। बाद में जब कन्या पक्ष की ओर से इनकी खोज होती है, तो कुछ राशि कन्या मूल्य के रूप में कन्या के पिता को दे दी जाती है।

इस जन जाति में विनिमय विवाह, सेवा तथा घर दामाद का भी प्रचलन है।

विनिमय विवाह में दो वर अपनी बहन को पत्नी के रूप में अदला-बदली करते हैं। इस प्रकार के विवाह में पोन नहीं दिये जाते हैं।

सेवा विवाह के अन्तर्गत वर, होने वाली पत्नी के घर जाकर एक निश्चित अवधि तक सेवा करता है। वधू-मूल्य के मध्यस्थता तुल्य सेवा पूरी कर देने के बाद वह अपना गाँव लौटता है। इसके बाद सिटू की मध्यस्थता से उसका विवाह सम्पन्न हो जाता है।

घर-दामाद विवाह के लिए पुत्र हीन माता-पिता वर को दहेज के रूप में कुछ रुपये तथा कपड़े प्रदान करते हैं। विवाह के बाद वर, वधू के माता-पिता के साथ ही रहता है।

इस जनजाति में विधवा-विवाह का भी प्रचलन है। विधवा-विवाह में वधू मूल्य की राशि अपेक्षाकृत कम होती है।

बंशली (बंशी)बनाम (बायलिन), खैलू (ढोल), इत्यादि सौरिया पहाड़िया जनजाति के प्रमुख वाद्य यन्त्र हैं। विवाह तथा अन्य उत्सवों पर ये जनजाति के प्रमुख वाद्य यन्त्र हैं। विवाह तथा अन्य उत्सवों पर यह जनजाति बड़े ही उत्साह के साथ नाचती-गाती है।

मृत्यु संस्कार

मृत्यु होने पर मृतक को उसके खाट पर ही शमशान ले जाया जाता है, तथा मृत व्यक्ति को उसके द्वारा उपयोग में लायी जाने वाली सभी वस्तुएँ जैसे कपड़े, लाठी, तीर-धनुष, कुल्हाड़ी इत्यादि सौंप दी जाती हैं। इस जनजाति का विश्वास है कि मृत व्यक्ति को परलोक में इन चीजों की जरूरत होती है।

इस जनजाति के बीच शव को गाड़ने तथा जलाने दोनों ही रिवाज प्रचलित हैं। चेचक, हैजा, कोढ़ इत्यादि बीमारियों से मरे मृतक की लाश को जंगल में यों ही छोड़ दिया जाता है। मृतक की चिता पूरब पश्चिम बनायी जाती है। मृतक का सिर पश्चिम की ओर रखा जाता है। शव को गाड़ने के बाद कब्र पर बड़े-बड़े पत्थर रख दिये जाते हैं। जिसके चारों ओर थोड़ी सी मछली, मुर्गी का माँस तथा मकई की खिचड़ी रख कर ऊपर से आग रख दी जाती है। इस कृत्य के सम्पादन के बाद लोग किसी तालाब में स्नान कर घर लौट आते हैं। मृत्यु प्रदूषण पाँच दिनों का होता है। श्राद्ध के दिन पुरुष दाढ़ी और बाल मुड़वाते हैं, तथा स्त्री-पुरुष सभी झरने में स्नान करते हैं। इस अवसर पर गाँव के निवासियों तथा रिश्तेदारों को आमन्त्रित कर भोज दिया जाता है। भोजन प्रायः बकरा, सूअर या गाय-बैल या भैंसा के गोश्त तथा हँड़िया खाये-पीये जाते हैं, तथा इस अवसर पर लोग रात भर नाचते-गाते हैं। सवेरा होने पर देवारी (पुजारी) निकट के किसी तालाब या नदी में जाकर मृत व्यक्ति की आत्मा की शांति के लिए देवी-देवताओं की प्रार्थना करता है। मृत्यु के एक वर्ष बाद वार्षिक भोज दिया जाता है। इस अवसर पर भी एक गाय की बलि देकर ग्राम वासियों तथा रिश्तेदारों के लिए भोज का आयोजन किये जाने की प्रथा रही है। वार्षिक भोज की समाप्ति के बाद ही विधवा पुनर्विवाह कर सकती है।

शिक्षा

बिहार की सौरिया जन जाति के बीच युवागृह जिसे 'कोडबह आडा (मर्समक कोडबहा) युवकों के लिए तथा (पेलमक कोडबाह) युवतियों के लिए गृह कहा जाता है, एक परम्परागत अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र के रूप में कार्यरत रहा है, जिसका युवक युवतियों को सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक तथा आर्थिक शिक्षा प्रदान कर उनके व्यक्तित्व निर्माण की दिशा में महत्पूर्ण योगदान रहा है। इस जनजाति की पहचान एक जुझारू कबीले के रूप में रही है,जो हमेशा अपनी स्वतंत्रता को कायम रखने के लिए संघर्षशील रही। पहाड़ियों की चोटी व ढलानों पर दुर्गम जंगली परिवेश में निवास करने के कारण इनके बीच शिक्षा की रोशनी भली-भांति नहीं पहुँचती है। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद सरकारी तौर पर इनके बीच शिक्षा के प्रसार के लिए पहाड़िया कल्याण विद्यालय तथा आवासीय विद्यालय चलाये जा रहे हैं। राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम, अनौपचारिक शिक्षा कार्यक्रम, समेकित बाल विकास सेवा योजना इत्यादि कार्यक्रमों के अन्तर्गत उनकी शिक्षा के विस्तार के लिए प्रयास किये जा रहे है।

धार्मिक जीवन

सौरिया पहाड़िया जन जाति के बीच पूर्वज पूजा का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मा के पुनर्जन्म

में यह जनजाति विश्वास करती है। रिजले ने (1891:97) इस जन जाति के धर्म के स्वरूप को जीववाद कहा है। यह जनजाति बेरू गोसाईं (सूर्य), बिल्प गोसाईं (चाँद), लैहू, गोसाईं (सृष्टिकर्ता), ट्टरमारे गोसाईं (सत्यदेव), जरमात्रे गोसाईं (जन्म के देवता) इत्यादि की आराधना किया करती है। लैहू गोसाईं इनका सबसे अधिक शक्तिशाली देवता है। यह जनजाति भूत-प्रेतों की भी पूजा करती है।

कान्दों माझी, कोतवार तथा चालवे धार्मिक कृत्यों का संचालन करते हैं। ऐसा माना जाता है कि इनमें अलौकिक शक्ति निहित रहती है।

इस जनजाति की कृषि, आनुष्ठानिक रिवाजों से गहरे तौर पर गुथी होती है। उनका विश्वास है कि पहाड़ी परिवेश में भूत-प्रेत का निवास होता है। कुरवा खेती तैयार करने के लिए, जंगल काटते समय परिवार का मुख्य इन अज्ञात भूत-प्रेतों को मुर्गी की बलि देकर खुश करता है। उनका विश्वास है कि ऐसा न करने पर वे क्रोधित हो जायेंगे तथा चेचक, हैजा इत्यादि बीमारियाँ फैलायेंगे। खेत में बीज बोने से पहले भी परिवार का मुखिया गोसाई को खुश करने के लिए एक बकरी या कबूतर या मुर्गी की बलि चढ़ाता है। घर गोसाईं तथा चाल गोसाईं को इस अवसर पर कोतवार द्वारा गाँव की ओर से पूजा की जाती है तथा अच्छी फसल के लिए देवता को एक सूअर की बलि दी जाती है।

अब धीरे-धीरे सौरिया पहाड़िया जनजाति के परम्परागत धार्मिक स्वरूप में भी परिवर्तन आ रहे हैं। इनके धर्म प्रथा तथा परम्पराओं के प्रभाव में ह्रास हो रहा है, जिसके कारण सामाजिक नियंत्रण में इनकी पकड़ ढीली हो जा रही है।

राजनीतिक जीवन

सौरिया पहाड़िया गाँव का मुखिया ''माझी'' कहलाता है, जो पुजारी का भी काम करता है। गाँव में एक गौड़ैत होता है, जो भंडारी कहलाता है। प्रत्येक 15-20 गाँवों पर एक नायक होता है तथा प्रत्येक 70 या अस्सी गाँवों पर सरदार का पद होता है। सरदारों का क्षेत्र पहाड़ कहलाता है। गाँव का माँझी, भंडारी, कोतवार (पंचायत का व्यवस्थापक) तथा गिरी (गाँव का प्रभावशाली व्यक्ति) गाँव की पंचायत के सदस्य होते हैं। पंचायत सामाजिक कार्यो तथा अपराधों की देख-रेख करती है। सरदार इलाके भर का न्यायकर्ता माना जाता है। सरदार मांझी तथा गोड़ैत का पद वंशानुगत होता है तथा प्रायः बड़े बेटे को यह पद हस्तांतरित किया जाता है। गाँव पंचायत सभी धार्मिक आर्थिक, सामाजिक, तथा राजनैतिक मदभेदों का निपटारा प्रथागत नियमों के आधार पर करती है। प्रायः चोरी, अन्यगमन, कौटुम्बिक व्यभिचार, तलाक, भूमि विवाद तथा अभिचार के मामले गाँव पंचायत में लाये जाते हैं। अंग्रेजी शासन के दौरान सौरिया पहाड़िया जनजाति के परम्परागत पंचायत व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापक परिवर्तन हुआ। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन के प्रारंभ में पहाड़िया जनजाति ने अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया था। इन्हें शान्त करने के लिए अंग्रेजी शासन ने जो योजना बनायी उसके अन्तर्गत पहाड़िया सरदारों, नायकों तथा माँझियों को मस्तिक वृत्ति दी जाने लगी। माँझियों को गाँव की लगान वसुलने का काम दिया गया। सरदारों पर अपने क्षेत्र के गैर कानूनी कार्यो की सूचना तथा जन्म-मरण संबंधी आँकड़ों के संकलन का दायित्व सौंपा गया।

स्वतंत्रता के बाद पंचायती राज व्यवस्था लागू किये जाने के पश्चात् इनके गाँव वैधानिक

पंचायतों के अंग हो गये। इन वैधानिक पंचायतों ने इनके परम्परागत राजनैतिक जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया को त्वरित किया।

इससे माँझी,नायक तथा सरदारों के परम्परागत राजनैतिक अधिकार को ठेस पहुँचा। इन दिनों सौरिया पहाड़िया जनजाति के राजनैतिक जीवन का परम्परागत स्वरूप विखरने की दिशा में अग्रसर है। वनों से इनका सदियों से अटूट रिश्ता कायम रहा है। नये वन अधिनियमों को लागू किये जाने के कारण वनों पर इनके परम्परागत अधिकार को सीमित कर दिया गया है। अब इनका सम्पर्क सरकारी पुलिस तथा अदालतों से भी बढ़ने लगा है। न्याय के लिए इस जनजाति के सदस्य इन दिनों वैधानिक पंचायतों तथा सरकारी न्यायालयों की शरण लेने लगे हैं।

आर्थिक जीवन

सौरिया पहाड़िया जनजाति की अर्थ व्यवस्था कृषि तथा वनों पर आश्रित है। ये जंगलों को काटकर कुरवा खेती (स्थानांतरित खेती) करती है। मकई, बाजरा, घंघरा (बनबटी), अरहर, सुतनी आदि प्रमुख फसल हैं। खेती पूर्णरूप से मौनसून पर निर्भर करती है। अनावृष्टि होने पर अकाल होता है। प्राय: दो-तीन वर्षो तक लगातार एक प्लाट में कुरवा खेती करने के बाद, दूसरे प्लाट में कुरवा खेती ही की जाती है। लगातार एक ही प्लाट में दो-तीन वर्षों तक खेती किये जाने के कारण उस प्लाट की उर्वरा शक्ति घट जाती है। जिसे चार-पाँच वर्षो तक परती छोड़ दिया जाता है। ताकि उसमें उर्वरा शक्ति पुनः वापस आ सके।

कुरवा खेती के लिए प्राय: फरवरी या मार्च महीने में पहाड़ी पर जंगल के एक टुकड़े का चयन कर लिया जाता है, जिसमें फैली झाड़ियों का धार्मिक कृत्य सम्पन्न कर काटकर सुखने के लिए छोड़ दिया जाता है। मई या जून माह में मौनसून आने के पहले इन सूखी झाड़ियों को जला कर राख कर दिया जाता है। इन राखों को पूरे खेत में फैला दिया जाता है, जो मिट्टी की उर्वरता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती है। जुलाई तथा अगस्त महीनों में खन्ता (नुकीली लकड़ी) की सहायता से सौरिया दम्पती अपने युवा बच्चों के साथ इन खेतों में छेद बनाकर मकई, ज्वार, बाजरा, घंघरा आदि के बीज बो देते हैं। जब नन्हें पौधे उग आते हैं, तो इन खेतों में जंगली जानवरों से बचाव के लिए झोपड़ी बनायी जाती है तथा दिन रात वहीं रहकर रखवाली का कार्य किया जाता है। इन दिनों गाँव केअधिकांश कृषक कुरवा खेतों में ही रहने चले जाते हैं। दिसम्बर में जब फसल तैयार हो जाती है तो खेतों में खेत के भूतों को बलि देकर फसलों की कटाई प्रारंभ की जाती है।

कुरवा खेती के लिए बीज तथा कृषि श्रमिकों को मजदूरी देने के लिए आवश्यक धन सौरिया कृषक स्थानीय महाजनों से कर्ज के रूप में प्राप्त करते हैं। कर्ज तथा सूद की अदायगी के लिये उन्हें अपनी उपज का अधिकांश हिस्सा महाजनों के हाथ कम कीमत पर बेचना पड़ता है। पूंजी के अभाव में सौरिया पहाड़िया कृषक अपनी भूमि के कुछ हिस्सों में ही कुरवा खेती करने में समर्थ होते हैं। पहाड़िया ग्राम सभा के अन्तर्गत जमा राशि से सौरिया कृषकों की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पाती है। कुरवा खेती के लिए सौरिया कृषकों को एक हजार से दो हजार रुपए की आवश्यकता पड़ती है। पहाड़िया ग्राम-सभा से उन्हें इतनी धन राशि प्राप्त हो सकती है। अत: इन्हें आज भी ऋण के लिए महाजनों पर

निर्भर रहना पड़ रहा है। अन्न भंडारण की समुचित व्यवस्था न होने के कारण भी उत्पादित अनाज शीघ्र ही कम भाव में बेच देना पड़ता है। पहाड़ की तलहटी के समतल भू-भाग में कुछ सौरिया पहाड़ियाँ अब धान की खेती करने लगे हैं।

घर के पिछवाड़े की जमीन (बाड़ी) में भी कुछ सौरिया पहाड़िया मकई, बाजरा, घंघरा, अरहर, सरसों, सुरगुजा इत्यादि की खेती करते हैं।

सौरिया पहाड़िया जनजाति वनों से जलावन की लकड़ियाँ, लट्ठ तथा अन्य वन पदार्थ जैसे आम, इमली, जामून बैर, पीपल, कटहल, शरीफा के फल, महुआ फूल, सेमल की रूई, कंद-मूल इत्यादि जमा कर स्थानीय हाटों में बेचकर अर्थोपार्जन करती है, जहाँ व्यापारियों तथा विचौलियों द्वारा आज भी वे लोग कम कीमत पर इन लघु वन पदार्थों को बेचने के लिए विवश हैं।

भीषण गरीबी, कुपोषण, दूषित जल तथा मद्यपान के कारण सौरिया पहाड़िया जनजाति के बीच स्वास्थ्य संबंधी गंभीर समस्या व्याप्त है। इस जनजाति में यक्ष्मा, कुष्ठ, चर्मरोग, मलेरिया, कालाज्वर, घेघा इत्यादि रोगों का प्रकोप देखने को मिलता है।

यह जनजाति जंगलों में भालू, गाय. खरगोश, जंगली बकरा, साही, जंगली मुर्गियाँ इत्यादि का शिकार भी करती हैं।

ये लोग बकरी, मुर्गी, सूअर, गाय, बैल, भैंस (काड़ा), भैंसा (काड़ी) भी पालते हैं, जिनको बेच कर पैसे कमाते हैं। इन दिनों यह जनजाति गाय का दूध भी बेचने लगी है। कुछ सौरिया पहाड़िया सबई की खेती करते हैं। किन्तु इनके बीच परियोजना अब ऐतिहासिक हो चुकी है। अब सबई घास के बदले वन विभाग द्वारा फलदार वृक्ष लगाये जा रहे हैं।

VII. माल पहाड़िया-सामान्य परिचय

माल पहाड़िया जनजाति के दो वर्गों में से एक है। दूसरा वर्ग सौरिया पहाड़िया के नाम से जाना जाता है। इन दो जनजातियों को अलग-अलग जनजाति के रूप में मान्यता दी गई है, क्योंकि दोनों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था में अंतर पाया जाता है।इन दोनों के बीच विवाह का भी संबंध नहीं होता है।

माल पहाड़िया के एक उपवर्ग के रूप में 'कुमार भाग पहाड़िया' को माना गया है। माल पहाड़िया और कुमार भाग पहाड़िया के बीच विवाह होता है।

माल पहाड़िया मुख्यतः झारखण्ड के संथाल परगना में रहते हैं। छिटपुट रूप से बिहार के भागलपुर, सिंहभूम तथा कुछ अन्य जिलों में पाये जाते हैं। इनका इलाका पहाड़ी, जंगली है और जलवायु की दृष्टि से भी बहुत उपयुक्त नहीं है।

डा. रिजले ने माल पहाड़िया को द्रविड़ जनजाति माना है। प्रजातीय दृष्टि से इन्हें प्रोटो ऑस्ट्रोलायड समूह में रखा गया है। बुचानन हैमिल्टन ने माल पहाड़िया का सम्बन्ध मालेर (सौरिया पहाड़िया) से बतलाया है। परन्तु डाल्टन महोदय का विचार है कि माल पहाड़िया, राजमहल के पहाड़ी लोगों से बिल्कुल असम्बन्धित है। बॉल महोदय ने भी इसका समर्थन करते हुए कहा है कि राजमहल

पहाड़ी के असल पहाड़िया से आकृति, रीति रिवाज और भाषा की दृष्टि से बिल्कुल अलग है। विवाद कुछ भी हो आज पहाड़िया जनजाति के अन्तर्गत सौरिया और माल को रखा जाता है।

1941 की जनगणना के अनुसार माल पहाड़िया की कुल आबादी 40,148 थी जो 1981 में 79,322 हो गई। इससे पता चलता है कि माल पहाड़िया की जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

माल पहाड़िया की भाषा माल्टो है जो द्रविड़ परिवार की मानी जाती है। माल्टो भाषा का प्रयोग माल पहाड़िया के अतिरिक्त सौरिया पहाड़िया भी करते हैं। उराँव द्वारा बोले जाने वाली कुडुख भाषा भी द्रविड़ परिवार की है, पर वह माल्टो से भिन्न है।

सामाजिक जीवन

इनके बीच गोत्र (Clan) नहीं पाया जाता है। यह झारखण्ड के अन्य जनजातियों के सामाजिक संरचना की पृष्ठिभूमि में एक विशेषता रखता है। इनके बीच पारिवारिक विभाजन पाया जाता है, जैसे डेहरी, ग्रही, मंझिए, लाया, पुजार आदि। डेहरी वर्ग का व्यक्ति बराबर डेहरी रखता है, उसी प्रकार ग्रही विभाजन का सदस्य सदा ग्रही बना रहता है। इस प्रकार के विभाजन से उनके बीच समूहों का निर्माण होता है जिसे भ्रातृदल (Phratry) के समकक्ष माना जा सकता है। इनके बीच गोतार्द्र (Moiety) का अभाव है। ये पारिवारिक विभाजन माल पहाड़िया को विभिन्न समूहों में तो बाँट देता है, किन्तु वैवाहिक सम्बन्ध के निर्धारण में इसकी कोई भूमिका नहीं होती। यद्यपि लोग अपने विभाजन की अपेक्षा दूसरे विभाजन में वैवाहिक सम्बन्ध करना पसंद करते हैं। इन्हें गोत्रीय विभाजन नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वे विभाजन व्यावसायिक विभाजन है।

विवाह सम्बन्ध के लिए इनके यहाँ नातेदारी समूह पर ध्यान दिया जाता है। सौरिया पहाड़िया की तरह माल पहाड़िया भी मातृ-पितृ पक्ष दोनों ओर तीन पुश्त तक विवाह नहीं करते। नातेदारी व्यवस्था, सामाजिक संरचना में एक महत्वपूर्ण घटक होती है। नातेदारी व्यवस्था जनजातियों के बीच परिवार और विवाह से सम्बन्धित होती है। नातेदारी में रक्त सम्बन्धियों और विवाह सम्बन्धियों, दोनों को सम्मिलित किया जाता है। माल पहाड़िया के बीच एक खास नातेदारी समूह के व्यक्तियों के लिए एक ही पुकार के सम्बोधन का प्रयोग होता है। पिता के लिए ''अब्बा'' और माता के लिए ''अइया'' शब्द का प्रयोग होता है। दादा के लिए ''बड़े अब्बा'' और नानी के लिए ''बड़अइया'' इस्तेमाल होता है। पिता के बड़े भाई और पत्नी तथा माता के बड़े भाई तथा उनकी पत्नी के लिए समान सम्बोधन क्रमशः ''पीपो'' और ''पेनि है। चाचा के लड़के-लडकियों के लिए समान सम्बोधन का प्रयोग होता है। बड़े को बाबा'' और छोटे को ''नुना'' तथा बड़ी को ''बाई'' और छोटी को ''नुनी'' कहते हैं। फुआ के लड़के-लड़कियों के लिए भी इन्हीं शब्दों का प्रयोग होता है फिर सौतेली माँ या छोटी बहन के लिए और छोटी चाची के लिए एक शब्द 'काली' या 'अली' प्रयोग होता है। इस प्रकार माल पहाड़िया के बीच वर्गात्मक सम्बन्ध सूचक संज्ञाएँ पायी जाती हैं।

माल पहाड़िया के बीच परिवार प्राथमिक और मूलभूत सामाजिक इकाई है। सौरिया पहाड़िया की तरह माल पहाड़िया प्रायः एकल परिवार होता है, जिसमें पुरुष, स्त्री तथा उसके बच्चे होते हैं। विशेष स्थितियों में सौतेले बच्चे या गोद ली हुई संतान भी पाई जाती है। गोत्र की अनुपस्थिति के कारण निकट

संबंध पर अधिक ध्यान दिया जाता है। किन्तु यह तीन पीढ़ी तक ही महत्वपूर्ण माना जाता है। वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा दो परिवार के सभी रक्त संबंधी एक सूत्र में बंध जाते हैं; जिसके फलस्वरूप दोनों पक्षों की एक सम्मिलित नातेदारी स्थापित हो जाती है, जो विभिन्न संदर्भो में भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होते हैं। कुछ संबंधियों के बीच में परिहास संबंध होता है, जैसे भाभी-देवर, ननद-भाभी, जीजा-साली, जीजा-साला आदि।,

कुछ संबंध होते हैं जिनमें परिहास सम्बन्ध नहीं पाया जाता है जैसे-- भैंसुर, ज्येष्ठ साला को देखना या छूना मना है। सास-ससुर के प्रति भी परिहास सम्बन्ध पाया नहीं जाता है।

सम्पत्ति संबंधी अधिकार

माल पहाड़िया का परिवार पितृ सत्तात्मक होता है। पिता घर का मुखिया होता है, और धन सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुरुष वर्ग में ही चलता है, अर्थात् पति के बाद सम्पत्ति के अधिकारी पुत्र ही होते हैं। सम्पत्ति में लड़कियों को हिस्सा नहीं मिलता है, केवल उनकी परवरिश होती है। विधवा को भी सम्पत्ति में हिस्सा नहीं दिया जाता किन्तु भरण-पोषण की व्यवस्था की जाती है। पिता की मृत्यु के बाद अचल सम्पत्ति का बँटवारा पुत्रों के बीच बराबर होता है, किन्तु क्षेत्रों में बड़े लड़के को कुछ अधिक दिया जाता है। पुश्तैनी मकान बड़े लड़के को मिलता है जिसके साथ माँ भी रहती है। यदि वह अपने पति के साथ उसी गाँव में रहती है, अन्यथा वह सम्पत्ति किसी पुरुष नातेदारी को मिल जाती है। किसी नातेदार की अनुपस्थिति में ऐसी सम्पत्ति गाँव की सम्पत्ति हो जाती है और गाँव का मुखिया उसकी देखभाल करता है और जरूरत पड़ने पर किसी जरूरतमंद आदमी को उस जमीन की बन्दोबस्ती भी कर देता है।

इस जनजाति के बीच सलायानी पूजा करने की भी प्रथा है जो माघ या चैत माह में की जाती है। इसी पूजा के अवसर पर कोतवार द्वारा कान्दी गोसाई को एक बकरा, एक सूअर तथा मुर्गी की बलि चढ़ाई जाती है। प्रत्येक 6 वर्ष पर कान्दे गोसाईं को एक भैंसा की बलि चढ़ाने की भी प्रथा रही है, जिसे कर्रा पूजा कहा जाता है।

माल पहाड़िया के जीवन में जन्म-विवाह और मृत्यु विशेष महत्वपूर्ण अवसर माने जाते हैं। जब लड़के विवाह योग्य हो जाते हैं तो लड़का का पिता कन्या ढूँढ़ता है। इस काम में वह एक बिचौलिए की सहायता लेता है जिसे सिद्धू या सिद्धूदार कहते हैं। इनके बीच कई तरह के विवाह प्रचलित हैं — जैसे (1) कन्या मूल्य देकर विवाह (2) बलपूर्वक या प्रेम विवाह (3) गोलट विवाह (4) सेवा विवाह (5) दत्तक विवाह।

सब से अधिक प्रचलित और लोकप्रिय विवाह कन्या मूल्य देकर करने की है। इस विवाह में लड़के के पक्ष से बात चलायी जाती है। इसमें सिद्धू की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। लड़की पसंद होने पर उसको उपहार स्वरूप कुछ रुपये और माला (हार) दिया जाता है। यदि लड़की इसे स्वीकार कर लेती है तो विवाह तय समझा जाता है। सिद्धू का उचित स्वागत होता है। बाद में कन्या मूल्य तय किया जाता है। कन्या मूल्य को माल पहाड़िया पौन टका या बन्दी मूल्य कहते हैं। कन्या मूल्य नगद और समान के रूप में लिया जाता है। कन्या मूल्य तय होने पर विवाह की तारीख निर्धारित की जाती

है। विवाह के अवसर पर विशेष रूप से दोनों पक्षों के द्वारा शराब तैयार किया जाता है जिसे ये अपनी भाषा में पचोई या मांडु कहते हैं। कन्या मूल्य, स्थान-स्थान पर भिन्न होता है। कन्या मूल्य में रुपये के अतिरिक्त लड़की के लिए, उसकी माता और भाई के लिए कपड़ा चावल, दाल, नमक, तेल, मसाला, तमाकू तथा एक सूअर भी दिया जाता है। ये सब समान विवाह के कुछ दिन पूर्व सिद्धू के मार्फत कन्या पक्ष को भेज दिया जाता है। किन्तु कपड़ा और नगद लड़के के पिता के द्वारा विवाह के दिन दिया जाता है। माल पहाड़िया और सौरिया पहाड़िया में लड़के के द्वारा एक चटाई भी दी जाती है, जिसका प्रयोग विवाह संस्कार के लिए होता है। विवाह के दिन लड़का अपने स्वजनों के साथ लड़की के गाँव जाता है। इस यात्रा में नाच-गान ढोल नगाड़े भी बजते हैं। कन्या पक्ष वाले बारात का स्वागत करते हैं तथा उन्हें प्रीतिभोज दिया जाता है। लड़की-लड़का दोनों चटाई पर बैठते हैं और लड़का तीन बार लड़की के माँग में सिन्दूर लगाता है और कुछ पैसे उपहार के रूप में देता है। इसके बाद कन्या वहाँ पर उपस्थित सभी वर पक्ष वालों को प्रणाम करती है। इस तरह के कर्मकांड कुमार भाग पहाड़िया में भी विवाह के समय होता है। विवाह के बाद कन्या, वर के साथ उसके घर जाती है, जहाँ वर पक्ष वाले प्रीतिभोज देते हैं। इस अवसर पर नये दम्पति के वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए डेहरी एक मुर्गी की बलि चढ़ाता है। सिद्धू को कुछ कपड़े, कुछ नकद पैसे और एक बरतन मे हँड़िया उसके पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता है।

दूसरे प्रकार का विवाह बलपूर्वक विवाह या प्रेम विवाह है। इस प्रकार के विवाह में प्रेमी, प्रेमिका से किसी विवाह या भोज के अवसर पर मिलता है और उसे लेकर अपने गाँव भाग जाता है। इस तरह के विवाह माल पहाड़िया के कुछ क्षेत्र में देखने को मिलते हैं। ये दम्पति पति-पत्नी की तरह तब तक रहते हैं जब तक कि कन्या के पिता कन्या मूल्य की माँग करने लड़के के पास नहीं पहुँच जाते, कन्या मूल्य दिया जाता है। और उनको खिलाया-पिलाया जाता है फिर वे अपने घर वापस लौट जाते हैं।

तीसरे प्रकार का विवाह गोलट है यह विवाह बहुत साधारण होता है। इसमें दोनों पक्ष के लड़के-लड़कियों की अदला-बदली होती है। कोई कन्या मूल्य नहीं दिया जाता। इस तरह का विवाह पाल पहाड़िया में बहुत कम पाये जाते हैं। इस प्रकार का विवाह सौरिया और माल पहाड़िया के बीच भी पाया जाता गया है।

सेवा विवाह मुख्यतः कन्या मूल्य न देने की विवशता के कारण होता है। जब कोई कन्या मूल्य का प्रबन्ध नहीं कर पाता तो वह अपने होने वाले ससुर के घर में तब तक काम करता है जब तक अपनी सेवा से कन्या मूल्य देने लायक नहीं कमा लेता।

जब व्यक्ति को संतान के रूप में पुत्र नहीं होता है जो उसकी सम्पति का उत्तराधिकारी बन सके, तब वह अपनी लड़की के लिए लड़के को दत्तक के रूप में अपना लेता है। ऐसे विवाह को दत्तक या घर जमाई विवाह कहते हैं, क्योंकि विवाह के बाद पति अपनी पत्नी के घर ही में रहता है और अपने ससुर के काम-काज में सहायता करता है।

अपने परिजनों से अलग होकर अपने ससुर के साथ रहने के कारण उसे वर मूल्य दिया जाता

है। इस तरह के विवाह माल पहाड़िया में पायें जाते हैं।

इसके अतिरिक्त भी माल पहाड़िया समाज में दो प्रकार के विवाह और भी मिलते हैं, देवर, भौजाई विवाह और जीजा-साली विवाह। देवर भौजाई विवाह में बड़े भाई के मरने के बाद उसकी पत्नी से छोटा विवाह कर लेता, जिसके लिए कोई कन्या मूल्य नहीं देना पड़ता हे। जीजा-साली में अपनी पत्नी की छोटी बहन से व्यक्ति शादी करता है और इसमें कन्या मूल्य कम देना पड़ता है।

माल पहाड़िया के बीच तलाक की व्यवस्था है तलाक प्रायः विचारों की भिन्नता, स्त्री के बाँझपन, पत्नी की अविश्वसनीयता या उसकी आलसी प्रकृति के आधार पर होता हे। आलसीपना के आधार पर तलाक बिरले ही होता है।

तलाक देने की प्रक्रिया बड़ी सरल है, जब दम्पती तलाक के लिए निश्चय कर लेते हैं तो गाँव के पंचायत को सूचित कर दिया जात है। पंचायत में भईयाद के लोग जमा होते है और दोनों पक्षों की बातों को सुनते हैं, फिर तलाक की स्वीकृति दे देते है। इसका तरीका यह है कि दम्पती अपने हाथ में सखुआ पत्ता लेते हैं और उनको दो टुकड़ों में फाड़ देते हैं, जो उनके अलगाव का प्रतीक होता है। यदि तलाक का प्रस्ताव पति की ओर से होता है, तो विवाह के समय दिये गये कन्या मूल्य की वापसी का अधिकार खो देता है। पत्नी को या कन्यापक्ष को कन्या मूल्य लौटाने का दायित्व नहीं रहता है। किन्तु जब तलाक के लिए पत्नी पहल करती है तो उसे कन्या मूल्य वापस करना पड़ता है। जब विवाह के बाद कोई बच्चा हो जाता है तो साधरणतया पत्नी को तलाक की स्थिति में कन्या मूल्य नहीं लौटाना पड़ता।

विधवा विवाह

प्रायः विधवा को दूसरे के साथ विवाह करने की सामजिक स्वीकृति भोज के बाद ही मिलती है। अगर मृत पति का कोई छोटा भाई है और विवाह करने का इच्छुक है तो ऐसी शादी हो सकती है। अन्यथा वह अपने पिता के घर वापस लौट सकती है और अपनी इच्छानुसार कहीं भी शादी कर सकती है। विधवा को कुछ मूल्य कम मिलता है। एक बार से अधिक विधवा हो ज़ाने पर कन्या मूल्य घटता जाता है।

अपने परिजनों से अलग होकर अपने ससुर के साथ रहने के कारण उसे वर मूल्य दिया जाता है। इस तरह के विवाह माल पहाड़िया में पाये जाते हैं।

जन्म संस्कार

माल पहाड़िया के जीवन में जन्म का अवसर भी महत्वपूर्ण है। बच्चे के जन्म के पहले से ही गर्भवती स्त्री पर काफी ध्यान दिया जाता हे। गर्भवती स्त्रियों को जंगल में या झरना या सोता के पास जाना मना रहता है। उनका विश्वास है कि इन स्थानों पर प्रेतात्मा छिपी रहती है जो गर्भवती स्त्री पर आक्रमण कर सकती है, और बच्चे को मार सकती है। ऐसी माल पहाड़िया बच्चे के जन्म देने के पूर्व तक अपना सारा काम-काज करती रहती हैं।

प्रसव के समय स्त्री की सास, उसकी माँ या कोई बूढ़ी औरत देखभाल करती है। बच्चे के नाल काटने के लिए बाँस के चाकू का प्रयोग किया जाता है। प्रसूति के दरवाजे के पास आग लगाई

जाती है इस अवसर पर पाँच दिनों के लिए छूत माना जाता है। इस छूत की अवधि में पति या और भी लोग उसे नहीं छूते और न उसके हाथ से किसी तरह की खाने-पीने की चींजें लेते हैं। पति स्वयं भोजन बनाकर पत्नी को देता है। पाँच दिनों तक छूत मानने का रिवाज दुमका दामिन के माल पहाड़ियों के बीच है, किन्तु इस क्षेत्र के बाहर पाँच से लेकर नौ दिनों तक छूत माना जाता है। छूत की अवधि खत्म होने पर माँ स्नान करती है और अपने सब कपड़ों को धोती है। इसी प्रकार पति अपने वस्त्र को धोता है और स्नान करता है। छोटे बच्चे का मुंडन भी कर दिया जताा है, इसके लिए हजाम को कुछ नेग दिया जाता है। पहले बच्चे का मुंडन उसके पिता या उसके मामा द्वारा किया जाता था। किन्तु अब यह काम नाई करता है। स्नान आदि के बाद स्त्री घर में प्रवेश करती है और नये बरतनों में परिवार के लिए भोजन पकाती है। पूरा घर भी साफ कर दिया जाता है और गोबर से लीप दिया जाता है। पकाये हुए भोजन को पति और परिवार के सदस्य ग्रहण करते हैं और छूत परिवार के लिए समाप्त हो जाता है। पकाये हुए भोजन को पति और परिवार के सदस्य ग्रहण करते हैं और छूत परिवार के लिए समाप्त हो जाता है। किन्तु गाँव के लिए यह छूत एक या दो महीने के लिए बना रहता है, जब तक कि वह व्यक्ति पूरे गाँव के लिए अच्छा भोजन न दे दे। भोज में एक बकरा, एक-दो मुर्गी, चावल और हँड़िया का होना जरूरी है। बिना इस भोजन को दिये नवजात शिशु का पिता गाँव के किसी समारोह में भाग नहीं ले सकता है।

शुद्धि संस्कार के बाद माल पहाड़िया बच्चे का नामकरण करते है। इसके लिए कोई विशेष प्रक्रिया नहीं अपनायी जाती है। बच्चे के मुंडन के बाद बच्चे के कान में बच्चे के पिता या मामा के द्वारा उसका नाम धीरे से कह दिया जाता है। बच्चों का नामकरण प्रायः दादा, दादी के नाम पर होता है। इसके अलावे भी बच्चे को एक नाम दिया जाता है, जो पुकारु नाम होता है। ऐसा विश्वास है कि असली या सही नाम को जान लेने के बाद दुष्ट आत्मायें माँ और बच्चे का अहित कर सकती है। इसीलिए रक्षा के लिए एक पुकारु नाम भी दिया जाता है।

मृत्यु संस्कार

मृत्यु, माल पहाड़िया के लिए विशेष अर्थ रखता है। वे ऐसा मानते हैं कि मृत व्यक्ति मरने के बाद भी परिवार के साथ रहता है, इसीलिए अपने घर में मृत पूर्वजों को चूल्हे के पास विशेष स्थान दिया जाता है। उसकी पूजा की जाती है और बलि चढ़ायी जाती है। मृत्यु के बाद शवको खाट पर श्मशान तक ले जाया जाता है एक गड्ढे में पेड़ों की टहनियों और पत्तों को छिपाकर लाश रख दी जाती है और फिर उपर से डालियों में लाश को ढक दिया जाता है, और ऊपर से मिट्टी डाल दी जाती है। कब्र में मृत व्यक्ति के कपड़े-लत्ते, बिछावन, तथा उसके द्वारा उपयोग किये गये बरतन आदि भी रख दिये जाते हैं। कब्र के ऊपर एक बड़ा पत्थर रख दिया जाता है और उसके ऊपर टूटी हालत में चारपाई रख दी जाती है। मृत आत्मा की शांति के लिए चावल, माँस या एक-दो अंडे भी दिये जाते हैं। कुछ भागों में माल पहाड़िया लाश को जलाते हैं। लाश का सिर उत्तर की तरफ रहता है और सबसे पहले अग्नि सिर की ओर दी जाती है। जलती चिता पर एक या दो अंडे फेंक दिये जाते हैं, और नीचे जमीन पर मृतक के नाम पर भात और मुर्गी का माँस रख दिया जाता है। दस दिनों के बाद मृत्यु संस्कार किया जाता है, उस समय लोग हजामत कराते हैं और भात और मुर्गी मृतक के नाम में चढ़ाया जाता है।

बुमका अनुमंडल में कब्र के ऊपर आदमी का पुतला बना कर जलाया जाता है। यह कर्मकाण्ड मृत्यु संस्कार का अभिन्न अंग माना जाता है। इसके बाद गाँव के लोगों और रिश्तेदारों को भोज दिया जाता है, जिसमें कई बकरे, मुर्गे और सूअरें काटे जाते हैं और नाच-गाना होता है। काफी मात्रा में पचोई (शराब) पीया जाता है। नाच-गाना कई दिनों तक चलता है। इस अवसर पर सभी तरह की छूट और स्वच्छन्दता देखने को मिलती है। ऐसे ही मौके पर लड़के-लड़कियाँ खुल्लम-खुल्ला नाच-गान करते हें, भाग भी जाते हैं और विवाह भी कर लेते हैं। इस प्रकार अपने अभिभावकों को कन्या मूल्य देने से बचा लेते हैं।

अर्थ-व्यवस्था

पहाड़ और जंगलों में रहने वाले माल पहाड़ियों के जीविकोपार्जन के मुख्य साधन शिकार खाद्य संग्रह और स्थानांतरण खेती है। इसके अतिरिक्त वनोपज की बिक्री द्वारा भी कुछ कमाई कर लेते हैं। वनोपज में मुख्यतः जलावन, बाँस पत्ते, कंदमूल आदि हैं जिन्हें हाट-बाजार में बेचकर आय प्राप्त करते हैं। इस जनजाति की जीविका का मुख्य साधन कुरवा खेती है। पहाड़ पर बाड़ी भूमि को हल बैल से जोतते हैं भूमि में बाजरा, अरहर, मकई उपजाते हैं। पहाड़ की ढाल पर जंगल के एक भू-भाग का चुनाव पौष महीने में करते हैं। दोली या दाव से पेड़ों को काट देते हैं, पेड़ काटते समय जमीन से तीन-चार फीट खूँटी गाड़ देते हैं और छोटी-छोटी झाड़ियों को सूखने के लिए छोड़ देते हैं। चैत (फरवरी-मार्च) के महीने में उसमें आग लगा देते हैं और राख को जमीन पर बिछा देते हैं। फिर छः से दस इंच की दूरी पर खनती से छेद कर देते हैं। खनती, लकड़ी या लोहे का बना हुआ होता है। जिसे ये जोगोरी कहते हैं। इस भूमि में बाजरा, मकई और घंघरा रोपते हैं। इस भूमि में तीन साल तक ये खेती करते है और तीसरे साल जमीन अनुपजाऊ हो जाती है, इसीलिए माल पहाड़िया जंगल के नये खण्ड की खोज करते हैं और वहाँ खेती शुरू कर देते हैं। इस प्रकार माल पहाड़िया जंगल के एक टुकड़े को पेड़ उगने के लिए छोड़ देते हैं और दूसरे टुकड़े पर खेती करते हैं। दिसम्बर में फसल के तैयार होने पर खेतों में (खेत भूतों) की बलि देकर फसल काटते है।

माल पहाड़िया की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है। ये कर्ज में डूबे रहते है, और इनकी माली हालत दयनीय रहती है। ये महाजन से कर्ज लेते हैं जिसके लिए भारी सूद देना पडता है। ये मजदूरी और नौकरी करके भी जीविका कमाने लगे हैं। ये चटाई, खटिया, मचिया आदि बनाकर हाट-बाजार में बेचते है।

ये थोड़ा शिकार करते हैं और मछली भी पकड़ते हैं। देशी शराब भी बनाते हैं। शराब की बिक्री भी घर या हाट में करते हैं। हाट जनजातीय जीवन में विशेष भूमिका अदा करता है सप्ताह में एक या दो बार विभिन्न स्थानों में हाट लगता है। हाट में विशेष कर औरतें जाती हैं और खरीद-विक्री करती है। ये गाय, बैल, बकरी, सूअर और मुर्गी भी पालते हैं। सूअर का विशेष सांस्कृतिक महत्व है। सूअर को कन्या मूल्य दिया जाता है। उसका माँस भी खाते है और जरूरत पड़ने पर सूअर का माँस हाट में बेचते भी है। सूअर इनकी आर्थिक और सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक माना जाता है।

मुर्गी के अंडों की विक्री होती है और खाया भी जाता हे। देवताओं पर बलि में भी मुर्गे और

अंडों का प्रयोग होता है। माल पहाड़ियों कुत्ते भी पालते हैं जिनसे रखवाली का काम लिया जाता है।

घर

इनके घर प्रायः झोपड़ीनुमा होते है जिनकी दीवारें घास की टट्टियों और लकड़ी से बनी होती हैं। छप्पर भी घास-फूस से बना होता है। बाँस की खपची और लकड़ी के कुन्दे की सहायता से दीवार खड़ी की जाती है। जिसे मिट्टी से लीप दिया जाता है। घर में खिड़कियाँ नहीं होतीं। टाटी लगा दरवाजा होता है। इनके घर बाँस की फट्टी से घिरे रहते हैं।

इनके घर में भी अधिक समान नहीं होते। कुछ मिट्टी के बरतन या पीतल-अल्युमिनियम के बरतन पाये जाते हैं इनके घरों में ओखल जरूर होता है। झाड़ू, सूप, टोकरी, खनता प्रायः सभी घरों में मिलता है। सोने के लिए साधारण खटिया और खजूर की चटाई इनके घरों में पाई जाती है। शिकार करने के लिए तीर-धनुष और मछली पकड़ने के लिए कुमनी तथा छोटा जाल इनके घरों में पाया जाता है। माल पहाड़ियाँ औरतें नहाने धोने के लिए मिट्टी का प्रयोग करती हैं। जड़ी-बूटियों से रोगों का इलाज करते हैं।

आभूषण

स्त्रियों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले सस्ते आभूषण होते हैं— जैसे टाढ़, बाजु लोलक, करला, फूली, पजेब, हंसुली, खील, पुटकी आदि हैं। पुरुष भी कुछ आभूषण का प्रयोग करते हैं। सिंगार के लिए फूल-पत्ती का भी प्रयोग करते हैं।

वस्त्र

इनके वस्त्र भी साधारण होते हैं। पुरुष धोती, अंगरख, और गमछा का प्रयोग करते हैं। नृत्य के समय मोर के पंख का भी प्रयोग होता है। छोटे बच्चे केवल लँगोटी पहनते है। औरतें साड़ी पहनती है। छाती को छिपाने के लिए भी एक वस्त्र ''अंगरखा'' पहनती हैं। स्त्रियों के बीच गोदना बहुत प्रचलित है। पुरुष और स्त्री दोनों हफ्तों तक स्नान नहीं करते हैं।

भोजन

इनका मुख्य भोजन मकई, बरहटी और बाजरा है। महुआ, इमली कन्द, कटहल आदि भी इनके भोजन के अन्तर्गत आते हैं। ये पक्षी खरहा आदि भी खाते हैं। सूअर और बकरे का माँस कभी-कभी खाते हैं। जंगली फलफूल विशेषकर बेर और महुआ इनके भोजन का महत्वपूर्ण अंश होता है। महुआ और खजूर से शराब बनाकर पीते और बेचते हैं। यह जनजाति जंगलोंमें भालू, खरगोश, जंगली बकरा, साही, जंगली मुर्गियाँ आदि का शिकार करते हैं।

ये बकरी, मुर्गी, सूअर, गाय, बैल, भैस भी पालते हैं, विक्रय से इन्हें आय प्राप्त होती है। अब गाय का दूध भी बेचने लगे हैं।

गरीबी के मारे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजनों से ऋण लेते हैं। भारी सूद देना पड़ता है। भंडारण की समुचित व्यवस्था न होने के कारण उत्पादित अनाज शीघ्र ही कम भाव में

उन्हें बेचना पड़ता है।

माल पहाड़िया–धर्म

मनुष्य के जीवन के क्रिया कलापों के पीछे भोजन की खोज मुख्य उद्देश्य रहा है। भोजन का साधन फसल और शिकार है। दोनों में सफलता और प्रचुरता के लिए इन प्रेतात्माओं का सहयोग आवश्यक है। इसलिए अच्छी उपज और काफी मात्रा में शिकार की प्राप्ति के लिए इनकी प्रार्थना और पूजा करना इनका आवश्यक धार्मिक अंग बन चुका है। इनका विश्वास है कि इनकी प्रसन्नता से ही उनको सफलता मिल सकती है। प्रेतात्माओं की नाराजगी से अनेक हानियाँ हो सकती हैं तथा ये रोग और मृत्यु के शिकार हो सकते हैं।

इस जनजाति का सौरिया जनजाति के समान पुनर्जन्म में विश्वास है। इसीलिए इनकी आस्था है कि इनके पूर्वज जो मर चुके हैं, जरूरत के क्षणों में इनकी सहायता भी कर सकते हैं। इसीलिए हर अवसर पर अपने पूर्वजों को याद करते हैं और कुलदेवता या पूर्वजों की पूजा करते हैं। पूर्वज पूजा, इनके धर्म का केन्द्र बिन्दु है। प्रायः सभी अवसरों पर जैसे–जन्म, विवाह और मृत्यु तथा फसल बोने तथा काटने के समय भी अनेक देवी–देवता, प्रेतात्मा के साथ पूर्वज पूजा करते हैं और बलि चढ़ाते हैं।

माल पहाड़िया का सब से बड़ा देवता धरती ग्रामीण गोसाईं है जो एक पेड़ के नीचे एक पत्थर के रूप में होता है। इनको बसुमति गोसाईं या बेरू गोसाईं भी कहते हैं। ये देवता वस्तुतः सूर्य होता है। जिसे मुंडा सिंगबोंगा कहते है।

अनेक तरह की पूजाएँ की जाती हैं, जिनमें बीची एराई, गंगी, घघरा पूजा या ओसरी एराई इत्यादि मुख्य है। बीची एराई, जेठ के महीने में कुरूवा खेती में बीज डालने के समय की जाती है। इसमें एक अंडे की बलि चढ़ायी जाती है, यह व्यक्तिगत पूजा है। गंगी पूजा भादो में होती है। इस पूजा के लिए प्रत्येक घर में शराब, माड़ या ताड़ी चुआयी जाती है। सब से पहले गाँव का डेहरी या नादो चुटो कुरीया या जोहरस्थान में पूजा करता है और एक अंडा एक चेंगना (काला), अरवा चावल और सिंदूर चढ़ाता है। इसके बाद सभी ग्रामीण गुमो गोसाईं की पूजा करते हैं। डेहरी को पचोई या माड़ी दिया जाता है। इसके बाद ही गंगी को खाने के लिए प्रयोग किया जाता है।

घघरा पूजा अगहन महीने में होती है। पूजा से एक दिन पहले जोहरथान में एक कान्दो (लकड़ी का मचिया) रख दिया जाता है उसको ठीक से साफ कर दिया जाता है, वहाँ डेहरी की पत्नी जिसे कोतवारी कहा जात है, भात पकाती है। वह अपने को पूजा के दिन स्वच्छ और पवित्र रखती है और जमीन पर सोती है। पूजा के दिन डेहरी और कोतवार के साथ ग्रामीण, माड़ी, का एक बरतन, एक सूअर, एक बकरा, दो मुर्गी और चार अंडा लेकर जाते हैं, और इसकी बलि चढ़ाई जाती है। सूअर और बकरे की बलि दो अलग–अलग हथियार से डेहरी खुद करता है और मुर्गी की भी बलि वही करता है। जब सूअर काटा जाता है तो दो अंडे और जब बकरे की बलि दी जाती है तो फिर दो अंडों को चढ़ाया जाता है। इसी कान्दो पर कान्दो गोसाईं निवास करते हैं। कान्दो गोसाईं को दो मिट्टी के प्याले में भात से भरकर नये सूप में रखकर चढ़ाया जाता है। बलि दिये गये पशु और पक्षी को पकाया जाता है, और ग्रामीणों में

बाँटा जाता है। बकरे का अगला पैर डेहरी को दिया जाता है। उसे वह अपने घर में पकाता है और उसे ग्रमीणों के साथ खाता है। गाँव के लोग अपने साथ डेहरी के घर माड़ी लेकर जाते हैं। अगले दिन ग्रामीण व्यक्तिगत रूप से गुमों की पूजा करते हैं। एक चेंगना की बलि देते है। शिवतकरेनी और गौहाल के पास शिवतकरेनी की एक अंडे की बलि देते हैं। इसके बाद ही वे घघरा को खाते हैं।

माघी पूजा माल पहाड़िया का सब से महत्वपूर्ण पूजा है इसे ''ओंसरी पूजा'' की तरह सामूहिक रूप से मनाया जाता है। इस पूजा के लिए तीन बकरे और सात अंडे खरीदे जाते हैं। एक बकरा चौराहे पर एक तरफ काटा जाता है और दूसरा बकरा, दूसरी तरफ काटा जाता है। तीसरे बकरे की बलि जाहेरस्थान में दिया जाता है। एक साल में डेहरी एक बकरे की बलि जाहेरस्थान या चुटो कुरिया में चढ़ाता है और दूसरे साल सभी ग्रामीण मिलकर पूजा करते हैं और बलि चढ़ाते हैं। उस दिन कोतवारी प्रत्येक घर से माड़ी लाती और गाँव के सभी सदस्य उसका उपभोग करते है। बलि पशु पकाया जाता है और सभी गाँववालों को उसमें हिस्सा मिलता है इसका अगला पैर डेहरी को दिया जाता है, जिसे वह अपनेघर में पकाकर अन्य लोगों के साथ खाता है। सबसे पहले डेहरी को गोड़ाईत दोने में गाड़ी देता है। फिर प्रत्येक घर का मुखिया यही काम गोमो गोसाईं के आगे अपने घर में करता है। माघी पूजा धरती-पूजा है।

तात अरीये (आम पूजा) पूजा जेठ में होती है। यह पूजा भी जाहेरस्थान मे डेहरी द्वारा होती है। इसके लिए एक मुर्गी, सात अंडे, सिंदुर, अरवा चावल और दो-तीन पत्ती सहित आम पूजा के काम में लाया जाता है। सामूहिक पूजा समाप्त होने के बाद लोग व्यक्तिगत रूप से अपने घरों में नादगोमों या गोमो गोसाईं के आगे पूजा करते हैं। और बलि चढ़ाते हैं। गोमो गोसाईं का स्थान चूल्हे के पास होता है। यह पूजा मृत पूर्वजों के नाम पर की जाती है और माल पहाड़िया के बीच ऐसा विश्वास है कि इस पूजा के बिना लोग सुख शांति से नहीं रह सकते। इन सभी पूजाओं में ग्रामीण के साथ-साथ डेहरी, कोतवारी और गोड़ाइत हर घर में जमा होते हैं। डेहरी लकड़ी की मचिया (कान्दो) पर बीच में बैठता है और गाँव के लोग दूसरी तरफ बैठते हैं। गोड़ाइत माड़ी बाँटता है और दरवाजे के चारों ओर नाचता है। यह काम हर घर में दोहराया जाता है। पूजा की यह प्रक्रिया माल-पहाड़िया में पूरे जोश-खरोश के साथ अपनायी जाती है। कहीं कहीं आषाढ़ में बीजारोपण के पहले पितृदेव और मोहरभूत की पूजा करते हैं। पितृदेव के लिए सात मुर्गी और दो अण्डे तथा मोहरभूत के लिए दो लाल मुर्गो की बलि दी जाती है। माघी पूजा में लगभग सभी-देवताओं की पूजा होती है। धरमदेव के लिए एक सूअर और एक बकरे की बलि दी जाती है। जोकदेवता गाँव का संरक्षक है। साथ ही वह पहाड़ जंगल और जलाशय का मालिक माना जाता है वह एक पत्थर के रूप में प्रतिस्थापित रहता है। उसके सहायक को दो काले मुर्गे चढ़ाये जाते हैं। और उसका दूसरा सहायक जो जलाशय में रहता है उसके लिए एक काला मुर्गा दिया जाता है।

डेहरी का पद अब वंशानुगत हो गया है डेहरी के मरने पर बड़ा बेटा उसका स्थान लेता है। अगर उसका कोई पुत्र न हो तब नये पुजारी का चुनाव अलौकिक ढंग से किया जाता है। उसी तरह कोतवारी का भी चुनाव होता है।

इसके धार्मिक अनुष्ठानों को ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वज पूजा इनके धर्म का केन्द्र बिन्दु है। अपने को, परिवार को और समाज को स्वस्थ और सुखी रखने के लिए ये अनेक

देवी-देवताओं की पूजा करते हैं। पशु, मुर्गी, अंडे आदि की बलि देकर उन देवताओं को खुश रखने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार माल पहाड़िया का जीवन सभी अवसरों पर पूजा और बलि चढ़ाने में लगा रहता है, क्योंकि उनका प्रबल विश्वास है कि इसके बिना वे सुखी और स्वस्थ नहीं रह सकते।

सौरिया और माल पहाड़िया का राजनीतिक जीवन

गाँव का मुखिया माँझी कहलाता है। कई गाँवों को मिलाकर एक संगठन बनाया जाता है, जिसका मुखिया सरदार कहलाता है।

माँझी की सहायता के लिए प्रमाणिक और गोड़ईत होते हैं। वह माँझी के द्वारा दिये गये जिम्मेदारी या काम को करता है। माँझी की अनुपस्थिति में ग्राम-पंचायत की बैठक में काम करता है। पहले माँझी का चुनाव ग्रामीणों के द्वारा होता था किन्तु अब वंशानुगत हो गया है। माँझी, गाँव से लेकर वसूलता है और उसमें से कुछ गोड़ईत को भी देता है। गाँव में पंचायत होती है, उस पंचायत में गाँव के सभी वरीय सदस्य (ग्रामीण) रहते हैं, और उसका सभापतित्व माँझी करता है। इसमें गोड़ाईत उसकी मदद करता है। माँझी की राय से गोड़ाईत ही पंचायत की बैठक बुलाता है। वही पंचायत में किसी की शिकायत या मुकदमे को फैसला के लिए प्रस्तुत करता है। इस परम्परागत पंचायत के निर्णय का उल्लंघन करने का साहस पहले किसी में नहीं होता था किन्तुं अब सरकारी पंचायतों की स्थापना के बाद परम्परागत पंचायत कुछ कमजोर पड़ने लगे है। फिर भी माल पहाड़िया क्षेत्र या बीच में अधिकांशतः पुरानी पंचायतों का ही सहारा लिया जाता है। पंचायत अपने निर्णय में कई तरह की सजा देती है और जुर्माना दिया जाता है। पंचायत के फैसले को मानना अनिवार्य हो जाता है, नहीं तो उल्लंघन करने वाले को समाज में कोई स्थान नहीं रह जाता। गाँव के झगड़े और समस्याओं का निपटारा ग्रामपंचायत के स्तर पर माँझी द्वारा कर दिया जाता है। किन्तु ग्रामीण झगड़े या विवाद इस पंचायत के क्षेत्र में नही आते। ऐसे विवाद सरदार के पास भेजे जाते हैं।

इनके बीच बिटलाहा की प्रथा नहीं है। अब तो माल पहाड़िया क्षेत्र में सरकारी पंचायतें काम करने लगी हैं। परन्तु उन पंचायतों में उनका प्रतिनिधित्व नहीं के बराबर है। इसलिए ग्राम पंचायत या अन्तर ग्रामीण पंचायत जहाँ मुखिया या सरदार उनके बीच का होता है, उनमें उनका ज्यादा विश्वास है। लेकिन जहाँ मुखिया सरपंच दूसरी जाति या वर्ग के है, उनमें उनकी कोई रुचि नहीं होती। ऐसे पंचायतों को वे अजनबी समझते हैं और उससे भय खाते हैं। उनके मन में धारणा है कि कर्ज देने वाले सेठ-साहूकारों की तरह ये भी इनका शोषण करते हैं। यह सही है कि सरकारी पंचायत के कुछ लोग बुरे हो सकते है, किन्तु उन्हीं के कारण माल पहाड़िया को कटु अनुभव मिला है। सरकारी पंचायत में पहाड़िया को अधिक प्रतिनिधित्व देकर उनके विश्वास को प्राप्त किया जा सकता है।

VI. बिरहोर

बिरहोर जनजाति के लोग झारखण्ड के उत्तर-पूर्वी किनारों पर बसे हुए हैं। इनके निश्चित निवास-स्थान नहीं है। वास्तव में ये लोग घूमनेवाले (Nomadic) हैं। ये लोग जानवरों के शिकार और जंगली फलों पर अपना जीवन निर्वाह करते हैं। बिरहोर अपने निवास स्थान को "टाँडा" कहते हैं। दूसरे

की वस्तुओं को देखने और तीर चलाने में कुशल होते हैं। ये लोग दूसरी जाति के लोगों से अलग रहना पसन्द करते हैं, अतः जंगलों और पहाड़ियों पर ही निवास करते हैं। दौड़ने और पैदल चलने में ये काफी तेज हैं। किसी स्थान पर दो-तीन वर्षो तक रहकर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। जब उस जगह पर भी खाने के लिए कुछ नहीं रह जाता है तो फिर कोई तीसरा अनुकूल स्थान खोज निकालते हैं। जाते समय ये लोग इस बात को ध्यान में रखते हैं कि ऐसे रास्तों से जायें कि कहीं इन्हें दूसरी जाति के लोगों का सामना न हो जाये।

बिरहोर जाति को दो भागों में बाँटा जा सकता है (1) ओथलो या भुलया और (2) जाघी या थानिया। पहली जाति के लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने घर बार बदलते रहे, वर्षा के दिनों को छोड़कर हर महीने में 'ओथलो' गिरोह के लोग अपना डेरा बदलते रहते हैं। इनका घर-द्वार दस-बाहर दिनों पर बदल जाता है। लेकिन 'जाघी' जोग 'ओथलो जाति के लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक दिनों तक एक स्थान पर रहते हैं। टाँडा में दस-बारह झोपड़ियाँ होती है। ये बकरियों और अन्य, मवेशियों को पालते हैं। घर के एक भाग में इन पशुओं को बाँधा जाता हैं। कुछ टाँडा ऐसे भी हैं, जहाँ एक गोतीआरा या सोने के लिए झोपड़ीनुमा युवागृह (Dormitory) भी होता है। इसमें केवल कुँवारे लड़के सोया करते हैं। लड़कियों के सोने के लिए एक अलग घर होता है यह घर लड़कों के सोने के घर से अधिक दूरी पर होता है। इन कुँवारी लड़कियों की देखभाल करने के लिए कोई बूढ़ी विधवा रहती है। बिरहोर अधिक गरीब होते हैं। ये लोग साधारणतः जंगली फलों और जानवरों के शिकार से अपना जीवन निर्वाह करते हैं, अतः भोजन न मिलने की स्थिति में कई दिनों तक बिना कुछ खाये-पीये रहना पड़ता है।

बिरहोर लोगों का रंग काला, कद छोटा, बाल घुंघराले और नाक चौड़ी होती है। इनका लगाव 'सन्ताल' मुण्डा और हो जनजातियों से है ये लोग आस्ट्रो-एशियाई बोली बोलते हैं।

टाँडा संगठन

यद्यपि बिरहोर जनजाति का सामाजिक संगठन सीधा-सादा और साफ है, तथापि हमलोग इसे प्राचीन या प्राथमिक नहीं कह सकते। वर्तमान समय में उनके पास दो प्रकार के संगठन हैं एक संगठन आर्थिक व्यवस्था करता है और दूसरा सामाजिक। यह कबीला कुछ छोटे-छोटे गिरोहों में बँटा हुआ है। हर गिरोह में तीन से लेकर दस बारह परिवार होते हैं। ऊपर इसकी चर्चा हो गई है कि स्थायी रूप से निवास करने वाला गिरोह 'टाँडा' कहलाता है।

हर टाँडा में एक सरदार हाता है। जिसे 'नाया' कहते हैं। यह नाया बिरहोर लोगों का धार्मिक एवं सांसारिक नायक होता है। उसे इस पद के लिए देवता गण नियुक्त करते हैं, और वह उन देवताओं को प्रसन्न करता है। उनके मरने पर उसके बेटे को उस पद के लिए चुना जता है। नया ''नाया'' इस पद पर नियुक्त होने के बाद स्नान करता है। स्नान कर लेने के बाद लोग उसे ''जीलू-नायर'' में ले जाते है। इस स्थान पर कुछ शिकार के जाल रखे जाते हैं, वहाँ पहुँचकर यह ''नाया'' आत्माओं को थोड़ा चावल भेंट चढ़ाता है, और टाँडा के दूसरे लोग शिकार खेलने चले जाते है। यदि वे शिकार में सफलता प्राप्त करते हैं तो नाया के चुनाव पर खुश होते हैं। ''नाया'' अपनी जमात ''दल'' में से किसी को 'कोटवार' चुनता हैं। कोटवार का काम लोगों को शिकार के लिये बुलाना और प्रबन्ध करना होता है।

बिरहोर लोगों में एक मत्ती होता, यह "मत्ती" लोगों को बताता है कि कौन भूत किस मनुष्य को सता रहा है और उसको मनाने के लिए उन्हें क्या करना चाहिये।

बन्दरों के शिकार में टाँडा के सभी युवक सम्मिलित होते हैं। शिकार खेले जाने वाले दिन 'नाया' सबेरे उठकर नदी से स्नान करता है और वहाँ से एक घड़ा पानी लेते आता है। इसके बाद वह थोड़ा से अरवा चावल और पानी के साथ टाँडा के युवकों को लेकर 'जाहर' चला जाता है। उस स्थान को ये गोबर और पानी से लीप देते हैं। उस स्थान पर कोटवार बहुत से जाल लेकर रखता है फिर 'नाया' जंगल के सभी जीवों से प्रार्थना करता है कि वे लोग शिकार में उनकी पूर्ण सहायता करें। इसके बाद ये जायर सारे जालों को रखकर वापस आते हैं। दूसरे दिन हर आदमी 'जाहर' से अपना जाल लेकर आता है, और सब मिलकर जंगल की ओर चले जाते हैं।

आर्थिक जीवन

बिरहोर जाति के लोग शिकार ही के ऊपर निर्भर रहते हैं। यही कारण है कि उनके धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों का इससे बड़ा गहरा संबंध है। यदि उन पर कोई आपत्ति आ पड़ती है तो ये समझ लेते है कि यह सब किसी अवरोध (Taboo) कार्य करने के दंड है। रस्सी बनाना, और बन्दरों को पकड़ना इनका मुख्य काम है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ये लोग झारखण्ड के दूसरे आदिवासियों से अलग मालूम पड़ते हैं। इनके आचार विचार और सदाचार को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि यह सब भौगोलिक स्थिति के परिणाम हैं, बल्कि वास्तव में ये सब इनके विशिष्ट मानसिक उन्नति के फल हैं। इनके रंग-रूप और मानसिक स्थिति पर भौगोलिक स्थिति के अतिरिक्त इनकी जातीय और राष्ट्रीय विशेषता का भी प्रभाव है।

टोटेम और प्रतिबन्ध

'बिरहोर' कबीला मुंडा और सन्ताल जाति के लोगों के अनुसार अनगिनत वंशों में बँटा हुआ है, जिन्हें ये लोग 'गोत्र' कहा करते हैं। इन गोत्रों के नाम किसी पशु या पेड़-पौधों के नाम पर रखा जाता है। वे वस्तुएँ साधारणतः इनका टोटेम हुआ करती हैं। इनके पुराने इतिहास से ज्ञात होता है कि इनके पूर्वपुरुषों का उन वस्तुओं से निकट संबंध था। इस प्रकार उस बालक की संतान गिद्ध वंश का पूर्वपुरुष एक गौरेया के डैने के नीचे पैदा हुआ था। बिरहोर जाति के लोग अपने टोटेम की वस्तु को न तो मारते हैं और न खाते हैं। वे लोग उसका बड़ा आदर करते हैं। परन्तु एक दिलचस्प बात यह कि कि शादी के बाद ही एक बिरहोर अपने टोटेम के सभी नियमों को मानता है। शादी के पहले वह इनके नियमों का पालन नहीं करता है। इसका मुख्य कारण एक है कि शादी के पहले वह अपने टाँडा का पूर्ण सदस्य नहीं रहता है। एक वंश के लोगों में शादी नहीं की जाती हैं। इसे वे लोग अगम्य गमन समझते हैं। ये लोग अपने-आप खानदान लेते हैं। इनका परिवार पुरुष के नाम पर चलता है।

उत्तराधिकार

इनका परिवार पुरुष के नाम पर चलता है। यदि कोई मनुष्य दूसरा विवाह कर ले तो उसकी जिन्दगी में ही उस के लड़के सम्पत्ति को बाँटने की माँग कर सकते हैं। धन का विभाग करते समय बाप एक लड़के के भाग के बराबर अपना हिस्सा रखकर बचे हुए भाग को अपने बेटों में बराबर बाँट

देता है। सब से बड़े लड़के को सबसे अधिक भाग मिलता है। यदि किसी की दो स्त्रियाँ होती हैं जो पहली स्त्री के बच्चों को अपेक्षाकृत अधिक धन मिलता है। इसी प्रकार बाप के मरने पर उसके बेटे उसकी छोड़ी हुई सम्पत्ति को आपस में बाँट लेते हैं। किन्तु लड़कियों को उसमें से कुछ नहीं मिलता है यदि किसी व्यक्ति की कोई सन्तान नही है, तो उसकी सम्पत्ति निकट-संबंधी को मिल जाती है।

विवाह

बिरहोर विवाह को आवश्यक समझते हैं। उनके अनुसार देवताओं और देवियों के भी जोड़े होते हैं। विवाह के बाद ही कोई बिरहोर अपनी जाति का सही सदस्य बनता है। कहीं-कहीं बाल विवाह भी होते हैं, लेकिन प्रायः इनके यहाँ युवकों के विवाह का नियम है। लड़के का विवाह लगभग बीस-इक्कीस वर्ष की उम्र में होता है, और लड़कियाँ सोलह साल में ब्याही जाती है।

विवाह की कई प्रकार की विधियाँ है। इनकी संख्या लगभग दस है जब बिरहोर लोग देखते हैं कि किसी जवान युवक और युवती में प्रेम भाव पैदा हो गया है, तो वे लोग उन दोनों को विवाह की आज्ञा देते हैं। यदि लड़के के माँ-बाप धनी होते हैं, तो स्त्री का मूल्य दे देते हैं इस समय 'टाँडा' के लोग जमा होते है। इस प्रकार के विवाह की विधि का नाम 'नापम बपला' कहते हैं। विवाह के बाद लड़का अपना कुंबा (झोपड़ी) बसाता है।

दूसरे प्रकार का विवाह वह होता है, जिसमें लड़कियाँ अपने पतियों के साथ घर छोड़कर भाग जाती है। इसे 'उद्रा उद्रि बापला' (Udar-rdri-Bapla) कहते हैं। जब कोई युवक और युवती एक दूसरे को पसन्द कर लेते हैं तो वे अपने प्रेम के रास्ते में रूकावट से बचने के लिए किसी अज्ञात स्थान पर चले जाते हैं, और वहाँ पति-पत्नी के रूप में रहते हैं। जब उनकी जाति के लोग उन्हें खोज लेते है तो उनका विवाह कर देते हैं। इस तरह उनके प्रेम को सामाजिक मान्यता होती है।

विवाह की एक दूसरी रीति है, जिसे 'बोलो-बपला' कहते हैं। इस नियम के अनुसार एक लड़की किसी लड़के के साथ जाकर रहने लगती है। ऐसी अवस्था में यह विश्वास किया जाता है कि लड़के ने इस लड़की पर जादू किया है। साधारणतः लड़के ऐसी लड़कियों के साथ सहानुभूतिपूर्वक मिलते हैं। उसके बाद दोनों क़े माता-पिता हंसी-खुशी से उनका विवाह कर देते हैं।

इनके अतिरिक्त सिपन्द्र-बपला, सांधा बपला, गोलहत बपला, सदर बपला, इत्यादि विवाह के विभिन्न नियम है।

यदि किसी लड़के के माता-पिता किसी लड़की को अपने बेटे के लिए पसन्द कर लेते हैं तो अपने मित्रों को लड़की के माता-पिता के पास विवाह के संबंध में बातचीत करने भेजते हैं। साधारणतया इसमें तीन व्यक्ति हुआ करते हैं। ये लोग अपने घरों से इतना सबेरे प्रस्थान करते हैं कि लड़की के घर सूर्य डूबने से पहले पहुँच जाएँ। वहाँ पहुँच कर ये लोग मकान के पीछे कुछ छड़ियाँ रख देते हैं। यह देखकर लड़की के माता-पिता यह समझ जाते हैं कि ये लोग विवाह के विषय में बातचीत करने आये हैं। यदि ये लोग इसके लिए तैयार होते हैं तो घर का कोई व्यक्ति उन छड़ियों को लाकर घर में रख देता है। इसके बाद स्त्रियाँ घर से निकल कर उन लोगों के पैर धो देती हैं। थोड़ी देर बातचीत करने के बाद सभी लोग सो जाते हैं। इस प्रकार बिरहोर लोगों में विवाह की बात तय की जाती है। और इसके

बाद विवाह होता है।

जन्म, लड़कपन तथा यौवन

बिरहोर जनजाति मानती है कि मनुष्य पर सबसे अधिक खतरा उस समय होता है जब वह माँ के पेट होता है। इसलिए बच्चे को कष्टों के बचाने के लिए वे लोग विभिन्न उपाय करते हैं।

किसी लड़के के जन्म के समय घर के पुरुष बाहर चले जाते है और वहाँ कुछ स्त्रियाँ रह जाती है। उनमें से कुछ गर्भवती की देखभाल करती हैं। और कुछ स्त्रियाँ घर की सफाई में लग जाती है। गर्भवती को झोपड़ी के एक किनारे रखा जाता है, और उसी स्थान पर बच्चे का जन्म होता हे। बालक की उत्पत्ति के बाद घर में एक अलग दरवाजा खोल दिया जाता है, जिससे प्रसूति अपवित्र अवस्था में उसी दरवाजे से बाहर निकलती है उन लोगों का विश्वास है कि जिस दरवाजे से प्रसूति निकलती है, घर के दूसरे लोग उसी रास्ते से निकले तो उनकी मृत्यु हो जायेगी। घर के नये दरवाजे के रास्ते को थोड़ी दूर तक झाड़ियों और लकड़ियों से घेर दिया जाता है, जिससे उसकी अपवित्रता का प्रभाव लोगों पर न पड़ सके। बच्चे के जन्म-दिन में टाडा के लोग शिकार खेलने जाते है, और जब वे लोग सफलता प्राप्त कर आते है तब यह समझा जाता है कि उस बच्चे का जीवन सफल होगा। 'बिरहोर' लोग अपने हाथ-पैर में गोदना गोदवाते हैं।

धर्म

धर्म बिरहोर लोगों के जीवन का एक अंग है। ये लोग समझते है कि जीवन में सुख और दुःख भगवान और देवताओं की देन है। इसलिए उनके धर्म का सब से महान काम है, कि धर्म द्वारा उनका जीवन सफल हो, और तमाम कष्टों से उन्हें मुक्ति मिले। यही कारण है कि ये लोग अपने जीवन के विभिन्न आचारों से किसी न किसी देवता या महान् आत्मा को प्रसन्न करते हैं। इनके जीवन के हर भाग में चाहे वह राजनीतिक हो या सामाजिक, धर्म की छाप रहती है।

बिरहोर लोगों के ख्याल के अनुसार हर वस्तु में एक महान् शक्ति है। इनका सबसे बड़े देवता ''बोरा-बोंगा'' या ओर बोंगा है। इसके अतिरिक्त जंगल, पहाड़ तथा झरने भी देवताओं से भरे पड़े हैं। ये लोग समझते हैं कि मनुष्य और भिन्न-भिन्न देवताओं में बराबर लड़ाई जारी रहती है, जो देखने से मालूम नहीं होती है।

इनका सब से बड़े देवता 'सिंगा-बोंगा' हैं,जो मनुष्य के आचार-विचार तथा सदाचार पर बराबर निगाह रखता है,और उन्हें उसी के अनुसर फल देता है। दूसरे प्रसिद्ध देवता ''देवी माइ,'' ''माघ वीर,'' ''हिन्द्र वीर'' और ''ओरा बोंगा'' इत्यादि हैं।

त्योहार

बिरहोर कबीले के उतलू लोग जीवन निर्वाह के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते रहते हैं। इन्हें त्योहारों में भाग लेने का अवसर कम मिलता है। ये लोग फिर भी कुछ इने-गुने कार्यो से देवताओं को प्रसन्न करना आवश्यक समझते हैं। पृथ्वी को खोदने से पहले ये लोग तीन बार चौसा मार कर अपने देवता 'बोंगा' को खुश करते हैं।

बिरहोर लोगों के मुख्य त्योहार 'सोसो बोंगा' और 'नवाजम' है जो आषाढ़ मास में मनाये जाते

हैं। करमा और चैता भादो में, दसाई त्योहार आश्विन में और सोहराई कार्तिक में मनाया जाता है। इन त्योहारों को जाघी लोग बड़े उत्साह से मनाते हैं।

सोसो बोंगा त्योहार उस समय मनाया जाता है, जब जुलाई के महीने में धान की खेती समाप्त हो जाती है। संध्या समय जाघी गिरोह के लोग 'सोसो' पौधे की कुछ डालियाँ काट लाते हैं। इस त्योहार में लोग बड़ी खुशियाँ मनाते हैं।

IV. बिरजिया जन जाति

बिर शब्द का शाब्दिक अर्थ, और बिरजिया और मुण्डारी में भी जंगल होता है और जिया का अर्थ रहने वाला। इनके बगल में असुर जनजाति भी रहती है। असुरों के इतिहास को भी देखने से पता चलता है कि असुर में भी तीन उपभाग है, पहला बिर या कोल, दूसरा बिरजिया और तीसरे उपभाग को अगड़िया कहते हैं। बिरजिया लोगों का पर्व त्योहार, पेशा असुरों से मिलता-जुलता है।

इस जनजाति का परिवार पितृसतामक होता है। इनके बीच दोनों तरह के परिवार पाये जाते हैं, एकाकी और संयुक्त, लेकिन एकाकी परिवार की संख्या अधिक है। इस जनजाति की महिलाएँ बहुत परिश्रमी होती हैं। इनके परिवार में पिता का स्थान श्रेष्ठ होता है, इन्हीं के द्वारा परिवार का संचालन होता है। घर का सारा काम महिलाओं द्वारा किया जाता है। बच्चों का लालन-पालन, खाना बनाना, पानी लाना आदि काम स्त्रियों के जिम्मे होते हैं। इन कामों के अतिरिकत कृषि कार्यों में भी पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी करती हैं। स्त्रियाँ जंगल से जलाने के लिए लकड़ी लाती हैं।, कंदमूल तोड़कर लाती हैं। बाजार-हाट में खरीद- बिक्री अधिकतर महिलाएँ ही करती हैं। शादी के पहले अपने पिता के यहाँ काम करती हैं और शादी के बाद ससुराल चली जाती हैं।

देहातों में यह कथा भी प्रचलित है-किसी समय वितरा असुर और गया असुर मिलकर किसी राजा से युद्ध करने गये। उस समय बिरजिया जो उनका भाई था, युद्ध करने से इन्कार किया, उसी समय से बिरजिया को अलग कर दिया। यह तो एक दन्तकथा है इसमें कितनी सच्चाई है कहा नहीं जा सकता, लेकिन बिरजिया एक अलग जनजाति है। इनके बीच बाल विवाह की प्रथा नहीं है। लड़कियों की उम्र कम से कम पन्द्रह सोलह साल और लड़कों का अठारह बीस साल होती है।

विवाह

विवाह परिवार की आधारशिला होती है। विवाह के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक तथा कानूनी स्वीकृति प्रदान की जाती है। बिरजिया जनजाति में विवाह के अपने नियम हैं। इनकी शादी 'अगुवे' द्वारा तय की जाती है, जिसको अपनी भाषा में 'विषु' कहते हैं। पहले तो विषु लड़की के माता-पिता के पास जाते हैं और शादी के लिए अपनी तरफ से लड़के की सिफारिश करते हैं कि अमुख गाँव के अमुख लड़का के लिए आपकी लड़की को शादी के लिए प्रस्ताव रखते हैं। अगर स्वीकृति मिली तो आठ दस के अन्दर 'अगुवा विषु' को लौटकर आने को कहते हैं। निश्चित तिथि को अगुवा अपने और साथियों के साथ दो हँड़िया अपने साथ लेकर लड़की वाले के यहाँ जाते हैं। उस दिन लड़की वाला अपने हित कुटुम्ब को बुलाता है और शाम को सभी अपने आँगन में बैठते हैं। लड़की का पिता सभी को ये बताता है कि मैंने अपनी लड़की की शादी अमुख गाँव के अमुख लड़के से होने के लिए अपनी स्वीकृति दी।

तब अगुवा बना हुआ हँड़िया को वहाँ उपस्थित सभी के बीच लोटे में लेकर दोनों में बाँटता है। साथ-साथ नमक मिर्च भी देते हैं और अगर हँड़िया चखना रहा तो सभी के बीच बाँटते हैं और खाते हैं। रात में सोने के बाद सुबह में लड़की के पिता द्वारा शादी की तिथि निश्चित की जाती है। शादी अपने औकात के मुताबित छः महीने या साल भर बाद भी तय होती है।

निश्चित तिथि के दिन लड़का वाला अपने इष्ट कुटुंब एवं परिवार को बुलाकर अगुवे के साथ 5 हँड़िया और 12 पसेरी अनाज, जो करीब 72 सेर होता है, दो सूअर, दो बाजे ढाक, 6 रुपये लेकर लड़के वाले के यहाँ शाम को जाता है। लड़की वाले घर के रास्ते में ही सामने बरातियों का स्वागत करते हैं। मड़वा के नीचे आँगन में लड़की की माँ के लिए एक साड़ी देते हैं, जिसे 'माय-सारी' कहते हैं। और लड़की के लिए भी साड़ी ब्लाउज वगैरह देते हैं। यह कपड़ा हल्दी या हल्दी रंग से रंगा होता है। शादी के समय लड़की को पहनाकर अगुवा लड़का-लड़की दोनों के माथे में तेल डालते और बाल से झाड़ देते हैं। तब एक अगुवा वर को कंधे में उठाता है और दूसरा अगुवा कन्या को बाँह से उठाता है, और आपस में कुछ समय तब नाचते गाते हैं। शादी अपने ही बैगा या पहान द्वारा कराया जाता है। शादी के समय वर के हाथ में छतरी और तीर धनुष पकड़ा दिया जाता है। कन्या के माथे पर पानी भरा लोटा, जिसमें अरवा चावल और आम की टहनी डाली हुई रहती है, रखा जाता है। शादी के समय उसी लोटे के पानी को आम की टहनी से बरातियों के ऊपर छीटा जाता है। लड़का अगर सिन्दुरिया है तो लड़की के माथे में सिन्दूर डालता है। अगर तेलरा है तो पाँच बार माँग पर तेल डालेगा, जो कि नाक की ओर उतर कर आ जायेगा। इस तरह से शादी हो जाने के बाद वर आगे और फिर कन्या पीछे-पीछे दाहिने तरफ से सभी हित कुटुम्ब पुरुष स्त्रियों को पैर छूकर प्रणाम कर आर्शीवाद लेते हैं।

शादी के समय वर कुर्ता, धोती पहने रहता है जो कि हल्दी रंग से रंगा होता है और माथे में कपड़े का पगड़ी बाँधे हुए रहता है, और लड़की ब्लाउज और साड़ी जो हल्दी रंग से रंगी होती है, पहने रहती है।

इस अवसर पर नवयुक गण समाज के लोगों के लिए खाना बनाते हैं। इसमें स्त्रियों को खाना बनाने नहीं दिया जाता है। पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी बारात जाती हैं। शादी के बाद पीने का दौर शुरू होता है। लोग हँड़िया और महुवे का बना शराब पीकर नाचते गाते हैं। यह सिलसिला सुबह तक चलता है। शादी के समय लड़के के माता-पिता की उपस्थिति आवश्यक नहीं है उनका प्रतिनिधित्व अगुवा विषु करते हैं।

भोज के लिए खाना तैयार होने पर लड़की का पिता सबों को खाने के लिए निमंत्रण देता है। इसी तरह स्त्रियों को भी बुलाया जाता है। इसके बाद वर-वधू के साथ बरातियों को विदा किया जाता है।

चाद दिन बाद वर-वधू लौटते हैं, जिसे बहुरत कहा जाता है। फागुन महीने में पुनः वर-वधू दोनों दो घड़ों में हँड़िया और सखुए पत्ते के पतल में रोटी, संदेश के रूप में लेकर आते हैं और रोटी को अपने सभी हित परिवार के बीच में टुकड़ा-टुकड़ा कर प्रसाद के रूप में देते हैं, और उसके बाद लाया हुआ हँड़िया और लड़की के माता-पिता की ओर से भी हँड़िया निकालकर सभी कोई खूब खाते-पीते

और आनन्द मनाते हैं। इसके बाद सुबह खिला-पिला कर लड़का-लड़की को विदा कर देते हैं, और लड़की के लिए पैसे, गाय, भैंस आदि भी देते हैं। इसको अपनी भाषा में दान-दहेज कहते हैं।

बहुविवाह प्रथा

बाल-विवाह की प्रथा नहीं है। एक व्यक्ति अपनी औकात के अनुसार एक साथ तीन स्त्रियाँ भी रख सकता है। अगर तीन पत्नियाँ हैं, तो दूसरी या तीसरी पत्नी खाना बनाती है, और दूसरी पत्नियाँ घर का काम करती हैं। एक व्यक्ति दो सगी बहनों से भी शादी कर सकता है, वशर्ते वह पहले बड़ी बहन से शादी किया हो।

तलाक

अगर किसी पति का अपनी पत्नी से नहीं पटता हो और तलाक की नौबत आ जाये, तो गाँव के कुछ बूढ़ों को बता् कर अपनी पत्नी से तलाक ले सकता है। ऐसी स्थिति में तलाक शुदा औरत भी दूसरे पुरुष से विवाह कर सकती है, जिसको सगइना कहते हैं।

यदि लड़का और लड़की दोनों विधुर एवं विधवा हैं, तो लड़का सगाई में एक सूअर, बारह पसेरी चावल, और पाँच हँड़िया लेकर अपने परिवार के लोगों के साथ लड़की के घर जाता है और उसी सूअर को दोनों तरफ के लोग मिलकर खाते-पीते एवं लड़की लेकर चले आते हैं। सगाई में कोई खास नियम नहीं होता है।

व्यभिचार की सजा

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दूसरी जाति के साथ लड़का या लड़की का संबंध हो जाता है। ऐसी स्थिति में जाति पंचायत के अन्दर इसका निपटारा किया जाता है वैसे लोगों को जाति से बहिष्कृत किया जाता है। यदि वह अपनी जाति में आना चाहता है, तो उसके लिए जुर्माना और सात जाति के लोगों को खिलाना पड़ता है।

गोत्र और प्रतिबन्ध

सभी जनजातियों के अपने-अपने अलग-अलग गोत्र होते हैं। गोत्र किसी पशु-पक्षी या वृक्ष के नाम से जुड़ा हुआ होता है। इन गोत्र चिन्हों के प्रति स्नेह एवं आदर के भाव के साथ भय है। ये अपने गोत्र चिन्ह को नहीं मारते या नाश होना नहीं देना चाहते हैं।

बिरजिया के निम्नलिखित गोत्र हैं—

1. लकड़ा 2. शौन लोहार 3. ठिठियो 4. सिंगीरवान 5. मैन्थी 6. बघेरवा 7. बाँस मोरी 8. बरवा 9. झलका 10. सिन्दराही इत्यादि।

लकड़ा गोत्र की उत्पत्ति लकड़बघा से हुआ है, किसी समय में इस गोत्र के आदि पुरुष को लकड़बघा के सामने होने पर भी हो सकता है, नुकसान नहीं किया हो, या लकड़बघा देखकर जाने से शिकार वगैरह में उसको अधिक सफलता मिली हो, तो लकड़बघा को शकुन मान लिया हो और अपना गोत्र चिन्ह लकड़ा रख लिया। ठिठियो एक चिड़िया को कहते हैं। इसके साथ भी कोई शकुन हुआ होगा,

तब से उसने अपना गोत्र ठिठियो रख लिया होगा। इस तरह से सभी गोत्रों की अपनी-अपनी कहानी है। अपने गोत्र के चिन्ह को नही मारते-काटते और न मिटाते हैं।

टैबू

स्त्रियों को छप्पर-चढ़ना मना है। छप्पर छारना किसी भी हालत में स्त्रियाँ नही कर सकती हैं, चाहे घर गिर ही क्यों न जाये।

स्त्रियाँ पुरुषों के सामानों को कंधे में नहीं उठा सकती हैं, जैसे बहँगी, हल, जुआठ। इसके अलावा वे हल नहीं चला सकती हैं। इन सब बातों की शिक्षा बचपन में ही उसे दी जाती है, ताकि कोई लड़की इस काम को न कर सके।

नातेदारी

बिरजिया भाषा में अपने रिश्तेदारों को इस प्रकार सम्बोधित करते हैं—

हिन्दी भाषा	बिरजिया भाषा
पिता	बाबा
माता	आयो
चाचा	काका
चाची	काकी
बड़ी बहन	दीदी
बड़ा बाबा	बाड़ा
बड़ी माँ	बड़ी
पत्नी के बड़े भाई	दादा
पत्नी के छोटे भाई	सरहज
पति के बड़े भाई	भैंसुर
पति के छोटे भाई	सरहज
ससुर	हनहर
सास	होनयायर
फुआ	हातुंग
फूफा	हातुंग मामु
मौसी	मोसी
मौसा	मोसा
बड़ी बहन के पति को	तेयांग, बहनाई
छोटी बहन के पति को	अकिन

आजा (दादा)	ताता
आजी (दादी)	आजी
नाना	नाना
नानी	नानी
समधी	समधी, समधीवुन
समधिन	समधिन, समधि नकु
मामा	मामू
मामी	मामी
भतीजा	भतीजा
भतीजिन	भतीजिन
दामाद	दायमादकिन
पतोहू	बहुड़िया
जेठसास	दाहानहारिन
सौतेली माँ	मोसी माँ
बड़ी बहन के पति	तेयांग
पति की छोटी बहन (ननद)	इरविलीग
पति की बड़ी बहन के पति	ननदसुवा भाई
पति के बड़े भाई की पत्नी (गोतनी)	जातेई

कुछ नाते रिश्ते ऐसे हैं, जिनके बीच हँसी मजाक नही चलता है—

1. पति के बड़े भाई
2. पति के माता-पिता या पत्नी के माता-पिता
3. पत्नी की बड़ी बहन
4. छोटे भाई की पत्नी
5. बहन
6. भगिनी
7. भतीजा भतीजिन

कुछ नाते रिश्ते जिनके बीच हँसी मजाक चलता है—

1. देवर भौजाई
2. ननद भौजाई

3. साला बहनोई

इन के बीच मौखिक मजाक चलता है, लेकिन यौन संबंध वर्जित है।

बिरजिया जाति के अनुसार विभिन्न संस्कार

जन्म संस्कार

बिरजिया जनजाति की महिलायें बहुत परिश्रमी होती हैं। वे घर के अलावे खेत खलिहान में काम करती हैं। प्रसव पीड़ा होने पर घर में ही बच्चा जनती हैं, यदि एक ही घर वाली स्त्रियाँ साथ में रहती हैं और घर में कोई वैसी स्त्री नहीं है तो पड़ोस की कोई उम्रदार स्त्री दाई का काम करती है। बच्चा जन्म होने के बाद और छठी के पहले तक ये अपने घर को अशुद्ध मानते हैं।

छठी संस्कार

बच्चा पैदा होने पर नवें दिन में छठी मनाने की प्रथा इनके बीच है। नवें दिन भैंसुर पति का बड़ा भाई घर के कोने में नया घड़ा उलाटकर रखता है, जिसको वे लोग घड़ा खापना कहते हैं। उस पर धूप सिन्दूर आदि लेकर काले मुर्गे के चूजे से पूजा करते हैं उसके बाद उसी घड़े में बच्चे की माँ, मुर्गी के माँस को चावल में मिलाकर पकाती है। इसे सिरनी पकाना कहते हैं। सिरनी पकाने पर भैंसुर, मुर्गी के सिर को चूल्हे की आग में रखकर पकाता है। मुर्गी के सिर सिरकीमें मिलाकर उसी स्थान में उसे चढ़ाता है जहाँ पूजा की जाती है, उसके बाद अपने ही घर के सभी लोग मिलजुल कर खाते पीते हैं, तब घर शुद्ध हो जाता है, या मान लिया जाता है। इसके बाद बच्चे की माँ खाना वगैरह बना सकती है। छठी नहाने के बाद यदि हो सके तो माँ को नया कपड़ा पहनने को दिया जाता है। अगर नहीं हुआ तो पुराना साफ कपड़ा पहनती है। बच्चा पैदा होने के समय दाई का काम अपने ही घर की उम्रदार स्त्रियाँ करती हैं जैसे– सास, बड़ी गोतनी या घर की ही कोई उम्रदार स्त्री। बच्चे के नालबांस को छुरी से काटती एवं घर में ही गाड़ती हैं। इसके बदले उस औरत को एक या दो माठा यानि हाथ की चूड़ी और 5 या 6 रुपये देते हैं। अगर हो सके तो कपड़ा भी देते हैं। छठी के दिन औरतें पैर नहीं रंगाती हैं। पैदा होने पर अगर माँ का दूध नहीं उतरा है तो किसी दूसरी महिला का भी दूध बच्चे को पिलाते हैं और छठी तक बच्चे को दाई काम करने वाली महिला ही नहलाती है, एवं माँ की सेवा करती है।

मुँहजूठी संस्कार

बच्चे को जब वे प्रथम बार भात खिलाते हैं उसको मुँहजूठी कहते हैं, उस दिन मुर्गे की बलि दी जाती है। बच्चे को उसका पिता गोद में लेकर बैठ जाता है, उसके सामने 5 पतलों में भात और मुर्गा का मांस रख दिया जाता है। वह अपने पूर्वजों का नाम लेकर बच्चे को स्वस्थ रखने तथा मांसादि भोजन पचाने के लिए प्रार्थना करता है, इसके बाद सभी कोई मिलकर खाते–पीते और आनन्द मनाते हैं। बच्चे का नामकरण अपने पूर्वजों के नाम पर साधारणतः रखा जाता है। मुँहजूठी संस्कार प्रायः 6 महीने के बाद किया जाता है।

मृत्यु संस्कार

इनके बीच किसी की मृत्यु हो जाने पर जलाने और गाड़ने दोनों तरह ही प्रथा है। लेकिन अधिकतर लोग गाड़ते ही हैं।

जब किसी की मृत्यु हो जाती है तो अगर रात है तो रात में ही सभी हित परिवार के यहाँ आदमी समाचार देने के लिए भेज देते हैं, इनके बीच समाचार देने वाले को धावकिया कहते है। समाचार पाकर सभी जमा होते हैं, उनके नाम पर मिलजुल कर शोक करते हैं। आँगन में लाश को निकालकर सभी कोई उसके मुँह में थोड़ा-थोड़ा पानी देते हैं। उसके नाम से छोटी सी झोपड़ी बनाकर जला देते हैं। मुर्दा को कफन से ढाँप दिया जाता है और बांस की पटरी बनाकर उसमें मुर्दा को उठाकर श्मशान ले जाते है। श्मशान गाँव के बाहर एक कि. मी. की दूरी पर होता है। पूरे गाँव के लिए एक श्मशान होता है। वहाँ पर गडढा खोदकर मुर्दे को नीचे उतार देते हैं। जितने भी व्यक्ति अर्थी के साथ जाते हैं, हाथ से थोड़ी-थोड़ी मिट्टी गढ़े में मुर्दे के ऊपर गिरा देते हैं। उसके बाद गढ़े को मिट्टी से पूर्णरूप से ढंक देते हैं। इसके बाद सिरहाने पर 5 मिट्टी का दीया जलाकर रख देते हैं और 5 प्रकार का अनाज उसके नाम पर वहाँ थोड़ा-थोड़ा रख देते हैं। बच्चा जो जन्म लेने के बाद और छठी नहाने के पहले मर जाता है, उसको अलग गाँव के बाहर सखुआ गाछ के नीचे दफनाते हैं। छूत की बीमारी से मरने वालों को (जैसे-चेचक, कोढ़) सामूहिक श्मशान में नहीं दफनाते हैं। उसको भी अलग, लेकिन गाँव के सीमान दायरे के अन्दर ही दफनाते हैं। जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होती है वह मुर्दे को जलाता भी है। उसके लिए श्मशान में लकड़ी जलाकर चिता बनाया जाता है, और उसके ऊपर लाश को रख दिया जाता है। उसका जो सब से नजदीकी होता है वही लोग लाश को उठाकर रखते हैं। जैसे-पिता के मरने पर उसका लड़का या पत्नी के मरने पर उसका पति चिता पर लाश को चढ़ाने के बाद 5 बार पुआल पर आग धरा कर चिता के चारों ओर घूमकर लाश के मुँह में अग्नि देता है। लाश के जल जाने पर पानी डालकर आग को बुझा दिया जाता है, और अधजली लकड़ियों को वहाँ से हटा दिया जाता है। तब सब से नजदीकी लोग एक माथे की, एक दाहिने हाथ की, एक सीने की, कान की और दोनों पैर की एक-एक हड्डी चुनकर एक नये मिट्टी के बरतन में रखते हैं। जिसको नये कपड़े से बाँध दिया जाता है, और अपने-अपने सगोत्रीय स्थानों, हरबोड़ी में गाड़ दिया जाता है। वह स्थान प्रायः रास्ता किनारे होता है। अस्थि को गाड़ने से पहले उसके नाम से काले मुर्गे की बलि देकर हड्डी पर उसका खून गिरा दिया जाता है, जिसे उसकी आत्मा को शांति मिले। अस्थि को गढ़ा खोदकर गाड़ देने के बाद उसके ऊपर एक बड़ा पत्थर रख दिया जाता है, उसके बाद उस मुर्गे के धड़ को घर ले जाकर, बनाकर खा जाते हैं। मुर्दे की अंत्येष्टि करने के बाद सभी नदी से स्नान कर वापस लौट जाते हैं। दूर दराज के आये मेहमान खा-पीकर वापस लौट जाते हैं। स्त्रियाँ भी उसी नदी या तालाब में जाकर रो-रोकर अपना-अपना हाथ पैर धोती हैं, उसके बाद घर वापस लौट जाती हैं।

शाम को एक लोटा हड़िया 3, दोना चावल और रंगुआ मुर्गे की पूजा कर मृतात्मा के नाम से गिरा दिया जाता है। तब 5 कुंवारे लड़कों को पहले आंगन में बैठकार खिलाते हैं जिसे पंचक्वारी कहते हैं। उसके बाद सभी को खाना पीना दिया जाता है।

मकान

बिरजिया जनजाति प्रारंभ में कन्दराओं मे रहते थे, लेकिन बाद में कुम्बा किस्म के मकान बनाकर दरहने लगे। इनके दीवाल मिट्टी की बनी होती है और छत खपड़े तथा फूस से ढके होते हैं।

घर में अलग-बगल भी साफ नहीं बल्कि झाड़ियाँ होती है। उनके साथ-साथ उराँव और खरवार जनजातियाँ रहती हैं। इनके मकान छोटे-छोटे होते हैं,जिनके छत भी नीचे होते हैं। अधिकतर घरों में चारों तरफ मिट्टी की दीवाल करीब सात फीट ऊँची होती है। इसके बीच एक दरवाजा होता है, जिसकी ऊँचाई साढ़े चार फीट होती है। साधारणत: दोनों तरफ बरन्डा होता है, घर के प्राय: तीन भाग होते हैं। एक तरफ उनके बैल बकरी बंधे होते हैं, दूसरा बीच में खाना बनाने एवं बरतन रखा हुआ होता है और तीसरे भाग में उनके अनाज का गोदाम होता है। बगल से घेरा होता है और बीच में आने जाने के लिए दरवाजा होता है, जिसमें उनके सूअर होते है। कुछ धनी बिरजिया, जानवरों के रहने के लिए अलग से छोटा मकान बनाते हैं, जिसे 'गाय गोहार' कहते हैं।

चूल्हे इनके मिट्टी के बने होते हैं, जो प्राय: एक जगह स्थिर होते हैं। उसके टूटने पर फिर उसी तरह का बनाते हैं। इनके मकान में खिड़की या भेंटीलेटर नहीं होते है, इसलिए लकड़ी या गोंयठा जलाने से धुँआ घर में ही भर जाता हैं।

दरवाजे के चौखट बहुत नीचे होते हैं। घर घुसते समय सिर पर चोट अवश्य लगती है।

घर के बगल में जो अपनी जमीन होती हैं, उसमें खूँटे गाड़ कर बाँस का घेरा डाल कर घेर देते हैं, जिसे बारी कहते हैं। मकान बनाने के स्थान का चयन कर उसमें सगुन भी करते है। साधारणत: पहले शाम में उस स्थान में, जो मकान बनाने के लिए चुना गया है, सफाई कर अनाज के इक्कीस दाने रख देते है, रात भर में उन दानों को चींटियों के खा लेने पर, वहाँ मकान नहीं बनाते हैं। अगर अनाज नहीं खाये गये तो उस स्थान को अच्छा समझ कर मकान बनाते हैं।

अब बिरजिया जाति के कुछ लोग सरकारी नौकरियों में आ गये हैं। अत: खिड़कियों वाले अच्छे मकान बनाने लगे हें। उनके खान-पान और पहिनावे में भी फर्क आ गया है।

घरेलू सामान

घरेलू सामान के नाम पर इनके पास देहाती क्षेत्रों में सोने के लिए खटिया परिवार के अनुसार होता है। इसे गाँव के ही बढ़ई मिस्त्री बनाते हैं। एक ताई, तवा, मिट्टी के घड़े खाना बनाने के लिए लोहे का कल्छुल, चटुआ, एक बैंयठी तरकारी काटने के लिए और पानी रखने के लिए घड़ों का व्यवहार होता है। कुछ सामानों को रखने के लिए सखुए पत्तों का पोटम भी बनाते है, जिसमें डालकर ऊपर से बाँध देते हैं, जेसे सूखा साग या दूसरे खाने का सामान जो मौसमी होते हैं।

धान, मकई, गोंदली इत्यादि रखने के लिए भी ये लोग पोटम का व्यवहार करते हैं, यह पोटम गुंगु पत्तियों को सीकर अपने से बनाते हैं, जिसका मुँह ऊपर की ओर होता है। इसमें पाँच दस ओड़िया (धान नापने या रखने की बड़ी टोकरी) या इससे भी बड़ा अपने पास अनाज जितना है, उसके अनुसार बनाते हैं और उसके अन्दर डालकर सुरक्षित रखते हैं। उराँव, मुंडा जनजातियों में जिस प्रकार धान रखने के लिए पुआल का 'मोरा' बनाते हैं, उसी प्रकार लोग गुंगु पत्ती से मोरा या पोटम बनाते हैं।

इसके अलावे अनाज फटकने के लिए सूप, और लाने ले जाने के लिए बाँस का बना हुआ डलिया या खचिया का प्रयोग करते हैं, स्व निर्मित रस्सी गाय, बैल या बकरी को बाँधने के लिए प्रयोग करते है।

खाने के लिए पहले पत्तल और दोने प्रयुक्त होते थे, परन्तु अब अल्यूमुनियम या एकाध दो काँसे के बर्तन भी प्रयोग में आ रहे हैं।

परिधान

पुरुष धोती ठेहुना के ऊपर, और कमीज या गंजी पहनते हैं, या जिनकी आर्थिक स्थिति बहुत खराब है, भगवा या कोविंद पहनते हैं, जो कि कमर के चारों ओर घुमाकर जाँघ के आगे-पीछे कर खोंसा जाता है। ओढ़ने के लिए चादर का व्यवहार करते हैं।

स्त्रियाँ मामूली किस्म की साड़ी और ब्लाउज पहनती हैं। बच्चे बाजार से लाये हुए हाफ पैंट और कमीज या गंजी पहनते हैं। इनके वस्त्र स्थानीय बाजारों से खरीदे हुए होते हैं, जो स्थानीय बुनकरों या मिल द्वारा बनाये हुए होते हैं।

गहने

बिरजिया जनजाति की स्त्रियाँ मामूली किस्म का गहना पहनती हैं। वह चाहे सिल्वर या गिलट का बना हुआ होता है। शादी के समय बहु को माठा दिया जाता है, जो प्राय: वधू को जेठसास पहनाती है। एक रहा तो एक हाथ में, नहीं तो दोनों हाथों में पहनाया जाता है। यह एक प्रकार की चूड़ी है, इसके अलावे गिलट की सिकड़ी, हसली, बाला यदि हो सके तो बाजार से खरीदकर पहनती हैं, कान में तार पत्ता का बनाया हुआ ठोंगा जो स्थानीय बाजारों से खरीदकर पहनती हैं। चूँकि इनके बीच गरीबी बहुत है, इसलिए गहनों का प्रयोग स्त्रियाँ कम करती हैं।

वाद्य-यन्त्र

इस जन जाति के लोग बाजे के नाम पर मांदर का अधिक प्रयोग करते हैं। पर्व-त्योहार पर लड़के लड़कियाँ मान्दर की ताल पर नाचती हैं।

विवाह शादी में ढाँक बाजे का उपयोग करते हैं, लेकिन घर में खेलने के लिए मांदर का उपयोग करते हैं। नगाड़ा बाजे का उपयोग इनके बीच बहुत कम किया जाता है। इनका गाना मौसम के अनुकूल अलग-अलग होता है, और अलग अलग पर्व त्योहारों मे भी गाने अलग-अलग होते हैं, जिसके अनुसार बाजे का ताल भी अलग-अलग होता है-जैसे सोहराई के बाजे का ताल अलग होगा और करम का अलग।

शिक्षा

बिरजिया जनजाति के बीच शिक्षा का प्रचार बहुत कम है, क्योंकि यह जनजाति शुरू से ही जंगलों और पहाड़ों के बीच रहती आयी हैं। 1981 की जनगणना के आधार पर बिरजिया जनजाति की आबादी 4047 है जो कि अविभाजित बिहार की कुल आदिवासी जनसंख्या का 7 प्रतिशत है जिसमें शिक्षा 0.04 प्रतिशत है जो कि अपनी ही जनसंख्या का 10.50 प्रतिशत है जिसमें शिक्षा 0.04 प्रतिशत है। जो कि अपनी ही जनसंख्या का 10.50 प्रतिशत है।

1981 जनगणना के बाद शिक्षा में बहुत सुधार हुआ है। ईसाई धर्म स्वीकार करने वाले बड़ी संख्या में शिक्षित बने। काम की तलाश में गाँव छोड़ कर शहर की ओर जाने वाले बिरजिया अपने बच्चों की शिक्षा पर अधिक ध्यान देने लगे हैं। लेकिन देहाती क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के बीच शिक्षा का प्रचार

कम है, क्योंकि उनकी, आर्थिक स्थिति बहुत खराब है, जिनके कारण बच्चों को स्कूल नहीं भेजकर बैल, बकरी आदि चराने के लिए भेज देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन

बिरजिया जनजाति के लोग शुरू से ही जंगलों और पहाड़ों में रहते आ रहे हैं, इनकी अपनी अलग एक संस्कृति है, जिस पर दूसरे दूसरे समाज का अब व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। बहुतों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया है, वे शिक्षित हैं, और उनका रहन-सहन, वेश-भूषा आदि संवसार अखीस्तीय लोगों से भिन्न है। ईसाई धर्म के अतिरिक्त शहरीकरण, उद्योगीकरण, यातायात की सुविधा हो जाने के कारण भी सामाजिक परिवर्तन होने लगे हैं। शिक्षित लोग अब शहरों में बसने लगे हैं। कुछ लोग कल-कारखानों में काम करने लगे हैं, कुछ लोग खदानों की ओर पलायन कर रहे हैं। नये-नये जगहों में जाने से दूसरों की देखा-देखी पहनावा रहन-सहन, खान-पान बगैरह में भी परिवर्तन हो रहा है। कुछ व्यक्ति खेती का काम समाप्त होने पर गाँव से बाहर काम की खोज में चले जाते हैं, और वर्षा पहुँचने पर वापस आ जाते हैं। बाहर जाने पर इनकी बोल-चाल में भी कुछ बदलाहट आ जाती है। जिनकी आमदनी अधिक होती है, ऐसे लोग आराम तलब की वस्तुएँ भी खरीदते हैं। पहले बाँस की कंघी से बाल झाड़ते थे, लेकिन अब आधुनिक कंघी दर्पण का भी उपयोग करने लगे हैं। ट्रांजिस्टर, टेप वगैरह का भी उपयोग करने लगे हैं। पहले अपना बहुत समय जंगलों में शिकार के पीछे लगाते थे, अब नहीं लगाते हैं। पहले अधिकांश समय वे बेकार बिता देते थे। गरीबी इतनी थी कि सेठ साहूकारों से कर्ज लिए बिना शादी-ब्याह नहीं होते थे, जिसके बदले इनको सूद पर सूद देना पड़ता था। अगर नहीं दे पाते तो अपनी थोड़ी फसल ही को सस्ते दामों में उनके पास बेचना पड़ता था। अब बाहर काम करने की वजह से बहुत कम इस तरह की बातें होती हैं। अब ये लोग भी चालाक होते जा रहे हैं और अपने बचे हुए समय में दूसरे-दूसरे काम कर कुछ आमदनी कर लेते हैं, जिससे इनका काम चल जाता है। पहले गाँव के साहुकार इनसे अधिक बेगारी लेते थे, लेकिन अब इनको भी काम करने के समय का ज्ञान हो गया है। ट्रांजिस्टर रेडियों से भी अछूते नहीं हैं, पढ़े लिखे लोग इसका भी उपयोग करने लगे हैं।

सामुदायिक विकास योजनाएँ एवं सरकार की विभिन्न योजनाओं से इनके सामाजिक जीवन में काफी परिवर्तन आया है। पहले ये किसी नदी या कुँआ से पानी लाकर पीते थे, लेकिन अब इनके बीच भी सरकार द्वारा कुँआ और चापाकल बनाया गया है, जिससे साफ पानी का व्यवहार करते हैं। भूमिहीन लोगों के लिए पाँच एकड़ तक जमीन दी गई है, साथ में हल और बैल भी दिये गये हैं जिसका लाभ वे उठा रहे हैं। बिरजिया लोगों के पास पहाड़ी किस्म के छोटे-छोटे गाय-बैल हैं, सरकार की ओर से अच्छी किस्म की गायें भी दी गई हैं। खेती गृहस्थी के लिए भी उन्नत किस्म के बीज इनको प्रखंड द्वारा दिये जाते हैं साथ ही साथ रासयनिक खाद वगैरह भी दिये जाते हैं।

लोहा का काम करने वाले बिरजिया अब आधुनिक किस्म के भाथी का प्रयोग करने लगे हैं, जिससे उनको कम मेहनत और अधिक काम हो जाता है। पहले किसी तरह की समस्या उत्पन्न होने पर इसका निपटारा वे अपने ही समाज में कर लेते थे, लेकिन अब आधुनिक ग्राम-पंचायत में मुखिया या सरपंच और गाँव के अन्य गणमान्य लोगों के पास केस रखा जाता है।

इनके पहिनावे में भी परिवर्तन आया है। पहले लंगोटी, भगवा या बहुत कम कपड़े पुरुष इस्तेमाल करते थे, और स्त्रियाँ साड़ी के एक पल्लू से शरीर का ऊपरी भाग ढकती थीं, अब स्त्रियाँ मामूली किस्म की साड़ी, ब्लाउज और पुरुष धोती कुर्ता, लुंगी इस्तेमाल करते हैं। अन्य औद्योगिक केन्द्रों में काम करने के बाद वापस आते हैं, तो कुछ बुरी आदतें भी सीखकर आते हैं, जैसे ताड़ी, सिगरेट, बीड़ी इत्यादि पीना। इन से समाज में बुरा असर पड़ता है।

बाहर में काम करने वाले ब्याह-शादी, और त्योहारों में अवश्य घर आते हैं और अपने साथ बहुत सी चीजों को लाते हैं, जिसका प्रभाव भी स्थानीय लोगों पर पड़ता है। ऐसे लोग और उनके बच्चे अपनी भाषा को भूलते जा रहे हैं, और अपनी संस्कृति के अलग होते जा रहे हैं।

आर्थिक जीवन

मुख्य पेशा

बिरजिया जनजाति का मुख्य पेशा कृषि है। पहाड़ के ऊपर बसने वाले बिरजिया पहाड़ के ढालुओं का कुछ भाग गर्मी में साफ कर उसमें आग लगा देते हैं और बरसात शुरू होने पर उसमें बाँस का नुकीला बना कर या लोहे के नुकीले औज़ार को गाड़कर उसमें बीज गिराकर खेती करते हैं। इसे अंग्रेजी में बर्न कल्टीभेसन कहते हैं। इसमें मकई, अरहर, खुरसा आदि की खेती होती है। ऐसी खेती बराबर एक स्थान में नहीं की जाती है। दो तीन साल खेती करने के बाद स्थान बदल कर खेती करते हैं। दूसरी तरह की खेती, जो पहाड़ के नीचे गाँवों में बस गये हैं वे अन्य जातियों के किसान, खरवार या अन्य दूसरी जाति के समान खेती करते हैं।

वे अपने हल बैल से जमीन की जुताई करते और बरसात होने पर अपने खेतों में बीज डालते और खेती करते हैं। ऐसी फसलों में धान, मडुवा, उरद, गोंदली आदि आते हैं।

ये पहाड़ के ढालुओं को भी जोतकर मकई, मडुआ, गोड़ा आदि पैदा करते हैं। पहाड़ के ढालुओं को खेत बनाकर नहीं, बल्कि उसी रूप में सफाई कर खेती करते हैं। इसको सीधे नहीं जोतकर पड़ी आकार में बराबर जोतते हैं, क्योंकि ऊपर नीचे सीधे ढलान में नहीं जोता जा सकता, इसलिए बराबर पड़ी रूप में इसकी जोताई करते हैं। बरसात में बहुत सी मिट्टियाँ बहकर नीचे आ जाती है, इसलिए कई वर्षो तक एक जगह में खेती करते रहने से जमीन की उर्वरक शक्ति समाप्त हो जाती है, अतः स्थान बदल कर खेती करते हैं। अन्य जातियों की देखा-देखी इनके कृषि कार्य में भी उतरोत्तर सुधार होते जा रहा है। अब ये रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयों का उपयोग भी समय-समय पर करते हैं। अब उन्नत किस्म के प्रखंड से मिलने वाले या स्थानीय बीज डालने लगे हैं, जिससे पैदावार में वृद्धि होने लगी है।

कास्तकारी

कृषि क अलावे बिरजिया जाति के लोग कास्तकारी भी करते हैं। इसमें बढ़ईगिरी कुछ लोग करते हैं। चूंकि यह जनजाति जंगल के निकट रहती है, जहाँ पर्याप्त मात्रा में लकड़ी मिल जाती है, लकड़ी का सामान बना कर अपने उपयोग में लाते एवं बेचते हैं, जिससे पैसे मिल जाते हैं। कुछ लोहे के काम

भी करते हैं। ये स्थानीय बाजारों से लोहा खरीद कर कुदाल, हँसिया, फाल आदि बनाकर बेचते हैं। ये गाँव के सभी लोगों के फाल तेज करते हैं, जिसके बदले इनको अनाज एवं पैसे मिलते हैं। इसके अलावे मेहनत मजदूरी करते है, एवं जंगलों से कंदमूल वैगरह भी कोड़कर लाते हैं। कुछ लोगों के पास थोड़ी जमीन है, जहाँ वे खेती करते हैं।

बिरजिया जाति एक पेशा पर आश्रित नहीं, बल्कि विभिन्न तरह के पेशाओं में लगी है। कुछ पढ़-लिखकर शिक्षित हो गये हैं, वे सरकारी अथवा गैर सरकारी विभिन्न तरह की नौकरियाँ कर रहे हैं। जिसके पास जमीन नहीं है वे जंगलों या देहातों को छोड़कर शहर की तरफ पलायन करते जा रहे हैं, और जहाँ भी जिसको जिस तरह की मेहनत मजदूरी करने का मौका मिल रहा है कर रहा है।

बिरजिया औरतों का आर्थिक जीवन में योगदान

इनके आर्थिक जीवन में औरतों का बहुत बड़ा योगदान है। पुरुष बाहर के काम देखते हैं और स्त्रियाँ घर का सारा काम करती हैं। खाना पकाना, अपने बच्चों की देखभाल, मवेशियों को चराना, घर के सूअर, मुर्गी आदि की देखभाल औरतें ही करती हैं। निकाना, रोपना एवं कटी हुई फसल को माथे में ढोकर घर तक लाने में औरतों का बहुत बड़ा योगदान है। वे जलावन के लिए जंगल से लकड़ी ढोकर लाती हैं। कहीं-कहीं तो देखा जाता हैं कि अपने बच्चे को पीठ पर बाँधकर लकड़ी लाती या निकौनी या कटनी करती हैं।

गर्मी के मौसम में कंद-मूल कोड़ने जंगल जाती हैं, एवं मौसम के अनुसार साग वगैरह भी जंगल से लाती हैं : जैसे गर्मी में कोयनार साग, कचनार का साग एवं फूल। आषाढ़ महीने में कोकरो साग, कटई साग, केना साग इत्यादि लाकर खुद पकाती हैं, एवं बाल-बच्चों को खिलाती हैं। जंगल में कंद-मूल भी लाती हैं, जैसे जरहेठ गेठी, नकवा गुरलू आदि कंद के नाम हैं। जरहेट कंद अगहन पूस महीने में मिलता है, गेठी कंद आषाढ़, सावन में नकवा कंद और गुरलू कंद साल भर मिलते हैं।

बाँस का काम करने वाले बिरजिया पुरुषों की पत्नियाँ भी बाँस का सामान बनाती हैं, जैसे खचिया, डलिया, सूप टोकी इत्यादि बनाकर गाँव के बजारों में बेचती हैं, एवं टूटे हुए बांस के सामानों की मरम्मत करती हैं।

लोहे का काम करने वाले बिरजिया पुरुषों की स्त्रियाँ, चपुआ का या माथी में लोहा गलाने में मर्दो का साथ देती एवं बने हुए सामानों को किसान के घर पहुँचाती हैं एवं उसकी मेहनत मजदूरी लेती हैं। सामान अधिक बनाने पर बाजारों में भी बेचकर अपनी जीविका चलाती हैं। इन सभी कामों के अलावे वे बरसात में दूसरों के खेत में मजदूरी करती हैं। कटनी के अपने काम के अलावे दूसरे के खेतों में जाकर मजदूरी करती हैं और बाल-बच्चों का पालन-पोषण करती हैं। गर्मी के दिनों में जंगल ठेकेदार का काम मिलने पर वहाँ काम करने जाती हैं। मिट्टी ढोने का काम भी स्त्रियाँ करती हैं। जो बिरजिया काम की तलाश में बाहर चले गये हैं, उनकी स्त्रियाँ भी बाहर में मेहनत मजदूरी करती हैं। इस तरह इनके आर्थिक जीवन में स्त्रियों का बहुत बड़ा योगदान है, पुरुषों से कई गुना अधिक काम इनकी स्त्रियाँ करती हैं।

धार्मिक जीवन

बिरजिया जनजाति के लोग धर्म भीरु होते हैं। अपने देवी-देवताओं के प्रति इनके मन में बहुत भक्ति है। इनका विश्वास है कि अपने देवी-देवताओं की ठीक ढंग से पूजा नहीं करने पर कभी-न-कभी विपत्ति अवश्य आती है। इसलिए वे निश्चित समय में पूजा करते हैं। पहले से जो बलि देते आ रहे हैं, उसकी बलि देते हैं सूअर, मुर्गा या बकरी आदि।

सभी पर्व त्योहारों में भी पहले के नियम को नहीं छोड़ते हैं। उसी के अनुरूप मानते हैं। जहाँ बैगा पूजा करता है, जैसे सरहूल में सरना पूजा या करम पूजा बैगा द्वारा किया जाता है, दूसरा व्यक्ति नहीं कर सकता है। उनका विश्वास है कि अगर दूसरा व्यक्ति करेगा, तो करने वाले व्यक्ति के ऊपर या पूरे गाँव के लोगों के ऊपर विपत्ति आ सकती है। इनका लगाव धरती और जंगल से अभी भी बहुत अधिक है, इसलिए इनकी पूजा बहुत भक्ति से करते हैं। सरहूल धरती की पूजा है। इसके अलावे खेती करने से पहले धरती की पूजा करते हैं एवं फसल हो जानेपर पुनः पूजा करते हैं, जिसको नवाखानी कहते हैं। नयी फसल हो जाने पर पहले धरती माता को चढ़ाते हैं, अपने देव पितर को चढ़ाते हैं, तब अपने खाते हैं। इस पर भी इनका विश्वास है कि अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो धरती माता हम लोगों से नाराज हो जायेगी और अगले साल पैदावार कम होगी। इनके बीच गरीबी बहुत अधिक है, लेकिन मन में अपने धर्म के प्रति श्रद्धा और भक्ति है। इसीलिए गरीबी में भी आनन्द से रहते हैं और अपने पर्व त्योहार में कई दिनों तक नाचते गाते रहते हैं। किसी भी पूजा में बलि देना अनिवार्य समझाते हैं। हर पूजा में हँड़िया भी अवश्य चढ़ाते हैं। अपने देव-पितर के नाम से भी हँड़िया चढ़ाते हैं।

इनका मानना है कि देवता इनको साथ देते हैं। इनका यह भी विश्वास है कि जंगल, झाड़, खेत, खलिहान कहीं भी नाग सर्प या दूसरे सर्प उन्हें नहीं काटेंगे, क्योंकि ये सर्प देव की पूजा करते हैं। ये मृतात्माओं की भी पूजा करते हैं, ताकि मृतात्मा इनको किसी तरह का नुकसान नहीं पहुँचाये या परेशान नहीं करे। इनके जीवन में सरना का बहुत बड़ा स्थान है। प्रत्येक गाँव में जहाँ इनकी आबादी पूरी है या अधिक आबादी है, वहाँ इनका अपना सरना है, जहाँ से सरहूल के समय पूजा-पाठ करते हैं। लेकिन जिस गाँव में इनकी आबादी दो चार घर हैं, वैसे गाँवों में इनका अपना सरना नहीं है, सामूहिक सरना में ही इनका वैगा पूजा करता है।

अखाड़ा

इनके जीवन में अखाड़े का भी बहुत महत्व है। प्रत्येक गाँव में अखाड़ा होता है। अगर छोटा गाँव है तो अखाड़ा गाँव के बीच में अवस्थित होता है, जहाँ वे नाच-गान करते हैं। इनके मनोरंजन का साधन नाच-गान ही है, दिन भर काम करने के बाद शाम अखाड़े में नाचते-गाते हैं। और थोड़ी देर के लिए दुःख दर्द भूल जाते हैं।

देवी-देवता

बिरजिया लोग निम्नलिखित देवी-देवताओं की पूजा करते हैं—

1. मड़ई देवता 2. सिंगी देवता

3. महादेव पार्वती
4. बछौत
5. दरहा
6. अगिन (अग्नि)
7. सर्प

मड़ई देवता

मड़ई प्रायः गाँव के बीच में होता है। यह खूँटा गाड़कर प्रायः फूस से छरा होता है। बीच के दो खूँटे ऊँचे होते हैं। दोनों तरफ के दो-दो खूँटे बीच वाले से छोटे होते हैं, जिसके ऊपर फूस ढाँककर छार दिया जाता है। मड़ई के बीच में तीन सखुए की लकड़ी का करीब 2 फीट लम्बी लकड़ी छील कर बैगा बनाता है और गाड़ देता है। इसमें सभी गाँव वाले मिलकर तीन वर्ष में एक भेड़ा, एक सफेद बकरा, एक काला बकरा एवं पाँच मुर्गे जमा करते हैं, जिनकी बैगा पाहन पूजा करता है। पूजा के बाद इसके मांस को सभी मिलकर खाते -पीने एवं आनन्द मनाते हैं। मड़ई देवता इन्हें प्राकृतिक आपदाओं से बचाता है, ऐसा विश्वास है।

सिंगी देवता एवं महादेव पार्वती

सिंगी देवता एवं महादेव पार्वती की पूजा घर में ही करते हैं। यह पूजा प्रत्येक घर में एक बार कार्तिक महीने में किया जाता है। इसमें भी मुर्गा-मुर्गी एवं सूअर की बलि दी जाती है।

बघौत

यह एक प्रकार की प्रेत पूजा है। इनके बीच ऐसा विश्वास है कि बघौत उठा देने से जिसे चाहे उसे वह परेशान कर सकता है, या जान-माल की भी क्षति पहुँचा सकता है। वह बाघ का दूसरा रूप है। इसकी पूजा काले मुर्गे या काले बकरे की बलि देकर साल में एक बार अगहन पूस महीने में की जाती है। बलि के साथ हँड़िया भी चढ़ाया जाता है। पूजा के बाद मांस को सभी कोई मिल जुल कर खाते-पीते हैं।

दरहा

यह भी एक प्रकार का प्रेत है। नाराज होने पर गाँव में जान-माल की हानि करता है। इसकी पूजा गाँव के बाहर सभी मिल कर करते हैं। यह प्रेत पूरे गाँव की रखवाली करता है। पूजा आषाढ़ या सावन में होती है। पूजा के बाद मांस को सब मिलकर खाते और शराब पीते हैं।

अग्नि देवता

अग्नि को भी एक देवता के रूप में मनाते हैं। आदि पुरुष पहले बाँस की धुरी बनाकर रगड़ते और आग निकालते थे, जिससे अपना भोजन पकाते एवं जाड़ों से अपने को बचाते थे। उसी समय से बिरजिया अग्नि देवता की पूजा करते हैं। यह पूजा वैशाख माह के अन्दर बैगा द्वारा धूमधाम से धूप दीप अगरबती वगैरह जलाकर किया जाता है।

सर्प देवता

बिरजिया लोग सर्प को भी देवता के रूप में पूजते हैं, जिसे सर्प देवता कहते हैं। इनका विश्वास है कि आदि काल में महादेव और पार्वती ने जब संसार की सृष्टि की , उस समय सर्प ने बिरजिया लोगों

के बीच शरीर ढकने के लिए ब्राह्मण का रूप धारण कर वस्त्र वितरित किया था। उसी समय से सर्प को भी देवता के रूप में पूजते हैं। इसमें भी बैगा द्वारा सर्प देवता की पूजा की जाती है, पूजा के बाद बैगा, बेसरा और धावक अगरबत्ती एवं घड़े में आशिष पानी लेकर प्रत्येक घर में थोड़ा-थोड़ा छिड़क देते हैं। इससे इनका विश्वास है कि सर्प देवता हमलोगों को किसी तरह की हानि नहीं करेगा।

मृतात्माओं की पूजा

असुर जनजाति की तरह बिरजिया जनजाति में भी मृतात्माओं की पूजा करने की परम्परा है। यह पूजा साधारणतः पूस महीने में होती है। यह पूजा परिवार के मुख्य पुरुष द्वारा की जाती है। पूजा करने के स्थान को पहले साफ कर उस स्थान पर चावल और दाल, पूजा करने वाला व्यक्ति मृतात्मा का नाम लेकर रखता और काली बकरी का बच्चा लाकर दिये हुए चावल और दाल पर चराता है। जैसे ही बकरी का बच्चा उसको खाता है उसकी बलि दे दी जाती है, और उसके सिर को जमीन में रखकर सिर के चारों तरफ अरवा चावल और दाल को रख दिया जाता है, और ऊपर से पानी छिड़क दिया जाता है, इसके बाद पूजा करने वाला व्यक्ति घुटनों के बल गिरकर प्रणाम करता है। इसके बाद चावल दाल की खिचड़ी पकाते हैं। कटे हुए सिर के मांस को पकाकर खिचड़ी पाँच दोना, और पका हुआ मांस पांच दोना लाकर बलि दिये हुए स्थान पर पाँच पत्तल बिछाते और पाँचों पत्तल में मृतात्मा का नाम लेकर मांस और खिचड़ी को चढ़ाते हैं-उसके बाद सभी माँस और खिचड़ी को एक जगह जमा करते हैं और घर के सभी लोगों के बीच बाँटकर खा जाते हैं।

जादू -टोना

बिरजिया जनजाति के लोगों का जादू-टोना में विश्वास है। यह काम स्त्रियाँ दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए करती हैं। कोई बीमार हो जाने पर पहले ओझा मत्ती के पास जाते हैं और अपना डलिया दिखाते हैं। डलिया देखकर वही उसको बतलाता है कि किसने उनके साथ क्या किया है और इलाज का तरीका भी वही बतलाता है। इसके निवारण के लिए मुर्गी, सूअर इत्यादि भी देना पड़ता है। मंत्र के साथ इन चीजों की बलि देने से इनका विश्वास है कि जादू टोने का असर खत्म हो जाता है और आदमी अगर बीमार हो तो अच्छा हो जाता है। इसके बाद भी अगर बीमार व्यक्ति ठीक नहीं हुआ तो स्थानीय डाक्टर या जड़ी-बूटी की शरण लेते हैं। वे डाइन को भी मानते हैं, ये स्त्रियाँ ही होती हैं, जो जानने वाली दूसरी स्त्रियों से सीखती हैं, और सिद्धि लेने के बाद वे इस काम में प्रवीण हो जाती हैं। उसके पास इतनी शक्ति मन्त्र के बल पर आ जाती है कि किसी व्यक्ति को मार सकती हैं, या मारे हुए व्यक्ति को जिला सकती हैं।

इनका विश्वास भूत-प्रेत पर भी है। ये प्रेत को खुश करने के लिए मुर्गी बकरी या सूअर की बलि देते हैं। यह बलि साल में निश्चित अवधि तीन या पाँच साल में देते हैं। इनका मानना है कि समय पार हो जाने पर मनौती नहीं देने पर ये प्रेत इनको परेशान करेंगे, इससे उनकी या उनके मवेशियों की जान माल की क्षति हो सकती है, ऐसा उनके मन में भय बना रहता है। जो व्यक्तिगत होता है उसकी पूजा पारिवारिक स्तर पर और जो सामूहिक होता है उसकी पूजा पूरे गाँव वाले मिलकर सामूहिक करते हैं।

गोदना प्रथा इनके औरतों के बीच नहीं है। अपने शरीर के किसी अंग में औरतें नहीं गोदवाती है।

राजनैतिक संगठन

बिरजिया लोगों का अपना एक अलग संगठन होता है, जिसको जाति पंचायत कहते हैं। जाति पंचायत में जाति ही का कोई धनी व्यक्ति मुखिया होता है। इसके अलावा बैगा, बेसरा और धावक भी इसमें शामिल होते हैं। इनके अलावे अपनी ही जाति के गणमान्य व्यक्ति को भी शामिल किया जाता है, जिसके द्वारा किसी तरह का जातीय केस का निपटारा होता है। उदाहरण के लिए अगर लड़का-लड़की का अवैध संबंध हो गया है तो इसका फैसला ये लोग मिलजुल कर करते हैं। जिसकी गलती अधिक रहती है उससे अधिक जुर्माना, लिया जाता है। यदि अपने ही गोत्र के लड़का-लड़की हैं तो उनको आपस में शादी की अनुमति नहीं दी जाती है। अगर दूसरे-दूसरे गोत्र के हैं तो उनकी शादी कर दी जाती है।

अगर अपने संगठन द्वारा इसका फैसला नहीं हो पाता है, तो इस केस को ग्राम पंचायत में रखा जाता है, जहाँ गाँव के मुखिया, सरपंच दूसरी जाति के लोग भी मिल कर उस पर साक्ष्य के आधार पर निर्णय देते हैं, जो सबों को मान्य होता है। ग्राम-पंचायत में सभी तरह के विवादों का निपटारा किया जाता है, इसके अलावे आजकल सरकार की बहुत सी योजनायें ग्राम-पंचायत स्तर से चलाये जा रहे हैं। अब धीरे-धीरे इनके बीच राजनीतिक चेतना भी जागी है, जैसे शिक्षित होते जा रहे हैं, अपने संगठन पर ध्यान दे रहे हैं। अब पंचायत के चुनाव के मतदान में भी सम्मिलित होकर अपना मतदान देते हैं। विधायक या संसदीय चुनाव में भी भाग लेकर अहम् भूमिका निभाते हैं।

V. असुर जनजाति-सामान्य परिचय

असुर की उत्पत्ति के संबंध में वर्णन ऋग्वेद, उपनिषद् आदि स्थानों में आता है। 'असुर' शब्द का अर्थ जंगल के शक्तिशाली व्यक्ति से है। झारखंड के असुर 'वीर असुर' हैं। 'वीर' आसुरी भाषा में जंगल होता है। झारखंड की जनजाति में असुर और बिरहोर जनजाति का नाम जंगल से लिया गया है। बनर्जी शास्त्री के अनुसार असुर वह शक्ति था, जिसे वैदिक युग में प्रभु शक्ति प्राप्त थी। वरुण द्वारा असुरों को साम्राज्य दिये जाने की चर्चा हे। आर्य और असुरों के बीच बहुत दिनों तक लड़ाई हुई। जो असुर, आर्य नहीं हुए उन्हें राक्षस कहा गया। इस प्रकार शुरू में असुर शब्द ईश्वर का प्रतीक था जो बाद मे राक्षस प्रतीक माना गया। आर्यो के समय ये शक्तिशाली थे। मजुमदार 1925 एवं बनर्जी शास्त्री बताते हैं कि ये अलिरियन शहर में थे, जिन्होंने मिस्र तथा बैबीलोन की सभ्यता अपनायी और इसे इरान तथा भारत में लाये। 12 बी. सी. में असुर सर्वश्रेष्ठ थे। इन्होंने मोहन जोदड़ो तथा हड़प्पा सभ्यता स्थापित की। असुर लम्बे तथा हर्कुलियन शक्ति के होते हैं। मुण्डाओं के द्वारा ये खदेड़े गये और ये सुरगुजा, उदयपुर, कोरिया, उत्तर विलासपुर तथा छोटानापुर के पहाड़ों पर जंगल में चले गये। डाल्टन के अनुसार असुर ही छोटानागपुर के पहाड़ियों के पुराने वासिन्दे थे, जिसे मुण्डा लोगों ने खदेड़ दिया और अब वे घने जंगल में चले गये। इस प्रकार असुर की विकसित सभ्यता थी। ये बहादुर थे, परन्तु आर्य एवं मुण्डा लोगों द्वारा हराये तथा भगाये गये। ये जंगल के बीच पहाड़ियों की चोटियों पर एकान्त में चले गये, जहाँ आने-जाने

का कोई भी साधन नहीं था। ये प्रथम मिट्टी को पैदावार उगाने लायक बनाने वालों में थे। इनको अपने अगल-बगल की प्रकृति से गहरा तथा भावनात्मक लगाव है। इनके देवता (बोंगा) जंगल में रहते हैं, जो इनके बच्चों तथा पूर्वजों की आत्माओं, पर दयावान होते हैं, इनके पैदावार की रक्षा करते हैं।

असुर जनजाति का वर्ग

असुर जनजाति की तीन उपजातियाँ हैं, जिनके नाम है (1) वीर असुर (2) बिरजिया असुर (3) अगड़िया असुर। वीर उपजाति का भी विभिन्न नाम है जैसे सोल्का, थुथरा, कोल, जाट आदि। बिरजिया एक अलग अल्पसंख्यक आदिम जनजाति के रूप में पहचाना गया है। अगड़िया मध्य प्रदेश में निवास करते हैं। झारखंड में निवास करने वाला असुर, वीर असुर उपजाति के हैं। झारखंड में असुर नेतरहाट के पाट क्षेत्र में पलामू, गुलमा, लोहरदागा, सिंहभूम तथा धनबाद में रहते हैं।

असुर के संस्कार

इनके अनुसार बच्चे भगवान का प्रसाद माने जाते हैं।

प्रसूति

कमरे को सौरी गृह कहा जाता है। बच्चे के जन्म के बाद चमइन द्वारा नाल काटा जाता है। नाल छुरी अथवा हँसुआ से काटा जाता है। जब चमइन उपलब्ध नही होती है तो असुर जाति की बूढ़ी औरत नाल काटती है, और इन्हीं की देख-रेख में बच्चा होता है। नाल काटने के बाद बाहर लेकर आग में जला दिया जाता है। जिस घर में बच्चा जन्म लेता है, उस घर में पाँच से छः दिनों तक छूत मनाया जाता है।

असुर जनजाति पहले लड़की का जन्म अच्छा मानते हैं। उनके अनुसार पहला पुत्र जन्म लेने से माता-पिता पुत्र की शादी नहों देख पाते। पुत्री का जन्म समृद्धिसूचक मानते हैं, इससे माता-पिता दीर्घायु होते हैं।

शादी तथा असुर परिवार

असुर संयुक्त परिवार में रहते हैं। कहीं-कहीं अपवाद भी मिलते हैं। ये अपने गोत्र में शादी नहीं करते। यदि ये अपने को भूल जाते हैं, तब वे शादी नातेदारी के आधार पर निश्चित करते हैं। खून के संबंध वालों के साथ भी शादी वर्जित है। जीवन की सफलता के लिए शादी आवश्यक समझते हैं। अभिभावक ही शादी निश्चित करते हैं। दुलहन की कीमत देने की प्रथा असुरों में है। यह 5 से 7 रुपये होता है। इसके अतिरिक्त लड़की, लड़की की माँ तथा लड़की के भाई के लिए भी कपड़े देना पड़ता है। दोनों पक्षों को अपने संबंधियों को भोज देना पड़ता है। इससे ये बहुत खर्चे में पड़ जाते हैं तथा कभी-कभी ऋण के चंगुल में फंस जाते हैं। शादी के रस्म पूरा किये बिना भी कुछ कुछ असुर पति-पत्नी की तरह रहते हैं। जब ऐसे दम्पती अपने बेटे-बेटियों की शादी करते हैं तो अपनी शादी की भी रस्म पूरा करते हैं। यह असुरों की प्रचलित रीति है। असुर एक से अधिक पत्नी रख सकते हैं, जब पहली पत्नी बाँझ हो। असुरों में सेवा शादी, भगाकर शादी, जबरदस्ती शादी, गोलट शादी की भी पद्धति देखने को मिलती है। असुर परिवारों में औरतों को प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। असुर अपनी जाति विरादरी के बाहर शादी नहीं करते है, जबकि इनके बच्चे-बच्चियों को समाज के अखाड़ा अथवा धुमकुड़िया में

सभी तरह की स्वतंत्रता रहती है। विभिन्न यात्राओं में भी इन्हें सभी तरह की स्वतंत्रता रहती है। असुरों का वैवाहिक जीवन बहुत स्थायी होता है। इनमें तलाक बहुत कम होता है। यदि कोई अविवाहित असुर बालिका गर्भवती हो जाती है तो इनके पंचायत उस व्यक्ति का नाम बताने के लिए कहते हैं, जिससे गर्भ ठहरा है। यदि वह दंड देने के बाद उस लड़की से शादी के लिये तैयार नहीं होता, तो असुर समाज दूसरे लड़के को संशय का निवारण कर शादी के लिए तैयार कराकर शादी कराते हैं। यदि दोनों एक ही गोत्र के हुए तो उन पर भी यही नियम लागू होता है।

असुर जनजाति में मृत्यु, बाँझ रहने, छोड़े जाने पर लड़की के अभिभावक को दुलहन की कीमत लड़की के पति को वापस करना पड़ता है। यदि शादी शुदा औरत का संबंध किसी दूसरे व्यक्ति से होता है और वह दूसरे गोत्र का है तब उस लड़की को शादी का खर्च अदा कर उस व्यक्ति के साथ संबंध करने के लिए कहा जाता है। लड़की अथवा लड़की पक्ष से तलाक लिया जा सकता है। असुर जनजाति में सम्पत्ति का उतराधिकारी पुरुष वर्ग होता है पिता के बाद उसके सभी पुत्रों को समान हिस्सा मिलता है। कुछ में बड़े लड़के को सम्पत्ति में से अधिक हिस्सा दिया जाता है। लड़की का अधिकार सम्पत्ति में नहीं होता, लेकिन उसकी देख-रेख तथा शादी की व्यवस्था पिता की सम्पति से की जाती है। घर जमाई को अपने ससुर की सम्पत्ति की व्यवस्था का अधिकार है, अगर वह अपने गाँव रहने के लिए जाते हैं, तो उन्हें अपने ससुर की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं बनता। उसी प्रकार विधवा को भरण-पोषण का अधिकार है। वह अपने पति द्वारा छोड़े गये खेत पर खेती बारी कर अपना भरण-पोषण कर सकती है। अगर वह अपने पति का गाँव छोड़कर अपने मैके चली जाती है अथवा दूसरी शादी रचाती है, तो वह अपने पूर्व पति की सम्पत्ति का हक खो देती है। जिसको कोई सन्तान नहीं होती, वे दूसरे बालक को गोद ले सकते हैं। विधवा अपशकुन नहीं मानी जाती। वह चाहे तो देवर से विवाह कर सकती है।

असुर परिवार में बूढ़ों को आदर का स्थान प्राप्त है। असुर जनजाति में प्रचलित रीति रिवाज का कोई लिखित दस्तावेज नहीं मिलता। बुजुर्ग ही प्रचलित रीति रिवाज के रखवाला होते है, जो एक पुश्त चलता रहता है।

मृत्यु

असुरों का मानना है कि असुर पुरुष एवं महिला संसार में भगवान द्वारा एक निर्धारित अवधि के लिए भेजे जाते हैं और वह निर्धारित अवधि समाप्त होते ही वे भगवान द्वारा बुला लिए जाते हैं। यह प्रक्रिया मृत्यु कहलाती है। मृत शरीर को गाड़ा जाता था परन्तु आजकल इसे समाज द्वारा जलाया जा रहा है। जलाने के 10 रोज बाद परिवार के पुरुष सदस्यों के केशों को नाई मुड़ देता है और उस दिन श्राद्ध क्रिया सम्पन्न होती है और संबंधियों को भोज दिया जाता है।

मृतक के सभी कपड़े मृतक के साथ जला दिये जाते हैं। जो असुर, सम्पन्न हैं, बचे मृतकों के शरीर पर नया कपड़ा लपेटते हैं, कुछ टुकड़े समाधि या कब्र में रखे जाते हैं, और एक टुकड़ा मृतक के मुँह में रख दिया जाता है। ये मृतक के पैर दक्षिण में रखकर जलाते हैं। जलाने के बाद स्नान करके घर लौटते हैं। श्राद्ध कर्म के समय घर में अनाज नहीं रहने पर इसे स्थगित रखा जाता है, और जब पैदावार

होती है, तो भोज का आयोजन होता है। ये मृतक की परछाईं की याद में धार्मिक संस्कार करते हैं। यह कमान के दिन होता है।

फादर जेडेधर असुरों के सम्पर्क में रहे थे। उनके अनुसार परछाईं भितारना, जलाने के दिन नहीं बल्कि कमान के दिन घर तथा संस्कार के बीच होता है। वे एक छोटा मचान बनाते हैं, जिसे खरपतवार से ढकते हैं। वे एक कपड़े का टुकड़ा लाते हैं जो मृतक का होता है। उसमें आग लगा दी जाती है। इसके बाद मृत व्यक्ति से कहते है–'दूर भागो तुम्हारा घर जल गया है। तुम समाधि में जाओ तथा पुन: पुराने घर में नहीं लौटना जहाँ मृतक जलाया जाता है, उस स्थान को 'सासन' कहते हैं और प्रत्येक मृतक के लिए वहाँ एक पत्थर गाड़ दिया जाता है। अक्सर यह स्थान किसी पानी के स्थान पर गाँव से दूर होता है।

धर्म

इनके सिंगबोंगा सूर्य सर्वश्रेष्ठ भगवान होते हैं। इनका विश्वास है कि इनके अनगिनत देवी देवताएँ पहाड़ों में पेड़ों तथा इनके इर्द-गिर्द निवास करते हैं। यदि समय पर इन्हें बैगा पुजारी के द्वारा खुश नहीं किया गया तो इनके परिवार एवं गाँवों में विपत्ति आ जाती है। अन्य जन जातियों की तरह असुर भी डायन में विश्वास करते हैं, डायन के निवारण के लिए सोखा से सम्पर्क करते हैं। ओझा गुणी भी सम्पर्क किये जाते हैं, खास कर बीमारी तथा विपत्ति के समय। असुर हिन्दू धर्म को मानते हैं। कुछ असुर ईसाई धर्म भी मानने लगे हैं। असुर को अपने सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन पर गर्व है और इसे अपने क्षेत्र में सबसे उत्तम मानते हैं। ईसाई धर्मावलम्बी असुर खेती में आधुनिक तरीके अपनाते हैं, और अपने बच्चों को पहले से ही विद्यालय भेजते हैं। ब्रह्मवाद मानने वाले जाट असुर कहलाते हैं।

पर्व

वे सोहराई, सरहुल, फगुवा, नवाखानी, कथडेली तथा सरही कुतसी पर्व मनाते है। सरही कुतसी पर्व लोहा गलाने के उद्योग की समृद्धि के लिए मनाये जाते हैं जिसमें मुर्गे की बलि उसे सरसी से पकड़ कर हथौड़ा से मारकर देते हैं। वे अपने पूर्वजों की भी पूजा करते हैं।

सामाजिक अवस्था

असुरों के बीच यदि कोई बीमार पड़ता है तो वे इसे प्रेतात्माओं का रुष्ट होना समझते हैं। साधारणतया असुर स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हैं, परन्तु कुछ मलेरिया, चमड़े की बीमारी, पेट की बीमारी, रतौन्धी घेघा आदि रोगों से पीड़ित रहते हैं। रोगों के निदान के लिए जंगली जड़ी बूटियों का उपयोग किया जाता है। कुछ जड़ियाँ शरीर में बाँधते हैं। बैगा बताते हैं कि रोग डायन भूत या बुरी आत्मा के कारण हुआ है। ओझा लोग भी रोगों के निदान के लिए ओझाई करते हैं। इनमें आज भी अन्धविश्वास विधमान है। इस जाति के लोगों को कुछ जड़ी बूटियों का ऐसा ज्ञान है कि उसके उपयोग से रोग दूर हो जाते हैं, लेकिन इन जड़ी बूटियों के संबंध में इनके पास लेख नहीं है।

इनके जड़ी बूटियों के कुछ नाम निम्न प्रकार है

1. चितवार

2.	सतावार	
3.	परही	
4.	चरईगोड़वा	बुखार बदन दर्द एवं सरदर्द के लिए
5.	दुधिया	
6.	घोडवाछ	
7.	कोल मेग	
8.	सोनपाती	
9.	सोमराज	
10.	कोरैया	
11.	कच्छम्बा या कोकोट पोटावार	
12.	कुसुम	लकवा के लिए
13.	रतन	
14.	घेकवार	
15.	चन्दवा	खाँसी एवं दमा के लिए
16.	धवई	
17.	हरसिंगार	
18.	रंगैनी	
19.	धेकवार	
20.	गरसुकरी	
21.	कारीनारी	डायरिया एवं पेचिश के लिए
22.	रनपवान	
23.	छोटी दुधी	
24.	समेरी सेम्बर	मूत्र रोगों के लिए
25.	मोआना	
26.	रैनपान	
27.	ब्राह्मी	
28.	आसन	
29.	करामीन	चर्म रोगों के लिए

30. मनेरटीन
31. बूढ़ी कुम्बा— कमजोरी के लिए
32. बगरौधा— दाँतों की तकलीफ के लिए
33. गलफूली— आँखों की तकलीफ के लिए
34. विचिमान्दर— प्रसव के लिए
35. सिमल— एनिमिया के लिए
36. कुजूरी मालकागनी— गर्भपात के लिए

साधारण बीमारियों में असुर दवा न देकर कुछ दिन इन्तजार करते है।

असुर प्रतिदिन सुबह और शाम खाना पकाते हैं। सुबह के खाने को ये लोलोघोटू जोमेकूं तथा संध्या के खाना को बियारी छोटू जोमेकूं कहते हैं। इनके खाने में उबाला हुआ अनाज, बाजरा, एक सब्जी उबाली हुई, उबाला हुआ मांस या जंगल के कंद-मूल होते हैं। जब अनाज घर में होता है तो उसे खाने का माह, तथा जब उपज समाप्त हो जाता है तो भूख का माह होता है। भोजन की पूर्ति ये महुआ, एवं सखुआ फूल एवं पत्ते से करते हैं। कटहल तथा मसरूम भी इनकी कमी पूरा करते हैं। जब डाल्टन द्वारा लौह गलाने पर प्रतिबन्ध लगाया गया तो ये अपनी जमीन जोतने पर अधिक समय देने लगे और अस्थायी कृषि की ओर अग्रसर हुए तथा गाँवों में स्थायी रूप से बसे।

सूअर, भेड़, हिरण, बाघ, लकड़बघा, साहिन तथा साँप का माँस खाते हैं। साँप के मुँह तथा चमड़ा हटा देते हैं। जो असुर सिद्धि के लिए होते हैं वह साँप नहीं खाते हैं। किसी खास अवसर पर माँस को तलते है, अन्यथा उबाल कर पकाते हैं। खाना मिट्टी के बर्तन में पकाते हैं। असुरों का निम्नलिखित खाना मुख्य है—

1. पिल्था
2. खिचड़ी
3. मकई का घाटो
4. महुआ का लाट।

असुर नशे के लिंए ताड़ी, दारू, हँड़िया, बिरो और झरूनी का हँड़िया पीते हैं

धूम्रपान

धूम्रपान इनके जीवन का एक हिस्सा है। ये सूखे तमाकू को सखुआ पत्ते में लपेटकर चुरुट जैसा पीते हैं। यह पिका कहलाता है। हुक्के पर तमाकू पीया जाता है। हुक्का लकड़ी का बना होता है, ऊपर चिलम रखा जाता है, जो मिट्टी का होता है। इसमें तमाकू तथा आग रखकर पीया जाता है। असुर लोग खैनी के भी आदी हैं, इसमें चूना मिलाकर खाते हैं।

पेयजल

असुर जनजातियों के पेयजल का एकमात्र साधन डाड़ी, चुँआ, झरना या नदी है। झरने तथा नदी का जल गन्दा होने के कारण असुरों में घेघा रोग पर्याप्त पाया जाता है।

स्नान

असुर मिट्टी से अपना बाल धोते हैं। राख में कपड़े उबाले जाते हैं। असुर महिलायें नदी या झरने के जल में कपड़े एवं स्वयं को धोती हैं।

असुरों का राजनैतिक संगठन

असुर समाज कील एवं गोत्र में बंटा हुआ है। गोत्र के बाद परिवार सबसे प्रमुख होता है। बाप परिवार का मालिक होता है। असुर समाज पुरानी प्रथा से शासित होता है। यदि कोई रीति-रिवाज को तोड़ता है तो असुर समाज इसे काफी गम्भीरता से लेता है। असुर समाज, असुर पंचायत से शासित होता है। असुर पंचायत के पदाधिकारी महतो, बैगा, पुजारी, गोड़ायत आदि होते हैं। सभी बालिग पुरुष पंचायत के सदस्य होते हैं। जैसे ही आपत्ति जनक बातें मालूम होती हैं, महतो, गोड़ायत को सम्पूर्ण समाज को इकट्ठा होने की सूचना देने के लिए भेजता है। यह बैठक गाँव के अखाड़े पर निर्धारित समय में होता है। जैसे ही बैठक बैठती है आपत्तिजनक बातें बताई जाती हैं तथा आवश्यक गवाही ली जाती हैं। गवाही पर विचार विमर्श कर निर्णय लिया जाता है। निर्णय तुरन्त सुना दिया जाता है। साधारणत: पंचायत के निर्णय को माना जाता है। यदि दोषी निर्णय नहीं मानता तो उसे हमेशा के लिए गाँव छोड़ देना पड़ता है। साधारणत: दंड भी लगाया जाता है। असुर पूर्व जमींदारों, महाजनों तथा जमीन हड़पने वालों द्वारा शोषित हुए हैं।

असुरों का आर्थिक जीवन

असुर जनजाति के गाँव जंगलों में पहाड़ी के पाट पर अवस्थित रहता है। असुर के गाँवों में पहुँचना आसान नहीं है, क्योंकि वहाँ तक न तो कोई सड़क होती और न कोई आवागमन के साधन। असुरों के गाँवों तक जंगल विभाग के लोग भी नहीं पहुँच पाते थे। इनके पूर्वजों को आज की तरह जंगल के प्रतिबन्धों का सामना नहीं करना पड़ता था। वे जंगल के जमीनों के इस्तेमाल अपनी आवश्यकता के अनुसार करते थे। बाहर की दुनिया से इनका संबंध नहीं के बराबर था, अतएव इनकी आवश्यकताएँ बहुत कम थी आज की तुलना में इनके पूर्वजों की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। आज इन्हें जंगल के प्रतिबन्धों से बन्धना पड़ता है तथा इनका संबंध बाहरी दुनिया से होने के कारण आवश्यकताएँ भी बढ़ी हैं, जिसकी पूर्ति इनकी खराब आर्थिक स्थिति में नहीं हो पाती।

(झारखंड) छोटानागपुर के आयुक्त श्री पी. टी. डाल्टन को पलामू के राजस्व पदाधिकारी श्री एल आर. फोर्वस ने एक प्रतिवेदन 1869 में सौंपा था एवं उस प्रतिवेदन के अनुसार असुर जनजाति आदिम औद्योगिक अस्थायी कृषक थे। उनका आवास जंगल था और उन्होंने अपना जनजातीय नाम जंगल से प्राप्त किया था। झारखंड के असुर 'वीर' के नाम से पुकारे जाते थे। जाड़े के दिनों में ये लोहा गलाने का कार्य करते थे, अर्थात् पत्थर के चूर्ण को गलाकर लोहा निकालने का कार्य करते हैं इसके लिए इन्हें जंगल में लकड़ी पर्याप्त मिल जाती थी, जिसका चरकोल बना कर ये लोहा गलाया करते थे। वर्ष के शेष काल में ये अथायी कृषि के लिए जमीन तैयार करते थे। पाट पर जहाँ इन्हें बगान के लिए पर्याप्त जमीन होती थी, वहाँ मकई, महुआ, सुरगुजा, कुल्थी, आदि उपजाते थे। प्रारंभ में ये घूमते रहते थे, परन्तु बाद में ये गाँवों में अस्थायी रूप से बस गये। प्रारंभिक अवस्था में जंगल जलाने के बाद कुछ दिन उस

जमीन मेंकुछ पैदावार होती थी, बाद में पैदावार नगण्य होने पर ये दूसरी जगह जाकर कृषि करते थे। पाट पर सिंचाई की व्यवस्था नहीं होने के कारण इनकी कृषि वर्षा पर अवलम्बित होती थी। पैदावार साल भर के लिए अपर्याप्त थी,अतः ये जंगलों से कन्द-मूल, फूल-पता तथा मधु इकट्ठा करने का कार्य करते थे। ये जंगली जानवरों का शिकार भी करते थे तथा जंगली नदियों एवं तालाबों से मछली पकड़ते थे। यह व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार का होता था। महुलाईन पत्तियों से छतरी तथा खजूर की पत्तियों से चटाई भी बनाते थे। ये रूई भी उपजाते थे। असुर लौह कार्य में प्रवीण होते हैं, इसलिए इर्द गिर्द के स्थापित फैक्ट्ररियों में इन्हें आसानी से काम मिला हुआ है। लकड़ी काटने में भी ये पारंगत होते हैं। आज ये लकड़ी काट कर बेचते हैं।

अंत में इन जातियों के बारे में कहा जा सकता है कि झारखंड के प्राचीन निवासी असुर थे, फिर बाद में मुंडा जाति के लोगों ने कभी इनका स्थान ग्रहण कर लिया होगा। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मुंडा लोग झारखंड में ईसाई युग शुरू होने से पहले से ही आकर बसने लगे होंगे। असुर संस्कृति कम-से-कम कुशाण काल लगभग 70 से 150 ई. सन् तक तो था ही, जैसा कि दो असुर स्थलों पर पाये जाने वाले कुशाण सिक्कों से पता चलता है। ऐसा कहा जाता है कि असुर लोग शिव के बड़े भक्त थे तथा शिवलिंग की पूजा करते थे। ये 'महादानियाँ' को भी मानते थे, जो शिव का ही एक रूप है। असुर लोग ईंटों के भवन अथवा गढ़ में रहते थे। प्रत्यक्ष रूप से जिन धार्मिक स्थलों में शिवलिंग पाये जाते हैं, वे असुर जाति से सम्बन्धित माने जाते हैं।

झारखंड प्रदेश के राँची जिले में अवस्थित 'टांगीनाथ' एक धार्मिक स्थल माना जाता है। इस धार्मिक स्थल का आरंभ उस अवस्था से होता है, जब ईसा पूर्व तक यह एक 'असुर' स्थल था, जहाँ शिव की पूजा होती थी। यहाँ शिवलिंग और ईंटों के भवन प्रचुर संख्या में थे।

असुरों की संस्कृति विकसित थी। वे लोग मिट्टी के सुन्दर बरतन बनाते थे, तथा ताम्बे, काँसे और लोहे के सुन्दर हथियार बनाने में प्रवीण थे। ये लोग मरणोत्तर जीवन में विश्वास करते थे तथा मृतक व्यक्तियों को भोजन और जल प्रदान करते थे। पहली सदी ईस्वी तक झारखंड में असुर सभ्यता जीवित थी। झारखंड में असुरों का आधिपत्य था। असुर कभी झारखंड के शासक थे। परन्तु आजकल यह जाति विलुप्त होती जा रही है (डा. सुशील माधव पाठक इतिहास विभागाध्यक्ष, राँची विश्वविधालय, राँची)।

III. जनजातियों के त्योहार

जनजातियाँ प्रायः कृषक हैं अतः उनके मुख्य त्योहार प्रकृति और कृषि से संबंध रखते हैं। सरहूल और करमा प्रकृति से संबंध रखते हैं इन दो त्योहारों की धर्मविधियाँ प्रायः एक हैं। मुंडा, खड़िया, हो जनजातियों के सरहूल पर्व मनाने की विधियों का कुछ विस्तार से वर्णन किया जा रहा है। बाकी दो सोहराई और नयाखानी कृषि से संबंध रखते हैं। इन दो त्योहारों को प्रायः बहुत भिन्नता के साथ सभी जनजातियाँ एक ही तरह से मनाते हैं। बिरजिया, संथाल और सौरिया जनजातियों के मुख्य त्योहारों का वर्णन भी इस अध्याय में किया जायेगा।

IV. जनजातियों के त्योहार—सरहूल

1. सरहूल आदिवासियों का सबसे महत्वपूर्ण त्योहार है। यह मूलतः प्रकृति पर्व है। आदिवासियों

का जीवन प्रकृति से गहरा जुड़ा हुआ है। इस त्योहार के माध्यम से आदिवासी प्रकृति से अपने लगाव को प्रकट करते हैं। सरहूल को वन और वृक्ष की पूजा से संबंधित एक महत्वपूर्ण पर्व माना जाता है, बसंत के आगमन के साथ आदिवासी समाज इस पर्व की प्रतीक्षा करने लगता है। उराँव जनजाति इसे खद्दी पर्व के नाम से, संथाल बाहा, मुंडा इसे बा: तथा खड़िया इसे जकोर नाम से जानते हैं। सरहूल की तिथि पहले से निर्धारित नहीं रहती है, बल्कि सभी आदिवासी समुदाय सामूहिक रूप से एक जगह बैठकर इसकी तिथि निर्धारित करते हैं। ऐसी मान्यता है कि जब तक सरहूल पूजा नहीं हो जाती है, नयी फसलों, फल-फूलों को खाया नहीं जाता है।

गाँवों देहातों में इस मान्यता को पूरी श्रद्धा के साथ मनाया और निभाया जाता है। यह सामाजिकता, संस्कृति एवं धार्मिकता को एक साथ प्रदर्शित करता है। इस पर्व में साल वृक्ष के फूल और डालियों का काफी महत्व है। इन दिनों साल के वृक्षों पर नयी कोपलें निकलने लगती हैं। जंगलों में साल, पलाश, सेमल आदि के फूलों की सुगन्ध वातावरण को मादक बना देती है। बसंत का स्वागत करने, नयी फसलों को ग्रहण करने से पूर्व प्रकृति के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने इस पर्व के बहाने अपने सगे-संबंधियों से मिलने का यह अवसर होता है। गांवों देहातों में मांदर की थाप पर सरहूल गीतों की स्वरलहरियाँ गूंज रही होती है। सारी चिंताओं से मुक्त मन बस इन स्वरलहरियों में खो जाने को होता है।

एक कथा के अनुसार धरती का निर्माण का पहला प्रयास मछली और केंकड़े के द्वारा हुआ था। समुद्र के नीचे की मिट्टी को ऊपर लाकर पृथ्वी का निर्माण हुआ। अत: सरहूल पूजा का प्रथम दिन मछली व केंकड़ा को समर्पित किया जाता है। इन्हें सम्मानपूर्वक पकड़ने व शाम के खाने में सम्मिलित किया जाता है। इनका थोड़ा हिस्सा घर के पूर्वजों को भी अर्पित किया जाता है।

सरहूल पूजा के पहले दिन दोपहर में गाँव का पाहन अपने सहयोगियों के साथ गाँव के सरना (पूजा स्थल, में जाता है, वहाँ वह पूजा स्थल जो किसी बड़े साल (सखुआ) के पेड़ या पत्थर से लगा होता है, की सफाई करता है, उसे गोबर से लीपता है, फिर पास के किसी जलस्रोत से दो घड़ों में पानी भरकर उसकी गहराई, साल की एक टहनी से नाप लेता है। एक नये धागेसे उसके सिरे जोड़े जाते हैं, और घड़े का मुँह मिट्टी के बर्तन से ढककर पाहन और उनके सहयोगी वापस आते हैं। सरना से घर वापस आकर पाहन और पाहनिया का विवाह-सूर्य और धरती का प्रतीक माना जाता है, और उन पर पानी बरसाया जाता है, ताकि बीजाकुंर हो, तथा नयी सृष्टि का उदय हो। यह खुशहाली और नये जीवन का प्रतीक होता है, इसी कारण बेटियों को भी उनके मायके में बुलाया जाता है, ताकि घर में संपूर्ण खुशहाली छाये।

सरहूल पर्व के बारे में यह भी धारणा है कि उनके पूर्वजों ने अपनी संतानों से कहा था— हम अपने पूर्वजों को भूल जाते हैं, हमें उन्हें वर्ष में एक बार याद करना चाहिये। जब पेड़ों पर नयीं कोपलें दिखायी देने लगती हैं, तब आदिवासी समझते कि वर्षा समाप्त हो गया है। उनका तो अपना केलंडर था नहीं, इसलिए उसी समय आदिवासी अपने मूल पूर्वजों को याद करते हैं। सरहूलपर्व से इनका नया वर्ष शुरू होता है। उसी समय से लोग सरहूल मनाते आ रहे हैं। हो जनजाति में एतत् संबधी एक रुचिकार कहानी है। लुकू बूढ़ा और लुकू बुढ़िया हो और मुंडा जनजाति के देवी-देवता हैं। लुकू बूढ़ा अपनी पत्नी

से कहता है—

"तुम उसी फूल को जूड़े (खोंसा) ताजा में लगाना जो सूख जाने पर भी जाता दिखाई दे और ताजा रहने पर भी सूखा दिखाई दे। तब लुकू बुढ़िया ने नाना प्रकार के फूलों को तोड़ा। कुछ समय बाद सभी फूल मुरझा गये, लेकिन सखुए का फूल नहीं मुरझाया, और सूखने पर वह सुंदर दिखाई दिया। उस दिन सखुए का फूल लगाया गया। हर्षोल्लास के साथ पर्व मनाया गया। उसी दिन से बा पोरोब मनाया जाने लगा।

खड़िया लोग जाठकोर को अपने जीवन के साथ जोड़ते हैं। बीज एक ऐसी चीज है, जिससे सृष्टि होती है। बीज में ही पेड़ का अस्तित्व छिपा रहता है। जब खड़िया जंगल में रहते थे तो जंगली फल-फूलों से अपना पेट भरते थे। जाठकोर के दिन वे सखुआ पेड़ की पूजा करते हुए, उन सभी पेड़-पौधों का स्मरण करते हैं, जिनका फल-फूल वे खाते रहे हैं। उनकी जड़ी-बूटियों से स्वस्थ होते रहे हैं। उस दिन महुआ और इमली के बीज को उबालकर खाने का रिवाज है। इस समय महुआ के फूल खाने योग्य हो जाते हैं। सरहूल के फूल पेड़ों से झरने लगते हैं। खाद्य पदार्थ की दृष्टि से इन दोनों चीजों में अत्यधिक विटामिन की मात्रा रहती है। पूजा के बाद शाम तक कानों में सखुए का फूल खोंसने का रिवाज है। यह रिवाज भी लुप्त होता जा रहा हैं कुड़ख भी इसी तरह मनाते हैं, यह नववर्ष एवं कृषि आरंभ करने का त्योहार है।

खद्दी, कुड़ख लोगों के लिए ऐतिहासिक घटना का स्मरण कराता है। रूइदासगढ़ में कुड़ख महिलाओं ने तीन बार मुगलों को पीछे हटने पर विवश कर दिया था, जब सभी पुरुष खद्दी झरा (हँड़िया) पीकर नशे में चूर थे। इस ऐतिहासिक घटना से तो यह बात स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है कि महिलाएँ उस समय नशा पान नहीं करती थीं। कालांतर में कई जगहों में पलायन का दंश झेलते हुए अपना सब कुछ खोने के बाद महिलाएँ भी नशापान करने लगीं। वे युद्ध-कौशल में भी निपुण थीं। कहा जाता है कि लड़ाई हारने के बाद कुडुख राजा ने अपनी पगड़ी उतार कर सिनगी दई को दे दी।

खद्दी इस नामकरण के पीछे उराँव जनजाति की मान्यता है कि जंगल में रहने वाले पक्षी और जानवर भी घोंसले अथवा मांद में अपने नवजात को जन्म देते हैं। अतः खद्द से खद्दी नाम हो गया क्योंकि इस समय नये फूल और पत्ती वृक्षों में होते हैं।

भारत वर्ष में मनाये जाने वाले पर्व होली, ईस्टर, ईद, बकरीद, दशहरा आदि त्योहारों का संबंध आध्यात्मिकता से है, पैगम्बरों के पैगाम से जुड़े हैं। सरहुल का संबंध भी आध्यात्मिकता से है, लेकिन उसके कोई पैगम्बर नहीं हैं।

सरहूल में पहान चार घरों को नामजद करता है। उन घरों में मुर्गा रात भर टोकरी में ठूँस कर रखा जाता है। लुटकुम बूढ़ा और बुढ़िया के लिए लाल मुर्गा, पूरे गाँव के पूर्वजों के सम्मान में चितकबरा मुर्गा चढ़ाया जाता है। चावल में लाल मुर्गे के मांस से बने भोजन को पहान खाता है, और बाकी तीन मुर्गे और चावल से बने 'कगौरी' को गाँव वाले प्रसाद के तौर पर खाते हैं। महिलाओं को प्रसाद नहीं मिलता है। इसके पहले दिन पहान रखे हुए दो घड़ों के पानी को नापता है। यदि पानी घट गया जो आशंका व्यक्त की जाती है कि इस वर्ष अकाल होगा, शिकार में असफलता मिलेगी। यदि पानी नहीं घटेगा तो

यह आशा व्यक्त की जाती है अच्छी फसल होगी और शिकार शुभ होगा।

सब चीज हो चुकने के बाद सखुए का फूल लेकर गाँव की ओर चलते हैं। गाँव में महिलाएँ घड़े में पानी लेकर तैयार रहती हैं और पहान के पाँव और सिर पर पानी उँड़ेलती हैं। पहान भींग जाता है, ऐसी मान्यता है कि खेतों को पर्याप्त मात्रा में पानी मिल सके। पूजा स्थल से लाये गये फूल को घर-घर ले जाकर पहान फूलों का गुच्छा घरों में खोंसता है। उसे बदले में एकदोना हंड़िया, फूलखोंसी हँड़िया दिया जाता है। जब वह द्वार पर फूल खोंसने लगता है, तब कोई एक युवक भरे घड़े का पानी छप्पर पर उड़ेलता है, ताकि भरपूर और समय पर वर्षा हो। शाम को महिला-पुरुष अखाड़े में रात भर नाचते-गाते हैं। यह क्रम दूसरे दिन तक चलता है—

बन में का फूला फूले
गोटा जंगल चरेका दिसय
बन में सरई फूला फूले
गोटा जंगल चरेका दिसय

हिन्दी भावार्थ— जंगल में कौन सा फूल खिला है, जिससे सम्पूर्ण बन सफेद दिखाई दे रहा है। बन में सखुए का फूल खिलता है, पूरा बन सफेद दिखाई दे रहा है। बन में सखुए का फूल खिला है, पूरा वन सफेद दीख रहा है।

आदिवासी जीवन में नृत्य और संगीत का अहम् स्थान होता है, जो जीवन में उल्लास एवं उमंग लाता है। आदिवासी समाज नृत्य और संगीत को सामूहिक रूप से प्रदर्शित करता है। पर्व त्योहार की बात हो, तो इनका क्या कहना और जब बात सरहूल की हो तो युवाओं के दिन कस्तूरी ढूँढ़ते हिरण की तरह नाचते फुदकते बीतते हैं। सरहूल पर्व फागुन से प्रारंभ होता है और वैशाख तक चलता है। इस समय पेड़-पौधे अपने पुराने पत्तों को त्यागकर मुलायम, लाल एवं हरी पत्तियों से सुसज्जित हो जाते हैं। सरहूल पर्व के समय सब तरफ उल्लास का वातावरण देखने को मिलता है। इस दिन गाँव के अखाड़े में युवक युवतियाँ माँदर, ढोल लिए नृत्य एवं संगीत में मदहोश हो जाते हैं। विविध आदिवासी समुदायों विशेषकार उराँव, मुंडा एवं खड़िया में सरहूल के दिन तरह-तरह के गीत गाये जाते हैं।

उराँव गीत

ऐन्देर पूंपन में झेर कि पेलो।
लहसार कि बरसा बरआ लगदी हो।।
लहसार कि बरआ लगदी।
नौर पूंपग मेझेरन कि विर्पलों।।
लहसार कि बरआ लगदी।

हिन्दी भावार्थ—

युवती, तुम फूल को सिर पर
सजाये झूमती हुई आ रही हो
झूमती हुई आ रही हो
युवती तुम सरई फूल को सिरपर
सजाये झूमती आ रही हो।

मुंडारी गीत

होरा रे साराजोम ना लेसेकेकन लेसेकेन
ताते हो कागे तेबागो
मोचोकेन मोचोकेन
मोचाते होकागे जगारो
तीते हो कागे तेबागो
बको: हो वाइयाईये
मोचाते हो कागे जगारो
लिकारो ओलाई पे
बको: हलो नाइयाईया
बको, होले हुल: जान
लिका होले ओलाईया
लिका हो चेचा: जान

हिन्दी भावार्थ— रास्ते में सरसों का फूल
लहरा रहा है।
रास्ते में कुँआरी लड़की
मुस्कुरा रही है।
जो फूल लहरा रहा है
वहाँ तक तुम नहीं पहुँचना
जो लड़की मुस्कुरा रही है
उससे मुँह में कहते नहीं बनता
जहाँ तुम नहीं पहुँचना
उसके लिए अंकुश बना दो
जिससे कहते नहीं बनता
उसके लिए चिट्ठी लिख दो

अंकुश बना दिया परंतु
वह भी टूट गया
चिट्ठी लिखी परंतु
वह भी नष्ट हो गयी।

दूसरा मुंडारी गीत

बा चंडु : मुलु : लेना एयङ्
बा हसाइञ अदेरे तन
बा तिकिन लेना एयङ्
बा नड़काइञ लेकादेतन।
बा हसाइञ लोवादे तना एयङ्
चिमाय लो इञ नड़काना
बा हसाइत्र अदेरे तना एयङ्
गतिङ एलोइङ् गोलोमे
बा नडकाइत्र लोवादेतन
संगइड लो: इड नड़काना
एलारे सरजोम बा:
एला रे अड़गुन में
एला रे खुड़ा संगेन
एला रे नोसोरेन मे
मर हो दिन मुंडि हिजु: रे
मर होइड अड़गुन मे
मर हो बोचोर नेंडा नचुर रे
मर होइड नोसोरेन गे
मर हो बबा कजि रिडिएपे
मर होइड अड़गुन गे
मर हो इलि कजि कड़िएपे
मर होइड नोसोरेन गे

मुंडारी गीत का भाव

सरहूल का महीना आ गया है ओ माँ
फागुन की मिट्टी मैं अंदर लाऊँ
फूलों की खुशबू से आकाश भर गया है ओ मां

फूलों से मैं नहाऊँ
फागुन की मिट्टी अंदर लाऊँ ओ माँ
किसके साथ में उससे लीपूँ
फूल मिट्टी भिगाऊँ मै ओ माँ
किसके साथ नहाऊँ मैं
फागुन मिट्टी अंदर लाऊँ ओ माँ
सहेलियों के साथ लीपूं मैं
सहेलियों के साथ नहाऊँ मैं
ओ सरहूल फूल आ धरती पर उतर
खुशबू, कोमल धरती पर फैल जा।

सरहूल कथा— मुंडा जनजाति के अनुसार

सरहूल पर्व क्यों मनाया जाता है, इसके पीछे भी एक कथा इस प्रकार है—

कहा जाता है कि अगर आप आदिवासियों को समझना चाहते हैं तो पहले उनके गीतों व कहानियों को समझिये। इन लोगों की अपनी जीवन शैली, परंपरा संस्कृति व रीति रिवाजों को गीतों और कहानियों को समझिये। ये गीत और कहानियाँ पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से हस्तांरित होते रहे हैं। सरहूल के संबंध में अनेक कहानियाँ कही जाती हैं। उन्हीं में से एक कहानी है— धरती की बेटी बिंदी एक दिन नहाने गई, और वहाँ से गायब हो गई। धरती ने उसे खोजने के लिए अपने दूतों को चारों ओर भेजा परन्तु बहुत खोजने के बाद भी बिंदी का कुछ पता नहीं लग सका। इससे धरती बहुत उदास हो गयी और कलपने लगी। पृथ्वी पर पतझड़ छा गया। बाद में पता चला कि वह (पाताल में) यमराज के साथ है। दूतों ने यमराज से कहा कि बिंदी, धरती की इकलौती बेटी है, उसे वापस कर दीजिये, लेकिन यमराज मानने के लिए तैयार नहीं हुए, कहने लगे कि जो भी एक बार उसके पास आता है, वह वापस नहीं जा सकता, किंतु जब दूतों ने कहा कि ऐसी स्थिति में धरती मर जायेगी और उनका अस्तित्व ही खत्म हो जायेगा। तब यमराज इस बात पर राजी हुए कि अपनी माँ को बचाने के लिए बिंदी अपना आधा समय धरती पर बिताये, पर बाकी समय उसे पाताल में ही बिताना होगा। उसी समय से जब भी बिंदी वापस आती है, धरती खुशी से भर जाती है, वहाँ हरियाली छा जाती है। जब वह वापस जाती है तो धरती उदास हो जाती है, यही समय पतझड़ का होता है। सरहूल, बिंदी के वापस आने का समय है और धरती के खुश होकर सजने संवरने का है। मुंडाओं का बा: पर्व अथवा फूलों का पर्व फरवरी के अंत और मार्च के प्रारंभ में ''बा: पर्व'' या फूलों का पर्व मनाया जाता है। इसके मानने की कोई निशिचत 'तिथि नहीं होती है। प्रत्येक गाँव अलग-अलग तिथि में पर्व मनाता है। पर्व से नये वर्ष की शुरूआत होती है। बा: पर्व वास्तव में मृत पूर्वजों की याद में मनाया जाता है। कहीं-कहीं सरहूल मनाने की विधि अलग है, पर्व की पूर्व संध्या में प्रत्येक परिवार कुछ दाल और मछली पूर्वजों के लिए देता है। पर्व दिन 'जएर बुढ़िया' को समर्पित, सरना वृक्ष के नीचे बलि दी जाती है। यह जएर बुढ़िया और लुटकुम हरम, लुटकुम बुढ़िया मुंडाओं की सामूहिक बोंगा और मुंडा जाति को अदृश्य रूप से उत्पन्न

करने वाली है।

पहली बलि जएर बुढ़िया के लिए, दूसरी बलि गाँव के सभी मृत पूर्वजों के लिए, दो बलि संरक्षक बोंगाओं के लिए होते हैं। पब्लिक धर्मानुष्ठान के बाद प्रत्येक परिवार अपने 'हपरोमको' के लिए सफेद मुर्गे की बलि देता है।

पर्व की संध्या पर, अपने दिन भर के उपवास को तोड़ने से पहले स्त्री संसर्ग से रहित जवान अविवाहित लड़के पूजा करने का स्थान तैयार करते हैं। वे जवान किसी भी व्यक्ति के आगे गाँव के, झरना या नदी के पास जा कर दो नये घड़ों में पानी भरते हैं। दोनों घड़ों को हाल ही में बुने कपास के सूत से बाँधते हैं। एक सरजम की टहनी तोड़कर उसे पानी भरे घड़े की सतह तक ले जाते हैं, और इस तरह घड़े के पानी को नापते हैं। घड़ों को 'रात भर वृक्ष के नीचे छोड़ देते हैं।

दूसरे दिन तड़के ही पहान उसी टहनी को घड़े की सतह तक ले जाकर पानी को नापता है। यदि नापने पर पानी में कोई कमी न हो, तो पहान भविष्यवाणी करता है, कि इस वर्ष पानी खूब बरसेगा और खेती अच्छी होगी। यदि छड़ी के एक इंच भी पानी नीचे हो तो, भविष्यवाणी होती है कि इस वर्ष अकाल होगा।

बलि सफेद मुर्गा मारते समय वह जिस दिशा में अपना सिर मोड़ता है, उसी दिशा से मानसून आता है। बहुत से आदमी इसे देखने के लिए जमा होते हैं। दक्षिण दिशा से मानसून का आना बुरा समझा जाता है। दक्षिण दिशा को छोड़ किसी दिशा से पानी आना शुभ ही होता है।

पूर्व के दिन सुबह पहान सरजोम फूल प्रायः बाः जएर से तोड़ता है धर्मानुष्ठान के समय इन फूलों को वह दाहिने कान में खोंसता है। धर्मानुष्ठान के समाप्त होने पर पहान एक सूप फूल पकड़ता है, उसको सूप पकड़े हुए ही गाँव के लोग कूल्हे पर ढोकर लाते हैं। गाँव पहुँचने पर गाँव की स्त्रियाँ आदर के साथ पहान का पैर धोती हैं, और घड़े का पानी उसके सिर पर उँडेलती हैं। पहान को अपने घर लिया जाता है। वह सर्वप्रथम दरवाजे के चौखट में सखुए का फूल खोंसता है, इसके बाद पास खड़े लोगों को फूल बाँटता है। पुरुष फूल पाकर उसे दाहिने कान में और स्त्रियाँ जूड़े में लगाती हैं। पहान प्रत्येक घर जाकर फूल खोंसता है, बदले में हँड़िया उसे मिलता है। इसी बीच जवान व्यक्ति पानी छत पर फेंकते हैं।

बाः पर्व के धर्मानुष्ठान में तीन भाग है : (1) सरना स्थल में पूर्वजों के लिए बलि (2) दो घड़ों में पानी की सतह नापना (3) फूल बाँटना

उराँव जनजातियों के समान ही प्रायः पर्व की धर्मविधियाँ है। मूल बलिदान पूर्वजों के आदर में चढ़ाया जाता है। पूर्वज शक्ति के स्रोत हैं, दो पानी से भरे घड़े वृक्ष के नीचे रखे जाते हैं। ''अग्नि की वर्षा'' नामक दंत कथा में घड़े को अंडा माना गया है। यह अंडा जीवन का स्रोत है और पूर्वजों को जीवन देने के लिए बदला गया। इसीलिए मृतक को गाड़ते समय उसकी कब्र के ऊपर टूटा हुआ घड़ा रखा जाता है। यहाँ भी दो घड़ों को कपास के नये धागे से बाँधा जाता है। इसी प्रकार विवाह धर्मविधि में दो पानी से भरे घड़े बाँधे जाते हैं— यह वर और वधू के विवाह का प्रतीक है। फूलों के पर्व में दो घड़ों को सूत बाँधने का अर्थ है आदिकालीन जएर बुढ़िया का विवाह, जो कि मुंडा जनजाति के जीवन का

स्रोत मानी जाती है।

शुद्धता पर विशेष बल दिया जाता है। अविवाहित लड़के का संसर्ग किसी लड़की से न हुआ हो। जल अपने शुद्ध है, उस सुबह कोई दूसरा कुएँ या डाड़ी से पानी नहीं लिया रहता है। यह जल पहान और बलि वस्तु को भी शुद्ध करता है। इस पर्व में मुंडाओं के नृत्य 'बहनी' कहे जाते हैं। लड़के लड़कियों के हाथ पीछे से जुड़े रहते हैं। वे अपने हाथों से ताली भी बजाते हैं।

फगु काटना

फगु वृक्ष को काटने की तारीख चाँद कैलेंडर के अनुसार निश्चित की जाती है। मुंडा चैत महीने में प्रथम दिन मनाते हैं। मुंडाओं ने इसे शिकार खेलने का त्योहार मान लिया है (फगु सेंदरा)।

फगु की अगली शाम गाँव के लड़के सिल्क काटन का पौधा (छोटा वृक्ष) लाते हैं। यह दस से पन्द्रह फीट ऊँचा होता है। धर्मविधि के अनुसार शुद्ध किये गये पहान के आँगन में इसे गाड़ते हैं। वहाँ से उस बालवक्ष को बस्ती से ले जाने वाले मुख्य मार्ग में ढोकर ले जाते हैं। वे शिकार के लिए कुल्हाड़ी लेते हैं, साथ में शिकारी गाना गाते जाते हैं।

वे सब सौरी (एक विशेष प्रकार का घास) घास, गर्भवती वाले घरों को छोड़कर सभी घरों से माँगते हैं। इस घास से एक छोटी झोपड़ी बनाते हैं, बाकी बचे घास को गाड़े गये बालवृक्ष में बाँध देते हैं। पहान एक लाल मुर्गे को लेकर 'बीर चाँदी' जंगल के संरक्षक देवता (बोंगा) से प्रार्थना करता है। इसके बाद घास में आग लगा कर मुर्गे को उसमें फेंक देता है।

एक जवान घास को मुँह में लेकर जलाता है, और जलती हुई कुटी की ओर फेंकता है, और पहान के चारों ओर घूमते हुए उसमें आग लगाता है। ऐसा सब करते समय वह कौवे के समान काँव-काँव करता है।

पहान जलते वृक्ष पर कुल्हाड़ी से प्रहार करता है। जवान लोग दौड़कर वृक्ष को काटते हैं। जिस कुल्हाड़ी से वृक्ष काटा जाता है, इसे दूसरी लकड़ियों को काटने के काम में नहीं लाया जाता है। कपास वृक्ष की अनेक गाँठ होती हैं, जहाँ से तीन या चार डालियों को काटने के काम में नहीं लाया जाता है। कपास वृक्ष की अनेक गाँठ होती हैं, जहाँ से तीन या चार डालियाँ निकलती हैं।

लड़के प्रत्येक गाँठ पर से धड़ को काटते हैं, और उपरी भाग को छोड़ देते हैं। प्रत्येक टुकड़ा हिरण और उसके सींग को दर्शाता है।

कुछ टुकड़ों को पड़ोस के गाँव की दिशा में फेंकते हैं। हिरण और उसके सींग को प्रदर्शित्त करने वाले एक टुकड़े को कपास वृक्ष के फटन में घुसेड़ दिया जाता है जवान लड़के धड़ के ऊपरी भाग में उसे बाँध कर पहान के घर ले जाते हैं। घर की महिलायें उनका पैर धोती हैं, मानो वे शिकार से लौटे हों।

दूसरे दिन, सुबह पहान जली हुई लकड़ी का एक टुकड़ा कुएँ या डाड़ी के रास्ते में फेंकता है। वहाँ के पानी को उस दिन नहीं पीकर उसे साफ करके पीते हैं।

3. माघ पर्व

इस त्योहार के बाद त्योहारों का सिलसिला समाप्त होता है। मालिक के यहाँ से नौकर की छुट्टी होती है या वह फिर से रखा जाता है। नाम से ही स्पष्ट है कि यह माघ महीने में मनाया जाता है।

तीन रात लगातार लड़के गाँव की सीमा में बाजा बजाते घूमते हैं। पहले पूर्व सीमा, उसके बाद उत्तरी सीमा, दाहिने से बायें घूमते हैं। बाहरी व्यक्ति इनके साथ नहीं आ सकता है। वे 'हवा' गाना गाते जाते हैं। जहाँ बोंगा का निवास होता है, लड़के रूक जाते हैं और पर्व के लिए बोंगा को निमन्त्रण देते हैं। दूसरे 'हवा' गाने कामुकता से संबंध रखते हैं। जैसे-जैसे रात बीतती है और अश्लीलता बढ़ती जाती है। दूसरे समय में इन गानों को कोई सहन नहीं करता है।

तीसरे दिन पहान कुछ लड़कों को जंगल, अपने से उगे सखुए का पौघा (बाल वृक्ष) लाने भेजता है। इसे मनुष्य की ऊँचाई से अधिक होना चाहिये। लम्बी फाड़ी गई जलावन की लकड़ियों के गट्ठर के साथ ही सखुए का बालवृक्ष (पौधा) उखाड़ कर पहान के घर लाया जाता है। पहान इस पौधे को घर के पूर्व दिशा की ओर रोपता है। इसके चारों ओर पतली लकड़ी गाड़कर चौकोर आकार बनाता है। निकट में धान कूटने का औजार (समाठ) और चूल्हा तैयार रहता है। शाम को घर के भीतर ही कुलथी दाल पूर्वजों के लिए बिखेर देता है। इसके बाद ही उपजायी दाल को मुंडा खा सकते हैं।

तीसरे दिन पहान मागे फूल और झाडू बनाने वाली घास का एक डंठल लाता है। वह उस दाल का केक (एक प्रकार की मिठाई) और अपने साथी की मदद से कुछ चावल को भूनता है। इस समय समाठ को केवल दाहिने हाथ से पकड़ता है। कुछ हँड़िया रस भी तैयार रहता है। ये सभी चीजें मागे फूल के साथ गाँव के पूर्व एक स्थान में ली जाती हैं।

उस स्थान में पहान सिंगबोंगा के लिए एक सफेद मुर्गा, और दूसरे संरक्षक बोंगाओं के लिए दूसरा मुर्गा चढ़ाता है। ये मुर्गे जीवित ही फेंके जाते हैं, गाँव के उपस्थित युवक उसे पकड़कर ऐंठते हैं। इस बलि मांस को पहान के घर लेते हैं। सिंगबोंगा का हिस्सा चौकोर स्थान में रखा जाता है। पहान फिर से धान का लावा भूँजता है और दाल का केक भी। कुछ हिस्सा अपनी पत्नी को देता है। खाने के तुरंत बाद वह पूर्वजों के लिए पकाया हुआ खाना देती है।

मागे पर्व के बाद ही बच्चों के कान छेदे जाते हैं। झाडू बनाने के लिए झाडू-घास तोड़े जा सकते हैं। निषिद्ध आचरण का उल्लंघन, करने वाले हँड़िया देते हैं, और उनका प्रायश्चित्त होता है। मुंडाओं में अपने गोत्र में शादी नहीं होती है। प्राय एक गाँव में एक ही गोत्र के लोग रहते हैं। अतः लड़कियाँ तो बाहर की ही होती हैं। इसलिए तीन दिन अविवाहित लड़के आस-पास के गाँवों में जाने जाते हैं।

दूसरे त्योहार (क) हेरे बोंगा

बीज बोने की बलि, यह वास्तव में त्योहार नहीं है जून महीने में जब धान के पौधे निकल आये हों। पहान खेत जाकर 'गोसा-सिंग के नाम पर सिंगबोंगा को बलि देता है। वहाँ से लौटने पर गाँव के पूर्वज बोंगाओं के लिए देता है। इन अवसरों पर दो सखुए के पत्तों पर खाना देता है, एक पुरुष पूर्वज और दूसरा स्त्री पूर्वज के लिए।

(ख) अगस्त महीने में जब बुने धान के ऊपर हल चलाया जाता है (इसे खेत बींधन कहते हैं), तो दोपहर के बाद सिंगबोंगा से खेत के ऊपर आशिष माँगा जाता है। एक प्रतीक विवाह के बाद बलि दी जाती है।

(ग) **जोम नोआ (नया खानी)**

जब धान पकने पर है तो गाँव वाले कुछ बालियों को तोड़ लाते हैं। पहान अपने खेत में एक तीर गाड़ता है। ऐसा करते हुए वह सिंगबोंगा को लाल मुर्गे का खून देते कहता है— इस तीर को न तो बाघ नष्ट करे या इसके ऊपर उछले और न साँप चढ़े, जब तक हम धान नहीं काटते हैं। गाँव के अन्य बोंगाओं को भी यही प्रार्थना करता है।

तीर गाड़ने के कुछ दिन बाद पहान तीर को खेत से निकाल लेता है।

(घ) **सोहराई**

यह जानवरों का पूर्व है। इसमें पहान पूरे गाँव के लिए नहीं, परन्तु हर परिवार का मुखिया 'गोहार घर' में काले मुर्गे की बलि देता है। गाय, बैलों, बकरियों को सींग एवं शरीर में तेल लगाकर सिंदूर लगाया जाता है।

मुंडाओं के त्योहारों एवं विश्वास को देखने से ये बातें स्पष्ट होती हैं—

1. बा: पोरोब, उराँव जनजाति के समान एक साथ मनाते हैं।
2. सिंगबोगा की पूजा के लिए सफेद मुर्गे (मुर्गी) की बलि (खून) दिया जाता है।
3. खूँट देवताओं की पूजा के लिए काली मुर्गी दी जाती है।
4. दरहा भूत की भी पूजा की जाती है।
5. प्रत्येक मुंडा परिवार पूर्वजों की पूजा करता है इसके लिए वह भोजन करने से पहले भोजन के कुछ दाने जमीन पर गिराता है।

साधारणतः पूजा में मुर्गे (मुर्गी) की बलि दी जाती है। गरीबी के कारण बकरा नहीं दे पाते हैं। सूअर की बलि देने की प्रथा नहीं है।

उराँवों के पर्वो की पृष्टभूमि

1. भोजन जमा करना और शिकार करना।
2. पशु पालना और खेती करना।
3. मछली मारना जनजातियों का नियमित व्यवसाय नहीं है, परन्तु खेती संबंधी श्रम के बीच कभी-कभी व्यवसाय बन जाता है। केवल सरहूल त्योहार के समय मछली पकड़ना पवित्र अनुष्ठान या धर्मविधि माना जाता है।

भोजन जमा करने का उत्सव

यद्यपि जनजाति (उराँव) खेती को ही मुख्य पेशा मानता है, फिर भी खाने लायक फूल, पत्तें, सरसफल, कंद भी खाद्य-पदार्थ में शामिल करता है। इनको उनकी पत्नियाँ पड़ोस के जंगलों और

पहाड़ियों से खाने के लिए जमा करती हैं। विभिन्न प्रकार के रतालू शाक, महुआ के सूखे फल उराँवों के खाद्य-पदार्थ में आते हैं।

इसीलिए इनका मुख्य खद्दी सरहूल त्योहार प्रारंभ में उराँवों के इतिहास के अनुसार भोजन जमा करने का उत्सव था। भोजन जमा करने के प्रारंभिक उत्सव की साधारण धर्मविधियाँ अधिक उन्नत आर्थिक जीवन से संबंध रखने वाली दूसरी धर्मविधियाँ द्वारा ढँक दी गईं और क्रमशः शताब्दियों के जुड़ने से विस्तृत भी हो गई, जिससे होकर जनजाति मात्र भोजन जमा करने और शिकारी से उन्नत होकर कृषक बना। इस प्रकार भोजन जमा करने वाले चरण का प्रारंभिक त्योहार, धीरे-धीरे कृषि संबंधी हो गया।

भोजन जमा करने से संबंध रखने वाले उराँवों के धार्मिक त्योहार दो हैं— (1) खद्दी, सरहूल और (2) फगू त्योहार। यह अंतिम पर्व उराँवों का विशुद्ध पर्व नहीं हैं, परन्तु बहुत पहले इन्होंने पड़ोसी हिन्दुओं से लिया है। अभी तो उधार लिए जाने पर भी यह त्योहार उराँवों के विचार और सरहूल के संगीतों में एक होकर रह गया है। इसका वर्णन, उराँव जनजाति के अन्तर्गत हो चुका है।

खद्दी या सरहूल त्योहार

चैत महीना (मार्च-अप्रैल) में बसन्त ऋतु का प्रवेश होता है। इस समय अनेक पेड़-पौधों में नयी पत्तियाँ और कन्द आ जाते हैं। सखुए के वृक्षों में नये फूल खिल जाते है। इसलिए उराँव, बसन्त ऋतु में अपना पवित्र त्योहार, पवित्र झुंड अथवा सरना में मनाते हैं। इस त्योहार में सखुए के फूलों का विशेष महत्व होता है। इसे सरहूल अथवा सखुए के फूलों का त्योहार कहते हैं। जब तक गाँव में यह पर्व नहीं मनाया जाता है, तब तक कोई उराँव एक जगह जमा नहीं हो सकता।

बुलाना और तैयारी

जब बसन्त की शुरूआत में साल वृक्ष खिलना शुरू करते हैं, तो प्रत्येक उराँव गाँव के बुजुर्ग, विचार कर अपने गाँव में सरहूल मनाने के लिए दिन निश्चित करते हैं। निश्चित दिन के एक या दो हप्ते पहले पहान (अनुष्ठान कर्ता) अथवा पुजार (पहान का सहायक), गाँव के पंचों की आज्ञा से गाँव में घोषणा करते हैं कि फलाँ दिन उपवास के लिए चुना गया है, और उसके दूसरे दिन सरहूल होगा।

उसी दिन से पहान और पुजार, एक किलो (एक पैला) धान अथवा मडुवा प्रत्येक घर से जमा करता है। किसी गाँव में पहान की पत्नी और पुजार की पत्नी, एक मुट्ठी धान अथवा मड़ुवा प्रत्येक घर से जमा करती हैं। ये 'चिल्गी मइया' के नाम पर जमा किये जाते हैं। जमा किये हुए अनाज से पहान और पुजार, कुम्हार को त्योहार में प्रयुक्त होने वाले नये घड़े के पैसे देते हैं। इसी प्रकार त्योहार में बाजा बजाने के लिए गोड़ाइत को भी कुछ आना दिया जाता है। कुछ गाँवों में लोहार को भी कुछ आना, पहान चूरी या चाकू के लिए दिया जाता है। इस पहान चूरी का, पहान पूजा के समय प्रयोग करता है कुछ गाँवों में लोहार, एक बैंठी अथवा बिंठी (एक प्रकार के काटने का औजार) और एक लोहे का करछूल (बड़ा चम्मच) भी देता है। पहान, चार, पाँच अथवा अधिक अरखी के घटक भी खरीदता है, जो उसके घर में ही तैयार किये जाते हैं और पर्व के दिन सब लोग पीते हैं।

सरहूल के तीन दिन पहले पहान के घर में, और गाँवों में पुजार के घर में तीन या चार सेर चावल पानी में उबाले जाते हैं और मिट्टी के घड़ों में पहान के घर गोबर से लीपी जमीन पर रख दिये जाते हैं

और थोड़े पुवाल से ढाँप दिया जाता है। जब चावल ठंडा हो जाता है तो 'विची' (यह चावल की गुंडी में कुछ वनस्पति की जड़ों को मिला कर बनता है) चावल में मिलाया जाता है। मिलाये गये चावल को बड़े घड़े में रखकर खमीर उठने के लिए छोड़ दिया जाता है। सरहूल के दिन वे घड़े, सरना में लिए जाते हैं। वहाँ और अधिक पानी घड़े में डाला जाता है और चावल और विची मिश्रण को कपड़े की छलनी से विकृत किया जाता है। इस प्रकार हंड़िया तैयार होने पर केवल गाँव के पहान, पुजार और महतो उसे पीते हैं।

सरना धर्मावलम्बी विशेषकर उराँव समुदाय में सरहूल के पहले नये फल-फूलों एवं नव पल्लवों को खाना, यहाँ तक कि घर घुसाना भी वर्जित होता है। लेकिन कहीं-कहीं फगुवा में ही नये फल-फूलों का सेवन 'फूल भितारना' हो जाता है। जिस गाँव में लोग सरहूल के पहले ही 'फूल भितार- लेते हैं उस गाँव के लोगों को 'सोतरा' कहा जाता है। ऐसे समय में अर्थात होली एवं सरहूल के बीच दूसरे गाँव में आना-जाना एवं खाना-पीना लगभग बंद हो जाता है। इस संबंध में एक गाना भी गाया जाता है—

कुल्ली आंबा कला भइया, कुल्ली, नैगस सोतेरा मंजस।

फागु पइरी आंबा कला भइया कुल्ली नैगस सोतेरा मंजस।

अर्थात् कुल्ली गाँव मत जाओ भाई, कुल्ली गाँव के पहान सोतरा हो गये हैं। होली के बाद उस गाँव में मत जाओ भाई उस गाँव के लोग सोतरा होगये हैं।

किसी विशेष कार्यवश यदि सोतरा हुए गाँव के किसी संबंधी के यहाँ आना-जाना ही पड़े, तो उस गाँव का अन्न, जल भी नहीं ग्रहण किया जाता है। सोतरा व्यक्ति किसी गाँव में जाता है, तो उसे घर में घुसने की अनुमति नहीं दी जाती है। यदि घर का कोई सदस्य दूसरे गाँव में जाकर या नया फल-फूल खाकर सोतरा हो गया है तो उसे भी खास करके रसोई घर में घुसने नहीं दिया जाता है एवं बर्तनों में खाने के लिए नहीं दिया जाता है। इस तरह का छुआ छूत सरहूल पर्व सम्पन्न होने तक जारी रहता है। लेकिन शिक्षित होने के साथ ही शहर के आदिवासी इस परंपरा को भूलते जा रहे हैं।

उराँव आदिवासी समाज में वृक्षराज 'साल वृक्ष' को सृष्टि का प्रतीक माना गया है। पवित्र साल वृक्ष का हर भाग तना, पता आदि हमारे जीवन में घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। आदिवासी संस्कार में जन्म से लेकर मरण तक साल का उपयोग होता है। नवजात शिशु का नाम 'नामे पिंजना' साल के पत्तों से बने 'दोना' में सम्पन्न होता है। विवाह का निमंत्रण साल के पत्ते में हल्दी से रंगे चावल के रूप में दिया जाता है। आमंत्रित मेहमान बदले में साल पत्तों से ढँककर विवाह हो रहे घरों में आते हैं। विवाह की रस्म साल की डाल एवं पत्तों से बने मंडप (मंड़वा) में सम्पन्न होता है। विवाह भी साल के पत्तों के पत्तल में बैठकर होता है। विवाह भोज भी साल के पत्तल में दिया जाता है। हँड़िया भी साल के पत्ते के दोनों में दिया जाता है। घर बनाने के लिए साल के धड़ का प्रयोग होता है। मृत्यु के समय भी साल के पत्ते से बने दोनों से मृतक के मुँह में पानी की बूँदे डाली जाती हैं। मृतात्मा का 'ए ख मंखना' (छाया भितारना) साल के दतुअन से बने कुंबा जलाकर किया जाता है। सरहूल के अवसर पर सखुए या साल वृक्ष के नीचे ही धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है।

प्राचीन काल में हमारे आदिवासी पूर्वज विशेषकर उराँव लोग जंगलों को काटकर खेती लायक

जमीन बनाते थे। जंगलों में अन्य वृक्षों के अलावे साल के वृक्ष अधिकाधिक मात्रा में पाये जाते थे। इन्हीं सखुये की डाल काटकर उराँव कुटिया बनाते थे। सखुवे के पत्तों से कुटिया को ढाँपते थे। सखुवे के पत्ते थाली का काम करते थे। सखुवे का दतवन करते थे। गिरे हुए सखुवे पत्ते जब सड़ जाते थे तो वहाँ पर पुटु, खुखड़ी (फफूँदी मशरूम) निकलते थे, उसे तरकारी बनाते थे। आज भी 21वीं सदी में इन पफुंदियों को उराँव जनजाति बड़े चाव से खाती है।

सखुवे के वृक्ष एवं पत्तों, फूलों की एक और विशेषता है, जिसके कारण उराँव जनजातियों के साथ सभी सरना धर्मावलम्बी सखुवे वृक्ष की पूजा करते हैं। दे. जनी शिकार उराँव जनजाति रोहतासगढ़ में रहती थी। मुगलों के आक्रमण होने पर उराँव छल से हराये गये। अपने परिवार के साथ उन्हें रोहतास गढ़ छोड़ना पड़ा। रास्ते में सखुवे के फूल खिले हुए थे। उन्होंने सखुवे की छोटी डालियाँ फूल समेत तोड़कर रास्ते में बिछाना शुरू किया। उन सखुवे के फूलों, पत्तों, एवं डालियों को देखकर अन्य उराँवों ने भी उनका अनुसरण किया। सखुवे फूल पत्तों एवं डालियों ने रास्ता बताया।

सरहूल का पर्व मनाने के लिए महीनों से तैयारियाँ होती हैं। घर मालकिन और बच्चियाँ खेत से मिट्टी लाती हैं, और घर-द्वार की लिपाई पोताई करती हैं। अखाड़ा चौराहों, आँगन एवं डाड़ी (छोटा कुँआ) की सफाई होती है। त्योहार के दिन प्रत्येक के घर पकवान पकता है। सभी नये पहन वस्त्र पहन कर चहकते नाचते और गाते हैं।

सरना माता की पूजा सरना स्थल पर होती है। यह प्राकृतिक पूजा है। इसी समय किस दिशा से कितनी वर्षा होगी, इसका अनुमान लगाते हैं। सरना स्थल में दो नये घड़े में पानी भरकर रखा जाता है और उस घड़े के पानी को सामूहिक रूप से देखा जाता है। घड़े के पानी के घटने और बढ़ने के आधार पर ही पूजा के बाद से खेती बारी का कार्यक्रम प्रारंभ करते हैं।

इस त्योहार के अवसर पर मछली एवं केंकड़ा पकड़ने का भी रिवाज है। इसमें पीछे भी एक पौराणिक कथा है।

एक समय सृष्टिकर्ता भगवान मनुष्यों से नाराज हो गये। उसने सृष्टि को नष्ट करना चाहा। भगवान के इरादे को चाला पचो (धरती माता) ने भाँप लिया और एक भैया और बहन को 'खख़रा लतरा' अर्थात् केंकड़े के गह्वर में छिपा दिया। भगवान ने पृथ्वी पर पानी भेजकर समस्त सृष्टि का विनाश किया। इसके बाद उसे अपने काम से बहुत दुःख हुआ क्योंकि पृथ्वी मानव विहीन हो गई थी। पालतू जानवर भी नष्ट हो गये थे। इसी समय चाला पचो ने भगवान से कहा— हे भगवन्! मैंने तुम्हें सृष्टि को नष्ट करने से मना किया था। मैने एक भैया और बहन को खखरा के लतरा में छिपा दिया है अब तुम्हीं खोजो। भगवान ने अपने दूतों को भेजा। उन्होंने सब तरफ खोजा पर नहीं पाया। भगवान ने चांवरा, भाँवरो और खैरा तीन कुत्तों को भेजा। वे तीनों सिरा सिता नामक नाली के पास जाकर भाँवरा और खैरा की लतरी के पास सूँघने लगे। उस लतरी में केंकड़ा एक गरई मछली के साथ रहता थ। उस लतरी के आस-पास द्वार में घास एवं खखरा फूल भी थे। कुत्ते घास-फूल एवं खखरा फूल को भी साफ करके पंजों से खोदने लगे। खोदने पर कीचड़ से सने हुए भैया बहन के साथ केंकड़ा भी गरई मछली के साथ कुत्तों द्वारा खोज निकाला गया।

गरई मछली को बाँझ वृक्षों पर पटका जाता है कि वे वृक्ष फिर से फूल फल पैदा करें। घर लाकर गरई मछली को पकाकर खाते हैं। केंकडे को पकड़कर उसे सखुवे के पत्ते के दोने में बंद कर चूल्हे के ऊपर टाँग देते हैं। सरहूल त्योहार बीतने पर जब उराँव किसान खेत में बीज बोने जाता है तो मरे हुए केंकड़े को धान बीज के साथ मसल दिया जाता है और बीज के साथ ही खेत में गिराया जाता है। उराँव किसान को यह पूर्ण विश्वास होता है कि केंकड़े के अनगिनत बच्चे जैसे ही अनगिनत धान की बालियाँ होंगी। इसी कामना से सरना माता की पूजा करते हैं।

सरहूल के अवसर पर सृष्टिकर्ता एवं हमारे पूर्वजों की विवाह स्मृति में पृथ्वी का विवाह सर्वशक्तिमान सूर्य से किया जाता है, जिसे 'खेखेल बेंजा' भी कहा जाता है। पृथ्वी और सूर्य के प्रतीक के रूप में पहान एवं उसकी पत्नी पहनाईन के बीच विवाह का रस्म पूरा किया जाता है। इस संदर्भ में गीत गया जाता है—

हे पहान राजा! सृष्टिकर्ता सूर्य एवं धरती के विवाह के अवसर पर तुम राजा राजवाड़ की तरह शादी कर रहे हो। सरहूल की सुबह हर वर्ष की भाँति इस वर्ष भी शादी कर रहे हो। सरहूल के बाद यह समझा जाता है कि धरती का विवाह अब हो गया। इसके पहले यह कुँवारी थी। धरती का विवाह होने के बाद बीज डाला जाता है। पिता सूर्य की गरमी से उष्मिता होकर धरती माता के गर्भ में बीज अंकुरित होते हैं और धरती माता की गोद से फल-फूल अन्न की प्राप्ति होती है।

देहातों में सरहूल प्रत्येक गाँव में अलग-अलग दिनों में मनाया जाता है। एक गाँव में आज सरहूल है तो दूसरे गाँव में कल। इस तरह यह त्योहार महीनों दिन चलता है। गाँव-गाँव के लोग अपने इष्ट कुटुम्बियों एवं बेटी बहनों एवं दामादों को बलाते हैं और मिलकर आनन्द मनाते हैं।

सरहूल पूजा का पूर्ण कार्यक्रम

चैत्र द्वितीय प्रात: समय गाँव का पहान खेत की मिट्टी उठाकर अपने घर लाता है। जहाँ पकवान बनाया जाता है, उस चूल्हे को लायी गयी मिट्टी से पवित्र करता है, जिसे कोई भी व्यक्ति देख नहीं पाते हैं। पकवान, पहान एवं उसकी पत्नी मिलकर बनाते हैं तथा पहले पकवान को कड़ाही में उबलते हुए गर्म तेल में हाथ डालकर निकालते हैं।

चैत्र द्वितीय को घर का मुख्य व्यक्ति उपवास करता है। उपवास के दिन खेत से मादा केंकड़ा खोजकर लाता है, एवं सखुवे के पत्ते में रखकर उसे बन्द करके और चूल्हे के ऊपर टाँग दिया जाता है। साथ में गरई मछलियाँ भी खेत अथवा नदी से खोज कर लाई जाती हैं।

चैत्र द्वितीय संध्या 7 बजे सरना स्थल को पवित्र किया जाता है। पहान के निर्देश अनुसार गाँव के 'पइन भोरा' द्वारा ही स्वच्छ घड़े में पानी भरकर सरना स्थल, सखुवे के पेड़ के नीचे रखा जाता है। पहान, गाँव के पुरुषों (महिलाएँ नहीं) के साथ एक नगाड़ा और एक मान्दर के साथ जाता है। सरना स्थल पहुँच कर पहान धरती पर अरवा चावल रखता है। अरवा सुता (ग्रामीणों द्वारा चरखे से काता गया सूत) को हल्दी से रंगकर सखुवे के पेड़ में लपेटता है। खपड़े में आग लेता है और आग में धुवन रखता है। इस प्रकार सरना स्थल सुगन्धित हो जाता है। तत्पश्चात् पाँच रंगों वाले पाँच मुरगों का खून धरती पर

चुलाया जाता है, साथ में हंड़िया का रस भी चुलाया जाता है। इसके बाद वहाँ उपस्थित सभी एक-एक दोना हँड़िया पीते हैं। महिलायें सरना नहीं जाती हैं। पूजा समाप्त होने पर घोड़ा (एक व्यक्ति जो पहान को ढोता है) पहान को कंधे पर बैठाता है। उसे ढोकर घर तक लाता है। सरना स्थल से सभी व्यक्ति गाते नाचते पहान के घर तक आते हें। पहान उन सभी लोगों को खाना-पीना देता है।

चैत्र तृतीया को 11 बजे पहान गाँववासियों के साथ सरना पहुँचता है। फिर सूप में सरई फूल, अरवा चावल, सिंदूर धुवन, अरवा सूत एवं पाँच रंगों वाले पाँच मुरगों का खून धरती पर चुलाकर धरती माता की पूजा करता है। इसी प्रकार हंड़िया रस की कुछ बूँदे धरती पर गिरायी जाती हैं। रात्रि में रखे गये घड़े के पानी का निरीक्षण करता है। यदि घड़े का पानी कुछ घट गया हो,तो पहान आने वाले समय में सूखे की घोषणा करता है। यदि घड़े में पानी यथावत् रहे तो पहान भविष्यवाणी करता है कि आने वाले समय में वर्षा पर्याप्त होगी। पहान उपस्थित लोगों को सरई का फूल एवं सिंदूर देता है। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को एक-एक दोना हंड़िया भी दिया जाता है। इसके बाद वह प्रार्थना करता है—

''हे धरती माता हमारी फसलों की रक्षा करो, हमें पर्याप्त वृष्टि दो। हमारी फसलों पर बुरी नहर न हो। हमारे मवेशी भी सुरक्षित रहे।''

पहान के पूजा समाप्ति के बाद सरना स्थल से सभी लोग नाचते गाते पहान के घर तक पहुँचते हैं। अपने-अपने घरों में जाकर गरइ मछली की तरकारी खाते हैं। मौसम के अनुसार नेय फल-फूल जैसे कटहल, पुटकल आदि की सब्जी भी बनती है।

इस वर्ष के शुभ अवसर पर विवाहित बेटी-बहनें नैहर आती हैं और धूमधाम से त्योहार मनाते हैं। नये दामाद बाबू का यथाशक्ति आदर सत्कार किया जाता है। अपनी क्षमता के अनुसार भेंट स्वरूप कुछ दामाद के लिए देते हैं।

पूजा समाप्ति के दूसरे दिन अर्थात चैत्र चतुर्थी को पहान फूल खोंसने के लिए निकलता है। उसके साथ एक व्यक्ति नगाड़ा या ढोल बजाने वाला और साथ में एक व्यक्ति बाल्टी पकड़ता है जिसमें घुली हुई रंगीन मिट्टी रहती है। घर मालकिन, पहान के पहुँचने पर, उसका पैर धोती हैं और सिर में तेल पानी लगाती है और पानी को छप्पर में फेंकती है। दक्षिणा के रूप में सूप में कुछ पैसे भी रखती है। पहान पुजारी खुश होकर घर के चौखट में फूल खोंसता है, और लाल रंग की मिट्टी के घोल में पाँचों अंगुलियाँ डुबाकर उस घर की दीवार में छाप लगाता है। इसी तरह गाँव के प्रत्येक घर में फूल खोंसी कार्यक्रम सप्ताह दिन तक चलता है।

खड़िया जनजाति के अनुसार सरहूल पर्व

सरहूल पर्व जिसे खड़िया में 'जाड़कोर' कहा जाता है। इस दिन सवेरे सरना में सरहूल पूजा होती है। सरना जाने से पहले कोलो अर्थात् पहान और पुजार यह कहते हुए स्नान करते हैं कि मैं ने कोई दोष नहीं किया है, राखी गोंसाई यदि तेरी दृष्टि में मैं दोषी हूँ तो ये देख मैं अपने ऊपर पानी डाल कर शुद्ध हो रहा हूँ। स्नान करके, तैयार होकर कालो और पुजार गाँव के पुरुषों के साथ सरना जाते हैं। कालो अपने सात सूप में कुछ अरवा चावल, सखुआ के फूल, आदि लेता है। पुजार और दूसरे लोग एक घड़े में हँड़िया एक नये घड़े में पानी, जलती अँगीठी, गुड़, घी, धुवन और एक बलुआ लेते हैं।

सरना में भिन्न-भिन्न आत्माओं के प्रतीक पहले से ही पत्थर गाड़ दिये रहते हैं, इस स्थान को पहले ही साफ करके गोबर से लीप दिया जाता है, यहीं कालो अपना सामान रखता है। सामान रखकर वह पत्थरों को प्रणाम करता है और उसमें पाँच बार पानी डालता है और हर बार पत्थर को प्रणाम करता है। पत्थरों को प्रणाम करके वह इन्हीं पत्थरों के सामने पूरब की ओर मुँह करके बैठ जाता है। अँगीठी उसके सामने रखी जाती है। यह धुवन और गुड़ आग में डालते हुए इस तरह प्रार्थना करता है-आज मैं तेरी पूजा कर रहा हूँ और सभी फलों की फागपूजा कर रहा हूँ। तू हमारे मवेशियों, बैल, बकरी, भैंसा और मनुष्यों की जंगल की कँटीली झाड़ियों से, बाघ भालुओं से रक्षा कर।''

इसके बाद कालो, पत्थरों के सामने जमीन पर अरवा चावल के पाँच छोटे-छोटे ढेर लगाता है और पत्थरों में सिंदूर लगाता है। तथा अरवा धागा से तीन बार लपेटता है इतना करने के बाद वह पाँचों मुर्गो के पैर धोता है और उसकी बलि दी जाती है और प्रार्थना की जाती है कि 'मैं तेरी पूजा कर रहा हूँ, हमारे मवेशियों की रक्षा करना, बाघ भालुओं से उनकी रक्षा करना, उन्हें किसी तरह हानि नहीं पहुँचाना।

यह काम समाप्त हो जाने के बाद कालो पत्थर के सामने घुटने टेककर सिर झुकाता है। पुजार कालों के सिर और जोड़े हुए हाथ में पानी डालता है। कालो अपने हाथ में पानी को पत्थर के सामने गिराता है और झुककर अपने जोड़े हाथ से पाँच बार अपने कपाल को छूता है।

इसी बीच नये घड़े में चावल पकाया जाता है बलि चढ़ाये गये मुर्गो के सिर और कलेजे को भी अँगीठी में पकाया जाता है। पकाये गये सिर और कलेजे के कुछ टुकड़े चावल की राशियों में रखे जाते हैं। सिर और कलेजे को सिर्फ कालो और पुजार खाते हैं और तपन हंड़िया पीते हैं। इसके बाद कालो पके, हुए चावल का चार ग्रास लेकर साफ किये गये स्थान के चार कोनों में रखता है और पाँच बार सिर झुकाता है, फिर वह चावल के पाँच लड्डू बनाता है और हर लड्डू को खाते समय दोनों से पानी पीता है। इसके बाद वह तपन हंड़िया पीता है और दूसरे लोग साधारण हँड़िया पीते हैं। इस तरह सरना की धर्म-विधि समाप्त हो जाती है।

कालो को कोई मजबूत व्यक्ति उठाकर गाँव की ओर ले जाता है। पुजार सूप में सखुआ, धवई, महुआ आदि फल लेता आता है। कुछ लोग दो घड़ों में पानी ढोते हैं। पानी को घर-घर छिड़काया जाता है। उस दिन घर की महिलायें उपवास किये हुए होती हैं वे अपने घर के दरवाजे के पास खड़ी रहती हैं। जब कालो पानी छिड़कता है, तब वे स्त्रियाँ उसे लेती हैं और उसे घर के भीतर छत पर छिड़कती हैं। कालो स्त्रियों पर 'बरसो' कहते पानी भी डालता है और उन्हें फूल देता है। कालो को कुछ पैसों के साथ पीने के लिए हँड़िया भी दिया जाता है। घर-घर जल और पुष्प वितरण समाप्त हो जाने के बाद कालो को उठाकर अपने घर पहुँचा दिया जाता है। उसकी स्त्री, यदि स्त्री न हो तो उसकी बहू या घर की अन्य स्त्री उसके पैर को तपन हंड़िया से धोती है। इसके बाद कालो अपने घर के अन्दर जाकर अपने पूर्वजों को चावल और हँड़िया चढ़ाता है। दूसरे पूर्वजों की पूजा उस दिन हरेक घर के बड़े लोग विशेष रूप से पूर्वजों की याद करते हैं घर के मालिक और मालकिन उपवास में रहते हैं।

वे उस दिन सवेरे ही स्नान करते हैं, स्नान करते समय ही घर मालकिन एक घड़े में पानी लाती है। घर मालिक सखुआ, धवई, महुआ आदि के कुछ फूल इकट्ठा करते हैं। घर का मालिक हँड़िया

बनाता है और फूलों को लेकर घर के अन्दर जहाँ पूर्वजों की आत्माएँ है, वहाँ जाकर वह भूरे मुर्गे को ऐंठता है, पूजता नहीं। वहाँ फूल, हँड़िया, और रोटी चढ़ाता है। इसके बाद चढ़ाई गई रोटी का एक टुकड़ा खाता है और एक दोना हँड़िया पीता है। बलि के शेष भाग, मांस और फूलों को घर के सदस्यों के बीच बाँटा जाता है। मुर्गे के सिर को अंगीठी में रखा जाता है। उसके पक जाने के बाद उसे काटकर सखुए की पत्ती में टीपकर अँगीठी में ही पकाया जाता है। उसके कलेजे को भी इसी तरह पकाया जाता है, उसे सिर्फ घर मालिक खाता है। यह सब हो जाने के बाद लोग खाते-पीते, नाच गान करते और उत्सव मनाते हैं।

खड़िया जाति के लोग जाड़कोर अर्थात सरहूल को ही सब से बड़ा पर्व मानते हैं। सरहूल की धर्मविधि की तैयारी सप्ताह, दो सप्ताह पहले से ही शुरू हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के जरूरी सामान हंड़िया, मुर्गा, आदि का इंतजाम पहले ही कर दिया जाता है। सर्वप्रथम कालो, पुजारी और घर मालिक-मालकिन को उपवास करना पड़ता है और सवेरे नहा कर साफ कपड़ा पहनते हैं।

ये सभी क्रियाएँ प्रतीकात्मक हैं और प्राय: प्रत्येक पूजा के लिए यही विधि है। इन सब क्रियाओं के द्वारा मनुष्य मानो सृष्टि का प्रारंभिक मनुष्य अर्थात शुद्ध और पवित्र मनुष्य बन जाता है। अग्नि वर्षा के पहले का मनुष्य परमेश्वर के साथ आमने सामने वार्तालाप करता था। पूजा के समय भी मनुष्य परमेश्वर और आत्माओं के साथ वार्तालाप करता है, उनके साथ उठता-बैठता है। अत: पूजा के समय उसका शुद्ध होना अवश्यक है और ये सब क्रियाएँ और तैयारियाँ उसी की ओर इंगित करती हैं।

हो आदिवासी के अनुसार सरहूल त्योहार

बो पोराँब का उत्सव हो आदिवासी समुदाय में ठीक उसी प्रकार मनाया जाता हे जिस प्रकार कि 'बाहा,' 'सरहूल' 'खद्दी' जो अन्य जनजातियों के बीच मनाया जाता है। आदिवासियों का यह समुदाय दक्षिणी छोटानागपुर पठार, विशेषकर अविभाजित सिंहभूम तथा उड़ीसा के मयूरमंज, क्योंझर और कुछेक अन्य जिलों के प्रमुख गाँवों में प्रकृति में नये फूल के आगमन पर वरदान स्वरूप स्वीकार कर आदिवासी 'हो' परम्परा अनुसार विधिवत् देसाउली से सेवन करने के लिए अनुमति और पूजा कर आर्शीवाद मागते हैं, कालांतर में इसे 'बा पोराँब' कहा गया है। यह पवित्र आस्था प्रकृति के साथ हो समुदाय के अभिन्न रिश्ते को दर्शाता है।

हो जनजाति में प्रकृति में नये फूल व फल आगमन पर मार्च महीने के पूर्णिमा में यह पर्वमनाया जाता है। यह पर्व तीन दिनों तक चलता है। वैसे तो तीनों दिन के अलग-अलग महत्त्व हैं और अलग-अलग नामों से जाने जाते हैं-यथा गरी: पोराँब, मारांग पोरॉब, और बासी पोराँब।

1. गुरी: पोराँब

इस दिन से 'बा पोरॉब' का शुभांरभ होताहै। लोग घर की साफ-सफाई करते हैं, घर खाने में विशेषकर बिना तेल से बना हुआ रमबा उतु: याने उरद दाल पकाते हैं, माँस मछली भी पकाई जाती है।

2. मारांग पोराँब

इस दिन माँस मछली गाँव वालों के लिये बिल्कुल मना है। आज के दिन दीउरी, उनके

सहयोगी तथा वे लोग जो पूजा स्थल को जायेंगे, सभी पूजा पूर्व उपवास रखते हैं। कम से कम एक सदस्य प्रत्येक घर से देसाइली अर्थात् पूजा स्थल को जाते हैं। खाना बनाने के लिए नये करचा या करचूल, जिसको चार अलग-अलग लकड़ी मिलाकर बनाया जाता है, प्रयोग किया जाता है। दीउरी और उसके सहयोगी इसे उपवास के समय बनाते हैं। दोपहर दो-तीन बजे दीउरी, उनके सहयोगी और गाँव परिवार के एक-एक सदस्य देसाउली में पूजा के लिए प्रस्थान करते हैं। पुजारी के सहयोगियों में से कुछ जंगल की ओर सरजोम अर्थात् साल वृक्ष वाली हपड़ अथवा छोटी सी डाली को पूजा के मकसद से लाने के लिए निकलते हैं, जिस देसाउली में सरजोम नहीं होता, उस परिस्थिति में उस देसाउली' के लिए जंगल से सरजोम गाछ के फूल वाली हपड़ या छोटी डाली को तोड़कर लाया जाता है और देसाउली (गाँव के मुख्य पूजा स्थल) पर गाड़ दिया जाता है।

दीउरी स्नान व शुद्ध होकर देसाउली में अच्छा शुद्ध जल नये लोटे, या पात्र से चढ़ावा अर्पित करता है। सहयोगी गण ठीक उसके पीछेउसकी सहायता के लिए श्रद्धापूर्वक बैठे रहते हैं। दीउरी मोंतोर (मंत्र) का उच्चारण करता हुआ गोआरी करता है, ''हे सिरमा सिंगबोंगा! अर्थात हे आकाश में रहने वाले अदृश्य भगवान हे धरती माता, आज हम तुम्हारी ही सभी जीव आत्माएँ तुम्हें पूरे हृदय से याद करते हैं, पूजा करते हैं, तुम्हारी सेवा करते हैं, और गाँव में इस बा पोरांब को मनाने की शुभ घड़ी में तुम्हें याद करते हैं।'' इस प्रकार दीउरी मोंतोर द्वारा सिंगबोंगा नागी एरा तथा देसाउली में स्थापित पूज्य मांरोग बुरू (अदृश्य सकारात्मक शक्तियों) तथा झाड़, जंगल, कुंड तालाब और सभी आसपास के बोंगा बुरू से संवाद करता है।, प्रार्थना करता है और गाँव की ओर से चढ़ावा के लिए एकत्र पूजा सामग्रियों को स्वीकार करने के लिए निवेदन करता है। दीउरी पूजा के समय उपलब्ध नये फूल अथवा फल, खासकर सरजोम बा, ईचा बा और रूम्म को एक-एक कर देसाउली में अर्पित करता है।

परंपरा के अनुसार मुर्गे को चढ़ावे के रूप में रखा जाता है। बा: पोरॉब में पूजा के समय व्यवहार में लायी जाने वाली चीजें जैसे हंडी, चार वृक्षों की लकड़ी मिलाकर बना करचा (करचूल) और सूप आदि सब कुछ नया होता है।

दीउरी, पूजा समाप्त करने के साथ ही अपने सहयोगियों को फूल आर्थात् प्रसाद वितरित करता है और जोहार करता है। तत्पश्चात वे मुर्गा व चावल का खिचड़ी भात पकाते हैं और उनमें से एक सहयोगी हंड़िया को पीने लायक तैयार करता है और उसे जैरा परिसर ही में खाते पीते हैं।

शाम के कोई छः सात बजे तक खिचड़ी और हँड़िया, सब मिलकर बैठकर खाते पीते हैं। खाना-पीना सब कुछ वहीं पर खतम किया जाता है। गाँव के अन्य लोग जो उपवास में शामिल नहीं होते हैं, वे खान-पान में शामिल नहीं होते हैं। इस प्रकार देसाउली में बा पोराँब पूजा पाठ प्रक्रिया समाप्त होती है। उनमें से एक सहयोगी उन सभी अर्पित फूलों को एक सूप डालिया में एकत्र करता है और सब देसाउली से अपने गाँव की ओर प्रस्थान करते हैं।

सहयोगी गण दीउरी को परंपरागत विधि से बा: पोरॉब के गीत गाते हुए ले चलते हैं। दीउरी और पूजा स्थल में गये हुए लोगों का गाँववाले इन्तजार करते हैं। गाँव वाले श्रद्धापूर्वक उनका स्वागत करते हैं। गाँव की ओर से जवानों का एक समूह हाथों में लोआ अर्थात गूलर का फूल लिए खड़ा रहता

है, और ज्यों ही उनका सामना होता है, वे एक दूसरे पर लोआ फेंकते हैं जब एक समूह फेंक रहा होता है, तो दूसरा पीठ दिखाता है। उसी तरह बारी-बारी से यह कोरस गाते हुए ''सरजोर ढोरसा डुंबा, अंबड़ा बा ढोरसा डुंबा लेले लेले'' करते हुए दीउरी के घर तक पहुँचते हैं। रात के सात और आठ के बीच के समय में इच्छुक औरतें मिलकर दीउरी के घर एक-एक समूह बनाकर पहुँचती हैं।

ग्रमीणों की बा पोरॉब में भागीदारी

गाँव भर के सारे परिवारों में से एक-एक व्यक्ति वहाँ 'बा प्रसाद' फूल लेने के लिए मौजूद रहता है। दीउरी के अपने घर पहुँचने पर उन्हें स्वागत किया जाता है और उनके पाँव को पानी से धोया जाता है। तत्पश्चात् सबों को फूल प्रसाद देते हैं।

एक सहयोगी देसाउली से लाये गये सजोम गाछ के फूलों वाली डाली को दीउरी के घर वाले आँगन के बीच गाड़ता है। तत्पश्चात गाड़े गये सरजोम फूलों वाली डाली को दीउरी के घर वाले आँगन के बीच गाड़ता है। इसके बाद गाड़े गये सरजोम फूलों वाली डाली के चारों ओर महिला और पुरुष अलग-अलग पंक्ति बनाकर नाचते हैं। इस दिन को नगाड़े और मान्दर नहीं बजाया जाता है, बल्कि गाना गा कर आनंद लिया जाता है। बच्चे डाली में से या फिर दीउरी से प्राप्त फूल कान में खोंसकर झूमते हैं, नाचते समय बा पोरॉब के गीत गाते हैं। बूढ़े भी एक-दूसरे से मेल मिलाप कर खुशी का अनुभव करते हैं। फिर धीरे-धीरे सभी कोई अपने-अपने घरों की ओर लौट आते हैं। रात्रि भोजन से पहले प्रत्येक परिवार में बा पोरोब का प्रसाद घर के पूर्वजों को अर्पित करते हैं। और खुशी-खुशी मिल जुलकर खाना खाते हैं।

बासी पोरॉब

मारंग पोरॉब के बाद अंतिम दिन के पोरोब को बासी पोरोब के रूप में बड़े ही धूम-धाम से मनाते हैं। सुबह होते ही गाँव के जवान और बुजुर्ग अपने तीर धनुष और आखेट के लिए हाथ में हथियार लिए और अपने-अपने धनुष की प्रत्यंचा चढ़ा रखते हैं और निशानेबाजी के लिए तैयार होते हैं। इसे किसी गाँव में 'बेजा तोड़े' कहा गया है। इसमें एक सरजोम होपड़ या साल गाद्द की पतली टहनी या डंटी को जमीन में एक निश्चित दूरी पर जमीन में गाड़ दिया जाता है। बारी-बारी से वे इस प्रतियोगिता में भाग लेते हैं। जो सर्वप्रथम उस होपड़ में निशाना लगाता है, उसे लोग कंधे पर उठाते हैं और वह उनका हीरो बन जाता है। विजयी होने के उपलक्ष्य में वह एक मुर्गा और एक मटकी हँड़िया, लोगों को भोज देता है।

पर अभी तो एक ही पड़ाव पार हुआ है, सबसे रोमांचक बात अब भी बाकी है देसाउली से लोग जंगल की ओर शिकार के लिए प्रस्थान करते हैं और जंगल में जी भरकर शिकार खेलते हैं। उधर गाँव में औरतें और युवतियाँ पर्व की तैयारी कर रही होती हैं। जब शिकार का वक्त समाप्त होता है, तो सारे लोग शिकार किये गये जानवरों को एक स्थान पर इकट्ठा करते हैं, आपस में बाँटते हैं तत्पश्चात वे अपने-अपने घरों को लौटते हैं। इस प्रकार सारा दिन उल्लास का सा महौल होता है।

हो जनजाति में पोरोब से संबंधित व्यवस्था

आदिवासी की धार्मिक आस्थाएँ अलिखित होते हुए भी आज भी जिंदा है। कदाचित सभ्यता के उतार-चढ़ाव से अनछुआ यह समुदाय 'बा पोरोब' को सरल हो धार्मिक अनुष्ठान या विधि से मानता है। पूजा पाठ या बुरू किसी भी हो पोरोब' या त्योहार में सामूहिक रूप से अलग-अलग गाँव के अपने-अपने निर्धारित देसाउली में करते हैं।

देसाउली, गाँव के समीप या सीमांत में एक छोटा-मोटा पहाड़ी या झाड़ जंगल से घिरा होता है। आवश्यकतानुसार उस पवित्र क्षेत्र को कहीं-कहीं गाँवों में पत्थर से परिधि बनाकर घेर दिया जाता है। देसाउली ग्राम या कुल के निष्ठा में पूजा जाता है। यह गाँव की सुरक्षा प्रदान करने वाला एक अदृश्य शक्ति है, जिसका प्रथम, सेवक या पुजारी गाँव का नियुक्त किया हुआ दीउरी होता है। हो समुदाय के प्रत्येक गाँव में एक दिउरी (पुजारी) का चयन व नियुक्ति की जाती है, जो ग्राम अथवा कुल बोंगा-बुरूओं की सेवा में आदिवासी समुदाय के बनाये नियमों पर आधारित सादगीपूर्ण जीवन जीता है।

हो जनजाति के अन्य त्योहार भी आगे वर्णन किये जा रहे हैं—

(1) माघ पर्व अथवा देसौली बोंगा

यह पर्व माघ (जनवरी) में होता है जब कि भंडार घर धान से भरे होते हैं। कृषक साल भर की मेहनत के बाद अनाज देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं। इस समय मनुष्यों के मन में बुरे विचार आते हैं। नौकर अपने कर्तव्य भूल जाते हैं, बच्चे माता-पिता का आदर नहीं करते, पुरुष अपनी स्त्रियों का आदर नहीं करते, स्त्रियाँ अपने अच्छे स्वभाव छोड़ देती है।

इस सब के प्रायश्चित्त के लिए देसौली भूत को तीन मुरगा-मुरगी (एक मुरगा और दो मुर्गियों, जिन में से एक को काला होना चाहिये), पलास के कुछ फूल और चावल की बनी रोटी, और तिल के दाने चढ़ाये जाते हैं।

गाँव का पहान ही बलि और चढ़ावा देसौली भूत के लिए चढ़ाता है। यदि गाँव में पहान न हो तो गाँव का ऐसा बुजुर्ग जो पौराणिक कथाएँ जानता हो वह देसौली भूत से प्रार्थना करता है—'हे देसौली आत्मा! हमलोग नये साल में प्रवेश करने जा रहे हैं, बच्चों सहित हमको विपत्ति और बीमारी से बचा। हमें उचित वर्षा और फसल दे।'' किसी-किसी स्थान में मृतकों के लिए भी प्रार्थना की जाती है। इसके साथ दुष्टात्माएँ झुंड बनाकर आस-पास गाँव में घूमती हैं। इनसे छुटकारा पाने के लिए स्त्री, पुरुष और बच्चे हाथ में छड़ी लेकर भयंकर गीतों को गाते हुए, भयंकर चिल्लाते हुए तब तक गाँव के चारों ओर घूमते हैं, जब तक उन्हें विश्वास नहीं हो जाता कि दुष्टात्मायें वहाँ से भाग न गयी हों। उन्हें डराने के लिए नाक बजाते हैं।

इन धर्मविधियों के समाप्त होने पर खुलकर हंड़िया पीकर आनंद मनाते हैं।

सभी गाँव में एक ही दिन माघ पर्व से होकर अलग-अलग गाँवों में अलग-अलग तिथियों में तीन से चार दिन तक रहता है। गाँव के लड़के-लड़कियाँ अपने गाँव में पर्व मनाकर दूसरे गाँव चली जाती हैं, और वहाँ के लड़के-लड़कियों से गलत संबंध बना लेती हैं। यह अनैतिक लम्बा संबंध शादी से ही समाप्त होता है।

(2) **गहा बोंगा**

हो, बहा बोंगा कहते और मुंडा सरहूल कहते हैं। 'बहा' का अर्थ फूल होता है। जब सखुए के वृक्ष फूलों से लद जाते हैं तब यह पर्व मार्च अथवा अप्रैल में मनाया जाता है। हो और मुंडा इस पर्व को गाँव के संस्थापकों और संरक्षक देवताओं अथवा आत्माओं के आदर में मनाते हैं। उराँव संरक्षक आत्माओं को 'दरहा' कहते हैं। लड़के और लड़कियाँ टोकरियों में फूल तोड़कर उनसे माला बनाते हैं। फूलों को अपने जूड़ों में लगाते हैं, और घर भी सिंगारते हैं। प्रत्येक घर इन फूलों को चढ़ाकर एक मुरगे की बलि देता है। लड़के-लड़कियाँ चार दिनों तक नाचते -गाते हैं। हँड़िया का सेवन खूब होता है, परन्तु उनके बीच मर्यादा का उल्लंघन नहीं होता है।

गाँव की संस्थाओं के लिए सखुए का फूल चढ़ाया जाता है, यह उचित ही है, क्योंकि इसी समय साल वृक्षों को काटकर खेती लायक जमीन बनाते हैं।

(3) **डमुरई**

यह मई में मनाया जाता है, अथवा बीज बोते समय मनाते हैं। यह पर्व पूर्वजों की छाया और दूसरी आत्माओं के आदर में मनाया जाता है यदि ये संतुष्ट नहीं हुए तो बीज में अंकुर नहीं लगते हैं। एक बकरे और मुर्गे की बलि चढ़ाई जाती है।

(4) हेरो बोंगा

जून में मनाते हैं। मुंडारी इस पर्व को 'हरिहर' कहते हैं। यह पर्व ''देसौली'' और ''जहिर बुरही'' को संतुष्ट करने के लिए मनाया जाता है जिससे वे खुश होकर फसल पर आशिष दे। इस पर्व में प्रत्येक परिवार अपने खेत में 'भेलवा' गाड़ता है। साल वृक्ष के बीच पाहन द्वारा जो बलिदान चढ़ाया जाता है, उसमें भाग लेते हैं। एक मुरगा अथवा मुरगी, एक घड़ा हँड़िया आत्माओं को संतुष्ट करने के लिए चढ़ाया जाता है।

(5) **बहा टौली बोंगा**

जुलाई में मनाया जाता है। इस त्योहार की पूजा में प्रत्येक कृषक एक मुरगा अथवा मुर्गी की बलि देता है। कुछ रहस्यमय धर्मविधि के बाद मुरगे का पंख निकाल कर बाँस के फटन में घुसेड़ दियाजाता है और उस बाँस को धान खेत में गाड़ दिया जाता है। ऐसा नहीं करने पर लोगों का विश्वास है कि धान की फसल नहीं होगी। यह छोटानागपुर के कोल गाँवों में मनाया जाने वाला 'करमा' पर्व से संबंध रखता है, जहाँ 'होजा' नृत्य होता है इस नृत्य में सभी स्त्रियाँ घुटनों के बल गिरकर जमीन को मारती हैं, मानो ऐसा करने से जमीन उपजाऊ हो जायेगी। एक निश्चित दिन में करम डाली काटकर अखरा में गाड़ते हैं।

(6) **सिंगबोंगा-को पहली फसल के अनाज चढ़ाना**

अगस्त महीने में.जब गोड़ा धान पकता है, तब यह त्योहार मनाया जाता है। जब तक बलिदान पूरा नहीं होता, फसल नहीं खाते हैं। नयी फसल के साथ सफेद मुरगा भी सिंगबोंगा को चढ़ाया जाता है। यह पर्व एक प्रकार से परमात्मा को धन्यवाद देना है। यह 'नुम-नमा' कहा जाता है।

(7) फलम बोंगा

मुरगे की बलि को देने के साथ ही खलिहान से धान का पुआल भी अलग किया जाता है।

गाँव के पहान टैक्स फ्री (भुँइहरी जमीन) जमीन के लिए मरंग बुरू को बलि चढ़ाते हैं। प्रत्येक दूसरे वर्ष में मुरगा या मुरगी, प्रत्येक तीसरे वर्ष में एक भेड़ा और प्रत्येक चौथे वर्ष में एक भैंस की बलि मरंग बुरू के लिए चढ़ाते हैं। मुख्य उद्देश्य अच्छी वर्षा के लिए मरंग बुरू को बलि देकर खुश किया जाता है।

जनजातियों के बीच साल वृक्ष का महत्व

ऐसा समय ऐसा था कि झारखंड वनों से आच्छादित था। झारखंड के वनों में सखुए के वृक्ष बहुतायत में पाये जाते है। यहाँकी जनजातियों के लिए सखुआ पेड़ बड़ा महत्व रखता है।

सखुआ ही एक ऐसा वृक्ष है, जिसकी लकड़ी बहुत कीमती होती है। साल वृक्ष के प्रत्येक अवयव का प्रयोग समाज के अलग-अलग कार्यों में होता है। उदाहरण के लिए यदि हम देखें तो साल की पत्ती से खाने-पीने के लिए पत्तल बनाया जाता है। इस पत्तल का प्रयोग सभी सामाजिक और धार्मिक त्योहारों एवं समारोहों में किया जाता है। साल का पत्ता दूसरे-दूसर वृक्षों की तुलना में अधिक चिकना हुआ करता है, साथ ही औषधिपूर्ण होता है, जो लोगों के स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव डालता है। धार्मिक दृष्टिकोण से देखने पर यह कहा जा सकता है कि जब आदिवासी पाहन सरना स्थल पर पूजा अर्पित करता है, तब पूजा की जितनी सामग्रियाँ होती है, उन्हें साल की पत्तियों पर ही रखता है सरहूल के दिन जब पाहन सरना पूजा स्थल पर जाता है, तब कुछ दूर तक उन्हें कन्धे पर बैठाकर ले जाया जाता है। पर जब सरना पूजा स्थल पहुँचने लगता है तब उसे साल के बर्तनों पर पाँव रखते हुए चलना पड़ता है, क्योंकि आदिवासियों की सांकेतिक भाषा है कि अब ये एक पवित्र पुरुष हैं, जो पूजा करने वाले हैं, पूजा पूरे गाँव वालों के लिए अर्पित करते हैं, साथ ही साल वृक्ष के पत्तों पर चलकर आकाश और पृथ्वी के बीच के संबंध को दिखाते हैं।

शादी ब्याह में भी नयी वधू को गृह प्रवेश साल की पत्तियों से बने बर्तनों पर ही चलाकर किया जाता है। साल वृक्ष के फल का प्रयोग भोजन और औषधि दोनों रूप में किया जाता है। साल वृक्ष के लकड़ी का प्रयोग हल बनाने और खेती संबंधी सभी तरह केऔजार बनाने के लिए होता है। कुएँ से पेयजल निकालने के लिए भी इसकी लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। साल वृक्ष के धड़ से धुवन निकाला जाता है, जिसका उपयोग पूजा के समय किया जाता है, साथ ही घर को पवित्र और सुंगधित करने के काम में किया जाता है। सखुए के डंठल को दतवन के रूप में प्रयोग किया जाता है। शादी-व्याह के अवसर पर मेहमानों को सखुए ही का दतवन दिया जाता है। साल के फूल का उपयोग पहान, पूजा में लाता है जो समृद्धि का प्रतीक है।

पूजा के पूर्व संध्या पहान को और एक अनुष्ठान करना पड़ता है। पहान स्वयं एक घास का छोटा कुंबा (छोटा घर) बनाता है, जिसमें एक ही डाली में तीन टहनियाँ होती हैं। कुंबे को इस तरह बनाता है, जिसे देखने से लगता है कि एक छोटा सा घर है। उस छोटे से घर को पहले नहीं प्रयुक्त किये हुए

सफेद धागा से सात बार बाँधता है, जो सात दिशाओं का प्रतीक होता है। शाम के समय उस छोटे से घर के अंदर सात जगहों पर सफेद चावल रखता है और साथ में सफेद मुर्गा भी। सफेद वस्तुओं का प्रयोग आदिवासी अपनी उपासना या पूजा में सिर्फ परमात्मा सिंगबोंगा के लिए किया करते थे। शाम के समय सभी गाँव वाले घास से बने उस छोटे घर के पास एकत्र होते हैं, तब पहान सिंगबोंगा से अर्जी बिनती करता है और उस घर में आग लगाता है और जो एक डाली पर घर बनाकर रहता है, उस डाली को एकबार में काट डालता है जिसे धज काटना कहा जाता है, जिससे गाँववासी सभी तरह की बीमारियों और आपदाओं से सुरक्षित रहें और सब तरह की बुराइयों का विनाश हो।

पूजा के पहले दिन गाँव के पुरुष सदस्य जंगल शिकार करने के लिए जाते हैं, और वे जब शिकार से लौटते हैं, उस समय गाँव की कुँवारी और विवाहित महिताएँ उनका स्वागत करती हैं, और स्वागत के क्रम में नाचती जाती है। जंगल से लाये शिकार को पहान के लिए सौंप दिया जाता है। और उनके परिश्रम को सम्मान देने के लिए पहान वृद्ध पुरुषों और महिलाओं को हँड़िया का रसास्वादन कराता है।

सरहूल पूजा के दिन सूर्योदय के पूर्व सुबह ही तीन कुँवारियाँ कुएँ या झरने से स्वच्छ जल घड़े में भरकर, पहान के घर लाती हैं, उसी स्वच्छ जल से पहान और उसकी पत्नी को सांकेतिक स्नान कराया जाता है, ताकि आकाश और पृथ्वी दोनों का संबंध घनिष्ट हो। पहान को नया वस्त्र पहनाया जाता है। इसके बाद उसे सरहूल पूजा के लिए पूजा स्थल ''सरना'' लाया जाता है। पूजा समाप्ति पर उसे उसी तरह घर वापस भी पहुँचाया जाता है।

सरहूल आदिवासियों का सामाजिक एवं धार्मिक त्यौहार है, जो समाज के प्रत्येक सदस्य को एकता और प्रेम सूत्र में बाँधता है। लोग भाईचारे का निकट से अनुभव करते हैं। एक-दूसरे के साथ बैठने से एक दूसरे को अपना सुख-दुःख बाँटते हैं, वे एक दूसरे की आवश्यकताओं से अवगत होते हैं और अपने को उसके अनुकूल बनाते हैं, लोगों के सामाजिक जीवन को मजबूत बनाता है।

II. करमा

5. **करमा**— सभी जनजातियाँ करमा का पर्व मनाती हैं। करमा की कथा एवं विधि उराँव जनजाति के अनुसार वर्णन की जा रही है— आदिवासियों का त्यौहार किसी न किसी परम्परा एवं कहावतों से जुड़ा है। करम त्यौहार भी कुछ कहावतों एवं परम्पराओं से जुड़ा है।

यों तो करम त्योहार के विषय में अनेक कहावतें है, उसमें एक कहावत यह भी है कि किसी उराँव परिवार में सात भाई थे। सबसे बड़े का नाम धरमा और सबसे छोटे का नाम करमा था। वे सातों भाई 'मलंग' (बैल की लदनी) लादते हुए दूर-दूर तक व्यापार के लिए निकल जाते थे।

एक बार की बात है कि वे व्यापार करते-करते बहुत दूर निकल गये और काफी वर्षो तक इधर-उधर व्यापार करते रहे। बहुत वर्ष बीत जाने के बाद उनको घर लौटने की सुधि हुई और वे घर लौटने लगे। गाँव के करीब पहुँचने पर उन्हें गाँव में गाने बजाने की आवाज सुनाई देने लगी। सातों भाइयों की पत्नियाँ अपने -अपने पतियों के कर्म के अच्छे फल के लिए मनोकामना कर रहीं थी। करम की डाली को आँगन में गाड़ कर करम देवता को खुश करने के लिए उसके चारों ओर सातों भाई गाँव की कुछ दूरी पर रूक गये और सबसे छोटे भाई को कारण का पता लगाने के लिए भेज दिया।

छोटा भाई जब घर पहुँचा तो सातों गोतनियों को नाचते देख वह भी झूमने लगा और वापस भाईयों को खबर देना भूल गया। जब काफी समय बीत गया, फिर भी छोटा भाई वापस नहीं आया तब भाईयों ने उससे बड़े भाई को भेजा। वह भी जाकर नाचने गाने में मग्न हो गया। इस तरह एक-एक करके छः भाई चले गये, पर कोई वापस नहीं लौटा। इस पर बड़े भाई को बहुत गुस्सा आ गया। वह गुस्से से तमतमाते हुए पहुँचा और देखा कि सातों गोतनियाँ और छहों भाई नाचने गाने में मस्त हैं, तो उसका पारा सातवें आसमान पर पहुँच गया। वह डंडे से सबको पीटने लगा। उसकी मार से सब वहाँ से भाग खड़े हुए। इतने से भी उसका गुस्सा शान्त नही हुआ। वह करम की डाली को भी डंडे से मारने लगा और उसको टुकड़े-टुकड़े कर पैर से रौंद डाला। इस तरह करम की भारी बेइज्जती हो गई।

अन्त में किसी तरह सातों भाई अपनी पत्नियों के साथ दिन गुजारने लगे। लेकिन छह छोटे भाईयों के दिन बड़े मजे में बीतने लगे। बड़े भाई की दशा दिनों-दिन खराब होती चली गई। एक दिन यह भी स्थिति हो गई कि उसे खाने के लाले पड़ गये। अन्त में उसने महसूस किया कि बदहाली का कारण करम डाली की बेइज्जती करना है। करम देवता उससे रुष्ट हो गये हैं।

वह करम डाली की खोज में निकल पड़ा। चलते-चलते जब वह बहुत दूर निकल गया तक उसे भूख लगी। पास में एक पके बेर फलवाला वृक्ष देखा तो वह उधर ही लपक पड़ा। पर देखता क्या है कि उस फल में कीड़े भरे पड़े हैं। तब वह फिर भूखे प्यासे आगे बढ़ने लगा। रास्ते में थकावट के मारे उसे प्यास लगने लगी। सामने नदी को देखा तो उधर लपक पड़ा। पर निकट पहुँच कर देखता क्या है कि नदी का पानी भी बिल्कुल लाल है। तब वहाँ से भी वह प्यासे ही आगे बढ़ने लगा। थकावट, भूख प्यास के मारे उसे सुस्ताने की इच्छा हुई। सामने एक वृक्ष को देखा तो उसकी छाया की ओर लपका। वह देखता क्या है कि गाछ के नीचे काँटे और साँप बिच्छु भरे पड़े हैं। तब वह वहाँ से भी आगे बढ़ने लगा। इसी तरह अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए वह समुद्र के पास पहुँचा। वहाँ देखता क्या है कि समद्र के बीच मे एक करम का गाछ है। वह किसी तरह तैरता हुआ समुद्र के बीच पहुँचा और करम की डाली को तोड़कर घर की ओर लौटने लगा।

लौटते समय क्या देखता है कि उसी गाछ की छाया तले हरे घास उगे हुए हैं। उन हरे घासों में बैठकर पूरा विश्राम किया। आगे आने पर नदी का जल स्वच्छ पाया और पीया। आगे बढ़ने पर वही बेर का वृक्ष मिला। पके हुए फलों को तोड़ा। इस बार कीड़े फलों में नहीं थे। उसने मीठे बेर के फल खाये और खुशी-खुशी घर लौटा। करम की डाली को बड़े आदर से आँगन में गाड़ा। करम देवता की पूजा की और उसके चारों ओर पत्नी बच्चों के साथ नाचने गाने लगा। वह दिन भादो एकादशी था।

उसके इतना करने से करम देवता उससे बहुत प्रसन्न हो गया। कहा जाता है कि उसी समय से भादो एकादशी के दिन करम का यह त्योहार परम्परागत ढंग से मनाया जाता है।

खैर परम्परा जो भी हो लेकिन इस त्योहार के पीछे हमारी खेती-बारी को सुरक्षा एवं कुँवारी लड़कियों की रक्षा और उसका भविष्य छिपा हुआ है। करम का त्योहार हम दो तरह से मनाते हैं एक रइज करमा कहलाता है। और दूसरा-पेलो (लड़कियों का करम) करमा।

राइज करम में खेती बारी पूरा करने के बाद उसको बुरी नजर से बचाने के लिए खेत में

चिरचिटी (केऊंद) का डंठल, साथ में भेलवा डंठल (पत्ती के साथ) गाड़ते हैं। यह इसलिए करते हैं कि भेलवा के गंध (कल से जो रस निकलता है) से आँखें फूट जाती हैं, और चिरचिटी को जलाने से चिनगारी फूटती है और आँख में घुसने से जला देती है। इस तरह लोगों का विश्वास है कि खेती में बुरी नजर रखने से आँखें फूट जाये और हमारी खेती को कुछ नुकसान न हो।

पेलो (लड़कियों) करम अखाड़े में गाड़ने वाले करम से संबंध रखता है। कुँवारी लड़कियाँ अपने लिए उत्तम वर एवं विवाह के बाद स्वस्थ संतान के लिए करम देवता की पूजा अर्चना करती हैं। इसके लिए वे उपवास रखती हैं, और स्वस्थ संतान के प्रतीक के रूप में खीरा फल को बेटा मानकर,और चिवड़ा को बेटे की अंतड़ी मानकर करम डाली में स्थित देवता को चढ़ाती हैं।

विधि

तवा में बालू रखती हैं और उसमें भादो एकादशी के आठ या दस दिन पहले कुँवारी लड़कियाँ घड़े या तवा में मकई चाहे गेहूँ, चाहे जौ के दानों को डालती हैं। इसके बाद घड़े या तवे के मुख को बन्द कर देती हैं। आठ दिन में घड़े के भीतर ही अंकुर निकल कर बढ़ते हैं। सूर्य की किरणें नहीं मिलने के कारण अंकुर के पत्तों का रंग पीला होता है।

मान लिया कि भादो एकादशी कल है तो एकादशी की पूर्व सन्ध्या से ही गाँव की कुँवारी कन्याएँ उपवास करती हैं। अन्न छोड़कर पानी पी सकती हैं। दूसरे दिन दिनभर उपवास में रहती है। शाम को सभी उपवास की हुई लड़कियाँ लड़कों के साथ नाचती गाती करम की डाली लाने जाती हैं। करम की डाली पहले ही देखी हुई रहती हैं, इसलिए खोजना नहीं पड़ता है। कम से कम करम डाली काटने वाला लड़का उपवास में रहता है। वह एक-एक डाली को काटते हुए एक-एक कुँवारी लड़की (जो उपवास में हो) को देता है। तीन लड़कियाँ करम डाली को हाथ में लेती हैं। करम की डाली जो जमीन से निकल कर बढ़ रही हो, ऐसी होनी चाहिये।

करम डाली काटने से पहले खखरा फूल, जंटगी फूल कुँवारी लड़कियाँ तोड़कर साड़ी के पल्लू में बाँधती हैं।

करम डाली और फूलों को साथ लेकर नाचते गाते लड़के-लडकियाँ अखाड़े में पहुँचती हैं। गाँव का मुख्य व्यक्ति जो करम डाली को गाड़ेगा उसके छत में रात भर रख देता है।

दूसरे दिन कन्याएँ अभी तक उपवास में ही रहती हैं। जिस दाने को आठ दिन पहले घड़े में रखे हुए बालू में रखा था, वही अंकुरित हो गया। घड़े का ढक्कन बन्द होने के कारण मकई, जौ का अंकुर पीला हो जाता है। इसी अंकुर को जवा फूल कहते हैं। कन्याएँ इसी जवा फूल को जूड़े में लगाकर छत से करम डाली को लाने जाती है। लाते समय गाँव का मुख्य भी उनके साथ अखाड़ा आता है। अखाड़े में गाँव की भीड़ जुटती है। मुख्य व्यक्ति तीनों डालियों को अखाड़े में गाड़ता है। इसके बाद करम-दौरा, डाली के चारों ओर रखा जाता है। दौरे में चिवड़ा, खीरा फूल एवं जंटगी फूल रखा रहता है। जिस लड़की की शादी होने वाली रहती है, उसी के ससुराल वाले जो करम दौरा लाते हैं, वही दौरा करम डाली के नीचे रखा जाता है।

इसके बाद पाहन या तो मुख्य व्यक्ति उपरोक्त करम कथा कहता है। कुँवारी लड़कियाँ लाये

गये खखरा एवं जंटगी फूल, अखाड़े में आये हुए व्यक्तियों के लिए बाँटती है। कथा के बीच में कथावाचक जोर से कहता है। ''पलटो''। इतना सुनते ही अखाड़े में बैठे सभी लोग, कुँवारी कन्याओं से प्राप्त खखरा एवं जटंगी फूल को करम डाली की ओर फेंकते हैं ऐसा तीन बार होता है। कथावाचक के तीन बार ''पलटो'' कहने से तीन बार उपस्थित लोग करम डाली की ओर फूल फेंकते हैं।

कथा समाप्त होने के बाद अखाड़े में उपस्थित सभी बाल-बच्चे, स्त्री पुरुष कुँवारी लड़के लड़कियाँ नाचते हैं। इसके बाद जिनके यहाँ करम गाड़ा था, वही पाहन अथवा गाँव का मुख्य करम डाली उखाड़ कर उपवास की हुई तीन लड़कियों को एक-एक डाली सौंपता है। जवा फूल लगाकर लड़कियाँ और लड़के, मान्दर, नगाड़ा घंट बजाते हुए घर-घर करम की डाली को घुमाके है। प्रत्येक घर में करम डाली में सिंदूर टीका दिया जाता है, और नाचने वाले लड़के-लड़कियों को चावल की बनी 'पौआ रोटी' या 'छिरका रोटी' देते हैं। सब घर घूमने के बाद लड़के-लड़कियाँ गीत गाते करम डाली को पास की नदी में बहाने ले जाते हैं।

गाना इस प्रकार है—

(1) करम करम गड़ाले हो संवारो-2
करम का दिन कैसे आवय-2
आषाढ़ सावन दिन चली गेलैं-2
भादो महीना करम गाड़य-2

(2) सातो भाई सातो करम गड़ाय
सातो गोतनी सेवा कारय-2
भैया जे मन्दर टांगे बैनी जे चंवर बाँधे
डंडा पोटरी भूँइया लोरय-2

यदि नदी की धारा पूर्व से पच्छिम की ओर है तो पूर्व की ओर मुंह करके करम की डालियों को बहा देते हैं। दोनों हाथों से डालियों को पकड़ कर पीठ की ओर फेंकना होता है। घर-घर से प्राप्त रोटियों को खाकर उपवास तोड़ते हैं। नाचते गाते लौटते हैं। खान-पान घर-घर होता है। शाम को अखाड़े में फिर नाचते हैं। इस प्रकार पेलो करम मनाया जाता है।

3. सोहराई पर्व

सभी जनजातियाँ इसे मानते हें, यह कार्तिक अमावस्या को मनाया जाता है इसे लक्ष्मी पूजा भी कहते हैं। आदिवासी जीविका के लिए खेती पर निर्भर करते हैं। गाय बैलों के बिना खेती नहीं हो सकती है। इसीलिए गाय-बैल, भैंस-भैंसा, भेड़-बकरियाँ आदि मवेशी ही इनकी लक्ष्मी हैं, और आदिवासी इन्हीं की पूजा करता है।

घर का मालिक तीन नये दीयों में करंज अथवा कुजरी तेल भरता है। घर के बरामदे में पूर्व की ओर मुँह करके मन्त्र बुदबुदाते हुए तीनों दीयों से थोड़ा-थोड़ा तेल भूमि पर गिराता है-''हे परिवार

के पूर्वजो। आप लोग हमारी लक्ष्मियों अर्थात् गाय, बैल, भैस-भैंसा, भेड़-बकरियों की रक्षा कीजिये। हे लक्ष्मियो! पूर्व-पश्चिम उत्तर, दक्षिण, जिधर से भी आवें उन्हें ठोकर न लगे, पैर में काँटे न गड़ें जिधर से भी आवे हकन्दते (बाँ) हुए आवें, किसी की नजर न लगे, हर प्रकार की बीमारियों से रक्षा कीजिये।

घर का पिता दो दीयों के तेल को दूसरे नये दीयों में थोड़ा-थोड़ा डालता है। तीसरे दीये के तेल को चरवाहे के लिए देता है। चरवाहा उस तेल से प्रत्येक जानवर के सींग में तेल लगाता है। गोहार घर में सर्वप्रथम दीया जलाया जाता है। इसके बाद घर के प्रत्येक कमरों, आंगन, हल जुआठ रखने के स्थान में यहाँ तक कि घर के समीप के वृक्षों के नीचे भी दीये जलाये जाते हैं।

चरवाहे लोग रात भर नाचते -गाते हैं। नाचते हुए प्रत्येक के घर जाते हैं। प्रत्येक परिवार उन्हें कुछ चावल देता है। इस रात चरवाहे किसी के यहाँ से पपीता, कद्दू, कोहड़ा आदि कुछ भी सब्जियाँ उठा सकते हैं। दूसरे दिन चरवाहा मवेशियों को चराने ले जाता है। गोहार की विशेष सफाई होती है।

गोहार पूजा

उराँव जनजाति के अनुसार गोहार पूजा की विधि प्रस्तुत की जा रही है। परन्तु प्राय: सभी जनजातियों के गोहार पूजा करने की विधि और प्रार्थना भी समान है।

गोहार घर (मवेशियों के रहने के घर) में तीन ढेले रखे जाते हैं। ढेले के ऊपर पिसे चावल को चुलाया जाता है। ढेलों के पास बेल के पते, अरवा चावल, धूप धुवन, खपड़े में आग रखी जाती है। तीन विभिन्न रंगों के मुर्गो को लाते हैं। उन मुर्गों के सिर के ऊपर अरवा चावल के दानों को गिराते हैं।

जब मुरगे दाना चुगने लगते हैं तो छुरी से उनके गलों को काटकर, रक्त निकालकर, रक्त को ढेलों के उपर चुलाया जाता और हँड़िये का तपावन (हँडिया का रस) चुलाया जाता है। रक्त तपावन चुलाते समय घर का मुखिया निम्नलिखित मन्त्र कहता है—

हे मेरे घर में पूर्वजों आप लोग आज यहाँ आकर हमारे लक्ष्मियों की रक्षा कीजिये। ये हमारी लक्ष्मियाँ उत्तर से, दक्षिण से, पूर्व से, पश्चिम से रंभाते हुए अथवा में -में करते आयें। उन पर किसी की नजर न लगे, काँटे उनके पैर में न गड़े और वे नीरोग रहें। इस मन्त्र को सभी जनजातियाँ अपनी-अपनी भाषा में कहती हैं।

मंत्र कहने के बाद मुरगों के सिर एवं टाँगों को सखुए के पत्तों में रखकर बन्द करते हैं और आग में पकाते हैं। इसके बाद वहाँ उपस्थित पुरुष सदस्यों को हँड़िया के साथ प्रसाद के रूप में मुरगों के पकाये गये सिर, टाँग और कलेजियों को बाँटा जाता है। उस दिन विशेष रूप से उरद या अरहर को भाँपते हैं। यह जानवरों का विशेष भोजन ''कुहड़ी'' कहा जाता है। इस कुहड़ी, को भी प्रसाद के रूप में सखुए के पत्तों में उपस्थित पुरुष सदस्यों को दिया जाता है।

चरवाहे मवेशियों को चराकर गोहार-घर में घुसाते हैं। चरवाहे का मवेशियों के सिर और पूरे शरीर में मलने के लिए करंज का तेल दिया जाता है। मवेशियों को तेल मलने के बाद मवेशियों को कुहड़ी

(भाँफा गया उरद या अरहर) दिया जाता है। उनके सींगों में माला पहनाया जाता है।

चरवाहों को एक-एक घर में बुलाकर उन्हें बड़ी थाली में हँड़िया पानी पीने को देते हैं। इसे छप्पर पिलाना कहते हैं। दोनों चरवाहों को मवेशियों की तरह झुक के हँड़िया पीना पड़ता है। पीते समय वे मवेशियों जैसे एक दूसरे के शरीर को ढकेलते हैं। चरवाहों के पैर धोकर तेल लगाये जाते हैं। उनकी वार्षिक मजदूरी दी जाती है, क्योंकि आज के ही दिन उनका वर्ष समाप्त होता है। दोपहर का खाना खाने के बाद वे फिर मवेशियों को चराने ले जाते हैं। जब मवेशी चरते हैं तो घर-घर जमा किये गये चावल ओर सब्जियों को पकाकर खाते हैं। इस प्रकार जंगल में मंगल मनाते हैं।

4. नयाखानी

सभी जन जातियाँ इस त्योहार को विशेष रूप से मनाती हैं। पहली फसल को घर लाने के बाद खाने से पहले, धर्मेस, सिंगबोंगा को फसल के लिए धन्यवाद देते हैं। हँड़िया, चूड़ा-गुड़ का इन्तजाम करते हैं। अपनी विवाहित बेटियों, और इष्ट कुटुम्ब को निमन्त्रण देते हैं।

संथालियों के त्योहार

संथाल जनजाति के जीवन में पर्व त्योहार का विशेष महत्व है। सभी त्योहारों को सामूहिक तौर पर मनाये जाने की परम्परा है। गाँव का नायके (पुजारी) गाँव के सभी लोगों की ओर से व्रत रखता है, और पूजा-अर्चना करता है। उत्सव मनाने के सिलसिले में आयोजित नाच-गान में सभी संथाल पुरुष और महिलायें समान रूप से हिस्सा लेते हैं। इनके त्योहार आषाढ़ महीने से प्रारंभ होते हैं। इनके पर्व निम्नलिखित हैं—

(1) **एरोक पर्व**

यह पर्व आषाढ़ माह में मनाया जाता है। इस अवसर पर गाँव के जाहेरथान में देवी-देवताओं के नाम से मुर्गी की बलि दी जाती है, तथा भली-भाँति बीज के उगने के लिए प्रार्थना की जाती है। एरोक पर्व के अवसर पर लोगों के बीच खिचड़ी का प्रसाद वितरित किया जाता है।

(2) **हरियाड़ पर्व**

सावन मास में धान की फसल में हरितिया आ जाने पर यह पर्व मनाया जाता है। इस पर्व में अच्छी फसल के लिए प्रार्थना की जाती है।

(3) **जापाड़ पर्व**

यह पर्व अगहन माह में मनाया जाता है। इस अवसर पर 'जाहेरथान' में सूअर की बलि चढ़ायी जाती है, तथा खेत खलिहानों की अभिवृद्धि के लिए प्रार्थना की जाती है।

(4) **सोहराय पर्व**

यह पर्व पूस माह में धान की फसल की कटाई के बाद मनाया जाता है। यह संथालों का सब से बड़ा त्योहार है। इस समय धान की नयी फसल घर में आने के उपलक्ष्य में 'देवी देवताओं' पितरों तथा गोधन की पूजा अर्चना की जाती है, तथा सगे संबंधियों का सम्मान किया जाता है। यह पर्व पाँच दिनों तक मनाया जाता है। पर्व के पहले दिन गाँव के बड़े बूढ़े नायके के साथ स्नान कर 'जाहेर एरा' तथा गोधन का आहवान करते हैं। इस अवसर पर एक मुर्गे की बलि तथा हँड़िया चढ़ाये जाते हैं तथा

कोई बीमारी तथा आपसी कलह न होने की मन्नत माँगी जाती है। इस अवसर पर गाँव के माँझी द्वारा सोहराय पर्व मनाने के लिए सबकी सहमति प्राप्त कर ली जाती है तथा गाँव के युवक-युवतियों को जोग माँझी द्वारा सोहराय पर्व मनाने के लिए सह सहमति प्राप्त की ली जाती है। गाँव के युवक-युवतियों को जोग माँझी के नेतृत्व में नाचने तथा हँसने-बोलने की स्वंतत्रता प्रदान की जाती है। रात्रि में संथाल युवक-युवती का दल गाँव के प्रत्येक के यहाँ गो पूजा के लिए जाता है। पूर्व के दूसरे दिन गोहार पूजा की जाती है। इस अवसर पर गोहार घर (जानवरों का निवास स्थान) साफ कर सजाया जाता है तथा जानवरों के पैर धोये जाते हैं। उसकी सींगों पर तेल-सिन्दूर लगाया जाता है। पितरों तथा देवी-देवताओं के नाम मुर्गे या सूअर की बलि दी जाती है तथा हँड़िया चढ़ाया जाता है। पर्व के तीसरे दिन गाँव के माँझी से लेकर साधारण गृहस्थ तक अपने-अपने बैलों या भैसों को धान की बालों, मालाओं इत्यादि से सजाकर खूँटते हैं तथा वाद्य यन्त्रों के साथ उन्हें भड़काते हुए घंटे-दो-घंटे तक नाचते कूदते हैं। फिर गाय, बैल और भैसों को खोलकर गोहार घर में ले जाते हैं तथा हँड़िया पीने को देते हैं। पर्व के चौथे दिन गाँव के युवक युवतियों का दल प्रत्येक गृहस्थ के यहाँ नाच गाकर थोड़ा सा चावल दाल, नमक तथा मसाले एकत्रित करता है तथा पाँचवें दिन जोग माँझी की निगरानी में इन एकत्रित चीजों की खिचड़ी तैयार की जाती है तथा सहभोज का आयोजन किया जाता है। इस अवसर पर हँड़िया भी ढाली जाती है तथा युवक-युवतियों को हँसने-गाने की स्वतंत्रता वापस ले जाती है और पर्व का समापन होता है।

साकरात

सोहराय के पश्चात् संथाल जनजाति द्वारा पूस महीने के अंतिम दिनों में साकरात का पर्व मनाते हैं। यह दो दिनों का पर्व है। पहले दिन गाँव के इर्द-गिर्द मछलियों, केंकड़ों या चूहों का, तथा दूसरे दिन किसी जंगली पशु-पक्षियों का शिकार किया जाता है। जिसके गोश्त का भोग पकवान तथा हँड़िया के साथ 'मारांग-बुरू' एवं पितरों को लगाया जाता है, तथा परिवार की कुशलता के लिए प्रार्थना की जाती है।

भाग सिम

यह पर्व माघ महीने में मनाया जाता है। इस उपलक्ष्य में किसी तालाब के किनारे देवी-देवताओं के नाम मुर्गी की बलि दी जाती है। इस अवसर पर गाँव के ओहदेदारों को अगले एक वर्ष के लिए अपने-अपने ओहदे की स्वीकृति दी जाती है, परन्तु यह रिवाज अब खत्म होता जा रहा है।

बाहा

फाल्गुन माह में साल वृक्ष पर फूल आते ही मनाया जाने वाला यह पर्व संथालों का दूसरा बड़ा पर्व है। यह पर्व मुंडा तथा उराँव के सरहूल के समान है। वास्तव में यह पर्व संथालों का वसंतोत्सव है। यह तीन दिनों का त्योहार है। इस पर्व के पहले दिन गाँव का नायके, स्नान तथा भोजन में पवित्रता का पालन करता है। दूसरे दिन 'जाहेरथान' के देवी देवताओं की पूजा अर्चना की जाती है तथा इस अवसर पर हँड़िया, महुआ, तथा सखुआ के फूलों की भेंट तथा मुर्गियों की बलि चढ़ाई जाती है। खिचड़ी भी पकाई जाती है। लोगों में प्रसाद वितरित किये जाते हैं तथा गाँव की कुशलता के लिए देवी-देवताओं से प्रार्थना की जाती है। नाच-गान का भी आयोजन होता है। पर्व के तीसरे दिन नायके का पैर प्रत्येक

गृहस्थ के द्वार पर धोया जाता है बदले में नायक के प्रत्येक गृहस्थ को साल की मंजरियों का गुच्छा देता है। इसके बाद शुद्ध जल की होती खेली जाती है। लोग एक-दूसरे पर पानी का बौछार डालकर बैर-द्वैष को भूल जाते हैं। हँसी-मजाक के रिश्तों के अनुसार पानी से भींगने-भिंगाने की धमा चौकड़ी शाम तक चलती रहती है।

बन्धना पूर्व

यह त्योहार चैत या बैसाख महीने में मनाया जाता है। इस अवसर पर सभी देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती है, तथा उन्हें बलि चढ़ाई जाती है। इस त्योहार की खुशी में लोग मित्रों तथा सगे सम्बन्धियों के साथ एक सप्ताह या उससे अधिक दिनों तक पीकर नाचते-गाते तथा खुशी मनाते हैं।

इस प्रकार संथाल जनजाति के पर्व प्रकृति, कृषि तथा अलौकिक शक्तियों से संबंधित हैं। यही कारण है कि इनके पर्वों का समय कृषि आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित किये जाते हैं।

सौरिया पहाड़िया जनजाति के पर्व

कृषि पर आधारित पर्व

सौरिया पहाड़िया जनजाति के बीच 'देवी-देवताओं को वर्ष का नया अन्न चढ़ाना' त्योहार के रूप में मनाया जाता है। वे मकई की फसल काटने पर ''गांगि आड़या'', घंघरा की फसल होने पर ''ओसरा आड़या'' तथा बाजरे की फसल काटने पर ''पुनु आड़या'' मानते हैं। भादो माह में गांगि आड़या मनाये जाने की प्रथा है। यह पर्व पूरे गाँव की ओर से मनाया जाता है। इस अवसर पर जाहेर थान में चाल गोसाईं स्थान में कोतवार द्वारा एक बकरा तथा दो मुर्गो की बलि दी जाती है, जिसके बाद प्रत्येक परिवार में मृत स्थापित पूर्वजों को जो चूल्हे के पास होते हैं, एक मुर्गी की बलि दी जाती है। इस पूजा के बाद मकई को भोजन के रूप में प्रयोग किया जाता है। कार्तिक मास में ''ओंरसा आड़िया'' प्रत्येक सौरिया परिवार द्वारा मनाया जाता है। इस अवसर पर परिवार का मुखिया दिवगंत पूर्वजों को मुर्गे की बलि चढ़ाता है। जिसके बाद परिवार के सदस्यों द्वारा घंघरा भोजन के रूप में स्वीकार किया जाता है।

धर्म आधारित पर्व

पूस माह में ''पुनु आड़सा'' जाहेरथान में चाल गोसाई स्थान में मनाया जाता है। इस अवसर पर गाँव का कोतवार गोसाईं को एक बकरे की बलि देता है, तत्पश्चात् गाँव के सभी परिवार अलग-अलग पूजा किया करते हैं। परिवार के मुखिया द्वारा इस पूजा के अवसर पर दिवंगत पूर्वजों को मुर्गी की बलि चढ़ायी जाती है। इसके बाद लोग बाजरे को खाना प्रारंभ करते हैं।

इस जनजाति के लोग सलियानी पूजा भी करते हैं, जो माघ या चैत महीने में की जाती है। इस समय कोतवार द्वारा कान्दी गोसाईं को एक बकरा, एक सूअर तथा मुर्गी की बलि चढ़ाई जाती है। प्रत्येक 6 वर्ष पर कान्दे गोसाई को एक भैंसे की बलि चढ़ाने की प्रथा है, जिसे कर्रा पूजा कहते हैं। धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में सौरिया पहाड़िया महिलाओं की प्रायः कोई सहभागिता नहीं होती है।

बिरजिया जनजाति के पर्व त्योहार

	पर्व	समय
1.	राइज करम	भादो एकादशी में
2.	सोहराई	कार्तिक अमावस्या में
3.	राईज खखज करम	अगहन में
4.	फगुवा	बैसााख जेठ में
5.	सरहुल	बैसाख जेठ में
6.	आसाढ़ी पूजा	आषाढ़ में

राइज करम

यह पर्व उराँव, मुंडा, खड़िया जनजातियों के समान भादो महीने की एकादशी रात में मनाया जाता है। इस पर्व को लोग बहुत धूम-धाम से मानाते हैं। एकादशी की शाम को कुँवारे लड़कों के द्वारा अखाड़े में तीन करम की डालियाँ, सीधा (वृक्ष) की डाली और धवई की डाली गाड़ी जाती है, लेकिन मुख्य करम ही की डालियाँ होती हैं। बैगा (मुख्य पहान) करम की डाली में सात पूआ रोटी टाँग देता हैं और हँड़िया एवं रंगुआ (लाल) मुर्गे की बलि देकर पूजा करता है। करमा और धरमा दो भाइयों की कहानी बताई जाती है (कहानी विस्तार से उराँवों के करम पर्व में बताई गई है)। इसमें एकादशी के दिन कुँआरी लड़कियाँ उपवास करती हैं, और अखाड़े में करम की पूजा करती हैं। वहाँ बैगा द्वारा पूजा कराया जाता है। यह भाई-बहन का पर्व है। पूजा करने के बाद रातभर खा-पीकर अखाड़े में नाच गाना होता है। सुबह सात-आठ बजे के बाद कुँआरा लड़के लड़कियाँ मिलकर सभी डालियों को उठाते हैं। बड़े बूढ़े स्त्री पुरुष भी खा पीकर नाचते हैं। दूसरे दिन बासी परब में भी खा-पीकर मस्त रहते हैं। यह खास कर कुँआरी लड़कियों का पर्व है। इसमें सभी को नया वस्त्र होना चाहिये, अगर सभी का नहीं हो सका, तो भी कुँवारी ल्ड़कियों को तो अवश्य मिलता है।

सोहराई

यह पर्व अन्य आदिवासियों के समान कार्तिक अमावस्या को मनाया जाता है। अमावस्या के पहले से ही अपने-अपने घरों को लीप-पोत कर साफ करते हैं। यह लक्ष्मी का पर्व है इसलिए सोहराई के पाँच या सात शाम पहले से ही रोज शाम को जानवरों के सींग में तेल डाला जाता है। अरन्डी पता और भेलवा की टहनी हरएक बिरजिया अपने-अपने घर के खपड़े के अन्दर लगाते हैं, जिसको अरन्डी "फारना" कहते हैं, और रात भर खाना-पीना करके बाद में नाच-गान किया जाता है। सोहराई के दूसरे दिन गाय-बैल को सुबह ही सींग में तेल लगा कर चराने ले जाते हैं, और करीब ग्यारह बजे चराकर एवं जानवरों को धोकर घर लाते हैं और घर में लक्ष्मी की पूजा की जाती है। गोशाले में मुर्गे और सूअर के बच्चे की बलि दी जाती है। पूजा में धूप और सिन्दूर वगैरह होता है। पूजा करने के बाद आनन्द से खाते-पीते और जानवरों को फूल वगैरह से सजाते हैं और उरद् मकई और अरहर को भाँप के खिलाते हैं। प्रत्येक गाय-बैल को हँड़िया बना कर थोड़ा-थोड़ा पिलाते हैं। जानवरों को खिलाने के बाद सब कोई मिलजुलकर खाते-पीते और नाच-गान करते हैं। दूसरे दिन सभी कुँवारे चरवाहे अपने-अपने घर से

चावल, दाल, हल्दी, तेल, मुर्गा हो सके तो खस्सी और सूअर भी लेकर अपने-अपने गाय-बैल को जंगल तरफ चराने ले जाते हैं और उधर ही सभी कोई मिलकर पिकनिक मनाते हैं। जिसको अपनी भाषा में दाशा-माशा कहते हैं। खाने-पीने के बाद शाम को अपने-अपने बैल लेकर वापस लौट आते हैं। इस तरह से सोहराई पर्व खत्म हो जाता है।

राइज खरवज करम

यह पर्व अगहन और पूस महीने के अन्दर मनाया जाता है। बैगा, पर्व की तिथि निश्चित करता है। इसलिए सभी गाँवों में एक दिन नहीं होकर अलग-अलग दिन में मनाया जाता है।

पर्व के एक दिन पहले नेग मनाते हैं। इस दिन शिकार करके गाँव के पुरुष जंगल जाते हैं, और मछली पकड़ने तालाब या नदी जाते हैं। उस दिन वृक्ष की कोई भी डाली या दतवन नहीं तोड़ते हैं। रात में बैगा अपने सहायकों बेसरा और धावक के साथ मिल कर सब के घर में नया घड़ा और लोटे में पानी लेकर थोड़ा-थोड़ा छिड़क देते हैं, जिसको आशिष पानी के नाम से जाना जाता है। रात में ही खेत जाकर केंकड़े द्वारा कोड़ी हुई मिट्टी लाकर महादेव और पार्वती की मूर्ति बनाते हैं, और रात में ही सरना में ले जाकर पूजा कर अखाड़े में सूप में उठाकर लाते हैं, और पाँच छह गाँव के लड़का-लड़की सभी मिलजुलकर रात भर अखाड़े में नाच-गान करते हैं। चूँकि यह पर्व सिमानी तौर पर होता है, इसलिए दूसरे-दूसरे गाँव के लोग भी आकर गाँव में नाच गान में शरीक होकर खुशियाँ मनाते हैं। सुबह तक लोग नाच-गान करते रहते हैं तब अपने-अपने घर वापस लौट जाते हैं। बैगा फिर अपने सहयोगियों के साथ मिलकर सबके घर में शाम के चार बजे करीब आशीष-पानी छींटते हैं, इसके बाद यह पर्व खत्म हो जाता है।

फगुवा

यह पर्व फागुन महीने के अंत में पूर्णिमा के दिन मनाया जाता है। इसके पहले दिन जंगल में पुरुष लोग शिकार खेलते एवं मछली पकड़ने जाते हैं। शिकार खेलकर लौटने पर सभी कुँआरे लड़के कच्चे सेमल को (बिना फूल वाला) जड़ से काटते हैं। काटते समय उसको जमीन पर गिरने नहीं देते हैं, परन्तु उठाकर दो सेमल को होलिका दहन के स्थन पर गाड़ते हैं और फूस इत्यादि काटकर सेमल के ऊपर देते है। होलिका के नाम से होली के दिन पुआल का फूल चारों तरफ बाँधते हैं। उसके बाद कुँआरा लड़का पाँच बार सेमल के चारों ओर घूमकर उसमें आग लगा देता है। उस समय राम, सीता, लक्ष्मण आदि रामायण जैसा गाना गाया जाता है। उसके बाद दूसरे दिन सभी परिवार अपने घर, के भीतर रंगुआ मुर्गे की पूजा करते हैं। कही-कहीं छोटे सूअर की भी बलि दी जाती है। इसके बाद हंड़िया-दारू, खाते-पीते है, और कुँवारे-लड़के-लड़कियाँ एवं बड़े लोग भी मिलकर अबीर रंग खेलते हैं। इस पर्व में सब के घर में करीब-करीब पुआ रोटी पकती है, जिसे स्वयं खाते ओर मित्रों के परिवारों को भी देते हैं।

सरहूल

यह पर्व वैशाख या जेठ महीने के बीच में मनाया जाता है। इसमें भी बैगा द्वारा दिन ठहराया जाता है जैसे तृतीया सप्तमी। अतः प्रत्येक गाँव का सरहूल अलग-अलग दिन में होता है। सरहूल के

तीन चार दिन पहले ही गाँव के पुरुष लोग शिकार खेलने जंगल जाते है, और नदी नालों में मछली पकड़ने चले जाते है, और पूजा के दिन कच्ची लकड़ी, पत्ता, दतवन इत्यादि तोड़ना सख्त मना है। अगर कोई तोड़ना है तो उससे जुर्माना लिया जाता है। बैगा, बेसरा और धावक मिलकर प्रत्येक का मुख्य पुरुष सरना (पूजा स्थल) जाता है। पूजा स्थल या सरना में पाँच, सात, ग्यारह सखुवे के वृक्ष होते हैं। अन्य वृक्ष भी वहाँ होते हैं, परन्तु सखुवे के वृक्ष मुख्य होते हैं। इसमें बीच वाले पेड़ के नीचे काला बकरा, पाँच, मुर्गा, तीन मुर्गियाँ और दो छोटे सूअर की बलि दी जाती है। साल वृक्ष के चारों ओर एक सौ इकयावन (151) बार सादा अरवा धागा लपेटते हैं और पूजा करते हैं। औरतें बाद में हँड़िया सीधा, चावल, तेल नमक आदि लेकर (पूजा-स्थल) सरना में आती है। बैगा अपने रीति रिवाज के अनुसार पूजा-पाठ करके गुंदली के चावल को शाल वृक्ष के नीचे सिर झुकाकर, सिर के ऊपर से पीछे की ओर औरतों को अन्न प्रसाद के रूप में खिलाती है।

सरना में पूजा करने के बाद बैगा (पहान) को कन्धे में उठाकर एवं बैगी (बैगा की पत्नी) को भी महिलायें अपनी पीठ में बाँध कर बेसरा के यहाँ ले जाते है। उसके बाद सरहुल नाच-गान में भी गाँव के अगल-बगल गाँव वाले व्यक्ति शामिल होते हैं। सुबह दूसरे-दूसरे गाँव वाले मेहमानी खा-पीकर अपने अपने घर चले जाते हैं। शाम को बैगा पुनः सब के घर में आशिष पानी छिड़कता है।

आषाढ़ी पूजा

यह पूजा प्रकृति या धरती माँ की पूजा कहलाती है। यह आषाढ़ महीने में होती है। खेती के पहले अपने-अपने घर में सफेद एवं काला मुर्गा चराकर पूजा करते हैं। यानी मुर्गे की बलि देकर खेती-बारी का काम शुरू करते हैं। मुर्गे के साथ हँड़िया भी चढ़ाया जाता है। यह एक तरह की घरेलू पूजा है, जो कि सब के घर विश्वास है कि इससे खेती अच्छी होगी और प्राकृतिक विपदायें नहीं आयेंगी। इनके गाने त्योहार के अनुसार अलग-अलग होते हैं जो अलग-अलग राग और लय से गाये जाते हैं।

IV टोटेम (गणचिन्ह) और प्रतिबन्ध (Taboo)

सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग जे लॉन ने 1791 में उत्तरी अमेरिका के लिए किया था। होबल के अनुसार 'टोटम' एक पदार्थ , प्रायः एक पशु अथवा एक पौधा है, जिसके प्रति एक सामाजिक समूह के सदस्य विशेष श्रद्धाभाव रखते हैं, तथा जो यह अनुभव करते हैं कि उनके तथा टोटेम के मध्य भावनात्मक समानता का एक विशिष्ट संबंध है। जेम्स फेज का कथन है कि इसका गोत्र से घनिष्ठ संबंध है। गोल्डन बीजर के शब्दों में गोत्रों में विभाजित अनेक जनजातियों में गोत्र का नाम एक पशु पौधा अथवा एक प्राकृतिक पदार्थ से लिया गया है तथा गोत्र के सदस्य इन पशुओं अथवा वस्तुओं के प्रति विशिष्ट मनोभाव रखते हैं, जिसे नृतत्वविज्ञानवेत्ता 'टोटम' कहते हैं।

पृथ्वी के बहुत से भागों में कुछ ऐसे कबीले हैं, जो अपने पूर्वजों का संबंध किसी पशु, पौधे या अन्य वस्तुओं से बताते हैं। इस प्रकार के संबंध को भी टोटेमवाद कहा जाता है। कहीं-कहीं पर लोगों का विश्वास है कि वे लोग उन्हीं टोटेम की सन्तान हैं। अमेरिका के उत्तरी किनारे के रहने वालों का विचार है कि उनके पूर्वजों में से किसी व्यक्ति को उस टोटेम का एक विभिन्न, प्रकार का अनुभव हुआ था। हर टोटेम के साथ कुछ निषेध और प्रतिबन्ध (Taboo) भी होते हैं। साधारणतः उस टोटेम पर

विश्वास रखने वालों को अपने टोटेम को मारने, हानि पहुँचाने या किसी प्रकार की बेइज्जती करने से रोका जाता है। इस संबंध में अधिकांश प्रतिबन्ध और निषेध है। इसी प्रकार भारत में भी बहुत से ऐसे कबीले हैं, जो अपना संबंध विभिन्न पशुओं, पौधों तथा अन्य वस्तुओं से बताते हैं। भारत के अतिरिक्त अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के अन्य भागों में भी टोटेम का रिवाज है।

हर्बट रिजले द्वारा भारत का एथनोग्राफिक सर्वे हुआ था, उसके द्वारा यह ज्ञात हुआ कि संतालों में लगभग एक सौ से अधिक ऐसे ऐसे गोत्र है, जिनका विश्वास भिन्न-भिन्न प्रकार के टोटेमों पर है। इसी प्रकार हो और मुंडा लोग भी अधिकांश वाह्य वैवाहिक गोत्रों में विभाजित हैं।

1. **टोटेमवाद** (Totemism)

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने टोटेमवाद की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से दी है। हर स्कोविट्स के अनुसार ''टोटेमवाद की परिभाषा भिन्न-भिन्न प्रकार से दी गयी है। हर -स्कोविट्स के अनुसार ''टोटेमवाद उस विश्वास या धारणा को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी मानव-समुदाय का पेड़-पौघों, पशुओं या कभी-कभी किसी प्राकृतिक घटना के साथ दैवी सम्बन्ध माना जाता है।''

इसी प्रकार Notes on Querries on Anthropology में टोटेमवाद की परिभाषा इस प्रकार की गई है :''टोटेमवाद ऐसे सामाजिक संगठन तथा जादू, वंश, धर्म-संबंधी व्यवहार का नाम है, जिसके द्वारा कोई जनजाति अपना गोत्र या वंश, किसी जीवित या अजीवित वस्तु से जोड़ लेती हैं।''("The term totem is used for a form of social organisationes and magicoreligious practies, of which the central feature is the association of certain groups (clanor lineages) within a tribe with certain classes of animate or inanimate things

टोटेमवाद की उत्पत्ति के विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। फ्रेजर का कहना है कि विभिन्न जनजातियों ने आपस में तयकर लिया था कि कौन समूह किन-किन पशुओं तथा फलों को खायेगा और उनका उपभोग करेगा। इस प्रकार एक गोत्र के क्षेत्र को दूसरा गोत्र नष्ट नहीं कर सकता था। इस आर्थिक विभाजन का परिणाम हुआ कि भिन्न-भिन्न गोत्रों से भिन्न-भिन्न प्रकार के पशु पक्षी तथा पेड़ पौधों का संबंध स्थापित हो गया। धीरे-धीरे जिस गोत्र के भाग में जो पशु पक्षी या पेड़ आया, उसी को उसने चिन्ह या टोटेम मान लिया।

टायलर का मत है कि आदिकालीन मनुष्य का ऐसा विचार था कि मृत्यु के बाद उसकी आत्मा किसी पशु, पक्षी या वृक्ष में चली जाती है अैर इस प्रकार वहाँ रहकर परिवार को लाभ पहुँचाती है। इसी कारण जनजातियाँ अपने पूर्वजों की पशु पक्षी या वृक्ष के रूप में पूजा करती हैं। एक प्रकार से टोटेमवाद को हम पूर्वज पूजा का एक पूर्व रूप कह सकते हैं।

टोटेमवाद के साथ निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं।

(1) साधारणतः किसी टोटेम पर विश्वास रखने वाले उसी टोटेम के नाम से पुकारे जाते हैं।

(2) टोटेम के संबंध को स्पष्ट करनेवाली पौराणिक कहानियाँ होती हैं। इन कहानियों द्वारा यह बात मालूम होती है कि उस कबीले का संबंध उस टोटेम के साथ कब और कैसे हुआ। हो, मुंडा

और संताल लोगों में ऐसी कहानियाँ प्रचलित हैं, जिसके द्वारा पता लगता है कि कैसे टोटेम ने उसके पूर्वजों की सहायता की थी। 'पन्दुबिंग' गोत्र की सृष्टि इसी प्रकार बताई जाती है। एक तमरिया स्त्री किसी नदी में स्नान करने और पानी लाने को जा रही थी। उसके छोटे बच्चे को देखने वाला कोई नहीं था। किन्तु वापस आने पर उसने देखा कि एक साँप (पन्दुबिंग) अपना फण बच्चे के ऊपर फैलाकर उसकी रक्षा कर रहा है। इसलिए उस बच्चे के परिवार के सारे लोग और संतान नाग गुष्टि-गोत्र (Nag gushticlan) कहे जाते हैं।

(3) साधारणतः एक टोटेम के साथ कुछ धार्मिक विधियाँ भी सम्बन्धित होती हैं। आस्ट्रेलिया के आदिवासियों में ये अधिक प्रचलित हैं।

(4) इस प्रकार की धार्मिक विधियों के संबंध में उस टोटेम को मारना या उसको खाना खराब समझा जाता है। सच तो यह है कि उस टोटेम की पवित्रता पर लोगों को इतना विश्वास होता है कि वे ऐसा करना एक प्रकार का पाप समझते हैं।

(5) टोटेम को मानने वाले आमतौर पर गोत्र होते हैं। उस टोटेम के कारण उनमें बड़ी घनिष्ठता उत्पन्न हो जाती है। इसलिए सारे गोत्र के लोग एक दूसरे का बड़ा सम्मान करते हैं। यही कारण है कि गोत्रों के सदस्य आपस में विवाह नहीं करते। उनका विवाह हमेशा दूसरे गोत्रों में होता है। इसलिए उन्हें बहिः वैवाहिक गोत्र कहा जाता है।

(6) टोटेमवादी गोत्र साधारणतः अपने टोटेम के आदर में किसी बड़े बाँस (pole) या किसी प्रकार का चित्र बना देते हैं।

इस संबंध में गोडन वाइजर का विचार अधिक विचारणीय है। उसका कहना है कि भिन्न-भिन्न जनजातियों के विभिन्न रूप से टोटेम के विचार की उत्पत्ति हुई। फिर भी इसके दो मुख्य कारण माने जा सकते हैं: एक धार्मिक तथा दूसरा सामाजिक। धार्मिक कारण तो यह है कि आदिकालीन जनजातियाँ विभिन्न पशु-पक्षियों तथा वृक्षों में अति प्राकृतिक आध्यात्मिक शक्ति को मानकर उसकी पूजा करती थीं। सामाजिक कारण यह है कि किसी जनजाति के किसी पूर्वज को किसी वस्तु, पशु, पक्षी या वृक्ष से कोई विभित्र घटना घटी। उस वस्तु ने उस पूर्वज की सहायता की या उसकी सुरक्षा की। जैसे, किसी गोत्र का पूर्वज सो रहा था, एक सर्प आया, उसने उस पर अपना फण फैला दिया, किन्तु उसे काटा नहीं। इस घटना को लेकर उस गोत्र में साँप की पूजा शुरू हो गई, साँप उस गोत्र का रक्षक समझा जाने लगा और गोत्र का टोटेम बन गया।

स्थानीय विभिन्नताओं के कारण टोटेमवाद की सही परिभाषा देना बड़ा कठिन काम है। विभिन्न मानव-वैज्ञानिकों ने इसकी परिभाषा भिन्न-भिन्न रूप में की है, किन्तु किसी की परिभाषा इतनी पर्याप्त नहीं है, जो टोटेमवाद की सारी विशेषताओं को व्यक्त कर सके। इस संबंध में जे. एफ. मैकलेनन पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने टोटेमवाद के सामाजिक महत्त्व को समझा और इसे एक महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था बताया। भारत में बहुत से कबीले ऐसे भी हैं, जो टोटेम के आधार पर संगठित हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं, पौधों और वस्तुओं को पवित्र मानते हैं। ये कबीले उन टोटेमों के संबंध में कई प्रकार के निषेध का भी विचार करते हैं। भारत में तो कुछ उच्च जातियाँ भी विभिन्न वस्तुओं

जैसे नदियों, झरनों, गौ, शेर, बन्दर का आदर करती हैं।

ए. सी. हडड्न के अनुसार दुनिया में ऐसी बहुत सी जातियाँ और कबीले हैं, जिनका जीवन भिन्न-भिन्न प्रकार के पशुओं और पौधों पर निर्भर करते हैं। धीरे-धीरे ये लोग उन्हीं वस्तुओं के नाम से पुकारे जाने लगे। दुरखाइम (Durkheim) के अनुसार टोटेमवाद धार्मिक जीवन का पहला रूप है। उनके अनुसार टोटेम समाज का सामूहिक रूप है। ई. बी. टायलर ने बताया कि टोटेमवाद एक प्रकार की पूर्वज पूजा है। इसने बताया कि मरने के बाद मनुष्य की आत्मा अधिक शक्तिशाली हो जाती है। उसकी आत्मा शरीर से छुटकारा पा लेने के बाद ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है। टायलर के शब्दों में 'सोल' (soul) आगे चलकर स्पिरिट (spirit) का रूप धारण कर लेती है। यही कारण है कि लोग अपने पूर्वजों की पूजा किया करते हैं। टायलर के अनुसार आदिवासियों ने जानदार और बेजान वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं समझा। इसलिए उन्होंने हर चीज में 'स्पिरिट'' को मान लिया। इस प्रकार टोटेमवाद और धर्म में संबंध है।

परन्तु धर्म और टोटेम में कोई संबंध नहीं है। यही कारण है कि भारतीय आदिवासियों का अध्ययन करने के बाद रिजले ने बताया कि टोटेम का धार्मिक पक्ष वर्तमान काल में मौजूद नहीं है, किन्तु इसका सामाजिक महत्व आज भी है।

2. आदिवासी और उसका गोत्र

इसकी चर्चा ऊपर हुई कि गोत्र जिसको अंग्रेजी में टोटेम कहते हैं, हर देश के जाति में किसी रूप में पाया जाता है। मानव समाज में किसी रूप में पाया जाता है। मानव समाज में गोत्र की उत्पत्ति और उसकी व्यवसायिक उपयुक्तता के संबंध में भिन्न-भिन्न विचार होंगे। किसी का गोत्र किसी देश में जमीन, जगह, नदी या पहाड़ के नाम पर होता है तो किसी देश में सूरज, हवा, चन्द्रमा और तारों के नाम पर। किसी देश में गोत्र महीनों, ओर दिनों के नाम पर तो कहीं पेशा के आधार पर। किसी देश में वहाँ के पाये जाने वाले जानवर, चिड़िया, पौधा और फूल के नाम पर। इसी तरह छोटानागपुर के मुंडा, उराँव, खड़िया, संताल हो इत्यादि आदिवासियों के गोत्र वहाँ पाये जाने वाले जानवर, चिड़िया, मछली, साँप, पेड़-पौधे, फल-फूल, पत्थर और धातु पर रखे गये हैं। गोत्र अलग-अलग परिवार का पहचान प्रतीक है। उदाहरण के लिए मुंडा, उराँव, खड़िया, संताल के गोत्र इस प्रकार हैं :—

1. जानवर के नाम पर गोत्र-लकड़ा, किड़ो, कुला, रूंडा, बरवा, भेंगरा, गाड़ी, सोदोम आदि।

2. चिड़ियों के नाम पर गोत्र— केरकेट्टा, राना, खाखा, कोन, तिरकी, बेसरा, टोप्पो, टेटे, गीध, ठिठियो, तिड़, ढेंचुआ आदि।

3. मछली और अन्य जल जन्तु पर— मिंज, आइंद, डुंगडुंग, किंडो, हेमरोम, एक्का, कच्छप आदि।

4. साँप चींटी के नाम पर— नाग, हुरहुरिया, चेरमाको, देमता आदि।

इस तरह कुछ गोत्र मुंडा उराँव और खड़िया में एक ही रूप और अर्थ के पाये जायेंगे। जैसे-तिरकी, बरला या केरकेट्टा। कुछ गोत्र तीन चार आदिवासी जाति में मिलेंगे पर अपनी मातृभाषा में जैसे— लकड़ा, कुला, किड़ो, रूंडा, इसी तरह बेक और बिलुंग।

3. गोत्र का धार्मिक और सामाजिक महत्त्व

आस्ट्रेलिया मे खासकर वहाँ के आदिवासियों के बीच उनके गोत्र के साथ उनका धार्मिक विश्वास जुड़ा है। वहाँ गोत्र के साथ उसकी धार्मिक आस्था और भावनाएँ उनके जीवन में प्रमुख अंग है।

लोगों का विश्वास है कि गोत्र वाले जानवर, पक्षी, पौधे या फूल के छोटे अंश थे, उसकी आकृति बनाकर अपने शारीरिक अंग में साथ रखने से वे हर भावी संकट से सुरक्षित रहेंगे। जैसे कंगारू जानवर या एमू पक्षी का चित्र पेट या पीठ पर रंगीन चित्र बना लेंगे या चेहरे पर रंग चढ़ा लेंगे और महसूस करेंगे कि वे कभी भी घूमते-फिरते रहें, एक देवी शक्ति जो गोत्र में निहित है, उनकी रक्षा करती रहती है।

छोटानागपुर के आदिवासियों में गोत्र सामाजिक व्यवस्था और विधि को कायम रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गोत्र परिवार की ईकाई और पहचान को कायम रखता है। पुरुषों ने इसी कारण संभवत: हर परिवार के लिए आरंभ में भिन्न-भिन्न गोत्र को निश्चित किया, ताकि भविष्य में पीढ़ी दर पीढ़ी उसी सुनिश्चित गोत्र के आधार पर अपनी पहचान कायम रखे यह भी जाने कि भले उस गोत्र के परिवार वालों की संख्या हजारों में बढ़ जाये और दुनिया के किसी भाग में भी फैल जाए, यह हरदम महसूस करे कि उनके एक पारिवारिक पुरखे रहे हैं और एक गोत्र वाले आपस में भाई बहन हैं। इस आत्मीयता की भावना के साथ एक महत्वपूर्ण तथ्य जुड़ा हुआ है। आदिवासी पुरखों ने भाई-बहन के रिश्ते को पवित्र माना है। इसी कारण किसी भी पीढ़ी के एक गोत्र के लड़के और लड़की के बीच शादी के रिश्ते को वर्जित मानते हैं, क्योंकि एक गोत्र होना ही भाई-बहन होना साबित करता है, भले ही वे सभी भाई-बहन न हों। आदिवासी पुरखों ने अपने वंश को यह भी सिखाया है कि माँ-बाप के खून एक हैं तो उनके वंश में कहीं न कहीं कभी बच्चा अपंग होगा या उसमें मानसिक विकास या कमजोरी जन्मजात आएगी। चूंकि एक गोत्र वाले एक परिवार के माने जाते हैं, एक ही खून हैं, और आपस में वे भाई-बहन हैं, उनमें आपसी रिश्तों या किसी तरह का यौन संबंध अपवित्र है, पाप है, आदिवासी समाज में कलंक है। पुरखों ने यह भी बात रखी है कि आदिवासी समाज को शुद्ध और कायम रखना है तो शादी रिश्ता अपनी जाति और समाज के अन्तर्गत ही हो किन्तु अपने गोत्र के बाहर ही (Marriage inside caste but outside gotar) एक उराँव लड़का उसका गोत्र टोप्पो है एक उराँव लड़की से ही शादी करेगा, पर लड़की का गोत्र टोप्पो न हो, बदले में कोई भी अन्य उराँव गोत्र की ही हो, जैसे एक्का, मिंज, लकड़ा आदि। इसी तरह मुंडा, खड़िया, संताल, हो आदिवासी समाज में भी गोत्र सामाजिक नियम का आधार है। अन्य जाति के लड़का या लड़की से शादी करना अपने समाज के लिए हानिकारक माना गया है, यह आदिवासी पुरखों से परम्परागत चला आ रहा है। अगर इस नियम को आदिवासी पुरखे कायम न रखते तो आज तक में आदिवासी, आर्य और अन्य गैर आदिवासी समाज में मिलकर मटियामेट हो जाते। आदिवासी पुरखों ने अपनी आनेवाली पीढ़ी को अपने ढंग से मौसमी गाने में चेतावनी दी है।

अंग्रेजी राज्य के साथ आयी पश्चिमी सभ्यता और साथ-साथ ईसाई मजहब के नये विचारों ने आदिवासियों में, खास कर ईसाई आदिवासियों में परम्परागत आदिवासी सामाजिक नियम को जो ऊपर कथित शादी संबंध में है, न केवल तोड़ दिया, किन्तु साथ-साथ आदिवासी संस्कृति शिक्षित वर्ग में और

अधिकतर ईसाई आदिवासियों में अन्तरजातीय विवाह और अन्तर युवक-युवती के बीच विवाह संस्कार ईसाई पुरोहित के पुण्य कर कमलों से सम्पन्न हो रहे हें। इस तरह की छूट न केवल आदिवासी समाज पर आघात है किन्तु ईसाई धर्म में अनावश्यक उदारवादी विचार के साथ न समझ अवसरवादी कमजोरी का लक्षण है

गोत्र पर आघात

गोत्र पर आघात आदिवासी समाज की पहचान पर क्रूर आक्रमण है। यह कई प्रकार से हो रहा है। छोटा सा उदाहरण लीजिये— 'तिरकी' गोत्र को मुम्बई में मराठी गोत्र 'तिड़के' का रूप दे दिया गया है। जब जनाब तिरकी दिल्ली पंजाब पहुँचे तो तिरकी को पंजाबी गोत्र 'तिरखा' लिखने, पुकारने लगे वहाँ के लोग टोप्पो को जाट गोत्र 'टोपास' कहने लगे। जब इस तरह की हरकतें सामने आती हैं, अपने गोत्र का असली अर्थ और उच्चारण की रक्षा करना हमारा फर्ज है। कभी-कभी स्वयं नये विचार के नवशिक्षित अंग्रेजीपस्त युवक अपने गोत्र को खुद इस तरह मरोड़ कर लिखते और उच्चारण करते हैं ताकि युरोपियन नाम को जोरदार रूप ले पायें, जैसे एक्का के बदले 'एकस' (Echas) बेक के बदले बेख (Beeh)। शायद अंग्रेजी ही इसका जिम्मेदार है। पर यदि गोत्र जो आदिवासी भाषा में कुछ अर्थ विशेष पर है, उसको हिन्दी या संस्कृत भाषा में बदल कर एक आदिवासी, पंड़ितों की जमात में कच्छप से कश्यप बन कर जा बैठे, और बिल्कुल ही अपना आदिवासी गोत्र त्याग कर पंकज-दयाल, शर्मा, वर्मा गोत्र अपना ले तो क्या होगा? आज पैसा, ओहदा, इज्जत के लिए अपने गोत्र के नाबुझ लोग खाद गढ़ा में फेंकने को तैयार हो जाते हैं। अंग्रेजी ने तो आदिवासियों के गोत्र एक ही झटके में उड़ा दिया जब उन्होंने जनगणना रिपोर्ट बनाया। अपना काम आसान बनाने के लिए नाम के साथ गोत्र न लिखकर जात का नाम लिखना आरंभ किया, जैसे सुकरा उराँव, मंगरा मुंडा, बंधु खड़िया आदि पहचान के लिए वल्द और साकिन मौजा गाँव भी लिखना पड़ा

जब मिशनरी आये— आदिवासी ईसाईयों में ईसाई संतों के नाम के साथ गोत्र डालने का प्रयास चला। किन्तु गैर ईसाई आदिवासी भाइयों में 'भगत' नाम गोत्र की जगह ले लिया। पहान, पुजारी, नेगा नाम भी आने लगा। नाम के साथ जैसे दूसरों के लिए एतवा लोहरा, रघु कुम्हार आदि। ईसाई नाम के साथ गोत्र के पुनः प्रचलन की प्रतिक्रिया में गैर ईसाई, उराँव भाईयों में 'भगत' शब्द को भारी संख्या में गोत्र की जगह अपनाने लगे। संभवतः टाना भगत आन्दोलन के प्रभाव में आकर ऐसा हुआ।

4. उराँव जनजाति के गोत्र

गोत्र	अर्थ
एक्का	कछुआ
एड़गो	चुहिया
कीन्दा	खजूर
किन्डो	एक तरह की पतली मछली
इन्दुवार	एक प्रकार की मछली

किस्पोट्टा	सुअर का पोटा (आँत)
कुदा/ कंदा	कंद
कुजूर	लता में फलने वाला फूल, मुंजनी भी कहते हैं
कुहु/कोयल	कोयल पक्षी
केओंद	न्एक प्रकार की पक्षी
केरकेटा	एक प्रकार का पक्षी
केथी	एक प्रकार का फल केथा
कोकरी	मुर्गा
खाखा	कौआ
खलखो	पोठी जैसी एक मछली
खुसार	उल्लू, पक्षी
खेस	धान,
खेता/नाम	नाग साँप
खोया	छाटी जात की सियार या ख़िख़िर
गाड़ी	रोरी नाम पेड़ जो लाल रोएंदार होता है।
गड़वा	कंकी बगुला
गेड़े	बतक
गोदो	मगर मछली
गीध/गिद्ध	गिद्ध पक्षी
चिगालो,सिकटा/ कएकटा	सियार
चिडरा	गिलहरी
चेरमाको	चौंरिया, बहुत संख्या में रहने वाला चूहा।
चेलेकचेला	खुखड़ी
जुब्बी	जोभी
टोप्पो	एक प्रकार की पक्षी जो अगहन महीने में विशेष रूप से निकलती है।
ढेचुआ	एक प्रकार की चिड़िया
तिग्गा	बन्दर
तिरकी	एक प्रकार की पक्षी

नाग	नाग साँप
नीमा	घुमा साग
पन्ना	लोहा
पुतरी	एक प्रकार का पेड़
बकुला	बगुला
बरवा	जगली कुत्ता चीता
बरहा	जंगली सूअर
बघवार	बाघ
बड़ा/ बरला	बट वृक्ष
बासा	एक प्रकार का पेड़
बंधा/संदहा	बाँध
बन्डो	जंगली बिल्ली
बिनको	तारा
बेक	नमक
बेंग	मेंढक
मिंज	साँपाकार मछली
मुंजनी	एक प्रकार की लता
रावना	बड़ा गिद्ध या कन्हर
रून्डा	वन विलार
लकड़ा	जंगलों में रहने वाला खतरनाक बाघ
लिंडा	एक प्रकार की मछली
साल	एक प्रकार की मछली
हलमान	हनुमान
हुरहुरिया	विष विहीन साँप

5. मुंडा जाति के किली या गोत्र

''किली'' कुल या वंश की संज्ञा है जो उसके किसी मूल पुरुष के साथ होती है। मुंडा परंपरा से चलती आई है कि किली के सब अंग या व्यक्ति एक ही पुरखे की संतति हैं। यह वंश धारा भी पितृपक्ष है, अर्थात संतान में पिता की ही किली चलती है माता की नहीं। गोत्र, टोटम नहीं है। टोटेम कोई जानवर पौधा या 'चीज संबंधित है।

गोत्र	अर्थ
आईन्द	मछली, खड़िया में डुंगडुंग
ओड़ेया	काली जंगली पक्षी
कन्डीर	आध मन खाने वाला
सेता कन्डीर	गलती से कुत्ता को हरिण समझ कर खाने वाला।
कन्डुलना	कुसुम पेड़ या फल
कमल	कमल फूल
कंकल	कुम्हार या बिरनी जो मिट्टी से घर बनाता है।
कुजुरी/कुजूर	एक प्रकार की आरोही लता, जिसके फल से तेल निकाला जाता है।
कुडु	शूकर
कुदा/ कुदा दआ	जामून पानी
कुला	बाघ
कुसार-खुसार	डल्लू पक्षी
केरकेट्टा	छोटी चिड़िया जो झाड़ियों में फुदकती है।
केट	केट की आवाज करती है।
कोनगाड़ी	सफेद कौआ
कोड़ीयार/कौरिया	सीपी चुनने वाली
कौआ	काली पक्षी
गुड़िया	पेड़, अराटून पेड़
गाड़ी	बड़ा बन्दर
चैरिया	खेत में रहने वाला चूहा
चेलेकचेला	खुखड़ी
चोरेया	एक प्रकार का चूहा
जागदेव	हाथी
जोजो	इमली
टिड़	एक जवान भैंसा
टुटी	एकप्रकार का अन्न
टेड़ो:	मक्कड़बघा
डाँग-डहँगा	लम्बा पतला डांग
डाँगवार	लम्बा पतला डांग
डेचुआ	एक काली चिड़िया जो चरते हुए जावनर के साथ रहती है

डोडराय	गाछ के तले का बड़ा छेद
तरईबाः	गुलाबी फूलों का पौधा
बिरसेता	जंगली कुत्ता या बरवा
तड़ेबा	एक फूल
तिरकी	भूरे रंग का छोटा, कपोत
तिलमिंग	तिल
तिवान, तुयु	सियार
तिडु	जंगली कन्द या छोटा तगड़ा भैंसा
तिरूंग	मधुमक्खियों को खाने वाली पक्षी
तेरोम	छोटी मधुमक्खी
तोपनो, देमता	पेड़ पर की लाल चींटी
दुदुमुल/तिरकी	जंगल की एक पक्षी
धान/धनवार	एक प्रकार का पौधा जिसमें धान होता है।
नाग	नाग साँप
नागवंशि	नाग के वंश का
निशा	नशीला पेय
नील	बैल
पुर्ति	सिम
एंगा पुर्ति	मुर्गी
संडि पुर्ति	मुर्गा
चुटु पुर्ति	चूहा
चुसद् पुर्ति	झाड़ी
हसा पुर्ति	साग
होलोंग पुर्ति	रोटी, आटा
कलि पुर्ति	बहरा
लुपुः पुर्ति	भूसा
बगउरिया/ बगडिया	बगेरी
बगियार	बाघ
बन्डा, रूण्डा	बन विकार
बरजो	कुसुम का फल
बरला	बड़ का वृक्ष
बरलंगा	बाँस

बले	मंगरी मछली
बल मुचु	मंगरी मछली पहड़ने वाला जाल (पिंचड़ा)
बागे/ बघे/ बधि	बाघ
बाबा	धान
बारी	फुलवारी
बारू	कुसुम पेड़
बिन्डा	नेठो
लंग बोदरा	मक्खी माननपे वाली पक्षी
रम्बड़ा बोदरा	उरद दाल
टेबो बोदरा	टेबो गाँव के आस-पास के बांदरा लोग
बुढ़	पेड़
बुदु	छोटी मछली
हुरहुरिया	विष विहीन साँप
हेमरोम	एक लसोड़ पेड़
हेरेंज	एक प्रकार की चिड़िया
चेंडे	बतासी पक्षी
होरो	कछुआ
होलोंग	रोटी
बिलूंग, बुलूंग	नमक
बेंगड़ा	बैगन
भालू	भालू
भांवरा	बड़ा मधुमक्खी
भेंगरा	जिन्होंने घोड़े का मास खाया
भेंगराज	एक चिड़िया
मड़की	कर वसूल करने वाला
मुरुम	छोटा पत्थर (रूगड़ी)
मूंस	छोटा बड़ा चूहा
मुंडु	धान बाँधने वाला मेढ़ जो जलकर खत्म हो गया।
मुन्दीरी, मुन्दुरी	लोहा का गोलाकार जो बाजारों में लगाया जाता है।
महुकल	पक्षी
मामा-भागिना	गाँव का नाम
रून्डा/ बन्डो	वन विलार
लिन्डा घास	छोटी मछली

लुगुन	मधुरस
संगा	कन्द
संडिल	पक्षी
समद	एक प्रकार की पक्षी
साल	सखुआ
सिंग	सिंग
सिंदुर	टिका सिंदुर
सिरका	एक छोटा पेड़
सुरीन	मक्खी पकड़ने वाला लाल पक्षी।
सोय	सड़ा हुआ।
हँस	हँस चिड़िया
हँसदा	पानी में रहने वाला हंस

(6) हो जाति के कई गोत्र पाये जाते है, जिसे 'किली' कहते है। किली का नाम किसी पशु पौधा या दूसरी वस्तु के नाम पर आधारित होता है—

1. आंगरिया	2. बोदरा	3. बारला	4. बांकरी
5. वानसिंह	6. बारजोआ	7. मुंडरी बोदरा	8. हाई बुरू बोदरा
9. दोराई बुरू बोदरा	10. सराअ: जो बोदरा	11. बीरूआ	12. बीरूउली
13. बन्डरा	14. गागराई	15. चेरा गागराई	16. होओड; गागराई
17. तोरोएज गागराई	18. कारसी गागराई	19. पुरती	20. होलोड; पुरती
21. तोरोएज पुर्ती	22. बालमुचु	23. हेम्बरोम	24. चम्पिया
25. दीगी	26. दीगी चम्पिया	27. सिजुई	28. सुन्डी
29. समाड	30. दोंगो	31. आलडा	32. सिंकु
33. लागुरी	34. पींगुवा	35. जोजो	36. हेसा
37. डागिंल	38. कराई	39. जेराई	40. सुम्बरूई
41. होन हगा	42. तमसुम	43. चाकी	44. ओमोड्गा
45. चतोम्बा	46. चातार	47. गुईया	48. मारला
49. गुन्डीया	50. बोयपाई	51. सावैया	52. जोंको
53. हासदा:	54. कुदादअ:	55. सोय	56. जामुदा
57. टुन्टीया	58. कोन्डांगकेर	59. नागुरी	60. देवगम
61. कान्डेयोङ्ग	62. गोलुईया	63. इचागुटु	64. लामाय
65. बागे	66. उगुर सन्डी	67. त्रीया	68. बारी
60. करवा	70. कोड़ा	71. गोड़सोरा	72. सिरका
73. चोड़ा	74. सुरिन	75. मुंडारी	76. लेउड़गी

77. बोबोङ्गा

(7) खड़िया जाति के गोत्र

खड़िया जाति की तीन उपजातियाँ है, दूध, ढेलकी और साबर या एरेंगा इनमें दूध खड़िया बहुत ही अधिक शिक्षित और उन्नतिशील है।

दूध खड़िया लोगों कें मूलतः नौ गोत्र है

1. डुड डुड — मछली साँपाकार
2. कुल्लू — कछुआ
3. सोरेड़ — पत्थर चटटान और टुकु से भिन्न
4. बिलुड़ — नमक रासायनिक खाद्य नामक
5. किड़ो — जंगलों में रहने वाला खतरनाक किस्म का बाघ।
6. केरकेट्टा — आश्विन माह में अधिकतर दिखाई देने वाले पक्षी
7. बा — धान नाम फसल
8. टेटेबेहोंज — टिटिहरी पक्षी
9. टोः पो — पक्षी एक प्रकार का जो अगहन महीने में अधिकतर निकालती है

ढेलकी खिड़याओं के निम्न गोत्र हैं

1. मुरू/ कुल्लू — कच्छुआ
2. सोरेंग/सोरेन — पत्थर
3. समद/ बागे — पक्षी
4. बरलिहा — एक प्रकार का फल
5. चारहद/चारहा — एक प्रकार का पक्षी
6. हाँसदा/ डुंगडुंग — साँपाकार मछली
7. मैल/ किरो — बाघ
8. तोपनो — एक प्रकार की पक्षी
9. बरला/धनवार — बाघ
10. इंदवार — मछली
11. बघवार — बाघ
12. बागे/तिर्की — पक्षी
13. नोनवार — नमक

एरेंगा खड़ियाओं के गोत्र

1. गुलगु — मगर मछली
2. भुईया — मछली

3. जारू — चूहा
4. बाघया — एक प्रकार का कन्द
5. तेसा — पक्षी
6. हेमरोम — सुपारी

डुङ डुङ, सोरेङ, और बिलुङ को लोग डुंगडुंग, सोरेंग और बिलुंग लिखते हैं जो गलत माना जाता है। फिर किड़ो को भी लोग किरो लिखते हैं जो गलत है। इसी तरह केरके: टा और टो:पो को भी अन्य जातियों की तरह केरकेट्टा और टोप्पो लिखते हैं, जो खड़िया लोगों के लिए गलत है।

खड़िया गोत्र कथा की उत्पत्ति

कहा जाता है कि प्रारंभिक खड़िया माँ -बाप, लोक कथा के प्रसिद्ध भाई-बहन के नौ बेटे थे और शायद उतनी ही संख्या में बेटियाँ भी थीं। ये लड़के प्रतिदिन शिकार खेलने जाते थे क्योंकि वे आखेट युग में थे। एक बार उन्होंने दो-तीन दिन जंगल में ही बिता दिया, लेकिन उन्हें कुछ हाथ नहीं लगा। अंत में एक हिरण हाथ लगा। उन्हें खूब जोर की प्यास लगी। उन्हें बहुत कोशिश के बाद पानी का पता भी लगा और बारी-बारी जाकर पानी पीने का निश्चय किया। पानी पीते समय हर किसी को अलग-अलग चीजें और जीव जन्तु ऊपर लिखे गोत्र मिले। सबों ने अपनी-अपनी कहानी एक दूसरे को सुनाई और हिरण का अपना-अपना हिस्सा ढोकर घर लौट आए। घर आकर उन्होंने अपनी-अपनी गठरी खोली तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही, क्योंकि हर एक की गठरी में वही चीज मिली जिसे उस व्यक्ति विशेष ने पानी पीते समय पाया था। इस आश्चर्यजनक बात को देखकर उन्होंने अपने माँ-बाप को पानी पीते समय की कहानी कह सुनाई। उनके माँ-बाप ने उनसे कहा-कि अब से तुममें से हर एक जन को उसी चीज अथवा जीव के नाम से पुकारा जाएगा जिसे उस व्यक्ति विशेष ने पानी पीते समय देखा था और जिसकी गठरी में वही चीज मिली थी। इस तरह आदि खड़िया परिवार विभिन्न गोत्रों में विभाजित हो गया।

कुछ लोग हिरण के मांस की जगह बालू की गठरी की बात करते हैं, लेकिन इन गठरियों का परिणाम एक ही होता है अर्थात बालू की जगह गठरियों के ऊपर लिखित चीजें प्राप्त होती है।

संथाल जाति

संतालियों के गोत्र भी अन्य आदिवासी जातियों मे गोत्रों की तरह चीज, वस्तु, पशु, पक्षी जानवर आदि से सम्पर्क रखता है।

1. मुरमू, मुर्मू
2. हंसदा
3. मरान्डी
4. सोरेन
5. हेम्बरोम
6. टुडू
7. किस्कू
8. बास्के
9. बेसरा
10. चोंडे
11. गेन्डुवार
12. पौरिया

अध्याय 5

आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का समन्वय

आर्य जाति के गौरव का शंखनाद करने वाले पुराविदों ने उत्तर भारतवर्ष में सभ्यता की रश्मियों का प्रवेश आर्यो के आगमन के साथ माना है (कीथ, ए. बी. रिलिजन एण्ड फिलोसाँफी आव दि वेद, भाग 1, 1625 पृ. 10) उनके अनुसार भारतीय संस्कृति में जो कुछ है, वह आर्य जाति की देन है। किन्तु सिन्ध तथा पंजाब की हड़प्पा संस्कृति के प्रकाशन के पश्चात् सप्त-सैन्धव में आर्यो का प्रवेश एक सभ्य प्रदेश में बर्बर जाति का आगमन प्रतीत होता है (पिंगट, एस. प्रिहिस्टोरिक इंडिया पृ. 256-58)। इसलिए यह बात अब स्वीकृत होने लगी है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनार्यो का योग विशेषरूप से गुरुतर रहा है। (हाल, एच. आर. हिस्ट्री आव दि नियर ईस्ट, पृ. 178. पादटिप्पणी) यद्यपि आर्यो ने अपनी पूर्ववर्तिनी आर्येतर सभ्यता को नष्ट करके अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म तथा समाज को भारत में प्रतिष्ठित किया, तथापि यह निर्विवाद है कि यह सांस्कृतिक विध्वंस निरन्वय नहीं था। इस साक्षर नागरिक सभ्यता के अनेक तत्व परवर्ती आर्य-सभ्यता में अंगीकृत हुए। सच तो यह है कि अनेक धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराएँ, प्राचीन कथानक तथा इतिहास इन्हीं अनार्यो की संस्कृति के उपादान हैं, जिन्हें आर्यो ने अपनी प्रबल भाषा के माध्यम से आत्मसात कर लिया। आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुआ। इसका प्रभाव उत्तर-वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक आन्दोलन में स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है (पांडेय, जी. सी. बौद्धधर्म के विकास का इतिहास,पृ. 1)

I. सैन्धव संस्कृति

सर जान मार्शल (मोहनजोदड़ो एन्ड दि इंडस सिविलेजशन, ग्रंथ,1, पृ. 110-11) ने प्रबल तर्क दिये हैं कि सैन्धव संस्कृति आर्येतर तथा वैदिक संस्कृति की पूर्वर्तिनी थी। हड़प्पा एवं मोहन-जोदड़ो से प्राप्त अस्थि-पिंजरों से यहाँ विभिन्न प्रजातियों के निवास का बोध होता है जिसमें मूल आस्ट्रेलिद (निषाद), भूमध्य सागरीय (द्रविड़) तथा मंगोलिद (किरात)प्रमुख थी। इन नगरों की मिश्रित जनसंख्या का कारण शायद इनका व्यापारिक एवं औद्योगिक आकर्षण था। भाषा विज्ञान, पुरातत्व, नृतत्व शास्त्र तथा प्राचीन तमिल साहित्य आदि साक्ष्यों पर समवेत विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्धव संस्कृति प्रधानतः द्रविड़ संस्कृति थी। इस प्रदेश में द्रविड़ भाषा के अवशेष आज भी उपलब्ध हैं।

बलूचिस्तान की ब्राहुई भाषा में न केवल द्रविड़ भाषा के शब्द मिलते हैं, बल्कि बहुसंख्यक मुहावरे भी बिखरे पड़े हैं (काल्डवेल ग्रामर आव दि द्रविड़ियन लैंग्वेज, भूमिका, पृ. 43-44)। इसके अतिरित्त अद्यावधि परीक्षित कपालों में भूमध्यसागरीय तत्त्व की बहुलता तथा तमिल संस्कृति की सैन्धव संस्कृति से अनुरूपता द्वारा भी इस विचार की पुष्टि होती है।

सैन्धव सभ्यता सिन्धु नदी की उपत्यका तक ही सीमित नहीं थी। इसका प्रभाव उत्तर में शिमला की पहाड़ियों में स्थित रूपड़ से लेकर दक्षिण में भगतराव तक तथा पूर्व में मेरठ से 16 मील पश्चिम की ओर स्थित आलमगीर से लेकर पश्चिम में अरब सागर के समीप स्थित सुत्कजेन्डोर तक था (इण्डियन आगर्कयोलोजी 57-58 पृ. 15)। इसके दो प्रधान नगर हड़प्पा् और मोहनजोदड़ो एक दूसरे से चार सौ मील की दूरी पर स्थित थे। इस प्रकार सैन्धव संस्कृति का प्रभाव क्षेत्र तत्कालीन सुमेरियन तथा मिस्री सभ्यताओं के प्रभाव क्षेत्र से कहीं अधिक था। सूमेर तथा सिन्धु प्रदेश के व्यापारिक संबंध इस बात का संकेत करते हैं कि यह संस्कृति अक्काद के पूर्ण विकसित अवस्था में थी (ह्वीलर, अली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ. 106)। ह्वीलर ने सागौर की तिथि 2350 ई. पूर्व मानी है (ह्वीलर इण्डस सिविलिजेशन पृ. 4)। ऐसी स्थिति में तृतीय सहस्राब्दि के उत्तरार्द्ध को सैन्धव संस्कृति का चरमोत्कर्ष काल माना जा सकता है।

2. सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

ताम्र प्रस्तर युगीन संस्कृति प्रकृत्या नागरिक एवं साक्षर थी। इसका भौतिक पक्ष बड़ा ही समृद्ध एवं समुन्नत था। सैन्धव नागरिकों ने भव्य, सार्वजनिक गृह, बृहद् स्नानागार आदि का निर्माण किया तथा व्यापार-कौशल आदि में समुन्नत होते हुए भी यह सभ्यता शस्त्रास्त्र के विज्ञान से दुर्बल थी तथा अश्व के उपयोग से अपरिचित। इसी कारण सैन्धव समाज आक्रामक आर्यों का सफल प्रतिरोध भी नहीं कर सका। इस विराधाभास पर विस्मय प्रकट किया गया है कि सैन्धव सभ्यता अपने उत्तराधिकारियों को आध्यात्मक-विद्या के क्षेत्र में अक्षय राशि प्रदान कर सकी, जब कि उसका भौतिक कलेवर आर्यों के आक्रमण को सहने में सर्वथा असमर्थ रहा (ह्वीलर, इण्डस सिविलजेशन, पृ. 4)।

परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन पर सैन्धव परम्पराओं का गहरा प्रभाव सर्वथा पड़ा है, किन्तु यह कहना कि सिन्धु सभ्यता से केवल आध्यात्मिक तत्व ही उत्तरकालीन सभ्यता में स्वीकृत हुए, अत्युक्ति होगी। इस सभ्यता के भौतिक पक्ष में अनेक तत्व अनुवर्ती युगों में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रसंग में गेहूँ, जौ और कपास की खेती, गृह विन्यास एवं दुर्ग विन्यास तथा नाप-तौल की प्रणाली आदि विशेषतः उल्लेखनीय है (ह्वीलर, इण्डस सिविलजेशन पृ. 62-63)। यह निर्णय करना कठिन है कि कितने उत्तरकालीन शिल्प, प्राचीन आर्येतर समाज की देन है, किन्तु अधिकांश शिल्पियों की उत्तर काल में हीन सामाजिक अवस्था, विजेता आर्यों की अपेक्षा विजित अनार्यों से उसका अधिक संबंध द्योतित करती है।

(क). प्राक् आर्य धर्म

शिव

सैन्धव सभ्यता के बहुत से ऐसे तत्व हिन्दू धर्म में है, जिन्हें ऋग्वेदिक आर्य घृणित और निन्दनीय समझते थे। उदाहरण के लिए शिव को लीजिये। उत्तर वैदिक साहित्य में इस देवता को 'एक व्रात्य'

कहा गया है। ऋग्वेद 7, 99,4 दासस्य चिद् वृषशिप्रस्य, 10,99,3 शिश्नदेवाँ में जिस दास का संकेत है, वह निश्चय ही सिन्धु-घाटी का आदि शिव है, जो बाद के हिन्दू धर्म में त्रिशूलधर' और त्र्यम्बक हो गया। इसी प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों ने अपने शत्रु दासों को शिश्नदेवा: भी कहा है, और इस प्रकार लिंग पूजा को निन्द्य माना है (दे. वैदिक समाज में अनार्य), पशुपति, नटराज और योगी के रूप में शिव की उपासना का आरंभ इसी आर्येतर समाज में हुआ था। शिव का अनार्यत्व भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों से भी अनुमोदित है। 'शिव' और शम्भु शब्द तमिल भाषा के शिवन्' और 'शेम्बू' शब्दों से निकले प्रतीत होते हैं, जिसका अर्थ "लाल" है। उत्तर वैदिक साहित्य में शिव का नील लोहित रूप भी इस बात का संकेत है कि शिव लोहित वर्ण के थे। रक्त या लोहित वर्ण 'क्रोध और भयंकरता को सूचित करता है। सिन्धु प्रदेश से प्राप्त पशुपति शिव की मुद्रा में भी इस प्रकार का भाव स्पष्टत: परिलक्षित है।

शैव मत की भाँति ही शाक्य मत का प्रचलन भी सैन्धव संस्कृति में निर्विवाद है। मोएनजोदड़ो से प्राप्त बहुसंख्यक नारी मूर्तियों तथा मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्र, नारी की प्रजनन शक्तिजन्य महत्ता का संकेत है। एक मुद्रा पर नारी की योनि से पौधे के जन्म का दृश्य चित्रित है, जो स्पष्टत: नारी की प्रजनन शक्ति का संकेत करता है। वैदिक आर्यो का मातृशक्ति की उपासना की ओर विशेष झुकाव नहीं था। ऋग्वेद के विशाल देवसमूह में मात्र अदिति ही एक उल्लेखनीय देवी है। धर्मशास्त्रों में तो ग्राम देवता एवं देवियों के पूजक ब्राह्मणों को स्पष्टत: पतित कहा गया है (मनु 3/151, 3/180)। फिर भी भारत वर्ष के प्रत्येक ग्राम में आज भी देवियों की पूजा प्रचलित है, जिसका मूल अवैदिक और अनार्य प्रतीत होता है। (पिंगल, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ. 202)। मार्शल महोदय सैन्धव धार्मिक जीवन में मातृशक्ति की उपासना को ही प्रधान मानते हैं। तत्कालीन भूमध्यसागरीय द्वीपों तथा पश्चिमी एशिया की संस्कृतियों में मातृशक्ति की उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए मार्शल का यह मत सर्वथा संभव प्रतीत होता है।

उमा और शिव के अतिरिक्त विष्णु, लक्ष्मी तथा कृष्ण आदि की अवधारणा भी अंशत: द्रविड़ प्रतीत होती है। सैन्धव लिपि के अभी तक अपठ्य रहने के कारण इनका अनार्यत्व पुरातात्विक सामग्री से प्रमाणित नहीं होता, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यों से इस विषय पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है। विष्णु का उल्लेख सूर्य-देवता के रूप में पूर्व वैदिक साहित्य में अवश्य हुआ है, किन्तु उनके क्षीर सागरशायी अथवा लक्ष्मीपति होने का कोई उल्लेख नहीं हैं। सिलुस्की तथा आयंगर ने भाषा— वैज्ञानिक आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि विष्णु आर्यो के सौर देवता होते हुए भी अंशत: द्रविड़ों के आकाशदेवता है (इण्डियन एण्टिक्वेरी, जनवरी 1633, द्रविडिक स्टडीज, संस्करण 3, पृ. 61-62)। इसका वर्ण भी आकाश की भाँति नीला है। विष्णु की पत्नी 'श्री' का उल्लेख भी सौभाग्य की देवी के रूप में ऋग्वेद में हुआ है किन्तु उनका गजलक्ष्मी रूप पूर्व आर्य एवं द्रविड़ प्रतीत होता है। स्लेटर महोदय के अनुसार भारतीय कला की परम्परा में कृष्ण को जो श्याम वर्ण प्रदान किया गया है, वह भूमध्यसागरीय जाति का जैतून जैसा बभ्रु वर्ण है,जो आर्यो के गौर और निषादों के धूसर वर्ण से सर्वथा भिन्न है (द्रविडियन एलेमेन्ट इन इण्डियन कल्चर पृ. 55)। सप्तसैन्धव के निवासी ऋग्वैदिक आर्यो ने भी अपने शत्रु दास-दस्यु लोगों को 'कृष्ण' विशेषण से युक्त किया है। परवर्ती पुराकथाओं में कृष्ण द्वारा लोकप्रिय वैदिक देवता इन्द्र का विरोध उसके अनार्यत्व का एक प्रबल प्रमाण है।

सिन्धु प्रदेश की बहुसंख्यक मुद्राओं पर अनेक पशुओं के चित्र मिलते हैं। हड़प्पा से प्राप्त मुद्राओं पर वृषभ का चित्र बहुत मिलता है। अनेक मुद्राओं पर वृषभ किसी विचित्र उपकरण के समक्ष खड़ा किया गया है, जो कोई उपयोगी पदार्थ न होकर धार्मिक प्रयोजन की वस्तु प्रतीत होती है। साधारणतया सैन्धव मुद्राओं पर चित्रित वृषभ को पौराणिक नन्दी का पूर्व रूप माना गया है। किन्तु इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि हड़प्पा से प्राप्त आदि शिव को घेरे हुए पशुओं का चित्रण हुआ है, वृषभ अनुपस्थित है। अत: उसे सैन्धव शिव का वाहन मानना कुछ संदेहास्पद हो सकता है।

लेकिन इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि एशिया माइनर की हित्ती जाति में (जिसमें भूमध्य सागरीय जाति की प्रधानता थी) एक त्रिशूल धारी, पशुपति, वृषभवाह, 'देवराज' और उसकी सिंहवाहिनी पत्नी की उपासना प्रचलित थी। ये दोनों शिव और दुर्गा के पूर्व रूप से प्रतीत होते हैं अत: हो सकता है कि सैन्धव प्रदेश की भूमध्यसागरीय जाति में भी (जो मूल: उसी सांस्कृतिक वातावरण से आई थी, जिसमें हित्ती जाति तथा अन्य भूमध्यसागरीय जातियाँ रही थीं)। शिव के वृषभवाह रूप की कल्पना रही हो। इसका अप्रत्यक्ष संकेत अनेक सैन्धव मुद्राओं पर वृषभ के अंकन से अवश्य ही मिलता है।

उत्तर वैदिक युग में क्रमश: मातृदेवी की उपासना भी लोकप्रियता को प्राप्त करती है। वाजसनेयी संहिता (3, 5, 1) में सर्वप्रथम अम्बिका देवी का उल्लेख हुआ है, अम्बिका का संबंध रुद्र से बताया गया है। बहुत संभव है कि सैन्धव शिव के साथ ही उसकी अवधारणा भी सैन्धव प्रकृति से ग्रहण की गयी हो यह विकल्प वाजसनेयी संहिता में इस देवी के आकस्मिक उल्लेख, शिव के साथ उनके संबंध ा तथा सैन्धव समाज में प्रचलित मातृदेवी की उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए सहज कल्पनीय है। अथर्ववेद से उपलब्ध धार्मिक विश्वासों में विरोधी एवं विचित्र तत्वों का सम्मिश्रण आर्य और आर्येतर सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम माना गया है।

पार्जीटर महोदय ने हनुमान् की पूजा का संबंध भी द्रविड़ संस्कृति में स्थापित किया है। (वैदिक एज पृ. 164)। उनके अनुसार इस शब्द का मूल 'अणमन्ति' शब्द तमिल भाषा का है, जिसका अर्थ नरबन्दर है। बाद में 'अणमन्ति' शब्द का संस्कृत रूप 'हनुमान' बनाया गया तथा आर्येतर प्रभाव के कारण उसकी पूजा लोक प्रिय हो गई। वैदिक साहित्य में भी वृषाकपि का उल्लेख हुआ है, किन्तु एक लोकप्रिय देवता के रूप में नहीं। सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से कुछ कल्पनाजन्य मिश्रित आकृति वाले पशुओं के चित्र भी मिले हैं, जिसके धार्मिक महत्व के संबंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। वास्तविक पशुओं में वृषभ और बन्दर के अतिरिक्त भैंसा, बाघ, हाथी, सूअर और कुत्ते की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं किन्तु इन सबको पूजा और श्रद्धा का विषय नहीं माना जा सकता। निश्चय ही इनमें से अनेक खिलौने के रूप में बालकों के मनोरंजन के साधन रहे होंगे।

सैन्धव धर्म में पादप पूजा को भी स्थान प्राप्त था। पीपल का वृक्ष जिसका हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में महत्वपूर्ण स्थान है, सैन्धव सभ्यता में ही देवत्व प्राप्त कर चुका था, इसका वर्णन ऊपर हो चुका है। यहाँ के निवासी संभवत: पीपल वृक्ष में दैवी शक्ति का निवास भी मानते हैं। मोहन-जोदड़ो की एक उल्लेखनीय मुद्रा में, देवता की खड़ी हुई एक नग्न मूर्ति है, जिसके दोनों ओर अश्वस्थ की दो शाखाएँ

हैं। वृषभ देवता की पूजा की सूचक, एक पंक्ति में खड़ी हुई पीठ पर लहराते बालों से शोभित सात स्त्रियाँ हैं, जो देवी की पुजारिन जान पड़ती हैं। पीपल वृक्ष की पूजा शायद सन्तान प्राप्ति के लिए की जाती थी। अथर्ववेद (6.11 सम्पूर्ण) में इस वृक्ष को 'पुत्रदाता' कहा गया है। हम जानते हैं कि अथर्ववेद में ऐसे अनेक आर्येतर धार्मिक विश्वास संग्रहीत हैं जिसका मूल, ऋग्वेद में नहीं मिलता। भारत के विभिन्न प्रदेशों में आज भी पुत्र– प्राप्ति के लिए पीपल वृक्ष के आलिंगन की प्रथा है, तथा अनेक जातियों में पीपल वृक्ष की पूजा को पुत्र प्राप्ति माना जाता है। सैन्धव संस्कृति में पीपल वृक्ष की महता तथा उसके विषय में उपर्युक्त मान्यता को देखते हुए दोनों का संबंध स्थापित किया जा सकता है। पीपल वृक्ष की उपासना के पीछे कारण भूत इस प्रबल धारणा का विकास सैन्धव सभ्यता के अन्तर्गत हुआ हो, यह आश्चर्यजनक नहीं है।

परवर्ती हिन्दू धर्म में न केवल द्रविड़ देवताओं को स्थान मिला, बल्कि उनकी उपासना पद्धति को भी स्वीकार किया गया। वैदिक आर्यो का धर्म, यज्ञ-प्रधान था। यज्ञ में देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं का मांस, सोम तथा अन्य खाद्य सामग्री अर्पित की जाती थी। इसके विपरीत पूजा में उपास्य देव को पत्र, पुष्प और जल इत्यादि समर्पित किये जाते थे। इसलिए इसे पुष्पकर्म कहा गया है। 'पूजा' शब्द की उत्पत्ति द्रविड़ भाषा के 'पू' (पुष्प) और 'जे' (करना) से हुई प्रतीत होती है, जिसका अर्थ है पुष्पार्पण। संस्कृत ग्रन्थों में सर्वप्रथम भगवद्गीता में पूजा की महता को स्वीकार किया जाता है। मोहनजोदड़ो से प्रान्त बहुसंख्यक मूर्तियों से भी द्रविड़ समाज में मूर्ति-पूजा का प्रचलन प्रमाणित होता है।.

पूजा की भाँति संभवतः भक्ति का विकास भी मूलतः द्रविड़ संस्कृति से संबध प्रतीत होता है (पद्मपुराण उत्तर कांड 50, 51)। इसके अतिरिक्त जलप्रलय जैसे आख्यान तथा अनेक यौगिक साधनाएँ, कर्मकाण्ड और दर्शन विषयक विचार भी द्रविड़ लोगों की देन है। सिन्धु प्रदेश में लिंगपूजा, नागपूजा, और जलपूजा के भी चिन्ह मिलते हैं। किन्तु इनका संबंध द्रविड़ संस्कृति की अपेक्षा निषाद संस्कृति से अधिक प्रतीत होता है।

(ख) सामाजिक व्यवस्था

सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से यहाँ की सामाजिक संस्थाओं, विचारों एवं रीति रस्मों पर विशेष प्रकाश नही पड़ता। इस क्षेत्र में प्राचीनतम तमिल साहित्य तथा नृतत्वशास्त्र की सहायता आवश्यक है। द्रविड़ संस्कृति का प्राचीनतम लिखित रूप तमिल साहित्य में ही मिलता है। ऐसी स्थिति में सिन्धु प्रदेश की द्रविड़ संस्कृति के सामाजिक पक्ष की रूपरेखा तमिल साहित्य की सहायता से प्रस्तुत करना अनुचित नहीं होगा। इस विषय में यह कठिनाई है कि प्राचीनतम ज्ञात तमिल संस्कृति तथा सैन्ध ाव संस्कृति के बीच सहस्र वर्षो से भी अधिक का अंतर है। अतः यह निर्धारित करना बड़ा कठिन है कि तमिल साहित्य में द्रविड़ सभ्यता का पुरा ऐतिहासिक स्वरूप कितना आदिम और अविकल है। मोहनजोदड़ो की नगर व्यवस्था इस बात का संकेत करती है कि सैन्धव समाज, आर्थिक आधार पर वर्गो में विभाजित था (न्यू लाइट आन दी मोस्ट ऐंन्श्येंट ईस्ट पृ. 175)। विशाल नगरों, प्राकारों, सड़कों एवं सार्वजनिक भवनों को दृष्टि में रखते हुए ह्वीलर महोदय ने श्रम और निर्माण के लिए दास वर्ग के

अस्तित्व की भी कल्पना की है (शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 18)। सैन्धव समाज में धर्म के विकसित स्वरूप को देखते हुए यह अनायास कल्पनीय है कि इसमें पुरोहित वर्ग की स्थिति आदरणीय रही होगी। बहुत से विद्वानों ने तो यह विचार भी व्यक्त किया है कि हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो का शासन पुजारियों द्वारा होता था (पिगट, प्रिहिस्टोरिक इंडिया, पृ. 150) किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए निश्चयात्मक प्रमाणों का अभाव है। सैन्धव सभ्यता के भौतिक पक्ष की विकसित अवस्था, उसके सुमेरियन प्रदेश के साथ घनिष्ट व्यापारिक संबंध एवं सैन्धव जनों की समुद्र यात्रा में रुचि आदि तथ्यों से उनके समाज में समृद्ध व्यापारिक वर्ग का अस्तित्व भी निर्विवाद है। संभवतः उसी का ऋग्वेद में 'पणि' नाम से उल्लेख हुआ है (लुडविग ट्रान्सलेशन आव दि ऋग्वेद 3, 213-215)। आर्य लोग इन पणियों के वैभव को सतृष्ण दृष्टि से देखते थे तथा उनके धन के अपहरण की कामना करते थे।

(ग) आर्यो का आगमन और सैन्धव सभ्यता का विलोप

वैदिक साहित्य के विकास का इतिहास, बोगहजकोई अभिलेख तथा आर्यभाषा पर हुए आर्येतर प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए भारत में आर्यो के आगमन्न की तिथि द्वितीय सहस्राब्दि ई. पू. के प्रारंभ में मानी जा सकती है (विन्टनिट्ज, हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग 1, पृ. 310)। स्थूलतः यही वह समय था जब बैबीलोनिया में कसाइट, एशिया-माइनर में हित्ती और यूनान में एकियन प्रविष्ट हुए थे। भारत में प्रवेश के पश्चात् ऋग्वेदिक आर्यो ने सप्तसैन्धव प्रदेश को अपना प्रारम्भिक निवास बनाया। यही प्रदेश पूर्ववर्ती अनार्य सैन्धव संस्कृति के विकास का भी केन्द्र था। ऐसी स्थिति में यह संभावना उत्पन्न होती है कि सैन्धव संस्कृति के विनाश का कारण, आर्यो का आक्रमण ही था (ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन पृ. 44-45)। लगातार आनेवाली बाढ़ों से सैन्धव संस्कृति ह्रासोन्मुख हो चली थी, जिसके परिणाम स्वरूप विजातीय आक्रमणकारियों का सफल प्रतिरोध नहीं हो सका। मोहनजोदड़ो में परवर्ती युगों का वर्धमान ह्रास तथा अंतिम विनाश दोनों के चिन्ह मिले हैं। आर्यो द्वारा संस्कृति के विनाश के सूचक प्रबल साहित्यक तथा पुरातात्विक संकेत उपलब्ध हैं।

ऋक्संहिता में ऐसे अनेक उद्धरण हैं, जिनसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्य सैन्धव संस्कृति से सुपरिचित तथा उनके विध्वंसक थे। इस ग्रन्थ में दास-दस्यु लोगों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है, उनसे स्पष्टतः वे लोग सैन्धव संस्कृति के निर्माता ही प्रतीत होते है। (दे. दास-दस्यु) इन दास-दस्युओं को जो नकारात्मक विशेषण दिये गये हैं। इनसे लोगों का अनार्यत्व मात्र सूचित होता है। इन्हें ''शिश्नदेवः'' भी कहा गया है। (दे. 149 तृतीय परिछेद)

इसके अतिरिक्त दास और दस्यु लोगों के विपुलकाय पुरों तथा दुर्गो का उल्लेख हुआ है, जिन्हें स्थान-स्थान पर आयसी, अश्ममयी, उर्वी, गोमती शतुभुजी और शारदी आदि विशेषणों से युक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दास-दस्यु लोग किसी समृद्ध नागरिक संस्कृति से संबंधित थे। लिंगपूजक दास-दस्यु लोगों की यह नागरिक संस्कृति सैन्धव संस्कृति ही हो सकती है, क्योंकि सम्पूर्ण उत्तरी भारत की पूर्ववर्तिनी किसी अन्य नागरिक सभ्यता का अस्तित्व अज्ञात है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में दास-दस्यु की विशेषताओं का उलेख करते हुए उन्हें छः आँखों से युक्त (षलक्ष), तीन सिर वाले (त्रिशीर्षाणः) और तीन सिर वाले कहा गया है (ऋग्वेद 10/99/6)। इस वर्णन पर ध्यान देने

से अनायास सिन्धु घाटी के उस अनार्य देवताओं की याद आती है, जिसे शिव का आदि रूप माना गया है।

दास-दस्यु लोगों से ऋग्वैदिक आर्यो का संबंध शत्रुतापूर्ण एवं संघर्ष-मय था। आर्य-दास संघर्ष की प्रतिध्वनि ऋक्संहिता में सर्वत्र उपलब्ध होती है। दासों के पुरों को नष्ट करने के लिए इन्द्र तथा अग्नि से अनेक बार निवेदन भी किया गया है (ऋग्वेद 10/22/8; 7, 99,5)। इन्द्र को पुरन्दर (पुरों का भेदन करने वाला) कहा गया है (ऋग्वेद 1/103/3)। एक स्थान पर इन्द्र को ''कृष्णयोनि'' दासों का विनाश करने वाला तथा अन्यत्र उन्हें नीचे की गुफा में फेंकने वाला कहा गया है (ऋ. 5 2 12/4)। इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक आर्यो ने दास दस्यु संस्कृति के विनाश का पूर्ण प्रयास किया जिसमें उन्हें यथेष्ठ सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मोहनजोदड़ो की सड़कों से प्राप्त अस्थिपंजरों से, किसी आक्रमण तथा तत् जनित विध्वंस का संकेत मिलता है।

सैन्धव सभ्यता का प्रभाव क्षेत्र बहुत विस्तृत था इसलिए इसका ह्रास तथा इसके भौतिक पक्ष का विलोप सर्वत्र रूप से नहीं हुआ। सिन्ध और पंजाब में यह संस्कृति प्राय: विनष्ट हो गई, क्योंकि हड़प्पा में सैन्धव संस्कृति के ऊपर 'कब्रिस्तान एच' नामक सैंधवोत्तर संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। यह संस्कृति भी आर्येतर थी, किन्तु सैन्धव संस्कृति की तुलना में अत्यन्त हीन और अविकसित थी। इसी प्रकार चन्हूबड़ों में 'झूकर' और 'झंगर' संस्कृतियों के अवशेष मिलते हैं। लोथल और रंगपुर के साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र में यह संस्कृति दीर्घकाल तक जीवित रही। इस प्रदेश में सैन्धव संस्कृति का क्रमश: ह्रास के साथ रूपान्तर हुआ, किन्तु आकस्मिक विनाश नहीं। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को सैन्धवों के पश्चात् कुछ अन्तराल के बाद 'चित्रित भूरे' मृत्पात्र संस्कृति के निर्माताओं ने अधिकृत कर लिया। श्री बी. बी. लाल ने इस संस्कृति का निर्माता, आनेवाले प्रारम्भिक आर्यो को माना है (एन्श्येन्ट इण्डिया 10, 11 पृ. 5-151) किन्तु यह सत्य नहीं हैं, क्योंकि चित्रित भूरे मृत्पात्र' की संस्कृति की परम्परा रूपड़ से कौशाम्बी तक मिली है। यह संस्कृति प्रधानत: गंगा की घाटी तक सीमित होने कारण उत्तर-वैदिक आर्यो की प्रतीत होती है। यदि यह प्रारंभिक आर्यो से संबंद्ध होती तो इसके अवशेष सप्तसिन्धु प्रदेश में अधिक मिलते, क्योंकि भारत में प्रवेश के पश्चात् आर्य सर्वप्रथम वहीं बसे थे।

आर्यो एवं अनार्यो के बीच का यह संषर्घ दीर्घकालीन नहीं रहा। प्रारम्भिक कलह की स्थिति के समाप्त होते ही इनका पारस्परिक दुरभाव मिटने लगा। ऋग्वेद में दाशराज-युद्ध का जो उल्लेख है, उसमें सुदास के विरुद्ध युद्ध में भाग लेनेवाली जातियों में अनार्य भी सम्मिलित थे (ऋ. 7/33.2) इसका विस्तृत वर्णन इसी अध्याय के अंत में किया गया है। ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रसंग हैं, जिसमें दासों को गायों और भेड़ों के साथ दान में देने का उल्लेख हे (ऋ. 8/56/3) ये दास पराजित अनार्य (दास-दस्यु) ही थे। प्रांरभ में विजेता आर्य और विजित पलायमान अथवा दासकृत आर्येतर जातियाँ परस्पर संषर्घ में निरत थीं। इस प्रकार का युद्ध सम्पर्क सांस्कृतिक आदान-प्रदान अथवा समन्वय के लिए उपयोगी नहीं होता।

(घ) सिन्धु घाटी और वैदिक सभ्यता में अन्तर

आर. सी. मजुमदार ने अपनी पुस्तक (प्राचीन भारत पृ. 28) में लिखा है कि सिन्धु घाटी संस्कृति

आर्यों के आने से पहले उन्नत अवस्था में थी। इंडो आर्यों के घर बाँस के बने थे परन्तु सिन्धु घाटी के व्यक्ति शहरी जीवन जी रहे थे। उनके मकान पक्के ईटों से बने थे। साथ ही प्रत्येक घर में स्नानागार, कुएँ और सफाई के प्रबन्ध होते थे। सर जोन मार्शल (मोहनजोदड़ो एण्ड इण्डस सिभिलाईजेशन पृ. 52-55) भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उन्होंने भी यह लिखा है कि ऋग्वेद में घोड़ों का उल्लेख बार-बार होना, शिव लिंग को घृणा से देखना, देवी-देवताओं को न जानना और मातृ देवी को महत्व न देना, ये बातें सिद्ध करती हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता, आर्य सभ्यता से भिन्न थी। मार्शल महोदय सैन्धव के धार्मिक जीवन में मातृशक्ति की उपासना को ही प्रधान मानते हैं। तत्कालीन भूमध्यसागरीय द्वीपों तथा पश्चिमी एशिया की संस्कृतियों में मातृ शक्ति की उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए यह मत सर्वथा संभव प्रतीत होता है।

सिन्धु के लोग लोहे को नहीं जानते थे, वे सोने से अधिक चाँदी का प्रयोग करते थे। उनके बरतन और पात्र पत्थर के बने होते थे। ये नवप्रस्तर युग के अवशेष थे। साथ ही ताम्बे और काँसे से भी परिचित थे। वे व्यापार कौशल में समुन्नत थे।

प्रायः दोनों ही एक काल के व्यक्ति के, बचाव के हथियार समान थे, परन्तु आर्यो के टोप और कवच के अँगरखे सिन्धु सभ्यता से नहीं थे। मोहन-जोदड़ो की मुद्राओं से पता चलता है कि साँढ़ उनका मुख्य जानवर था, परन्तु आर्यो के समय गायों ने इसका स्थान ले लिया। सिन्धु घाटी के लोग लिंग पूजक थे, आर्य नहीं। सिन्धु घाटी के लोग कुछ लिखना जानते थे। कला क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की थी। आर्यो के समय में एतत् संबंधी ठोस प्रमाण अनुपलब्ध है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों की सभ्यता में बहुत अंतर था। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य सभ्यता, सिन्धु घाटी सभ्यता की अनुगामिनी थी। यह सच है कि आर्य, सिन्धु घाटी के निवासियों से बिल्कुल अलग थे, और उनका एक स्वतंत्र उत्पत्ति एवं विकास था।

II. आर्य और प्राक् आर्य-समन्वय के सूत्र

अब हम लोग यह देखेंगे कि किस प्रकार आर्यो ने अनार्य देवताओं को आत्मसात किया। संस्कृत पर, जिसमें आशीर्लिंग, जैसे विलक्षण क्रिया रूप है, पुरोहितों की भाषा होने की छाप सदैव लगी रही, इसमें आम व्यवहार के सामान्य भविष्यत काल तक का अभाव है। ब्राह्मण, कर्मकांड से ही बँधा रहा, यद्यपि अब यह मात्र वैदिक कर्मकाण्ड नहीं था। इस क्षेत्र में उसके एकमात्र प्रतिद्वन्द्वी थे आदिकालीन ओझा, जिनका प्रभाव अपने-अपने कबीलों तक सीमित था। ब्राह्मणधर्म ने बहुत से कबीलाई पुरोहितों को भी, उनकी अंधविश्वासी ''विद्या' सहित, आत्मसात कर लिया। कभी-कभी ब्राह्मण किसी श्रेणी, जाति या कबीलाई जाति का भी पौरोहित्य स्वीकार कर लेता और उसमें अपने कर्मकाण्ड को भी मिला देता और इस प्रक्रिया में आदिम अनुष्ठानों की निकृष्ट प्रथाओं को त्याग देने अथवा निस्तेज बनाने की सदैव कोशिश की जाती। बौद्ध, जैन तथा दूसरे सम्प्रदायों के साधु सभी प्रकार के अनुष्ठानों का त्याग कर चुके थे, और वह जातकर्म, अन्त्येष्टि, विवाह, पुंसवन तथा उपनयन संस्कार विधियों में पौरोहित्य नहीं कर सकते थे, जैसे कि ब्राह्मण कर सकते थे, और किया है। केवल ब्राह्मण ही बीजारोपण के समय अच्छी फसल के लिए आर्शीवाद दे सकता था, अशुभ ग्रहों को शांत कर सकता था, कुपित देवताओं,

को प्रसन्न कर सकता था और पंचांग बनाकर उसके आधार पर भविष्यवाणी कर सकता था। वैदिक यज्ञ-अनुष्ठान केवल सिद्धान्त रूप में ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते रहे, पर व्यवहार में इनकी अधिकाधिक उपेक्षा होती रही।

ब्राह्मणों ने धीरे-धीरे बची खुची कबीलाई व श्रेणी जातियों में भी प्रवेश किया, यह प्रक्रिया आज तक चालू है। इसका अर्थ था नये देवताओं की पूजा, इनमें कृष्ण भी थे, जिसने सिकन्दर के हमले के पहले ही पंजाब से इन्द्रपूजा को मिटा दिया। परन्तु कबीलाई पूजा- विधियों तथा अनुष्टानों में पृथक वैशिष्ट्यों में हेर-फेर कर दिया गया, कबीलाई देवताओं को ब्राह्म-धर्म के प्रतिष्ठित देवताओं के समकक्ष मान लिया गया, और जिन कबीलाई देवताओं को आत्मसात करना कठिन था, उन्हें प्रतिष्ठित बनाने के लिए नये ब्राह्मण धर्म ग्रन्थों की रचना की गयी। इन नये देवताओं अथवा नये तादात्म्य के साथ नये अनुष्ठान भी अस्तित्व में आये और फिर इन नये पूजा-व्रतों के लिए चान्द्र पंचांग में विशिष्ट तिथियाँ निधारित की गयीं। नये तीर्थ स्थल अस्तित्व में आये और इन्हें प्रसिद्धि दिलाने के लिए उपयुक्त पुराण-कथाएँ रची गईं, यद्यपि ये तीर्थस्थल ब्राह्मण पूर्व आदिवासी पूजा-स्थल ही रहे होंगे। इस समूची प्रक्रिया के बारे में महाभारत, रामायण तथा पुराणों में भरपूर सामग्री मिलती है। आत्मसात की यह प्रक्रिया बड़ी रोचक है। वानर मुख हनुमान्, जो किसानों में इतना लोक प्रिय है उनका एक विशिष्ट देवता बन गया है और उसके लिए पृथक् पूजा पद्धति भी है, राम (विष्णु का एक और अवतार) का स्वाभिभक्त सहचर-सेवक बन गया। विष्णु नारायण ने पृथ्वी को मस्तक पर धारण करने वाले शेषनाग का उपयोग अपनी छत्र शय्या के लिए किया, साथ ही, वही नाग शिव के गले का हार और गणेश का अस्त्र बना। हस्तिमुख गणेश को शिव का, यों कहिये कि शिव-पत्नी का पुत्र बना दिया गया। शिव स्वयं राक्षसों और भूत पिशाचों का स्वामी हैं, पर इनमें से वेताल जैसी अनेक दुरात्माएँ स्वतंत्र हैं और इन अतिप्राचीन देवताओं की देहातों में आज भी खूब पूजा होती है।

शिव के नन्दी की दक्षिण भारत में नवपाषाण युग में पूजा होती थी, पर वह किसी मानवी या दैवी स्वामी का वाहन नहीं था। नंदी या वृषभ को स्वतंत्र रूप से सिन्धु सभ्यता की अनेकानेक मुहरों पर भी देखा जा सकता है। यह आत्मसात निरन्तर चलता रहा है, और जो बहुत सारे आख्यान गढ़े गए वे सब मिलाकर अर्थहीन, असंगत और असम्बद्ध सामग्री को ढेर प्रस्तुत करते हैं। नये आत्मसात किये गए इन आदिम देवताओं की पूजा, दरअसल संस्कृतियों के आदान प्रदान की प्रक्रिया का ही अंग थी। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम, पूर्वकालिक नाग पूजकों ने नाग की उपासना के साथ-साथ शिव की उपासना भी शुरू कर दी होगी, तब अनेक लोग साल में एक विशिष्ट दिवस पर नाग की पूजा करने लगे, उस दिन धरती नहीं खोदते और सांपों के लिए भोजन रखने लगे।

मातृसत्तायुगीन तत्वों को आत्मसात किया गया। मातृ देवियों को किसी न किसी नर देवता की 'पत्नी' के रूप में स्वीकार किया गया, उदाहरणार्थ दुर्गा-पार्वती (जिसके तुकाई, कालुबई आदि अनेक स्थानीय नाम रहे) शिव की पत्नी बन गई और लक्ष्मी, विष्णु की। देवताओं की मिश्रित गृहस्थी में भी समन्वय की यह प्रक्रिया जारी रही : स्कन्द और गणेश, शिव के पुत्र बन गये। सामन्ती युग में इन देवी देवताओं का एक प्रकार के राज दरबार ही खड़ा कर दिया गया। देवी-देवताओं के विवाह, स्वीकृत मानवी विवाह प्रथा का घोतक है, इनके पूर्वकालिक पृथक् पृथक् यहाँ तक कि परस्पर विरोधी भी भक्तों

के सामाजिक सम्मिश्रण हुए बिना देवी देवताओं के ऐसे विवाह कदापि सम्भव न होते (द्विजेन्द्र नारायण झा, कृष्ण मोहन श्रीमाली पृ. 135-136)।

ऐसा कहा जाता है कि आर्य जाति के लोग जैसे-जैसे पंजाब से पूरब की ओर बढ़ते गये, उन्होंने सब से पहले गैर आर्य जातियों (स्थानीय मूल निवासी अथवा अनार्य) से संबंधित सभी चीजों को नष्ट करना शुरू किया (दिवाकर आर. आर. 1958 बिहार थ्रू दी एजेज, पृ. 112-113)। कालान्तर में क्रमशः यह अस्तित्व तथा मूल निवासियों के बीच अनेक वैवाहिक संबंधों के उदाहरण मिलते हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में इन दो प्रकार की संस्कृतियों के पारस्परिक सम्मिश्रण के अनेक रोचक प्रमाण पाये जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि आर्य जाति के बहुत से ऋषियों ने बिहार के विभिन्न भागों में वैदिक संस्कृति का प्रसार किया। पौराणिक परम्परा के अनुसार दक्षिण बिहार (अरिंग और मगध) में वैदिक संस्कृति का प्रचार दीर्धतमस नामक एक ऋषि द्वारा हुआ था जो अंगिरस गोत्र के थे। कहा जाता है अंग देश की रानी की एक शूद्र परिचारिका से दीर्घतमस ने शादी की थी। इनके जो पुत्र हुए उन्होंने ब्राह्मणत्व की प्राप्ति की। दीर्धतमस, राजा बलि से भी घनिष्ठ रूप में संबंधित थे, जिनका राज्य झारखण्ड के ही किसी हिस्से में था।

जैसे-जैसे वैदिक तथा गैर-आर्य धर्म का विलयन होता गया यहाँ के मूल निवासियों के द्वारा यज्ञ पद्धति तथा ब्राह्मणों के नेतृत्व को स्वीकार किया जाने लगा, तथा इसके साथ-साथ आर्य देवकुल से यहाँ के मूल निवासियों के अनेक देवी-देवताओं तथा उनकी पूजा पद्धति का समायोजन हुआ। वैदिक तथा पूर्ववैदिक संस्कृतियों के बीच इस प्रकार के आपसी लेन देन यद्यपि पूरे भारत में हो रहे थे, परन्तु इस प्रकार के प्रमाण अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा शायद बिहार में ही सर्वाधिक सुस्पष्ट रूप से मिलते हैं (दिवाकर 1958 पृ. 120)।

उत्तर वैदिक युग में, जब आर्यो तथा आर्येतर जनों के बीच हुए सामाजिक एवं सांस्कृतिक सामंजस्य के परिणाम स्वरूप नवीन सामाजिक व्यवस्था उद्‌भूत हुई तथा राजसत्ता के विकास के साथ-साथ शान्ति और सुरक्षा स्थिर हुई पुनः साक्षर नागरिक जीवन का अभ्युत्थान प्रारंभ हुआ तथा सैन्धव सभ्यता का भौतिक पक्ष पुनर्जीवित होने लगा। बहुत संभव है कि उत्तर वैदिक युग के मिश्रित समाज मेंआर्येतर जनों द्वारा व्यापार और वाणिज्य को विशेष प्रोत्साहन मिला है। विशेषतः सैन्धव जनों की प्रतिभा वंशानुगत एवं परम्परागत रूप से आवश्यक जीवित रही होगी। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वणिपज, वणिज, वाणिज्य आदि शब्दों की व्युत्पत्ति भी उसी मूल से हुई जिससे 'पणि' शब्द की हुई है। इससे आर्येतर जनों का व्यापार और वाणिज्य से गहरा संबंध द्योतित होता है।

आर्यो ने व्यापार करना अनार्यो से सीखा। इसी प्रकार कृषि में आर्यो ने निषादों से चावल की खेती करनी सीखी (दे. पृ. निषाद जाति का वर्णन, और आर्यो की कृषि पृ 113 और 426)।

धार्मिक विश्वासों के प्रति ऋषियों के उदार दृष्टिकोण का संकेत है। ऊपर यह भी बतलाया गया है कि निवृतिमूल धार्मिक विश्वास निषाद संस्कृति की देन प्रतीत होती हैं। निषाद-संस्कृति के केन्द्र, मध्यप्रदेश के दक्षिण पूर्व में निवृतिमूलक जैन धर्म के इतिहास का आरंभ उत्तर-वैदिक काल में हो ही चुका था, जिसका धारा से कोई संबंध नहीं था। आर्य और आर्येतरीय सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय

की यह प्रवृति धार्मिक एवं सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में दृष्टि गोचर होती है। उपनिषद युग के मनीषियों का यह प्रयास सराहणीय है।

(क) उपनिषदों का समन्वयवादी दृष्टिकोण

उपनिषत्कालीन मनीषियों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सफलता, विविध धार्मिक एवं सांस्कृतिक धाराओं में समन्वय एवं सामंजस्य उत्पन्न करना हुई। इस प्रसंग में ईशोपनिषद का निष्काम-कर्म का उपदेश विशेष उल्लेखनीय है, जिसका सुविकसित प्रौढ़ स्वरूप भगवद्गीता में मिलता है। स्पष्टतः निष्काम कर्म के अंतर्गत प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामंजस्य का प्रयास अन्तः निहित है। इन विरोधी धाराओं के समन्वय का प्रयास आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से भी किया गया। छान्दोग्य-उपनिषद में तप को जीवन के तीन धर्म स्कन्धों में स्थान दिया गया है। तपस्वियों एवं सन्यासियों की आध्यात्मिक श्रेष्ठता भी अनेकत्र स्वीकृत है। मुण्डकोपनिषद स्पष्टतः मुण्डित शिर संन्यासियों की रचना है, जिसमें यज्ञ धर्म का घोर विरोध है। उपनिषद- साहित्य में विश्व की क्षण-भंगुरता, सांसारिक सुधाओं की अनित्यता, तथा आत्मा की अमरता का जो उद्घोष है, उससे भी निवृत्ति- लक्षण धार्मिक परम्पराओं की लोकप्रियता परिलक्षित है। जैसा कि पूर्व वैदिक आर्य समाज के धर्म का वर्णन करते समय बताया गया है कि सैन्धव धर्म प्रवृत्ति लक्षण था तथा उसमें निवृत्ति लक्षण धार्मिक विश्वास सर्वथा अनुपस्थित थे। ऋक्संहिता में मुनियों की परम्परा का संकेत है, किन्तु उनका बिरला उल्लेख एवं विचित्र वर्णन ऋग्वैदिक धर्म के सामान्य पृष्ठभूमि में असंगत लगता है। वे किसी प्राचीन एवं समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष प्रतीत होते हैं। (देखिये निषाद संस्कृति नृ. 686-688)। वैदिक संस्कृति ज्यों-ज्यों पूर्वाभिमुख हुई श्रमणों मुनियों के धार्मिक विश्वास से सुपरिचित होती गई। तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा और यमुना के प्रदेश को मुनियों का निवास-स्थान बताया गया है। ब्राह्मण युग में भी तापस धर्म एक यज्ञ विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान था, किन्तु उसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम थी। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्टतः उनकी निन्दा की गई है (वही 33,11)। इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने तप के द्वारा सृष्टि का निर्माण किया (2, 5, 1, 1-3) इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि देवताओं ने तप के द्वारा ही देवत्व प्राप्त किया (वही 3, 12, 1, 1-3)। इन उद्धरणों से सिद्ध है कि ब्राह्मण युग में ही तप को यज्ञ के समकक्ष स्थान देने का प्रयास हो रहा था तथा उपनिषद-युग में एक स्पष्टतः क्लेश-लक्षण तापस धर्म की महत्ता स्वीकृत हुई। उपनिषत्कालीन धर्म के अंतर्गत निवृत्तिमूलक तप और सन्यास की परम्परा का अंगीकार स्थानीय एवं आर्येतर (संभवतः निषाद) समन्वय का परिणाम था।

निष्कर्ष

आर्य और अनार्य दोनों ही सिन्धु घाटी में रह रहे थे। पुरानी एवं नयी जातियों के मेल से हिन्दुस्तान आबाद होने लगा। शादी विवाह में भिन्नता होने पर भी सामंजस्य बना रहा। अनार्य देव शिव का विवाह आर्य कन्या पार्वती, पुलोमा दैत्य की पुत्री शचि का विवाह इन्द्र से, जामवती का कृष्ण से, शर्मिष्ठा का आर्य राजा ययाति से विवाह हुआ। महाभारत में आर्यो के विवाह अनार्यो के संग होने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

उदाहरण

जरतकारु नामक ऋषि ने नागकन्या जरतकारू से विवाह किया था (आदि पर्व 47, 5) भीमसेन

ने हिडिम्बा राक्षसी से विवाह कर घटोत्कच नामक पुत्र उत्पन्न किया (आदिपर्व 154 अध्याय)। अर्जुन ने निर्मल तीर्थों की यात्रा करते समय नागकन्या उलूपी से गंगापुर में भेंट की और उन दोनों का मिलन हुआ (आदिपर्व 61, 42 और 213, 33) इसी प्रकार मणिपुर के पाण्डयदेशी नरेश चित्रवाहन की पुत्री को देखकर मुग्ध हो गये और उसके साथ विवाह करके तीन वर्षो तक वहीं रहे (आदिपर्व 61, 42, 214, 26 तां कन्यां प्रतिगृह्य उवासे नगरे)। चित्रागंदा एक बोडो कन्या मानी गई है। अश्वमेध यज्ञ में अर्जुन का चित्रांगदा से उत्पन्न बभ्रूवाहन से युद्ध हुआ और अर्जुन उसके वाणों से मूर्छित हो गये। होश में आने पर अपने पुत्र को गले लगा कर युधिष्ठिर के यज्ञ में माता सहित एवं उलूपी को भी आने का निमन्त्रण दिया। निमन्त्रण स्वीकार कर वे तीनों कुरुकुल में आये, उनका आभूषण आदि से बहुत सत्कार हुआ (आश्वमेधिक 88, 2-5)।

महर्षि पराशर ने नाव चलाने वाली सत्यवती से समागम किया और व्यास की उत्पत्ति हुई (आदि पर्व 63, 83-84)। राजा शान्तनु ने इसी सत्यवती से विवाह किया (आदि पर्व 100, 47-50 और 101, 1)। इसका विस्तृत वर्णन मल्लाहों के संदर्भ में किया गया है। द्वैपायन व्यास ने शूद्र जातीय दासी स्त्री से समागम किया जिसके गर्भ से विदुर पैदा हुए (आदि 63, 114)।

III. परवर्ती साहित्य में अनार्य सभ्यता का प्रभाव

सैन्धव समाज के द्रविड़, निषाद और किरात संस्कृति का प्रभाव परवर्ती सभ्यता पर भी पड़ा।

(क) द्रविड़ संस्कृतिः मातृ सत्तात्मक व्यवस्था

सैन्धव समाज संभवत मातृसत्तात्मक था। सिन्धु प्रदेश से प्राप्त नारी मूर्तियाँ, मातृदेवी की प्रधानता तथा प्राचीन क्रीट एवं अन्य भूमध्यसागरीय प्रदेशों की मातृसत्तात्मक व्यवस्था इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं। सिन्धु के तट पर बसी प्राचीन केहोल जाति की मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को सुदूर अतीत में प्रचलित सैन्धव जनों की सामाजिक व्यवस्था का अवशेष माना जा सकता है। केहोल जाति की इस पुरातन व्यवस्था को आर्यो अथवा उनके अनुवर्ती किसी अन्य जाति से सम्बन्धित करना बड़ा ही कठिन है। तमिल भाषा के कुछ शब्द भी द्रविड़ समाज की मातृसत्तात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हैं। प्राचीन तमिल भाषा का 'इलाल' शब्द जिसका अर्थ गृहस्वामिनी होता है, स्त्रीलिंग है। इसी अर्थ को देने वाले समान पुलिंग शब्द का अभाव द्रविड़ों के पारिवारिक जीवन में नारी के स्वामित्व की ओर संकेत करता है। मलाबार तक के निवासियों तथा केरल की कुछ जातियों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था अब भी पाई जाती है।

परिस्थैतिक साक्ष्यों के आधार पर सैन्धव सभ्यता के सामाजिक संगठन की अन्य विशेषताओं के संबंध में कुछ अनुमान किया जा सकता है। महाभारत के कर्णपर्व में मद्रदेश, वाह्लीक और अरट्टदेश की स्त्रियों को स्वैरिणी तथा कामचारिणी कहा गया है। वहाँ ब्रज में, नगरागार में तथा सार्वजनिक स्थानों में स्त्रियाँ विवस्त्र होकर नृत्य करती थीं। महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि मद्रदेश में जन्म का ठिकाना न होने के कारण उत्तराधिकार पुत्र को न प्राप्त होकर भांजे को प्राप्त होता था। (कर्णपर्व 45/13) महाभारत में वर्णित यह सामाजिक व्यवस्था वैदिक आर्यो की नहीं हो सकती, क्योंकि साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि वैदिक समाज में विवाह संस्कार तथा दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का भाव पूर्वतः विकसित

हो चुका था। ऋग्वेद की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि पति-पत्नी परस्पर अभिन्नता एवं हार्दिक एकता की कामना करते थे (ऋ. 10/85/47)। ऐसी स्थिति में हमारे समक्ष एकमात्र विकल्प यही रह जाता है कि हम महाभारत के वर्णित इस अवस्था को अनार्य परम्परा का अवशेष मानें, जिसका प्रचलन आर्यो के आगमन के पश्चात् भी पंजाब और सिन्ध में यत्र-तत्र परम्परागत रूप से रहा। इस प्रसंग में मोहनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य की एक नारी मूर्ति उल्लेखनीय है। पुरातत्ववेत्ताओं ने इसे नृत्यांगना की मूर्ति माना है। इस मूर्ति के आकर्षक केश विन्यास तथा हाथ और कंठ के आभूषणों के अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर को विवस्त्र दिखाया गया है।

इस तथ्य के प्रकाश में महाभारत में उल्लिखित मद्र-बाह्णीक तथा अरट्टदेश की इस प्रथा को सैन्धव संस्कृति से संबंध करना अनुचित नहीं होगा।

ऐतिहासिक युग में द्रविड़ समाज में निकटाभिगन का प्रचलन था। धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों में अधिकांशतः मातुल कन्या से विवाह का निषेध हुआ है। तथापि बौधायन ने इसे दक्षिण भारतीयों का देश-धर्म माना है (1, 1, 16-29)। बृहस्पति ने भी जहाँ राजा से देश, जाति एवं कुल के धर्मों की रक्षा का आग्रह किया है वहाँ दक्षिणात्यों में मातुल सुता से विवाह की बात को स्वीकृत किया है। (स्मृति चन्द्रिका 1 पृ. 10 पर उद्धृत)। निकटाभिगमन की इस परम्परा का मूल सैन्धव संस्कृति में ढूँढा जा सकता है। यजुर्वेद (वाजसनेयी सँहिता 3. 57) में शिव और अम्बिका को भाई-बहन बताया गया है। इसके विपरीत प्रायः सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में रुद्र और अम्बिका को पति-पत्नी कहा गया है। यह विरोधाभास निश्चय ही विस्मयजनक है। हम जानते हैं कि उत्तर वैदिक काल में आर्य और आर्येतर सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय के परिणाम स्वरूप ऋग्वैदिक रुद्र एवं सैन्धव शिव का व्यक्तित्व परस्पर निमज्जित हो गया। इसी युग में अम्बिका का प्रथम उल्लेख होना इस बात को सूचित करता है कि रुद्र-शिव और अम्बिका के पारस्परिक संबंध की यह कल्पना भी सैन्धव संस्कृति से ग्रहण की गई। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि सैन्धव -धर्म के अन्तर्गत शिव, अम्बिका का पति-पत्नी स्वरूप तथा भ्राता-भगिनी स्वरूप साथ-साथ और समान रूप से ग्राह्य था। लेकिन यह बात आर्यो की नैतिक भावना के प्रतिकूल थी। अतः उन्होंने बाद में अम्बिका रुद्र पति-पत्नी स्वरूप को ही ग्रहण किया।

प्राचीन सैन्धव समाज में, जिसकी सभ्यता के निर्माण में भूमध्यसागरीय जाति का सहयोग निर्विवाद रूप से माना जाता है, आसिस और ओसिरिस का पारस्परिक संबंध इसी प्रकार का था। मिस्री लोगों के इस धार्मिक विश्वास का सामाजिक पक्ष भी था, क्योंकि प्राचीन मिस्री समाज में भाई-बहन के विवाह की प्रथा पूर्वतः प्रचलित थी। अतः सैन्धव समाज में भी इस प्रकार की प्रथा का प्रचलन कल्पनीय हो जाता है। (उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति एक अध्ययन-डा. विजय बहादुर राव पृ. 11)।

(ख) निषाद संस्कृति

आर्यो के आगमन के समय उत्तरी भारत में भूमध्य सागरीय (द्रविड़) आर्यो के अतिरिक्त दो बहुसंख्यक प्रजातियाँ निवास करती थी। ये थीं प्राग आस्ट्रेलिद (निषाद) एवं मंगोलिद (किरात)। यद्यपि सैन्धव संस्कृति के निर्माण में भी इनका सहयोग निर्विवाद है तथापि निषाद् संस्कृति का प्रमुख केन्द्र गंगा का मैदान रहा, ऐसा प्रतीत होता है, तथा किरात जाति का हिमालय की तलहटी में, इनमें निषाद संस्कृति ने दक्षिण पूर्व की ओर प्रसारोन्मुख आर्य संस्कृति को विशेष रूप से प्रभावित किया।

गंगा की घाटी से प्राप्त ताम्र उपकरणों से जिस पुरा ऐतिहासिक ताम्र संस्कृति का ज्ञान होता है, उसके निर्माताओं के संबंध में पुरातत्ववेत्ताओं में गहरा मतभेद रहा है। प्रारंभ में हीन गोल्डर्न महोदय (आर्क्योलाजिकल ट्रेसेज आफ वैदिक आर्यनस नं. 4, 1936) का यह था, कि ये ताम्र उपकरण मध्य देश की ओर आने वाले वैदिक आर्यो की संस्कृति के अवशेष हैं। प्रारंभ में पंगट महोदय ने अपनी पुस्तक ''प्रिहिस्टोरिक कापर होर्ड इन गनजेटिक बैली, एन्टिक्विटी 18, 1944' में उनके इस विचार का समर्थन किया। किन्तु संशोधित मत के अनुसार उन्होंने पुनः यह प्रतिपादित किया कि ताम्र उपकरणों का निर्माण आर्यो के भीषण आक्रमण से त्रस्त होकर दक्षिण पूर्व की ओर गतिशील हड़प्पा के प्रवासी शरणार्थियों ने किया था। किन्तु इन दोनों विकल्पों को मानने में पर्याप्त कठिनाइयाँ हैं। निर्माण और उपयोगिता की दृष्टि से ये उपकरण न तो सैंधव सभ्यता से प्राप्त उपकरणों से समानता रखते है और न हस्तिनापुर से प्राप्त आर्यो द्वारा निर्मित उपकरणों से। सिन्धु प्रदेश के विस्तृत वैज्ञानिक उत्खनन में काँटेदार बर्छे (हार्पून) तथा मानव आकृतियाँ (एन्थ्रोपामोर्फिक फिगर) जो ताम्र संस्कृतियाँ (एन्थ्रोपोमोर्फिक फिगर) जो ताम्र संस्कृति के उपकरण हैं, सर्वथा अनुपलब्ध हैं।

सन् 1946 में श्री बी. बी. लाल ने ताम्र उपकरण संबंधी वस्तुओं का राजपुर परसू तथा बिसौली नामक दो स्थानों में साधारण उत्खनन कराया। (दे. पृ. 680 द्वितीय परिच्छेद)

इस संस्कृति के निर्माता ही संभवतः मिर्जापुर की पहाड़ियों से प्राप्त प्रागैतिहासिक भित्तिचित्रों के निर्माता थे लेकिन नृतत्वशास्त्री अध्ययन के आधार पर इन भित्तिचित्रों को प्राग-संस्कृति तथा भद्दे-भाण्डों का निर्माता मानना होगा। इस प्रदेश में बसने वाली निम्नस्तरीय-जातियों में आस्ट्रेलिद् शारीरिक लक्षणों की बहुलता तथा इस प्रदेश में व्यवहृत होने वाली भाषा में आस्ट्रिक शब्दों का विशेष समावेश इस मत को सजीव और सशक्त बना देते हैं। आस्ट्रिक भाषा परिवार की मुण्डा भाषा एक समय गंगा घाटी तथा मध्य भारत के विस्तृत भूभाग में बोली जाती थी (लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, 4, पृ. 6)। मिर्जापुर के अनेक गाँवों के नाम आज भी मुण्डा भाषा के है (जे. ए. एस. बी. भाग 3, पृ. 92-93, 1903)।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता में निषाद जाति की स्थिति मध्यप्रदेश में दक्षिण पूर्व में बताई गई है। (बृहत्संहिता, 14, 10)। संभावना इस बात की प्रतीत होती है कि मध्य देश में आर्यो के प्रवेश के कारण इन लोगों को दक्षिण और दक्षिण पूर्व की ओर खिसकना पड़ा था। विन्ध्य पर्वतमाला तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में निषाद संस्कृति का आदिम और अविकल स्वरूप दीर्घकाल तक अरण्यवासियों में जीवित रहा। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तरवैदिक काल में गंगा की घाटी में बसे बहुसंख्यक निषाद क्रमश वैदिक समाज में अंगीकृत हो चले थे। उनकी महत्वपूर्ण स्थिति का अनुमान राजसूय के प्रसंग में उनके प्रति प्रदर्शित राजकीय अनुग्रह से किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि अभी ये समाज की चातुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान नहीं पा सके थे। निरुक्त एवं बृहद्देवता में इन्हें पंचम वर्ण कहा गया है। (वैदिक इण्डेक्स 1, 453)

उत्तर वैदिक साहित्य में निषादों का अनेकशः उल्लेख हुआ है। शबर नाम भी इन्हीं का था, ऐसा अनुमान किया जाता है। महाभारत में निषादों को कद का छोटा, जली लकड़ी की भाँति काला और लोहिता कहा गया है। (दे. अनार्य जातियाँ एकलव्य के संदर्भ में पृ. 727)। भागवत पुराण में उनके गाल की उभड़ी हुई हड्डियों, दबी हुई नाक तथा ताम्रवर्ण केशों का उल्लेख है (भागवत पुराण 4, 14, 44)

निषाद लोग अधिकाशंतः नदियों के किनारे रहते थे, तथा मछलियाँ एवं अन्य जंगली पशुओं का शिकार करते थे। भाषा-वैज्ञानिकों ने मुण्डा तथा अन्य आष्ट्रिक भाषाओं में से संस्कृत के ऐसे शब्दों को ढूँढ निकाला है, जिन्हें उत्तरकालीन आर्य भाषा में ग्रहण किया गया। निश्चय ही इनमें से अनेक शब्दों को आर्यो ने सभवतः उन वस्तुओं से अपरिजन्य शब्दाभाव के कारण अपनाया। इन शब्दों का आर्य भाषा में प्रवेश भारतीय संस्कृति में निषाद तत्वों के अंगीकरण का सूचक है। चावल, कदली, नारियल, ताम्बूल, बैगन, लौकी, जामून, कपास और सिम्बल का उत्पादन, मोर, मातंग तथा कृकवाक आदि पशु-पक्षियों से परिचय, हस्तिपालन की विधि आदि भारतीय संस्कृति में निषाद तत्व माने जा सकते हैं। निषादों ने संभवतः कुदाल या छड़ी से भूमि खोदकर झूम प्रणाली से खेती करने की विधि का आविष्कार किया था। (दे. पृ. 421)

निषादों ने भारतवर्ष की धार्मिक परम्पराओं को समृद्ध करने में भी अपना विशिष्ट योग दान दिया। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रचलित लिंगपूजा जिसका प्रचलन सैन्धव संस्कृति में भी पाया जाता है, मूलतः आष्ट्रेलिद प्रतीत होती है। जीन सिलुस्की के अनुसार लिंग, लगुड आदि शब्द आष्ट्रिक भाषा ही के हैं। भाषाविदों के अनुसार ऐसे अनेक धार्मिक विश्वासों एवं परम्पराओं का मूल आष्ट्रेलिद होना चाहिए, जो भारोपीय और द्रविड़ संस्कृतियों के संग न होते हुए भी हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही विद्यमान है। यद्यपि उन सब की निषाद उत्पत्ति सिद्ध करना, प्रमाणों के अभाव में प्रायः असंभव है, किन्तु आत्मा के पुर्नजन्म में विश्वास, धार्मिक कृत्यों में ताम्बूल, हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग निछावर तथा निषेध (टैबू) में विश्वास, चन्द्रमा की कला के आधार पर तिथियों की गणना, तथा कौड़ी में गणना करने की प्रथा आदि का मूल आष्ट्रेलिद माना गया है। (आर्क्योलाजिकल ट्रेसेज आव वैदिक आर्यनस,जर्नल ऑफ इण्डोलोजिकल सोसाईटी, नं. 4 1936)। नृतत्व शास्त्रियों का विश्वास है कि आष्ट्रेलिद जाति के लोग घोर टोटेमवादी हैं (प्रिहिस्टोरिक कापर होर्ड इन गैन्जेटिक वैली, एन्टिक्विरी 17, 1944)। दे. 695 इसलिए बहुत से पशुओं जैसे नाग, मकर, कच्छप, और हाथी की पूजा भी बीजरूपेण इन्हीं की संस्कृति मानी जा सकती है। हो सकता है कि मत्स्य और कच्छप अवतार की कहानियाँ, मत्स्यगन्धा आख्यान, हितोपदेश और पंचतंत्र में सुरक्षित पशुओं की कथाएँ मूल रूप में आष्ट्रेलिद जाति की देन रही है।

निषाद, नदी जल की पवित्रता और उसकी पापा मोचन की शक्ति में भी विश्वास करते थे। मृत्यु के बाद दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए जल में अस्थि विसर्जन की प्रथा भी इन लोगों में प्रचलित थी। संथाल जाति के लोग जब तक दामोदर नदी में मृतकों की अस्थियों को विसर्जित नहीं कर लेते हैं, तब तक मृतात्मा को शान्ति नहीं मिलती, ऐसा उनका विश्वास है। दे. पृ. गंगा शब्द का ज्ञान भी संभवतः आर्यो को निषाद जाति से ही प्राप्त हुआ। निषादलोग गंगा शब्द के मूल आष्ट्रिक रूप का प्रयोग शायद नदी के अर्थ में करते थे (वैदिक एन. पृ. 154)। आज भी बंगला भाषा में गंगा का अर्थ नदी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के निवृत्तिमूलक धार्मिक का बीज भी निषाद संस्कृति में ही था। निवृत्तिमूलक धार्मिक परम्पराओं को प्रायः मुनियों और श्रमणों की अवैदिक धारा से संबंध किया गया है। किन्तु इनकी निषाद उत्पत्ति की सम्भावना ने विद्वानों का ध्यान यथेष्ट रूप से आकर्षित नहीं किया इसका प्रमुख कारण निषाद संस्कृति को अत्यन्त हीन और अविकसित समझने का पूर्वाग्रह रहा है। निवृत्तिभागीय मुनियों का स्पष्ट उल्लेख ऋकसंहिता केशि-सूक्त में हुआ है। इस प्रसंग में केशधारी, मैले

'गेरूए' कपड़े पहने हवा में उड़ते, जहर पीते, मौनेय से 'उन्मादित' और 'देवेषित' मुनियों का विलक्षण चित्र अभिलिखित है (ऋग्वेद 10, 136)। मुनियों का उल्लेख ऋकसंहिता में अन्यत्र भी है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखलाते हुए मुनियों के दर्शन ने सूक्तकार को विस्मय में डाल दिया था। वर्णन से स्पष्ट होता है कि मुनियों की यह परम्परा ऋग्वैदिक आर्यो के लिए जितनी विचित्र है, उतनी ही कदाचित भी। पूर्व वैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्तिवादी और देववादी दृष्टि मुनि श्रमण की दृष्टि के प्रतिकूल थी, जहाँ मुनियों के लिए प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक और हेय था तथा ब्रह्मचर्य तपस्या योग आदि निवृत्तिय परक क्रियायें ही उपादेय थीं, ब्राह्मण धर्म में ऐहिक और आमुष्मिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन। शंकराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण (गीताभाष्य का उपोद्घात)। पर ध्यातव्य है कि पूर्ववैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्तिलक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनिश्रमण थे। किन्तु आर्य लोग जैसे-जैसे पूर्व की ओर बढ़ते गए वैसे-वैसे वैदिक समाज पर मुनिश्रमण विचारधारा का प्रभाव भी बढ़ता गया। उपनिषद् (बृहदारण्यक उपनिषद्3, 4, 1; 4, 4, 25 और तैत्तिरीय आरण्यक 2, 20) युग तक मुनियों के उदात्तस्वरूप दर्शन होने लगता है। श्रमण शब्द का सकृत् प्रयोग है (बृहद-आरण्यक उपनिषद् 4, 3, 22), यद्यपि मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट रूप से यज्ञ विधि के निन्दक, मुण्डित शिर भिक्षुओं की कृति प्रतीत होता है, पर ये मुनि श्रमण तप को महत्व देते थे। ऐतरेय ब्राह्मण (33.11) में तापस धर्म के विरोध की क्षीण, प्रतिध्वनि सुनाई देती है, किन्तु उपनिषद् काल तक धार्मिक जीवन में तप की प्रतिष्ठा निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुकी थी। छान्दोग्योपनिषद् (2, 23, 1) में तप को तीन धर्म स्कन्धों में से एक माना गया है। उपनिषद् कालीन संस्कृति का केन्द्र मध्य देश तथा उसके दक्षिण पूर्व में कोशल तथा विदेह तक का भूप्रदेश था। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक आर्यो का तापस धर्म से घनिष्ट परिचय पंजाब में न होकर गंगा की घाटी में हुआ। ऋग्वेद के नौ मण्डलों में मुनियों का विरल उल्लेख इस बात का संकेत करता है कि तप की परम्परा उनकी अपनी अथवा सैन्धवजनों की नहीं हो सकती। जैसा कि देख चुके हैं, आर्यो के आगमन के समय गंगा घाटी में निषाद संस्कृति का विकास हो रहा था। ऐसी स्थिति में तापस धर्म के विकास के पीछे निषाद प्रभाव ही एक स्वस्थ विकल्प प्रतीत होता है। इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि मगध और विदेह के समीपवर्ती प्रदेशों में छठी सदी ई. पू. के पर्याप्त पहले, सम्भवतः उत्तरवैदिक युग में ही निवृत्ति परक जैन धर्म के मूल सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुके थे। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार तेइस तीर्थकर पार्श्वनाथ की तिथि महावीर जैन से 250 वर्ष पूर्व बतायी गई है, जिससे जैन धर्म का प्रारंभिक इतिहास 8वी. सदी पूर्व तक निश्चित रूप से पहुँचता है। स्मरणीय है कि परम्पराओं के अनुसार पार्श्वनाथ काले थे तथा सर्प उनका जातीय लांछन था। ये दोनों विशेषतायें निषाद जाति की हैं। बृहतसंहिता (14-10) में मध्य देश के दक्षिण पूर्व के प्रदेश को ही निषाद संस्कृति का केन्द्र कहा गया है। वैदिक गुण के अन्त में इन्हीं प्रदेशों में यज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म का विरोध तथा नैराश्यमूलक बौद्ध धर्म का उदय एवं जैन धर्म का विकास हुआ। वैदिक धर्म के विपरीत इन नवोदित धर्मों की लोकप्रियता इस प्रदेश में दीर्घ काल तक सम्भवतः इसलिए बनी रही कि इनके सिद्धान्त स्थानीय जनों की प्राचीन एवं उदात्त धार्मिक परम्परा के सर्वथा अनुकूल थे।

यद्यपि तप शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेक बार हुआ है किन्तु प्रायः सभी प्रसंगों में इसका

अर्थ तेज, सन्ताप, अथवा दाह है, तपस्या नहीं। यहाँ पर यह भी स्मरणीय है कि निवृत्तिपरक अथवा कलेश लक्षण तप, ऋक्संहिता के सुविदित जीवन दर्शन के विरुद्ध था तथा योगजन्य सिद्धियाँ उसकी अपरिचित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवैदिक काल में यह (तप) आष्ट्रिक 'तबु' शब्द का पर्यायवाची हो गया जिसका अर्थ 'त्याग' अथवा निषेध था। इसी के परिणामस्वरूप 'तप' शब्द का तपस्या के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। आष्ट्रिक तपु अथवा तबु शब्द से ही पालीनेशियन 'टैबू' शब्द की व्युत्पत्ति हुई।

श्री सुनीतिकुमार चटर्जी कुछ अन्य दार्शनिक विचारों को भी मूल रूप में आष्ट्रिक संस्कृति की देन मानते हैं पालीनेशियन आष्ट्रेलिदों में 'मन' की अवधारणा है कि वे सर्वव्यापी ईश्वरीय शक्ति मानते है। वैदिक युग के अन्त तक आरण्यकों एवं उपनिषदों में अदृश्य किन्तु सर्वव्यापी ईश्वरीय सत्ता का 'ब्रह्मन्' के रूप में विस्तरशः उल्लेख हुआ है। संभव है कि ब्रह्मन् की कल्पना के पीछे आष्ट्रिक 'मन' की धारणा आधार रूप में रही हो क्योंकि भारत आदिम आष्ट्रेलिदों में 'मन' संबंधी विश्वास अवश्य प्रचलित रहा होगा। सुविदित है कि 'ब्रह्मन्' के प्रति वैदिक आर्यो की आस्था तथा आकर्षण में वृद्धि मध्यदेश तथा उसके दक्षिण पूर्व (काशी, कौशल, विदेह) में हुई। इसी प्रदेश को निषाद जाति की निवास भूमि भी माना गया है

निषादों के सामाजिक जीवन की कल्पना मध्यभारत की कुछ आष्ट्रिक भाषा भाषी असभ्य एवं अर्ध सभ्य जातियों की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था के आधार पर की जा सकती है। इस विषय में कठिनाई इस बात की है कि उन लोगों ने पड़ोसी जन्य जातियों के प्रभाव के कारण अनेक आदिम परम्पराओं का त्याग कर दिया है। फिर भी इनके कुछ विचित्र रीति-रिवाज आज भी प्रायः अपरिवर्तित तथा मौलिक रूप से द्रष्टव्य हैं। संथाल, हो, मुंडा,भील आदि सभी जातियों में असुर विवाह का प्रचलन है। इन जात्रियों में विवाह के अवसर पर, वर पक्ष से कन्या के माता-पिता के लिए तथा कन्या के लिए पर्याप्त मात्रा में धन खर्च करना पड़ता है। यदि कन्या के माता-पिता वर के खर्च से संतुष्ट होते है, तभी कन्या का विवाह उस वर से हो सकता है यह असंभव नहीं है कि आष्ट्रेलिद समाज में पुरा-ऐतिहासिक काल से ही क्रय-विवाह की परम्परा रही हो। इससे आष्ट्रेलिद समाज में नारी की उपयोगिता तथा बहूमल्यता सूचित होती है। (लुई, प्रिमिटिभ सोसाइटी, पृ. 18-20) धर्मग्रन्थों के विरोध होते हुए भी निषादों द्वारा स्वीकृत क्रय विवाह भारतीय समाज में सदैव प्रचलित रहा। संथाल, मुंडा और उराँव आदि जातियों में बाल विवाह का भी प्रचलन है। यद्यपि निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना कठिन है तथापि धर्मसूत्रों के काल तक हिन्दू समाज में बाल-विवाह के विस्तृत प्रचार के पीछे निषाद प्रभाव अनायास-कल्पनीय है।

(ग) किरात संस्कृति

भारतवर्ष की प्राक् आर्य प्रजातियों के सांस्कृतिक इतिहास में किरातों का विशेष योग नहीं रहा है, फिर भी इस प्रसंग में उनका अध्ययन सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। मंगोलजातियाँ प्राक् ऐतिहासिक युग से ही भारतवर्ष में आती रहीं और हिमालय के गिरिपादीय प्रदेशों-असम, नेपाल, लद्दाख आदि में बसती रही हैं। मोएनजोदड़ो के विशाल जनसंकुल में मंगोलतत्त्व विद्यमान था। वहाँ से उपलब्ध मूर्तियों के पँखे के आकार की जिस शिरोभूषा का ज्ञान होता है, उसकी तुलना-प्रदेश में प्रचलित किरात जाति की शिरोभूषा

से की जा सकती है। वैदिक साहित्य से भी उनके पर्वतीय प्रदेश का निवासी होने का ज्ञान होता है। वाजसनेयी संहिता (30/16) में उन्हें गुहा निवासी तथा अथर्ववेद (10/4/14) में पर्वतीय प्रदेश का निवासी कहा गया है। महाभारत (7/4/14) में पर्वतीय प्रदेश का निवासी कहा गया है। महाभारत 7/4/7) में इन्हें हिमवन्त प्रदेश का निवासी बताया गया है। अर्जुन को किरात वेषधारी शंकर से युद्ध करना पड़ा था (वन पर्व 39 पूरा अध्याय)। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ऋग्वेद में वर्णित आर्यो का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी शम्बर इन्ही पहाड़ी लोगों का नेता था (ऋग्वैदिक आर्य पृ. 81-82)। इस शम्बर के सौ पर्वतीय दुर्गो के उल्लेख से इस अवधारणा की अशंत: पुष्टि भी होती है (ऋ. 2/14/6)। ऋग्वेद की अन्य ऋचाओं से भी इसका, पहाड़ी प्रदेश से सूचित होता है (ऋग्वेद 1/130/7: 4/30/14: 6/26/5: 2/24/2)।

किरात लोग निषादों से भी अधिक सांस्कृतिक दृष्टि से अविकसित थे। ये निषादों तथा आर्यो के समक्ष सांस्कृतिक संघर्ष में नहीं टिक सके। अत: इन्हांने अधिकांशत: हिंन्दू संस्कृति को अपना लिया।

परन्तु जो इस प्रभाव में नहीं आये, उनकी सांस्कृतिक परम्पराएँ आज भी असम के पहाड़ी प्रदेशों में पाई जाती है। किरातों का समाज मातृवंशीय, मातृसत्तात्मक तथा मातृस्थानीय था। गारो और खासी जातियों में यह व्यवस्था आज भी पूर्ण विकसित रूप में मिलती है। खासी लोग अपनी वंशावली का प्रारंभ स्त्रियों अथवा राजकुमारियों से मानते हैं। इन लोगों में सम्पत्ति पिता की नहीं, बल्कि माता की समझी जाती है। माता की मृत्यु के बाद इस सम्पत्ति की उत्तराधिकारी भी लड़कियाँ होती हैं। मनुष्य की व्यक्तिगत आय की स्वामिनी, विवाह के पूर्व माता और विवाह के बाद पत्नी होती है। विवाहोपरान्त पति, प्राय: पत्नी के घर पर ही निवास करता है। पौरोहित्य का कार्य भी प्राय: स्त्रियाँ ही सम्पादित करती है। इनमें सृष्टि-निर्माण का देवता भी नारी-गुणोपेत है।

गारो लोगों की सामाजिक व्सवस्था भी इसी प्रकार मातृसत्तात्मक है। इनकी सन्तानें माता के कुल एवं वंश से संबंधित समझी जाती हैं। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री का मानते है। सास के विधवा होने पर दामाद को उससे विवाह करना पड़ता है। सास सम्पत्ति की स्वामिनी होती है ऐसी स्थिति में उसकी सम्पत्ति को अपनी पत्नी के लिए, सुरक्षित करने के लिए दामाद उससे विवाह करता है।

किरातों की एक अन्य उल्लेखनीय सामाजिक परम्परा बहुभर्तता का प्रचलन है आजकल लद्दाख और उसके सीमावर्ती प्रदेशों तथा जानसरबाबर की पहाड़ियों में इस प्रथा का प्रचार है। बेस्टरमार्क ने इस प्रथा का कारण स्त्रियों की कमी माना है, किन्तु लुई (प्रिमिटिव सोसाइटी पृ. 43) ने इसका मूल कारण गरीबी बताया है। पहाड़ी जीवन की कठोरता एवं संघर्ष ने इन लोगों को जनसंख्या-नियोजन के लिए विवश किया होगा (डा. विजय बहादुर राय उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति एक अध्ययन पृ. 20)।

VI. आर्येतर धर्म का प्रभाव

उत्तर वैदिक युग में जहाँ एक ओर वैदिक धर्म का अन्त: विकास हुआ, वहीं इस पर आर्येतर धर्म धाराओं का प्रचुर प्रभाव भी पड़ा। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नवोदित वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत आर्यो एवं अनार्यो का समिश्रण हुआ। ऐसी स्थिति में आर्य एवं आर्येतर संस्कृतियों में सामंजस्य

एवं समन्वय भी अवश्यं भावी हो गया। वैदिक यज्ञ संस्था के अन्तर्गत भी आर्येतर धार्मिक तत्व आत्मसात हुए। यह प्रभाव वैदिक देवत्व पर भी परिलक्षित होता है, जिसके परिणाम स्वरूप कतिपय देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन हुआ तथा उनकी महत्ता में भी वृद्धि हुई। अनार्य प्रभाव के कारण ही उत्तर वैदिक युग में पूर्ववैदिक काल के गौण' देवता रुद्र और विष्णु अतिशय लोकप्रिय हुए। इस युग में ऋग्वेदिक रुद्र ने प्रकृत्या समान होने के कारण सैन्धव शिव को आत्मसात किया। यजुर्वेद में (वाजसनेयी संहिता 1, 60, तैत्तिरीय संहिता 4,4) में अनेक ऐसे संकेत हैं जिनसे शिव का आंशिक अनार्यत्व पुष्ट होता है। उभय सांस्कृतिक परम्पराओं से संबंध होने के कारण यह देवता जनसाधारण में अधिक श्रद्धेय हो गया। इसी प्रकार विष्णु की लोकप्रियता के पीछे भी आर्येतर धार्मिक परम्पराओं का प्रभाव प्रतीत होता है। ऊपर आर्य, प्राक् आर्य, समन्वय सूत्र में बताया गया है कि विष्णु आर्यो के सौर देवता होते हुए भी अंशतः द्रविड़ों के आकाश देवता हैं, और अम्बिका का संबंध रुद्र से बताया गया है। अथर्ववेद से उपलब्ध धार्मिक विश्वासों में विरोधी एवं विचित्र तत्वों का सम्मिश्रण आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम माना गया है। संभवतः पीपल जैसे वृक्षों में देवत्व की कल्पना तथा उनकी उपासना और विविध अभीप्सित फलों की प्राप्ति के लिए तांत्रिक क्रियाओं का आश्रय अथर्ववेद पर आर्येतरीय प्रभाव का ही सूचक है। यह उल्लेखनीय है कि सैन्धव संस्कृति के अन्तर्गत पीपल वृक्ष में देवत्व की कल्पना तथा तांत्रिक क्रियाओं में विश्वास प्रचलित धर्म का अनिवार्य अंग था (ह्वीलर, इण्डस सिभिलाइजेशन पृ. 80-84)। इसके विपरीत ये तत्व पूर्व वैदिक धर्म में प्रायः अज्ञात हैं। नाग जैसे जन्तुओं की उपासना निषाद जाति की देन हो सकती है। निषाद लोग घोर टोटेमवादी थे, तथा उनके अनेक समूहों में नाग (सर्प) की धार्मिक महत्ता एवं पवित्रता स्वीकृत थी।

उत्तर वैदिक युग के कुछ नवीन देवता प्राकृतिक जगत से संबंधित हैं। ऋग्वेद में वनस्पतियों की स्तुति में सूक्त रचित है (ऋग्वेद 7/34/23;10/64/8)। किन्तु अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय संहिता में दैवी शक्ति का निवास विशेषतः अश्वत्थ, न्यग्रोध, उदुम्बर और प्लाक्ष में माना गया है (तैत्तिरीय संहिता 3/4/8/4) । अश्वत्थ की आकस्मिक महत्ता में वृद्धि का कारण सैन्धव धर्म का प्रभाव हो सकता है क्योंकि सैन्धव समाज में अश्वत्थ वृक्ष धार्मिक दृष्टि से समादृत था। जब कि ऋग्वैदिक धर्म के अन्तर्गत ऐसी स्थिति नहीं थी। अथर्ववेद में एक स्थल पर पौधे का उल्लेख पृथ्वी देवी से जन्म लेती हुई एक देवी के रूप में हुआ है (अथर्ववेद 6/136/1)। यह वर्णन सैन्धव संस्कृति से संबंधित उस मुद्रा से आश्चर्यजनक साम्य रखता है, जिस पर देवी की योनि से पौधे का जन्म प्रदर्शित किया गया है (मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलजेशन, ग्रन्थ 1 पृ. 52)। पशुओं में अनेक को ऋग्वेद में ही आंशिक देवत्व से युक्त किया गया है, किन्तु उनकी वास्तविक उपासना सर्वथा सन्दिन्ध है। उत्तर वैदिक काल में वाराह और कच्छप मे देवत्व की कल्पना स्पष्ट है। नाग उपासना की लोकप्रियता भी परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के अध्ययन से स्पष्ट है। ओल्डेनवर्ग नागपूजा के मूल में टोटेमवाद मानते हैं, (रिलिजन एण्ड फिलोसोफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद, भाग 1, पृष्ठ 165 पर उद्धृत)। उनका यह मत ग्राह्य प्रतीत होता है। बौद्ध युग में कोशल ओर विदेह के समीवर्ती प्रदेशों में नाग जाति का बाहुल्य था। इन नाग लोगों में सर्प की उपासना प्रचलित रही होगी। भय की भावना तथा उपासक से भयंकर सर्पो को दूर रखने की कामना को भी नाग पूजा के विस्तार का एक कारण माना जा सकता है।

उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति में यज्ञों की प्रधानता थी। सोम यज्ञों में सर्वाधिक जटिल, विकृत एवं वीभत्स पुरुषमेध तथा अग्नि चयन के प्रसंग में चिति-निर्माण से संबंधित पंच पशु यज्ञ है। सामान्यतः पुरुषमेध में यज्ञ पाँच दिन तक चलता था (शतपथ ब्राह्मण 13, 6.11)। जिस प्रकार अश्वमेध में अश्व प्रधान मेध्य पशु है, उसी प्रकार इस मेध में मनुष्य। इस यज्ञ की सम्पादन-पद्धति भी अश्वमेध पर ही आधारित है (शांखायन श्रौत्र सूत्र 16, 10,2)। पुरुषमेघ के लिए एक ब्राह्मण या क्षत्रिय को सहस्र गायें और सौ घोड़े देकर खरीदने का विधान था (शांखायन श्रौत्रसूत्र 16. 10, 9)। यदि क्रय के माध्यम से कोई व्यक्ति उपलब्ध न हो, तो किसी शत्रु को जीत कर उसकी बलि देनी चाहिये (बैखानस श्रौत सूत्र 7, 37, 16)। यदि उसकी पत्नी अवरोध करे तो उसकी सम्पत्ति छीन लेने तथा अब्राह्मणी होने पर उसकी हत्या करने की बात भी कही गई है (शांखायन श्रौत सूत्र 16, 10.9)। इस प्रकार प्राप्त पुरुष को स्नानादि द्वारा पवित्र करके एक वर्ष तक स्वतंत्र छोड़ देने की व्यवस्था थी। उस काल में वह ब्रह्मचर्य को भंग नही कर सकता था (शांखायन श्रौतसूत्र 16, 10, 9)। वर्ष के पूरा होने पर इन्द्र और पूषन को पशु बलि दी जाती थी (वैतान श्रौ. सूत्र 7, 37, 11) शुन:शेप काक्षीवन्त आदि से संबंधित नाराशंसी का पाठ होता था (शांखायन श्रौत सूत्र 16, 11)। शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र तथा आपस्तम्ब श्रौत सूत्र, पुरुष मेघ के लिए 11 यूपों का विधान है। (शतपथ ब्राह्मण 13, 6, 1.6 कात्यायन श्रौत सूत्र 21.4) किन्तु शांखायन श्रौत सूत्र (16, 12, 6) में पच्चीस यूपों का विधान है। पुरुष मेध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुष्ठान तीसरे दिन होता था। इस अवसर पर मेध्य पुरुषों को विविध यूपों में बाँधा जाता था। (कात्यायन श्रौत सूत्र 21,7-9)। पुरोहित यूपबद्ध मनुष्यों की ऋग्वेद पुरुष सूक्त के मंत्रों के माध्यम से प्रशंसा करता था। इससे पुरुषमेध एवं पुरुष सूक्त का सबंध प्रकट होता है। इसके बाद मेघ्य पुरुषों का पर्यग्निकरण होता था (शतपथ ब्राह्मण 13, 6, 2, 12) शतपथ ब्राह्मण (13, 6, 2, 13-15) के अनुसार पर्यग्निकृत मनुष्य मुक्त किये जाते थे तथा केवल ग्यारह मनुष्यों का वध होता था, जो पर्यग्निकृत नहीं होते थे। ब्राह्मणों तथा सूत्रों के अध्ययन में इतना सुनिश्चित है कि कर्मकांडीय साहित्य में वास्तविक पुरुषमेध का विध ाान था, किन्तु यह कहना निश्चित ही कठिन है कि समाज द्वारा इस प्रकार के आमानुषिक यज्ञों को कितनी मान्यता प्राप्त थी। यह यज्ञ अवश्य ही जनसाधारण के घृणा एव भयमिश्रित अश्रद्धा का विषय रहा होगा। ब्राह्मण साहित्य में किसी राजा द्वारा पुरुषमेध के सम्पादन का उल्लेख नहीं मिलता। प्रायः सर्वत्र इसका सैद्धान्तिक विवरण ही उपलब्ध होता है। संभव है कि पुरोहितों के प्रभाव से आक्रान्त किसी राजा ने पुरुषमेध को व्यावहारिक रूप दिया भी हो, किन्तु अभी तक इस संबंध में निश्चयात्मक साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। कतिपय पुरातात्विक प्रमाण अवश्य उपलब्ध हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि पुरुषमेध की प्रथा व्यावहारिक जीवन में सर्वथा अज्ञात नहीं थी।

श्रौदर के अनुसार पुरुषमेध की परम्परा आर्य जाति में अतिप्राचीन काल में प्रचलित थी (उनका यह मत ऋग्वेद 10, 18,8 और 10, 85, 21-22) पर आधारित है। किन्तु ऋग्वैदिक आर्यो के धार्मिक अनुष्ठान में इसका कोई स्थान नहीं है। ऋग्वेद संहिता में इस पुरातन परम्परा की प्रतिध्वनि अवश्य मिलती है। पुरुषमेध के माध्यम से सृष्टि के उद्‌भव की कल्पना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है।

उत्तर वैदिक युग में पुरुषमेध का उन्मज्जन तथा इसका तांत्रिक स्वरूप संभवतः इस बात का संकेत करता है कि यह मृत्प्राय परम्परा कतिपय नवीन सांस्कृतिक धाराओं के योग से पुनः बलवती

हुई तथा इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुए। पुरुषमेध की परम्परा पर आंशिक आर्येतरीय प्रभाव को सूचित करने वाले साक्ष्य निश्चायक न होते हुए भी महत्वपूर्ण तथा अनुपेक्षणीय हैं। सुविदित है कि वैदिक आर्यो की ग्राम्य संस्कृति, नगर निर्माण से उदासीन तथा भवन निर्माण में ईटों के प्रयोग से अपरिचित थी। ऐसी स्थिति में चित्ति निर्माण के लिए ईटों का प्रयोग विस्मय जनक है। इष्टिकामय चित्तिनिर्माण नागरिक सभ्यता की देन प्रतीत होती है न कि वास्तुकला में ईटों के प्रयोग से अपचरिचित समाज की। हस्तिनापुर के उत्खनन से ज्ञात है कि उत्तर वैदिक आर्यो का परिचय इष्टिका निर्माण से अत्यन्त अल्प और संभवतः एकदम नया था। असम्भव नहीं है कि इष्टिकामय चितिनिर्माण की प्रथा नागरिक सैन्धव संस्कृति से ग्रहण की गई हो। आधार बलि होने के कारण अग्निचयन के प्रसंग के चितिनिर्माण से संबंधित पंचपशुबलि' भी प्रकृत्या उसी स्रोत से संबंध होनी चाहिये। सैन्धव संस्कृति के अन्तर्गत धर्म का स्वरूप अत्यन्त उदात्त था, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वहाँ धर्म का हीनतर पक्ष सर्वथा अज्ञात था। वहाँ से प्राप्त बहुसंख्यक ताबीज तांत्रिक क्रियाओं के प्रचलन के सूचक तो हैं ही, साथ ही कतिपय मुद्राओं पर उत्कीर्ण चित्र सैंधव समाज में नरमेध के प्रचलन को प्रमाणित करते हैं। अथर्ववेद में केवल रुद्र को पंच पशु प्रदान करने का उल्लेख हुआ है। (अथर्ववेद 11, 2, 6)। अग्निचयन के प्रसंग में भी रुद्र सबसे महत्वपूर्ण देवता है। चिति निर्माण के पश्चात् सर्वप्रथम रुद्र को प्रसन्न करने के लिए शतरुद्रिय के पाठ का विधान है। अग्निचयन तथा पंचपशुवधसे रुद्र का यह संबंध महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद एवं यजुर्वेद का रुद्र ही पंचपशु यज्ञ तथा नरमेध से सम्बधित किया गया है, जो सैन्धव शिव को आत्मसात करने के कारण प्रधानतः एक अनार्य देवता प्रतीत होता है। उनका अनार्यत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि उन्हें यज्ञ की बलि चौराहे पर चींटियों के समूह पर हवि फेंककर दी जाती थी, तथा उनसे मूजवन्त से भी उस पार चले जाने की प्रार्थना की जाती थी। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि अग्निचयन की प्रथा का प्रारंभ पश्चिमोत्तर लोगों में माना गया है (कीथ, पूर्व उदधृत पुस्तक, भाग 2, 354)। कोशाम्बी में अग्निचयन तथा पुरुषमेध के सूचक जो प्रमाण मिले हैं, वे भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं।) उपर्युक्त सूत्रों को परस्पर जोड़ने पर अग्निचयन एवं पुरुषमेध के प्रचलन पर आर्येतर प्रभाव की संभावना दृढ़ होती है। इसमें संदेह नहीं कि यज्ञ मूलक धर्म वैदिक आर्यो की अपनी विशेषता थी, किन्तु सांस्कृतिक सामंजस्य के साथ यज्ञों के अन्तर्गत आर्येतर तत्व भी ग्रहण किये गये। उनका जो मिश्रित स्वरूप आज उपलब्ध है उसमें आर्य और आर्येतर परम्पराओं का पृथक्करण अत्यन्त दुष्कर है। सैन्धव धर्म के देवता शिव और उत्तर वैदिक युग में शिव को आत्मसात किये रुद्र को अनार्यो का देवता माना गया है (इसी अध्याय के बाद में इसका विस्तार किया जायेगा)।

प्रजापति

यजुर्वेद एवं ब्राह्मणों में सर्वाधिक सम्माननीय स्थान प्रजापति का है। यद्यपि ऋग्वेद में भी उनका उल्लेख है। (10/121) किन्तु उनका स्थान देवमंडल में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। प्रारम्भ में वे सृजन के देवता हैं इसलिए ऋक्संहिता तथा अथर्ववेद में सन्तान कामना से ही उनकी स्तुति अधिक मिलती है।

किन्तु उत्तर वैदिक काल में उनका उल्लेख सम्पूर्ण विश्व में स्रष्टा के रूप में हुआ है। वे देवताओं, असुरों एवं मनुष्यों का सृजन करने वाले है (ताण्ड्य ब्राह्मण 6, 1)। उन्हीं से वेदों तथा वर्णो

की उत्पत्ति भी मानी गई है। उनकी महत्ता इस बात से प्रकट है कि उन्हें यज्ञ का साक्षात रूप माना गया है (शतपथ ब्राह्मण 4, 3, 4, 3)। उत्तर वैदिक युग का यह सर्वोच्च देवता अमूर्त हैं। वे प्रकृति के किसी अंग का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं और उनके मानवीकरण का भी विशेष प्रयास नही दिखाई देता है। उनसे संबंधित पुराकथाओं में अपनी पुत्री उषस के साथ उनका निकटाभिगमन का प्रयास बहुचर्चित है। मैत्रायणी संहिता (4, 2, 12) के अनुसार उनके इस कुकर्म पर कुपित होकर रुद्र ने शर संधान किया, किन्तु प्रजापति द्वारा पशुपति बनाये जाने का गौरव प्राप्त कर उन्होंने लक्ष्य भेद नहीं किया। ऐतरेय ब्राह्मण (3, 33) के अनुसार उनके इस दुष्कर्म से सभी देवता क्रुद्ध हो गये तथा उन्होंने भयंकर तत्वों से प्रजापति के दमनार्थ रुद्र का सृजन किया। इस पुराकथा का सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्व है। इससे प्रकट है कि पिता–पुत्री के बीच यौन संबंध सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध एवं समाज के कोप का विषय था। प्रजापति जैसे महान् देवता को इस प्रकार के अनैतिक कर्म से संबंधित करना विस्मयजनक है। अन्यत्र इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने उषस का विवाह सोम के साथ किया था (जैमिनीय ब्राह्मण 1, 2, 13; ऐतरेय ब्राह्मण 4, 7)।, प्रजापति का पशु रूप में उल्लेख तथा उससे संबंधित पुराकथाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। शूकर के रूप में जलमग्न पृथ्वी को ऊपर उठाने तथा कच्छप रूप में प्रजाओं की सृष्टि करने की बात ब्राह्मण साहित्य में उल्लिखित है। (शतपथ ब्राह्मण 14/1/2/11; तैत्तिरीय संहिता 7/1/5/1)। संभवत: इसी कल्पना की आधार शिला पर परवर्ती युग से विष्णु के शूकर और कच्छप अवतार की बात हिन्दू धर्म में स्वीकृत हुई। उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित प्रजापति का शूकर और कच्छप स्वरूप आर्येतर प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण (1, 8, ,9, 1) में जलप्लावन की कथा का भी उल्लेख हुआ है। वाराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कल्पना भी संभवत: जलप्लावन आख्यान से ही संबंधित है। इस कथा में जलप्लावन आख्यान का अग्रिम विकास सूचित है। यह उल्लेखनीय है कि जलप्लावन तथा वाराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार संबंधी पुराकथा से वैदिक आर्यो का परिचय बहुत बाद का है। वैदिक संहिताओं में इस पुराकथा का कोई संकेत नहीं मिलता है। यह पुराकथा मूलतः सुमेरीय साहित्य में मिलता है। सैन्धव संस्कृति तथा सुमेरीय संस्कृति के घनिष्ठ संबंध को देखते हुए यह स्पष्ट है कि इस कथा से सैन्धव नागरिक भी सुपरिचित रहे होंगे। भारत में जलप्लावन और वाराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कथा मूलरूप में सैन्धव सांस्कृतिक परंपरा से ग्रहण की गई होगी, तथा सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल बनाने के लिए इसमें न्यूनाधिक संशोधन और परिवर्धन भी हुआ होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋक् संहिता 1, 61, 7, और 8, 77, 10 में वाराह का उल्लेख वृत्र के रूप में हुआ है तथा विष्णु द्वारा उसके वध की बात कही गई है। तैत्तिरीय संहिता 9/2/4/2 में भी उसका संबंध असुरों से बताया गया है तथा इन्द्र द्वारा उसकी हत्या का उल्लेख हुआ है। इन वर्णनों से भी उसका संबंध आर्येतर देवमंडल से सूचित होता है। उत्तर वैदिक युग के मिश्रित समाज में उसका समीकरण प्रजापति के साथ स्थापित करने का प्रयास हुआ। इसी प्रकार कच्छप से सृष्टि के विकास की कथा से टोटमवादी मनोवृत्ति पूर्णत: परिलक्षित है। पुरा–ऐतिहासिक युग में गंगा की घाटी में निवास करने वाली निषाद जाति में टोटमवाद का प्रचलन अप्रत्याख्येय है। सैन्धव संस्कृति के निर्माण में भी निषाद जाति का योग था। ब्राह्मण साहित्य की रचना निषाद जाति के केन्द्र मध्य देश में हुई। अत: यह स्वभाविक प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक साहित्य में टोटमवाद से प्रभावित ये कथाएँ निषाद स्रोत से ली गई होंगी।

विष्णु

ऋक्संहिता में विष्णु का उल्लेख सौर देवता के रूप में मिलता है, इसका वर्णन ऊपर हो चुका है। विष्णु सूर्य क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं। ऋग्वेद में उनके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहने वाले, यथेच्छ भ्रमण करने वाले, भयानक पशु सिंह से की गई (ऋग्वेद 1, 154,2)। विष्णु का महत्वपूर्ण कार्य पृथ्वी को तीन डेगों से नापना है। विशाल डेगों या क्रमों के कारण उन्हें ''उरुक्रम'' भी कहा गया है। विष्णु के इन तीन पद-क्रमों के विषय में पर्याप्त वैमत्य हैं। यास्क ने आचार्य और्णवाभ का मत उद्धृत किया है। जिसके अनुसार तीन पदक्रमों द्वारा प्रायः मध्याह्न और सांयकाल में सूर्य के द्वारा अंगीकृत आकाश के तीन स्थान बिन्दुओं का निर्देश है। (निरुक्त 12, 14)। अन्य आचार्य शाकपूर्णि के मतानुसार त्रिविक्रम से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश इन तीन लोकों के मापने तथा अतिक्रमण करने का संकेत हैं इन दोनों मतों में से द्वितीय मत की पुष्टि ऋग्वेद के मन्त्रों से स्तवः होती है, जिनमें तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक में मानी गई है।

विष्णु नामक और देवता वैदिक काल में विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण (1,1) के प्रारंभ में ही विष्णु के परमदेव होने की सूचना दी गई है। ब्राह्मण साहित्य (शतपथ ब्राह्मण 5/2/3/9; 5/4/5/1; 12/4/1/4) में विष्णु के वामन अवतार की कल्पना भी अंकुरित हुई, जिसका आधार विष्णु का त्रिविक्रम प्रतीत होता है। ब्राह्मणों में असुरों के सम्मुख देवताओं के अस्तित्व एवं सहत्व की रक्षा का श्रेय विष्णु को ही दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (6, 15) के अनुसार असुरों ने विष्णु को उतनी भूमि देना स्वीकार किया, जितनी वे तीन पदों से अधिकृत कर सकें। विष्णु ने सभी लोकों को माप लिया। तैत्तिरीय संहिता (2, 1, 3, 1) का वर्णन कुछ और स्पष्ट है। इसके अनुसार विष्णु ने वामन रूप धारण करके तीनों लोकों को अधिकृत किया। शतपथ ब्राह्मण (1/2/5/1) में भी असुरों द्वारा विजित पृथ्वी पर वामन-विष्णु की सहायता से देवताओं के अधिकार की बात कही गई है। शतपथ ब्राह्मण (12/3/4/1) में नारायण का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु विष्णु से उनका संबंध सूचित नहीं होता है। मैत्रायणी संहिता (2, 9) में विष्णु का उल्लेख केशवनारायण के रूप में हुआ है। महाकाव्यों में विष्णु नारायण की सत्ता परस्पर विलयित हो गई है, किन्तु विष्णु और नारायण के तादात्म्य प्रारम्भिक प्रयास उत्तर वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। कतिपय विद्वान जैसे डी. डी. कौशाम्बी, एन इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्टरी पृ 11 में लिखा है कि अवधारणा आर्येतरीय है। नारायण शब्द स्वतः द्रविड़ उत्पत्ति का प्रतीत होता है।

V. अनार्यो के देवता शिव

सैन्धव सभ्यता के धर्म का वर्णन करते समय बताया गया है कि शिव अनार्यो के देवता थे (दे. इसी अध्याय में आर्य-अनार्य समन्वय के सूत्र) उत्तर वैदिक युगमें अनार्य प्रभाव के ऋग्वेदिक रुद्र ने प्रकृत्या समान होने के कारण सैन्धव शिव को आत्मसात किया। यजुर्वेद में अनेक ऐसे संकेत हैं जिनसे शिव का आंशिक अनार्यत्व पुष्ट होता है वाजसनेयी संहिता 1, 60, तैत्तिरीय संहिता 4, 4)। उभय सांस्कृतिक परम्पराओं मे संबंध होने के कारण यह देवता जनसाधारण में अधिक श्रद्धेय हो गया।

रुद्र का वर्णन ऋकसंहिता में भी मिलता है। ऋग्वेदीय रुद्र आकाश के मध्यम कोटि के देवता

हैं और संभवत: 'झंझावात' के साथ आने वाले विद्युतत्धारी घने काले मेघों के दैवीकरण हैं। उनके स्वभाव में उग्रता का प्राबल्य होने पर भी सौम्यता का अभाव नहीं है। अथर्ववेद (11,1, 7-8) में भी रुद्रका बहुत कुछ ऋग्वेदीय वर्णन के सदृश है, यद्यपि यत्र-तत्र उनके विषय में कुछ नवीन तथ्यों का भी उल्लेख किया गया है। यहाँ रुद्र को कृष्णोदर और लाल पीठ वाला कहा गया है। वह धनुर्धारी और नीले केश वाले (नील शिखण्डिन हैं; अथर्ववेद 11, 2, 6)। उन्हें सहस्राक्ष भी कहा गया है (अथर्ववेद 11, 2, 2-7)। इस विरुद को उनके वर्धमान प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। ऋग्वेद के समान अथर्ववेद में भी रुद्र की स्तुति उग्र और सौम्य दोनों रूपों में की गई है, यद्यपि उग्र रूप पर अधिक बल दिया गया है। सौम्य रूप में उन्हें ऋग्वेद के समान ही 'जलासभेषज' कहा गया है (अथर्ववेद 2, 27, 6) और व्याधिविनाश के लिए उनका आह्वान किया गया है। अथर्ववेद में रुद्र को प्राय: पशुपति भी गहा गया है। इस उपाधि का उनके लिए ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में भी उनके द्वारा पशुओं के कल्याण का उल्लेख है, इसलिए यह विरुद ऋग्वेदीय वर्णन का ही अग्रिम विकास माना जा सकता है। किन्तु आर्येतर सैन्धव धारा के अन्तर्गत भी आदि शिव की उपासना 'पशुपति' रूप में प्रचलित थी। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल में, जब आर्य एवं आर्येतर परम्पराओं का संगम हुआ, रुद्र-शिव के पशुपति रूप की महता में वृद्धि आर्येतर प्रभाव को भी सूचित करती है। ऋग्वेद में रुद्र को पशुओं का कल्याण करनेवाला कहा गया है, मात्र इससे उनके पशुपति रूप की कल्पना का जन्म नहीं हुआ, वरन् अवैदिक देवता शिव और वैदिक रुद्र के तादात्म्य में इस विश्वास को बल मिला।

उग्र रूप में अथर्ववेदीय रुद्र अपने विषधर शरों से व्याधियों को फैलाते हैं उनसे प्रार्थना की गई कि अपने विद्युत शरों को स्तोताओं से दूर रखें (अथर्ववेद 11, 2, 26)। एक स्थल पर उनके मात्सर्य की भर्त्सना की गई है (अथर्ववेद 1, 28, 5)। उन्हें ज्वर और विष से त्रस्त करने वाला भी कहा गया है (अथर्ववेद 11, 2, 22-26)। अथर्ववेद के कुछ मंत्रों से रुद्र का संबंध नरमेध से भी परिलक्षित होता है। इस वेद में एक स्थान पर रुद्र को यज्ञ में आहुति के रूप में पाँच प्राणी समर्पित किये गये हैं, उनमें से एक प्राणी मनुष्य है (11, 2, 6)। इस से संकेतित है कि रुद्र को कभी कभी नरबलि भी दी जाती थी। इसमें रुद्र के भूंकने वाले विकराल श्वानों का उल्लेख हुआ है, जो भक्ष्य को बिना चबाये, निगल जाते हैं। परवर्ती युग में श्वानों को यम का सहचर बताया गया है। यह सर्वथा संभव है कि अथर्ववेदीय युग में रुद्र के एक रूप को मृत्यु का देवता माना जाता रहा हो और इस रूप में उनके सहचर श्वानों की कल्पना की गई हो। कालान्तर में जब यम मृत्यु का देवता माना गया तब श्वानों का संबंध रुद्र के स्थान में यम के साथ जोड़ दिया गया है। भारत के अनेक प्रदेशों में भैरव का, जो मुंडमाल धारण करते हैं, और शिव का ही एक रूप माने जाते हैं, वाहन, श्वान ही माना गया है तथा उन्हें 'श्वाश्व' कहा गया है। रुद्र का मृत्यु से संबंध, पिशाच और भूत से उनके संबंध में भी संकेत करते हैं। अथर्ववेद (5, 29,9) में पिशाच का मृतकों से संबंध बताया गया है और उन्हें शव भक्षण करने वाला (क्रव्याद) कहा गया है। एक स्थान (अथर्ववेद 5, 24,5) पर अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह रुग्ण मनुष्य के उस मांस को जिसे पिशाचों ने खा लिया है पुनः प्रदान करें। भूतपति के रूप में रुद्र की कल्पना सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही मिलती है और इसी में उसकी अभिन्नता भव और शर्व से स्थापित की गई है, जिन्हें स्पष्टतः भूतपति कहा गया है 11.2.9)।

यद्यपि अथर्ववेदीय रुद्र प्रधानतः एक भयंकर तथा उग्र देवता हैं, तथापि उनके प्रभाव एवं लोकप्रियता में क्रमिक वृद्धि के चिन्ह स्पष्ट हैं। यह विरोधाभास विस्मयजनक है। इस प्रसंग में उनका भव और सर्व इन दो देवताओं को आत्मसात कर लेना और सहस्राक्ष जैसे विरुद उदाहरणीय हैं। इस ग्रन्थ (अथर्ववेद 2, 27, 6; 9.3, 1; 12, 4, 17) में कुछ स्थलों पर इन दोनों देवताओं के विनाशात्मक वाणों और विद्युत का उल्लेख हुआ है। वहाँ इनको रुद्र से पृथक देवता माना गया प्रतीत होता है। लेकिन अन्यत्र ये रुद्र के दो नाम बन गये हैं। स्पष्ट है कि अथर्ववेद के रचना काल में रुद्र और इन देवताओं को अभिन्न स्वीकृत किया जाने लगा। संभवतः इन विद्युत्धारी देवताओं का स्वरूप रुद्र के सदृश्य था। इसलिए अपने वर्धमान प्रभाव के युग में रुद्र ने इनको आत्मसात कर लिया तो कोई आश्चर्य नहीं।

उत्तर वैदिक कालीन रुद्र सम्प्रदाय की वर्धमान लोकप्रियता तथा आर्येतर, समाज से उसका संबंध अथर्ववेद के 15वें मंडल के व्रात्यसूक्त के अनुशीलन से परिलक्षित होता है। इसमें रुद्र का उल्लेख व्रात्य के साथ हुआ है। यह व्रात्य कहीं देवता प्रतीत होता है और कहीं पर्यटक। इसके आरंभ में ही कहा गया कि व्रात्य महादेव बन गया। व्रात्य ईशान बन गया। अन्त में कहा गया कि व्रात्य पशुओं की ओर चला और उसने रुद्र का रुप धारण किया। इस सूक्त का सही अर्थ क्या है, यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। किन्तु फिर भी इससे दो तथ्य सुस्पष्ट हैं। प्रथम, इसमें व्रात्यों को वैदिक आर्य धर्म से पृथक और उसका विरोधी माना गया है और दूसरे व्रात्यों का संबंध रुद्रोपासना से प्रदर्शित किया गया है। इसका समर्थन यजुर्वेद से भी होता है, जिसमें रुद्र के लिए दौर्वात्य शब्द का प्रयोग हुआ है, तथा उनके उपासकों में व्रात और व्रातपति की गणना की गई है। ये व्रात्य सांस्कृतिक दृष्टि से आर्येतर परम्परा से संबंधित थे। ताण्डय ब्राह्मण (17, 1, 14) में व्रात्यों को रजत-निष्क धारण करने वाला बतलाया गया है। वैदिक समाज में रजत-निष्क धारण करने की परम्परा नहीं थी। सत्य तो यह है कि ऋग्वैदिक आर्य रजत शब्द से ही अपरिचित थे। ऐसी स्थिति में व्रात्यों द्वारा रजत-निष्क के प्रयोग का चलन उनके अनार्यत्व का ही संकेतक है।

अथर्ववेद में उनके विषपायी (गरगिरौ)होने का भी उल्लेख है, जो अकस्मात् रुद्र के विषपान का स्मरण दिलाता है। ऋक् संहिता के दशम मंडल के केशि सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। यद्यपि यास्क और सायण ने केशी शब्द का लाक्षणिक अर्थ सूर्य माना है, किन्तु काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण जैसे उत्तर वैदिक ग्रन्थों में केशियों का उल्लेख एक कबीले के अर्थ में हुआ है। इससे लगता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त का केशी भी सूर्य न होकर केशी जातीय था। ऐसी स्थिति में केशी का अर्थ जटाधारी करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इसी सूक्त के कुछ मन्त्रों में केशी की तुलना मुनियों से की गई है (ऋग्वेद 10, 13,6)। इन मुनियों के संबंध में कहा गया है कि उनके केश लम्बे और वस्त्र पीत होते हैं। वे पवन में विहार करते हैं, विषपान करते हैं और मौनेय से उन्मदित रहते हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है कि इन मुनियों का केशियों के साथ घनिष्ठ संबंध था। उनके चमत्कार पूर्ण विरल वर्णन और अन्य अनेक तथ्यों के आधार पर यह स्वीकार किया गया है कि वे किसी समृद्धआर्येतर सांस्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष थे (बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ. 4-5)। इस प्रकार व्रात्य केशी और मुनि अवैदिक धार्मिक परम्पराओं के पोषक थे। इनमें से प्रथम दो का संबंध रुद्र से स्पष्ट है। यह बात अत्यन्त कौतूहल जनक है कि रुद्र,

व्रात्य, केशी और मुनियों को समान रूप से विषपान करने वाला कहा गया है। इनसे भी उनके समान धार्मिक परिवेश का संकेत मिलता है।

यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में रुद्र का प्रभाव और अनार्यत्व में और अधिक वृद्धि हो जाने के चिन्ह स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद में रुद्र द्वारा भव और शर्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया संकेतित हैं, जब कि यजुर्वेद में निश्चित रूप से वे रुद्र के दो नाम मात्र हैं। यद्यपि यजुर्वेद में भी उनका विनाश कारी और कल्याणकर दोनों रूपों में स्तवन हुआ है, और उन्हें पुराने 'महाभिषक' आदि विरुद दिये गये हैं, तथापि उनके स्वरूप की कल्पना में कुछ ऐसे नवीन तत्वों का समावेश हो गया है, जो अंशतः पुराने तत्वों का विकास किन्तु मुख्यतः आर्येतर प्रभाव का परिणाम प्रतीत होते हैं। इस संहिता में रुद्रके लिए :''दौर्वात्य'' विरुद का प्रयोग हुआ है। यह शब्द अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त के साक्ष्य से संगति रखता है और रुद्र की आर्येतर व्रात्य समाज में लोकप्रियता का परिचायक है। यजुर्वेद में रुद्र का पशुपति रूप भी अपेक्षया स्पष्टतर हो गया है। यजुर्वेद में रुद्र की कल्पना के विकास पर सर्वाधिक प्रकाश 'त्रयम्बक होम' और 'शतरुद्रिय' नामक दो सूक्तों से मिलता है। 'त्रयम्बक होम' में रुद्र के संबंध में कुछ ऐसी महत्वपूर्ण सूचनायें हैं, जो समस्या मूलक हैं। प्रथम इस सूक्त में रुद्र को त्रयम्बक कहा गया है (वाजसनेयी संहिता 1, 60) दूसरे इसमें रुद्र के साथ पहली बार एक देवी अम्बिका का उल्लेख हुआ है, जिसको उनकी बहन बताया गया है (वाजसनेयी संहिता 3, 573 तैत्तिरीय ब्राह्मण 1, 6, 10)। तीसरे इसमें रुद्र को कृत्तिवासाः (खाल के वस्त्र पहनने वाला) कहा गया है (वाजसनेयी संहिता 16, 11)। चौथे इसमें रुद्र के वाहन मूषक की चर्चा है, पाँचवें इसमें रुद्र से उनका यज्ञ भाग देने के उपरान्त 'मूजवत' पर्वत से परे जाने का अनुरोध किया गया है (शतपथ ब्राह्मण 2, 6, 2, 17)। यह प्रार्थना कुछ इस ढंग से की गई है, जिससे लगता है कि स्तोता अपने आप को रुद्र से दूर रखना चाहता था। रुद्र के संबंध में 'त्रयम्बक होम' से अधिक दिलचस्प बातें शतरुद्रिय स्त्रोत्र 66वें मन्त्रों में कहीं गई हैं। इसमें पहली बार रुद्र को शिव, शंकर, गिरित्र, गिरिचर तथा गिरिशय आदि कहा गया है। ये उपाधियाँ परवर्ती युगों में अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। दूसरे, इसमें उनकी पुरानी 'नील शिखण्डिन' उपाधि 'नील ग्राव' में परिवर्तित हो जाती है (वाज सनेयी संहिता 16, 28)। तीसरे , इसमें रुद्रको कुछ ऐसी उपाधियाँ दी गई, जो किसी प्रकार भी सम्मानपूर्ण नहीं कहीं जा सकती-जैसे स्तेनानां पति (चोरों का स्वामी), विकृन्तानांपति (गलकटों का सरदार), स्तायूनांपति (ठगराज) तस्कराणांपति (तस्कर-राज) तथा वनानांपति आदि (वाजसनेयी संहिता 16, तैत्तिरीय संहिता 4, 4)। इस स्तोत्र में रुद्र के गणों का भी वर्णन है, जिसमें व्रात, व्रातपति, तक्षन, कुलाल, कर्मकार, निषाद, श्वनि (श्वानपालक) मृगयु (व्याध) आदि सम्मिलित किये गये हैं। रुद्र सम्प्रदाय के अनुयायियों को देखते हुए स्पष्ट है कि रुद्र की उपासना समाज के दीन वर्ग में विशेष लोकप्रिय थी। उत्तर वैदिक युग में शूद्र वर्ग के अन्तर्गत परिगणित शिल्पियों एवं व्यवसायियों में आर्येतर तत्व ही प्रधान था। निषाद तो निश्चित रूप से प्रजातीय और सांस्कृतिक दृष्टि से वैदिक आर्यो से भिन्न थे।

ब्राह्मण काल में रुद्र का प्रभाव और पद में और अधिक वृद्धि दिखाई देती है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसंग में कहा गया है कि रुद्र की उपाधि सब देवताओं के उग्र अंश को मिलाकर अपनी पुत्री पर आसक्त प्रजापति को दंडित करने के लिए की गई है (ऐतरेय ब्राह्मण 3, 33, 1)। यहाँ गौरव की

दृष्टि से उनके नाम का उल्लेख नहीं हुआ है। प्रत्युत 'एष देवो भवत' कहकर सम्मान प्रकट किया गया है। पंचविंश ब्राह्मण (14, 4, 12) में रुद्र को पशुओं का विनाशक माना गया है और उन्हें 'मृगयु' कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (3, 34, 7) में रुद्र को इतना उग्र बताया गया है कि उनका नाम लेने से ही अनिष्ट हो सकता है, अतः स्तोता को रुद्र का नाम न लेने और 'रुद्र' के स्थान पर 'रुद्रीय' पाठ करने की सलाह देता है, साथ ही रुद्र के शान्त रूप का स्तवन उनका नाम लिए बिना करने की सलाह दी गई है। ऋग्वेद (1, 46, 6) में उनसे पुरुषों, स्त्रियों और गायों के कल्याण की प्रार्थना की गई है। ऐतरेय ब्राह्मण (5, 14) के अनुसार ऐसा करने से रुद्र भयास्पद देवता न होकर कल्याणकर हो जायेंगे। इस ग्रन्थ में उल्लिखित नाभानेदिष्ट की कथा से भी रुद्र का उत्कर्ष प्रमाणित होता है। इसमें रुद्र, विश्व की सभी वस्तुओं पर उतना अधिकार बताते हैं और नाभानेदिष्ट के पिता उसका समर्थन करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में (2, 6, 2, 6) में रुद्र का स्वरूप और भी अधिक उग्र है। इनमें यद्यपि उन्हें सम्वत्सर और उषा के मिलन से उत्पन्न बताया गया है, लेकिन यह भी संकेत किया है कि उनसे स्तोता के पशुओं का अनिष्ट हो सकता है। इसी ब्राह्मण (2, 6, 2, 7) में उनकी कल्पना एक ऐसी अशुद्ध शक्ति के रूप में की गई है, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकती रहती है, और कहा गया है कि स्तोता को उत्तर दिशा में जाकर (जिस ओर रुद्र का विशेष आवास है।) सड़कों और चौराहों पर हविष अर्पित करनी चाहिये। इतना ही नहीं इसके बाद यह विधान किया गया है कि किस प्रकार स्तोता, जो रुद्र की उपासना करने से अपवित्र हो गया है, अपने को पवित्र करे (शतपथ ब्राह्मण 2, 5, 6, 2, 18)। जैमिनी ब्राह्मण (3, 2, 6, 1-3) शतरुद्रिय की रचना भी रुद्र के क्रोध को शान्त करने के लिए की गई थी। ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र रुद्र को शुभ और कल्याणकारी देवता माना गया है, तथा कुछ प्रसंगों में उनका नैतिक उत्कर्ष भी संकेतित है।

रुद्र की पत्नी पार्वती का उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में तथा उमा हेमवती का केनोपनिषद (3, 15) में मिलता है। उमा के उद्गमन पर कुछ विद्वानों ने द्रविड़ प्रमाण माना है। उनके अनुसार उमा शब्द द्रविड़ भाषा के 'अम्मा' शब्द से उद्भूत प्रतीत होता है। उमा, हेमवती और पार्वती शब्द द्वारा इन देवियों का संबंध गिरि-प्रदेश से सूचित होता है। परवर्ती साहित्य में उमा को 'हिमवन्त सुता' कहा गया है, तथा शिव को कैलाशपति। यजुर्वेद के गिरिवर, गिरिशय आदि विशेषणों से तथा उनकी पत्नी के पर्वतीय होने से यह प्रकट है कि उत्तर वैदिक युग में रुद्र, गिरिकानन के अधिपति देवता भी माने जाने लगे थे। पर्वत मालाओं से सुशोभित उत्तरदिशा में रुद्र के आवास और पर्वतीय प्रदेश के निवासी किरातों में उनकी लोक प्रियता से भी यह बात सूचित है। ऐसा प्रतीत होता हे कि अपने बढ़ते हुए प्रभाव के युग में रुद्र ने किसी पर्वतीय देवता को भी आत्मसात किया, जिसकी उपासना मुख्यतः आर्येतर पहाड़ी जातियों (किरातों) में प्रचलित रही होगी।

उपनिषत्काल (छान्दोग्य उपनिषद 3, 7, 4, बृहदारण्यकोपनिषद 3, 9, 4; श्वेताश्वर उपनिषद 3, 2, 4) में रुद्र के प्रभाव और महत्वका वर्णन मिलता है। श्वेताश्वरोपनिषद में रुद्र को ही विश्व का अधिपति तथा देवताओं का भी द्रष्टा माना गया है। (3, 4) इसी ग्रन्थ (1, 10) में अनेकश शिव का उल्लेख परम-तत्व के रूप में हुआ है।

वर्तमान सदी के जनजातियों के देवता महादेव और उनकी पत्नी परबइत (पार्वती) हैं। परन्तु विशेषता यह है कि अपने इष्ट देवता महादेव के लिए ये मन्दिर नहीं बनाते है। आर्यो ने इनके देवता को इस तरह अपनाया कि, जनजातियों को ''महादेव, परबइत' अपने देवता हैं, सिर्फ कहने भर के लिए हैं। परन्तु अभी भी कुछ शिव से संबंधित धार्मिक स्थल हैं जिनके पुजारी आदिवासी होते हैं, ब्राह्मण नहीं। उदाहरण के लिए ''टांगीनाथ'' को ले लें।

टांगीनाथ धार्मिक स्थल

यह अपने नाम की पहाड़ी के ऊपर एक चौरस स्थल पर बना है। वहाँ विशाल आकार के लोहे का एक त्रिशूल है, जो जमीन में 60 डिग्री पर गड़ा है, तथा जिसकी ऊँचाई सतह से लगभग 12 फीट होगी। इस त्रिशूल को किसी ने तीन जगहों से काट दिया है। इसके अगल-बगल के भाग विशाल तलवार के आकार के हैं। इसका ऊपरी हिस्सा विशाल भाले के आकार का है। मुख्य भाग जमीन में गड़ा है। इसकी बगल में एक विशाल तलवार रखी हुई है। इसके समीप हीं ईंटों से बना एक चौकोर जलकुण्ड है, जो सूखा हुआ है इसके इर्द-गिर्द सैकड़ों की संख्या में विभिन्न आकार के शिवलिंग, दुर्गा महिषासुर-मर्दिनी, भगवती, लक्ष्मी, गणेश, अर्द्ध-नारीश्वर, उमा-महेश्वर, विष्णु, सूर्यदेव, हनुमान आदि की मूर्तियाँ, बैल, 'गज सिंह,' खूबसूरत काम किये गये भवन के विभिन्न हिस्से, छोटे-छोटे आकार की ईंटों के बने ढाँचे पत्थर की नालियाँ, कूटने पीसने के सिलवट, विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े मिट्टी के भांड तथा काफी संख्या में चौड़ी-चौड़ी ईंटें पायी गई है। यहाँ एक विशाल आकार का शिवलिंग मिला है, जिसे 'टाँगीनाथ' कहा जाता है। यहाँ दूर-दूर के आदिवासी तथा हिन्दू मनौती माँगने के लिए आते हैं। यहाँ का पुजारी खेरवार और उराँव जनजाति के होते हैं, ब्राह्मण नहीं।

V. वैदिक समाज के अनार्य

आर्यों के अलावे बहुत सी अनार्य जातियाँ वैदिक, काल में निवास करती थीं। आर्य इन्हें घृणित समझते थे। इस अध्याय में क्रमशः इन आर्येतर जातियों का वर्णन किया जा रहा है।

(क) दस्यु

ये आर्यों के बहुत बड़े शत्रु थे। ऋग्वेद में इन्हें अकर्मन् (10, 22, 8) शिश्नदेवा (7,21,5) दासं शिश्नयो (8, 70, 11) दस्युमव्रतम् (9, 41, 2) अन्यव्रत (10, 22, 8) कहा गया है। इन्द्र ने आर्यो के अनेकों दस्युओं का वध किया था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ दस्यु अथवा दस्यु-वध से संबंध रखती हैं। यथा— 1, 58, 6-8; 1, 52, 4; 1, 100, 18; 1, 101, 5; 1, 33, 4; 2, 20, 8; 2, 12, 10; 3, 41, 6 और 9; 3, 52, 73; 7, 99, 4; 1, 34, 11; 4, 30, 35; 8, 56, 8; 1, 52, 6; 1, 60, 6; 1, 78, 4,; 2, 14, 9; 2, 19, 21; 2, 9, 6; 5, 31, 7; 5, 31, 9; 7, 100, 4; 4, 30, 21; 2, 4 ;5 , 5, 8, 10; 8, 40, 6; 3, 30-1; 3, 30, 7, और 9; 5, 31, 5; 5, 32, 7; 2, 12, 4; 1, 63, 4; 1, 174, 8 और 5, 8, 10 आदि।

ऋग्वेद (1, 117, 3 दस्योर शिव) में दस्यु का विशेषण 'अशिव' अर्थात ''दुःखप्रद'' कहा गया है उन्हें व्रत नहीं रखने वाला भी कहा गया है (ऋग्वेद 9, 41, 2 दस्युमव्रतम् 1, 30, 8) इनकी विशेषताओं से संबंध रखने वाली एक ऋचा इस प्रकार है—

न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अबृधाँ अयज्ञान्।
प्रप्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्च कारापराँ अयज्यून्।। 7, 6, 3।।

आर्यो की यह प्रार्थना थी ''कि यज्ञ विमुख श्रद्धा से रहित, कटुवक्ता, दुर्बुद्धि वाले प्राणियों को अग्नि देवता, दूर भगावें और उनका पतन करें।'' उनका रंग काला था (1, 30, 8 त्वचं कृष्णां) देव निन्दक 1, 174, 8 (अदेवस्य) थे। इस स्थल से भिन्न अन्यत्र ऋग्वेद 5, 29, 10 में भी दस्युओं के लिए 'मृघ्रवाचः' विशेषण के साथ-साथ 'अनासः' अर्थात् ग्रिफिथ के अनुसार 'नाक रहित' या 'चपटी नाक वाला' कहा गया है। ऋषि दयानन्द ने अनासः का अर्थ 'मुख रहित' याने जिसके पास कहने के लिए कुछ नहीं है।

ऊपर जिन अनासः और मृध्रवाचः का विवेचन किया गया है, ये वे शब्द हैं, जिनके आधार पर युरोपियन विद्वान् दस्युओं को शारीरिक रचना की दृष्टि से (अनासः शब्द से) और भाषा की दृष्टि से (मृध्रवाचः शब्द से) आर्यो से पृथक् जाति के रूप में सिद्ध करते हैं।

उपर्युक्त दो स्थलों से भिन्न ऋग्वेद में 'मृध्रवाचः' शब्द 1, 74, 2; 5, 32, 8; और 4, 18, 13 में आता है। इस प्रकार इस शब्द का प्रयोग पाँच स्थलों में हुआ है।

उक्त पाँच स्थलों में से भी केवल दो स्थल (ऋक 5, 29, 10 और 7, 6, 3) ऐसे हैं, जिनमें मृध्रवाचः के साथ 'दस्यून्' का भी प्रयोग हुआ है। परन्तु ऋग्वेद 7, 6, 3 में मृध्रवाचः शब्द पणियों के लिए आया है।

ऋग्वेद 6, 14, 3 में अग्नि के लिए कहा गया है कि 'तुम्हारी स्तुति करने वाले मनुष्य यज्ञ न करने वालों को वश में करने की कामना करते हैं। यहाँ दस्युम् का विशेषण 'अव्रतम्' है, जिसकी व्याख्या सायण ने ''व्रतविरोधिनम्'' की है अर्थात् 'दस्यु' देवताओं के नियम व्यवहारों को नहीं मानने वाले हैं। विलसन ने 'दस्यु' का अनुवाद ''लूटनेवाला'' और अव्रत की व्याख्या यज्ञ नहीं करने वाला तथा ग्रिफिथ ने ''अव्रतम्'' का अर्थ 'धर्म्यकर्म रहितम्' किया है।

(ख) असुर जाति

इस जाति में शम्बर का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। शम्बर व्यक्ति वाचक शब्द और जातिवाचक 'असुर' के अर्थ में प्रयुक्त होता था। शम्बर (असुर) जाति के रूप में आर्यो का बड़ा शत्रु था। वह एक पहाड़ी नेता था (ऋग्वेद-गिरेदासं शम्बरं हन् 6, 26, 5)। इन्द्र ने उसके पुरों को नष्ट किया था (6,47, 2)। उसने वज्र से शम्बर के पाषाण नगरों का विध्वंस किया था (ऋक् 2, 14, 6)। इन्द्र ने उसके निन्यानवे पुरों को ध्वस्त किया (नवतिं च पुरो व्यैरच्छम्बरस्य ऋग्वेद 2, 19, 6; नव साकं नवती शम्बरस्य ऋक् 4, 26, 3; 7, 99,5)। उसने शम्बर के गड्ढों को तोड़ा (ऋक् 1, 103, 8)। इन्द्र के भय से शम्बर चालीस वर्षो तक छिपा रहा (ऋग्वेद 2, 34, 12)। इन्द्रने शम्बर के साथ युद्ध किया और सर्वप्रथम उसे वशीभूत किया (ऋग्वेद 5, 24, 6)। इन्द्र ने उसे अतिथिग्व से पराजित कराया (1, 52, 6)। जमीन से शम्बर को खोद निकाल कर उसका वध किया (2, 12, 11)। ऋग्वेद (4, 31, 14) में यह भी कहा गया है कि उसने कौलितर के पुत्र शम्बर को पर्वत के नीचे गिरा कर मार डाला। मन्त्र 7, 18, 20 ;

अथर्ववेद 20 34, 12 ऋग्वेद 1, 54, 4; 2, 54, 6 में भी इन्द्र द्वारा शम्बर वध का उल्लेख है। महाभारत अनु. 14, 28 में प्रद्युम्न ने शम्बर का वध किया था।

यहाँ एक बात ध्यातव्य है ऋग्वेद 6, 31, 4 में कहा गया है— हे इन्द्र! तुमने शम्बर के सौ पुरों को ध्वस्त किया (त्वं शतान्यव पुरो जघन्था प्रतीनि दस्योः)। सायण ने दस्योः' का अर्थ उपक्षयितुर सुरस्य' किया है और इसको 'शम्बर' का विशेषण माना है। साथ ही 'शम्बर' एक असुर का नाम है। विल्सन ने भी सायण के अनुसार शम्बर को दस्यु' माना है। इन्होंने दस्यु और असुर को पर्यायवाची शब्द माना है। ग्रिफिथ ने इस ऋचा में आये हुए पुरः का अनुवाद cities 'नगर न करके castles 'गढ़' किया है। श्री दयानन्द भाष्य करते कहते हैं कि ''जैसे तुम मेघ के समान शत्रु के (शम्बरस्य) नगरों को नष्ट करते हो, वैसे ही दूसरे के द्रव्य चुराने वाले दुष्ट जन के (दस्योः) नगरों को नष्ट कीजिये।'' यहाँ पर शम्बर का अर्थ 'मेघ' और दस्यु का 'परद्रव्यापहारक' 'दुष्ट' किया गया है। ऋग्वेद 2, 20, 8 के अनुसार स्तुति किया जाता हुआ इन्द्र, दस्युओं का वध करने के लिए अपने हाथ में वज्र लेकर, दस्युओं को उससे मारकर उनके अयोमय नगरों को सर्वथा नष्ट कर देता है। यहाँ पर दस्युओं के लौहनिर्मित नगरों का वर्णन है। सायण ने 'दस्यून्' का अर्थ असुरान्' किया है। इस मन्त्र के अन्दर यह स्पष्ट है कि इन्द्र की स्तुति वर्षा के लिए की गई है। इस मन्त्र के अर्थ को मानव दस्युओं के लिए नहीं लगाना चाहिए, क्योंकि उनको मार कर वर्षा की कल्पना करना व्यर्थ है। ग्रिफिथ ने पुनः यहाँ पर 'पुर' का अर्थ forts (किला) किया है, नगर नहीं। श्री दयादन्द ने दस्यून् का अर्थ 'भयंकरान् चोरान्' किया है।

ऋग्वेद 1, 101, 5 में इन्द्र के तीन वीर कर्मो का वर्णन किया गया है—

(1) वह इस सम्पूर्ण जंगमशील प्राणी समूह का पति है (2) उसने पणियों द्वारा अपहरण की हुई गौओं को पुनः प्राप्त किया है और (3) उपक्षय यितृ असुरों को (दस्यून्) निकृष्ट करके मार दिया है। ऋषि दयानन्द ने दस्यून् का अर्थ 'सहसा पर परार्थं हर्तृन्' किया है। ऋर्ग्वेद 1, 33, 5 में कहा गया हृै इन्द्र! तुमने अत्यधिक धनी चोर वृत्र को (दस्यून्) अपने कठोर वज्र से अकेले ही मार दिया है, साथ ही वृत्र के 'सनक' नामक अनुचरों को भी नष्ट कर दिया, जो यज्ञविरोधी और लड़ने के लिए आये थे। इस मन्त्र से दो बातें स्पष्ट होती है— (1) दस्यु धनी हैं और (2) यज्ञ के विरोधी हैं।

विल्सन ने धनिनं दस्यून् का अनुवाद wealthy barbarian (धनी , बर्बर) किया है, और अयज्वानः का अनुवाद 'The neglecters of sacrifice' किया है। टिप्पणी में कहते हैं कि "Vritra literally a robber, but apparently used in contrast to Arya, as if intending the un civilised tribes of India.'

ऋग्वेद 5, 7, 10 में दस्यन् का विशेषण अपृणतः आया है; जिसकी व्याख्या सायण ने ''अददत'' की है अर्थात् जो दान नहीं देते हैं। विलसन ने 'दस्यून्' का अनुवाद hostile men (ईर्ष्यालु व्यक्ति समूह) किया है। ऋषि दयानन्द ने 'अपृणत' का अर्थ ''अपालयतः'' और दस्यून् का अर्थ 'दुष्टान् साहसिकान् चोरान्' किया है।

इस प्रकार सम्पूर्ण ऋग्वेद में आये हुए ''दस्यु'' शब्द का विवेचन करने के उपरान्त हम यह पाते हैं कि पाश्चात्य विद्वान् दस्यु को भारत की मूल निवासिनी जाति मानते हैं। जो कृष्णवर्ण हैं, चपटी

नाक वाले हैं, भाषा उनकी स्पष्ट नहीं है तथा आर्यो, के जो बाहर से भारत में आये हैं, और जिनका रंग गौरवर्ण है, परम शत्रु हैं। वे यज्ञों के विरोधी हैं, कपटी हैं, नास्तिक हैं, सभी को दुःख देने वाले हैं। इनके लिए प्रमुख रूप से अव्रत, अन्यव्रत, अमानुष, अयज्वा, अदेवयु, मायावान् और अब्रहमादि विशेषणों का प्रयोग हुआ है। इनके लिए प्रयुक्त होने वाले 'अनासः' और मृध्रवाचः ''शब्द व्याख्या की दृष्टि से पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के लिए विवाद के विषय है। जिस रूप में पाश्चात्य विद्वान् दस्यु को ग्रहण करते हैं, उसके विपरीत भारतीय विद्वानों का यह मत हैकि दस्यु कोई जाति नहीं है, जिसको आर्यो ने बाहर से आकर जीता हो। वस्तुतः दस्यु वह है, जिसमें रस अथवा उत्तम गुणों के सारभाग कम होते हैं और जो यज्ञादि उत्तम कर्मों का नाश करता अथवा उसमें बाधा डालता है। दस्यु का वास्तविक अर्थ ''शत्रु'' है।

इस प्रकार 'दस्यु' के लिए प्रयुक्त विशेषणों के आधार पर की गई व्याख्या में दो विचार-धाराएँ स्पष्ट दिखाई देती है। जिनमें से एक विचारधारा, जो पाश्चात्य विद्वानों तथा उनका अनुसरण करने वाले भारतीय विद्वानों की है, दस्यु को जाति मानती है; और दूसरी विचार धारा, जो भारतीय विद्वानों की है, और जिनकी व्याख्या का आधार निरुक्त है, दस्यु को जाति न मानकर दुष्ट गुणों से युक्त व्यक्ति को 'दस्यु' स्वीकार करती है (दे. भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति डा. निरुपण विद्यालंकार, पृ. 51-75)।

शम्बर के अतिरिक्त इन्द्र ने अनेक असुरों को युद्ध में परास्त कर उनका वध किया। इन असुरों के भी अपने पुर होते थे। उदाहरण के लिए इन्द्र ने शरदासुर की सात पुरियों को नष्ट किया (ऋक् 6, 20, 10)। उसने शुष्ण के नगरों को नष्ट करके उनके धन को लूट लिया (ऋग्वेद 4, 31, 13) और वध किया (ऋग्वेद 6, 26, 3; 6, 99, 17; 1, 54, 5; 5, 30, 6; 5, 32, 4) एक बार शुष्ण से युद्ध करते समय उसके आश्रय स्थल से उसे अलग किया था (ऋग्वेद 5, 311, 9) इन्द्र ने 'पिप्रू और प्रावृक्' इन दो असुरों का वध किया था (ऋग्वेद 4, 16, 12)। दूसरे शक्तिशाली चमुरि और धुनि' नामक दैत्यों को युद्ध में मारा था (ऋग्वेद 2, 15, 6)। चमुरि वध ऋग्वेद 6, 26, 6 में वर्णित है। अर्बुद्ध नामक असुर को पैरों से रौंदा था (ऋग्वेद 1,52, 6)। नमुचि असुर बहुत शक्तिशाली था। इन्द्र ने उसके शीश को चूर्ण किया (ऋग्वेद 5, 31, 8), क्योंकि उसने आर्यो की गायों को चुराया था (ऋक् 5, 31, 10)। ऋग्वेद के अन्यत्र स्थलों (1,53, 7; 5, 8-10; 2, 14, 5) में भी नमुचि वध का उल्लेख है। इन्द्र ने अहि और रोणिह असुरों का वध किया (1, 10, 32; 7, 2, 15)। उसने युद्ध में एक लाख दैत्यों को पराजित किया (2, 14, 12) और भी बहुत से अन्य असुरों को आर्यो के लिए वध किया था (7, 6, 1; 10, 87, 5)। इन्द्र ने कृष्णासुर का भी वध किया (8, 96, 13-15)।

अथर्ववेद में इद्र की स्तुति करते हुए एक आर्य कह रहा है—

त्वं करंजमुत पर्णयं वधोस्तोजिष्ठ यातिथिम्बरस्य वर्तनी।।

त्वं शता वंगगृदस्याभिनत् पुरोऽनानदः परिषूता ऋषिष्वना।

20, 21, 8 समानान्तर स्थल ऋग्वेद 1, 53, 8

''हे इन्द्र! तुमने अपनी अत्यन्त तेजवाली वर्तनी नामक शक्ति के द्वारा अतिथगु नामक राजा के शत्रु करंजासुर और पर्णयासुर का वध किया था। ऋजिष्वन् नामक राजा के शत्रु वंगगृदासुर के सौ पुरों का भी तुमने ही ध्वंस किया था।

उपरोक्त मन्त्र के अलावे अथर्ववेद के और भी मन्त्रों 2, 2, 3;2, 3, 6 (नीचैः खनन्त्य सुरा); 3, 6, 4 (देवासुर मायया)
(हे दांबी की मिट्टी! तू देव द्वेषी असुरों की पुत्री है); 6, 143, 3 (यथाच क्रुर्देवा सुरा); 8, 6, 24 (असुरानुत ऋषीन्); 13, 4, 46 (नमुराद्भूयान्); 20, 21, 7 (नमुचिं नाम मायिनम्); 20, 55, 2 (असुरेभ्यः) और 8, 10, 104 में असुर वध के उल्लेख हैं। महाभारत के शान्तिपर्व (228, 7) में भी इन्द्र द्वारा शम्बरासुर और पाक दैत्य के वध का उल्लेख है और भगवान शिव द्वारा त्रिपुरासुर वध (8, 34; 112 त्रैलोक्यसारं तमर्षिं मुमोच त्रिपुरं प्रति)। स्कन्द देव द्वारा तारकासुर, महिषासुर वध की चर्चा है (9, 46, 65-94, 1/2)। इसी प्रकार वृत्र असुरों वेदों और उत्तर वैदिक धर्मग्रन्थों में अनेकों बार उल्लिखित हुआ है।

वृत्रासुर

इन्द्र की स्तुति वृत्र नामक राक्षस को मारने के लिए ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में की गई है। उसने वृत्र को मार कर वाहवाही लूट भी ली। ऋग्वेद की अनगिनत ऋचाओं में उसे वृत्रहन्ता कहा गया हैं ये सन्दर्भ निम्नलिखित हैं— वृत्रहा 1, 18, 8; 1, 81. 1; 1, 86, 6; 8, 4 ,11; 8, 4, 11; 8, 2, 7; 8, 61, 15; 8, 63, 15; 9, 31, 6; 3, 20, 4; 3, 30, 5; 3, 26, 21; 1, 47, 2-3, 1, 52, 7; 1, 54, 15; 8, 24, 2; 2, 20, 7; 3, 2, 11; 1, 100, 2; 8, 96, 21।

अथर्ववेद 2, 5, 3; 3, 1, 3-4; 5, 29, 9-10; जैसे त्वष्टा के पुत्र वृत्र ने संसार के पालक मेघों के जल को रोक दिया था 6, 85, 3; 6, 134, 1; 6, 135, 1; 8, 5, 3; 8, 5, 22; 11, 10, 27; 20, 5, 2; 20, 11 3; 20, 12, 3; 20, 35, 6; 20, 35, 10;20 26, 12; 20, 36, 10; 20, 37,3; 20, 37, 5;20, 37, 4; 20, 37, 10; 20, 41, 1 वृत्र के निन्यानबे नगरों को ध्वस्त किया 20, 47, 1; 20, 56, 1; 20, 70, 11; 20,77, 7; 20, 93, 6; 20, 97, 3; 20, 104, 3; 20, 105, 4; 20, 112, 1; 20, 116, 2; 20, 128, 14; 20, 128, 13; 20, 137, 11; 20, 137, 12।

विष्णु पुराण (5, अंश पृ. 150) के अनुसार श्रीकृष्ण और रूक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न को शम्बरासुर ने सूतिकागृह से हरण कर लिया और उसे समुद्र में फेंक दिया। उसी समय एक विकराल मछली आयी और उसको निगल गई। मछेरों ने उस मत्स्य को पकड़ कर शम्बरासुर को अर्पित किया। मछली के पेट से निकल कर प्रद्युम्न ने शम्बरासुर के साथ युद्ध करके उसे मार डाला। इसी पुराण (3 अंश पृ. 94) में कहा गया है कि असुर गण वेदों और यज्ञ कर्मों की निन्दा करने लगे। इस पर क्रोधित होकर देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ और असुरों की पराजय हुई। विष्णु पुराण (5 अंश पृ. 148) में राजा मुचकुन्द का वर्णन है जो देवताओं की ओर से युद्ध करते और असुरों का संहार करते थक गये थे। अतः उसने देवताओं से सोने का वरदार माँगा।

महाभारत में इन असुरों को देवद्रोही (कर्णपर्व 33, 42 34, 6) हिंसा प्रेमी (वनपर्व 186, 28) वेद और ब्राह्मण विरोधी (आदि पर्व 64, 36) कहा गया है। वनपर्व में कथा विस्तृत में मिलती है— वृत्रासुर वध की कथा चार पर्वों में थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ दी गई है।

सत्ययुग में कालकेय नाम से विख्यात दैत्यों के बहुत से भयंकर दल थे। उनका स्वभाव अत्यन्त निर्दय था। वे युद्ध में उन्मत्त होकर लड़ते थे। उन सब ने एक दिन वृत्रासुर की शरण ले उसकी अध्यक्षता में नाना प्रकार के आयुधों से सुसज्जित होकर महेन्द्र आदि देवताओं पर चारों ओर से आक्रमण किया। तब सब देवता वृत्रासुर के वध के प्रयत्न में लग गये। वे देवराज इन्द्र को आगे करके ब्रह्माजी के पास गये। उन्होंने देवताओं को महर्षि दधीच के पास जाकर वर में तीनों लोकों के हित के लिए उनकी हड्डियों को माँगने की सलाह दी। ब्रह्माजी के ऐसा कहने पर सभी देवता उनकी आज्ञा ले भगवान नारायण को आगे करके दधीच के आश्रम पर गये। सभी देवताओं ने महर्षि के चरणों में गिरकर ब्रह्माजी के कहे अनुसार उनसे वर माँगा। तब महर्षि ने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपने शरीर का त्याग कर दिया। तब देवताओं ने महर्षि के निर्जीव शरीर से हड्डियाँ ले लीं। इसके बाद हर्षोल्लास से भरकर विजय की आशा लिए त्वष्टा प्रजापति के पास आये और उनसे अपना प्रयोजन बताया। देवताओं की बात सुनकर त्वष्टा प्रजापति ने एकाग्रचित हो प्रयत्नपूर्वक अत्यन्त भयंकर वज्र का निर्माण किया। उन्होंने इन्द्र से कहा—'देव! इस उत्तम वज्र से आप आज ही देवद्रोही से सुरक्षित होरकर वृत्रासुर को भस्म कर डालिए।'

तब वज्रधारी इन्द्र बलवान् देवताओं से सुरक्षित होकर वृत्रासुर के पास गये। कालकेय नामक विशालकाय दैत्य हाथों में हथियार लेकर उसकी रक्षा कर रहे थे। इन्द्र केआते ही देवताओं का दानवों के साथ दो घड़ी तक बड़ा भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में दैत्यों के पराक्रम से देवता डर कर भागने लगे। यह देख कर इन्द्र पर मोह छा गया। कालेयों के भय से त्रस्त इन्द्रदेव ने भगवान् नारायण की शीघ्रतापूर्वक शरण ली। इन्द्र को इस प्रकार मोहाच्छन्न होते देख कर विष्णु ने उसका बल बढ़ाते हुए उनमें अपना तेज स्थापित कर दिया। तत्पश्चात् देवताओं ने तथा ब्रह्मर्षियों ने भी देवराज इन्द्र में अपना-अपना तेज भर दिया। इसके बाद अत्यन्त बलशाली एवं भयभीत होकर वृत्रासुर पर वज्र का प्रहार किया। महादैत्य वृत्र के मारे जाने पर भी इन्द्र के भय से पीड़ित हो (छिपने की इच्छा से) तालाब में प्रवेश करने दौड़े। तत्पश्चात् सब देवताओं ने मिलकर वृत्रासुर के वध से संतप्त समस्त दैत्यों को तुरंत मार गिराया (3, 100-101 अध्याय)।

संगठित देवताओं द्वारा त्रास दिये जाने पर सब दैत्य भयभीत होकर समुद्र में प्रवेश कर गये (3, 101, 19)। वे सदा रात में आते और आश्रम तथा पुण्य स्थलों में निवास करने वाले मुनियों को खा जाते थे। यज्ञोत्सव आदि कार्यो के बन्द होने पर देवता भय मुक्त होने के लिए भगवान नारायण की शरण में गये। भगवान विष्णु की स्तुति करते हुए उन्होंने कहा-पूर्वकाल में आप ने वाराह रूप धारण करके सम्पूर्ण जगत के लिए समुद्र के जल में खोयी इस पृथ्वी का उद्धार किया। आपने नृसिंह-शरीर धारण करके आदि दैत्य हिरण्यकशिपु का वध किया। वामन रूप धारण करके महादैत्य बलि को त्रिलोकी राज्य से वंचित किया। यज्ञों का नाश करने वाले क्रूरकर्मा महाधनुर्धर जृम्भासुर का वध किया। इसीलिए लोकहित के उद्देश्य से देवताओं और इन्द्र की भी रक्षा कीजिये (3, 102, अध्याय)।

भगवान विष्णु ने देवताओं से कहा—''वृत्रासुर को मारा गया देखकर वे अपने प्राण बचाने के लिए समुद्र में जाकर छिप गये हैं। समुद्र को सुखाये बिना वे दानव काबू में नहीं आ सकते हैं। भगवान् विष्णु की सलाह मानकर सभी देवता महर्षि अगस्त्य के पास जाकर उनके अद्‌भुत कर्मो का वर्णन करते हुए स्तुति प्रारंभ कर दी, और समुद्र को सुखाने का वर माँगा (3, 104, 18)। प्रसन्न होकर महर्षि अगस्त्य ने समुद्र के जल को पीकर उसे जल शून्य कर दिया (3, 105, 6 महार्णवं निःसलिलं चकार)। इसकेबाद देवताओं ने उत्साह सम्पन्न होकर दानवों पर आक्रमण किया। उन दैत्यों को शुद्ध अन्तः करण वाले मुनियों ने अपनी तपस्या द्वारा पहले ही दग्ध सा कर रखा था। अतः पूरी शक्ति लगाकर अधिक से अधिक प्रयास करने पर भी वे देवताओं द्वारा मार डाले गये (वही 105, 19)। मरने से बचे कुछ कालेय दैत्य वसुन्धरा देवी को विदीर्ण कर पाताल में चले गये।

त्वष्टा के पुत्र वृत्र (उद्योगपर्व 5, 6, 48 समुत्पाद्य घोरं वृत्रं समानान्तर स्थल निरुक्त 2, 17)। का वर्णन उद्योग पर्व 10 अध्याय में इस प्रकार है—''पूर्व काल में त्वष्टा नाम से एक प्रजापति थे। इन्द्र के प्रति द्रोह बुद्धि हो जाने के कारण एक तीन सिर वाला पुत्र उत्पन्न किया। बालक का नाम विश्वरूप था। वह अपने भयंकर एवं तेजस्वी मुँखों से इन्द्र का स्थान पाने की प्रार्थना करता था। इन्द्र को अपने पद छिन्न जाने का बड़ा डर हो गया। उसने विश्वरूप को लुभाने के लिए अप्सराओं को भेजा। परन्तु अप्सराएँ भाँति-भाँति के हाव-भावों द्वारा भी उन्हें नहीं लुभा सकीं। तब शास्त्रयुक्त बुद्धि से त्रिशिरा के वध का दृढ़ निश्चय करके क्रोध में भरे हुए इन्द्र ने अग्नि के समान तेजस्वी, घोर एवं भयंकर वज्र को त्रिशिरा की ओर चला दिया। वज्र की गहरी चोट खाकर त्रिशिरा मरकर पृथ्वी पर गिर पड़े। त्रिशिरा को मार कर इन्द्र को शान्ति नहीं मिली। वे उनके तेज से सतंप्त हो रहे थे। इसी समय एक बढ़ई कंधे पर कुल्हाड़ी लिए उधर आ निकला। उसे देखते ही इन्द्र ने मृतक के मस्तकों को टुकड़े-टुकड़े करने की आज्ञा दी। बढ़ई ने महेन्द्र की आज्ञा से कुठार द्वारा त्रिशिरा के तीनों सिरों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। इस कार्य से इन्द्र प्रसन्न होकर स्वर्ग को लौट गये। एक वर्ष पूरा होने पर पशुपति के भूतगणों ने हल्ला मचाना शुरू किया कि इन्द्र ब्रह्महत्यारे हैं। तब पाकशासन ने ब्रह्महत्या से मुक्ति पाने के लिए कठिन व्रत का आचरण किया। उन्होंने समुद्र, पृथ्वी, वृक्ष तथा स्त्री समुदाय को अपनी ब्रह्महत्या बाँटकर उन्हें अभीष्ट वरदान दिया (9,43)।

इधर त्वष्टा प्रजापति ने अपने पुत्र के वध से क्रोधित होकर कहा 'मैं देवेन्द्र के विनाश के लिए वृत्रासुर को उत्पन्न करूँगा। उसने आचमन करके अग्नि में आहुति दे घोर रूपवाले वृत्रासुर को उत्पन्न करके उससे कहा—'इन्द्र शत्रु! तू मेरी तपस्या के प्रभाव से खूब बढ़ जा। उनके इतना कहते ही सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी वृत्रासुर सारे आकाश को आक्रान्त कर बहुत बड़ा हो गया। उसने पूछा-पिता जी! मैं क्या करूँ? तब त्वष्टा ने कहा—'इन्द्र को मार डालो।' उनके ऐसा कहने पर वृत्रासुर स्वर्ग लोक में गया। तदनन्तर वृत्रासुर तथा इन्द्र में बड़ा भारी युद्ध छिड़ गया। दोनों क्रोध में भरे पड़े थे। वृत्रासुर ने इन्द्र को पकड़ कर ग्रस लिया। तब समस्त देवताओं ने घबरा कर जँभाई की सृष्टि की। जँभाई लेते समय जब वृत्रासुर ने अपना मुख फैलाया तब इन्द्र अपने अंगों को समेट कर बाहर निकल आये। इसके बाद क्रोध में भरे दोनों वीरों का भयानक संग्राम बहुत देर तक चलता रहा। वृत्रासुर त्वष्टा के तेज और बल से व्याप्त हो गये, तब युद्ध से इन्द्र विमुख होने लगे, तो देवताओं को बहुत दुःख हुआ। वे सभी देवता

भगवान् विष्णु की शरण में गये और वे वृत्रासुर के वध की इच्छा से मन्दराचल के शिखर पर ध्यानस्थ होकर बैठ गये। ऋषियों सहित संपूर्ण देवता भगवान् विष्णु की शरण में गये और उनकी स्तुति करने लगे। विष्णु ने प्रसन्न होकर कहा —'मैं इनके उत्तम आयुध वज्र में अदृश्यभाव से प्रवेश करूँगा। तुमलोग ऋषियों और गन्धर्वो के साथ जाओ और इन्द्र के साथ वृत्रासुर की संधि कराओ। तब सभी ऋषि और देवता इन्द्र सहित वृत्रासुर के पास गये, और उससे संधि की बात कही। वृत्रासुर ने सहर्ष सधि करते समय कहा—''विप्रवरो! मैं देवताओं सहित इन्द्र द्वारा न सूखी वस्तु से, न गीली वस्तु से, न पत्थर से, न लकड़ी से, न शस्त्र से, न अस्त्र से, न दिन में और न रात में मारा जाऊँ। इस शर्त पर देवेन्द्र के साथ सदा के लिए मेरी संधि हो, तो मैं उसे पसंद करता हूँ। ''तब ऋषियों ने उसे बहुत अच्छा कहा। इन्द्र भी हर्ष में भरकर सदा उससे मिलने लगे, परंतु वे वृत्र के वध संबंधी उपायों को ही सोचते रहते थे। वृत्रासुर के छिद्र की खोज करते, इन्द्र सदा उद्विग्न रहते थे। एक दिन उन्होंने समुद्र के तट पर उस महान् असुर को देखा (10,10-33)।

उस समय अत्यन्त दारुण सन्ध्याकाल का मुहूर्त्त उपस्थित था। इन्द्र ने परमात्मा विष्णु के वरदान का विचार करके सोचा-यह भयंकर सन्ध्या उपस्थित है, इस समय न रात है न दिन है, तो अभी इस वृत्रासुर का अवश्य वध कर देना चाहिये। यदि इस महान् असुर को धोखा देकर मैं अभी नहीं मार डालता हूँ, तो मेरा भला न होगा। इस प्रकार सोचते इन्द्र, भगवान विष्णु का बार-बार स्मरण करने लगे। इसी समय उनकी दृष्टि समुद्र में उठते हुए पर्वताकार फैन पर पड़ी। उसने विचार किया कि यह न सूखा है न आर्द्र, न अस्त्र है न शस्त्र अत: इसीको वृत्रासुर पर छोड़ूँगा। सह सोचकर इन्द्र ने वज्रसहित फेन में प्रवेश करके वृत्रासुर को नष्ट कर दिया।''

वृत्रासुर के मारे जाने पर विश्वासघात रूपी असत्य से अभिभूत हो इन्द्र मन ही मन बहुत दु:खी हो गये। त्रिशिरा वध से उत्पन्न हुई ब्रह्महत्या ने तो उन्हें पहले ही घेर रखा था। वे सम्पूर्ण लोकों की सीमा पर जाकर बेसुध और अचेत होकर रहने लगे। वहाँ अपने ही पापों से पीड़ित हुए देवेन्द्र का किसी को पता न चला। वे जल में विचरने वाले सर्प की भाँति पानी में ही छिपकर रहने लगे। स्वर्ग में इन्द्र के न होने से देवता और देवर्षि भयभीत होकर सोचने लेगे-'अब हमारा राजा कौन होगा? बहुत विचार करके नहुष का स्वर्ग में इन्द्र के पद पर अभिषेक हुआ। नहुष काम मोहित हो गया और उसकी दृष्टि शची पर पड़ी। नहुष से भयभीत होकर इन्द्राणी बृहस्पति के भवन गई। उसकी बात सुनकर अग्नि आदि सब देवता एकाग्रचित होकर इन्द्र की खोज करने के लिए विचार करने लगे। फिर वे सब देवगण भगवान विष्णु से बोले—''देव! यद्यपि वृत्रासुर आप की ही शक्ति से मारा गया है तथा ब्रह्महत्या ने उसे आक्रान्त कर लिया है। आप ही उसके उद्धार का उपाय बताइये।' यह सुनकर भगवान् विष्णु ने कहा-इन्द्र यज्ञों द्वारा केवल मेरी ही आराधना करे, इससे मैं वज्रधारी इन्द्र को पवित्र कर दूँगा। यह सुनकर महर्षियों सहित सब देवता उस स्थान पर गये, जहाँ भय से व्याकुल हुए इन्द्र छिप कर रहते थे। वहाँ महेन्द्र की शुद्धि के लिए एक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान हुआ, जो ब्रह्महत्या को दूर करने वाला था। तब इन्द्र ने वृक्ष, नदी, पर्वत, पृथ्वी और स्त्री समुदाय में ब्रह्महत्या को बाँट दिया (वही 121-13, 19)।

शान्ति पर्व के अनुसार वृत्रासुर वध की कथा

प्राचीन काल में इन्द्र, रथ पर आरूढ़ हो देवताओं को साथ लेकर वृत्रासुर से युद्ध करने चले। वह दैत्य पाँच सौ योजन ऊँचा और कुछ अधिक तीन सौ योजन उसकी मोटाई थी। उसे देखकर देवता लोग डर गये। वृत्रासुर का वह उत्तम एवं विशाल रूप देखकर सहसा भय के मारे इन्द्र की दोनों जाघें अकड़ गईं। युद्ध उपस्थित होने पर समस्त देवता और राक्षस एक दूसरे से भिड़ गये। वृत्रासुर ने सब ओर से मायामय युद्ध छोड़ कर इन्द्र को मोह में डाल दिया। महात्मा वशिष्ठ के द्वारा प्रोत्साहन पाकर इन्द्र ने उस माया को नष्ट कर दिया। तब अंगिरा के पुत्र बृहस्पति आदि ने लोकहित की कामना से वृत्रासुर के विनाश के लिए महादेव जी के पास जाकर निवेदन किया। उसी समय जगदीश्वर शिव का तेज रौद्र ज्वर होकर लोकेश्वर वृत्र के शरीर में समा गया। तत्पश्चात् विष्णु ने भी इन्द्र के वज्र में प्रवेश किया। तब बृहस्पति और महर्षि वशिष्ठ ने इन्द्र को वृत्रासुर का वध करने को कहा। महेश्वर ने इन्द्र से कहा इन्द्र! यम मेरा तेज तुम्हारे शरीर में प्रवेश करता है। इस समय दानव वृत्र ज्वर के कारण बहुत व्यग्र हो रहा है। इसी अवस्था में तुम वज्र से इसे मार डालो। ज्वर के प्रवेश करते ही उसके मुख में विशेष जलन होने लगी। उसकी आकृति बड़ी भयानक हो गई। अंगकान्ति बहुत फीकी पड़ गई। शरीर जोर-जोर से काँपने लगा तथा बड़े वेग से साँस चलने लगी। वृत्रासुर के मुख से अत्यन्त भयंकर अकल्याण स्वरूपा महाघोर गीदड़ी के रूप में उसकी स्मरण शक्ति ही बाहर निकल गई। ऐसी अवस्था में तीव्र ज्वर से पीड़ित हो उस महान् असुर ने अमानुषी गर्जना की और बार-बार जँभाई ली। जँभाई लेते समय ही इन्द्र ने उसके ऊपर वज्र का प्रहार किया ओर वृत्रासुर को तुरंत धराशायी कर दिया (महाकायं वृत्रं दैत्यमपातयत् 12, 282, 9 समानान्तर स्थल वही 28, 58-60)।

वृत्रासुर के मृत शरीर से ब्रह्मत्या उतपन्न हुई। उसने स्वर्ग जाते इन्द्र को पकड़ लिया। इन्द्र उससे पिण्ड छुड़ाने के लिए भागे और कमल की नाल के भीतर घुसकर उसी में बहुत वर्षो तक छिपे रहे। ब्रह्महत्या ने वहाँ भी उन्हें पकड़ लिया और इन्द्र निस्तेज होगये। ब्रह्महत्या ने उसे बन्दी बना लिया और उसी अवस्था में ब्रह्मा के पास गये। तब ब्रह्माजी ने ब्रह्महत्या को अपनी मीठी वाणीद्वारा सान्त्वना देते कहा—'ये देवताओंके राजा इन्द्र हैं। मेरा यह प्रिय कार्य करो। बोलो मैं तुम्हारी कौन सी अभिलाषा पूर्ण करूँ। ब्रह्महत्या ने कहा-तीनों लोकों की सष्टि करने वाले, आप के प्रसन्न हो जाने पर मैं अपने सारे मनोरथों का पूर्ण हुआ ही मानती हूँ। अब आप मेरे लिए केवल निवास-स्थान का प्रबन्ध कर दीजिये, मैं इन्द्र को छोड़कर हट जाऊँगी। तब ब्रह्माजी ने इन्द्र को पापमुक्त करने के लिए ब्रह्महत्या के चार भाग किये। इसका चतुर्थांश अग्नि, एक चौथाई भाग वृक्ष, तृण, औषधियों, एक चौथाई भाग रजस्वला स्त्रियों, और एक चौथाई भाग जल को देकर ब्रह्महत्या के निवास का प्रबन्ध किया (12, 282, 33-53)।

यही कथा आगे इसी पर्व 342, 35-42 में मिलती है। थोड़ा फर्क कथा में है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप अपने एक मुँह से इन्द्र आदि देवताओं के तेज को पी जाते थे। इन्द्र ने देखा, विश्वरूप का सारा शरीर सोमपान से परिपुष्ट हो रहा है। यह देखकर देवताओं सहित इन्द्र को बड़ी चिन्ता हुई। तब समस्त देवता इन्द्र सहित ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने दधीच ऋषि से ऐसा वर माँगने को कहा जिससे वे अपने शरीर को त्याग दें। फिर उन्हीं की हड्डियों से वज्र नामक अस्त्र बनायें। देवताओं ने दधीच को प्रसन्न कर लिया। लोक हित के लिए दधीच ने अपने शरीर का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् ६

ाता ने वज्रास्त्र का निर्माण किया। इस वज्र से भगवान् विष्णु प्रविष्ट हुए थे, और इन्द्र ने विश्वरूप का वध कर डाला और उसके तीनों सिरों को काट दिया, तत्पश्चात् अपने वैरी वृत्रासुर का भी वध किया (12, 342, 41 वृत्रमिन्द्रो जघान)।

इन्द्र के पास दोहरी ब्रह्मत्या उपस्थित हुई उसके भय से इन्द्र देवराज पद का परित्याग कर अणुमात्र रूप धारण कर कमलनाल की ग्रन्थि में प्रविष्ट हो गये (वही 342, 42)। इन्द्र की अनुपस्थिति में देवताओं और ऋषियों ने नहुष को देवराज के पद पर अभिषिक्त किया। कुछ दिनों बाद इन्द्र ने पुनः अपना पद प्राप्त किया और अपनी ब्रह्म हत्या को स्त्री, अग्नि वृक्ष और गौ इन चार स्थानों में विभक्त किया (वही 342, 53)।

आश्वमेधिक पर्व (11, 7-9) के अनुसार वृत्र वध कथा

'प्राचीन काल में वृत्रासुर ने सारी पृथ्वी पर अधिकार कर लिया था। इन्द्र ने देखा कि वृत्रासुर ने पृथ्वी पर अधिकार कर गन्ध के विषय का भी अपहरण कर लिया है, और दुर्गन्ध का प्रसार सब ओर हो रहा है उसे बड़ा क्रोध हुआ। उसने कुपित होकर वृत्रासुर के ऊपर घोर-वज्र का प्रहार किया। वज्र से आहत होकर वह असुर सहसा जल में जा घुसा और उसके विषय भूत रस को ग्रहण करने लगा। शतक्रतु ने वहाँ भी वज्र छोड़ दिया। तब वृत्रासुर आकाश में जाकर उसके विषय को ग्रहण करने लगा। आकाश के भीतर तेजस्वी वज्र से पीड़ित हो वृत्रासुर सहसा इन्द्र में समा गया और उनके विषय को ग्रहण करने लगा। वृत्रासुर से गृहीत होने पर इन्द्र के मन में महान् मोह छा गया। तब महर्षि वशिष्ठ ने रथन्तर के द्वारा उन्हें सचेत किया। तत्पश्चात् इन्द्र ने अपने शरीर के भीतर स्थित हुए वृत्रासुर को अदृश्य वज्र के द्वारा मार डाला।

ऊपर के इन्द्र और वृत्र के युद्ध संबंधी सन्दर्भो को देखने से ऐसा लगता है कि पराक्रम में वृत्र, इन्द्र से बढ़कर था। इसीलिए उसका विनाश करने के लिए इन्द्र को भगवान् महेश्वर अथवा भगवान् विष्णु की सहायता लेनी पड़ी। यदि कहा जाय कि इन्द्र ने उनकी शक्ति पाकर, दधीच ऋषि की हड्डी से निर्मित वज्र द्वारा छल से वृत्र को मारने में सफल हुए, यह कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। उसमें कुछ अच्छे गुण भी थे, इसीलिए एक बार सनत्कुमार के उपदेशों को सुन कर ग्रहण भी किया था (11 सम्पूर्ण अध्याय)। अनुशासन (36 अध्याय) पर्व इन्द्र और शम्बरासुर संवाद से संबंध रखता है।

रामायण में इन्द्र द्वारा वृत्र की हत्या के बारे में बालकाण्ड (24-18) में लिखा गया है कि "वत्रासुर वध के बाद देवराज इन्द्र मल से लिप्त हो गये। उन्हें क्षुधा ने भी धर दबाया और उसके भीतर ब्रह्महत्या प्रविष्ट हो गई।" वृत्रासुर वध का वर्णन उत्तरकांड(85, 13) में भी मिलता है।

दैत्यों की उत्पत्ति कथा इस प्रकार है जिसे वैशम्पायन ने जनमेजय को बताया था— "जब क्षत्रिय वंश की समृद्धि हो रही थी उसी समय असुर लोग राजपत्नियों के गर्भ से जन्म लेने लगे। वे देवताओं द्वारा अनेकों बार युद्ध में पराजित हो चुके थे। स्वर्ग के ऐश्वर्य से भ्रष्ट होकर वे पृथ्वी पर ही जन्म लेने लगे। यहीं रहकर देवत्व प्राप्त करने की इच्छा से वे असुर भूतल पर मनुष्यों तथा भिन्न-भिन्न प्राणियों में जन्म लेने लगे। वे घोड़ों, गदहों, ऊँटों, भैसों, कच्चे माँस खाने वाले पशुओं, हाथियों और मृगों की योनि में भी जन्म धारण करते जा रहे थे। स्वर्ग से इस लोक में गिरे हुए कितने ही दैत्य और दानव मद

से उन्मन्त रहते थे। वे पराक्रमी होने के साथ ही अहंकारी भी थे। अनेक प्रकार के रूप धारण कर अपने शत्रुओं का मान मर्दन करते हुए समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वी पर विचरते रहते थे। वे ब्राह्मणों, क्षत्रियों वैश्यों को सताते थे। वे असुर लाखों की संख्या में उत्पन्न हुए थे और समस्त प्राणियों को डराते-धमकाते तथा उनकी हिंसा करते हुए भूमंडल में सब ओर घूमते थे। वे वेद और ब्राह्मण विरोधी, पराक्रम के नशे में चूर तथा अहंकार और बल से मतवाले होकर इधर-उधर आश्रमों में महर्षियों का भी तिरस्कार करने लगे। वे विशेष यत्न पूर्वक इस पृथ्वी को पीड़ा देने लगे (आदि पर्व 64, 26-27)।''

बैशम्पायन ने जनमेजय को प्रसिद्ध दैत्यों की उत्पत्ति के बारे में इस प्रकार बताया-''दिति के एक पुत्र हिरण्यकशिपु हुए, उसके पाँच पुत्र हुए— प्रह्लाद, शिबि और पाँचवें वाष्कल। प्रह्लाद के तीन पुत्र हुए— विरोचन, कुम्भ और निकुम्भ। विरोचन के एक पुत्र हुआ जो महाप्रतापी बलि के नाम से प्रसिद्ध है। बलि का पुत्र बाण नामक असुर है। प्रजापति दक्ष की तेरह कन्याओं में से दनु तीसरी कन्या थी। इसी दनु के चौंतीस पुत्र हुए जिनमें विप्रचित्ति, शम्बर, नमुचि, पुलोमा, असिलोमा, केशी, दुर्जय, अय:शिरा, अश्वशिरा, पराक्रमी, अश्वशंकु, गगनमूर्धा, वेगवान्, स्वर्भानु, अश्व, अश्वपति, वृषपर्वा, अजक, अश्वग्रीव, सूक्ष्म, महाबली, तुहुण्ड, इषुपाद, एकचक्र, विरूपाक्ष, हर, अहर, निचन्द्र, कुपट, कपट, शरभ, शलभ सूर्य और और चन्द्रमा है। देवताओं में जो सूर्य और चन्द्रमा माने गये हैं, वे दूसरे हैं और प्रधान दानवों में सूर्य तथा चन्द्रमा दूसरे हैं। रामायण (अरण्य 14, 15) में भी दिति के दैत्य पुत्रों की चर्चा है।

प्रजापति की दूसरी पुत्री सिंहिक ने राहु को उत्पन्न किया जो सूर्य और चन्द्रमाका मान-मर्दन करने वाला है। पुत्री क्रूरा (क्रोधा) के क्रूर स्वभाव वाले असंख्य पुत्र-पौत्र उत्पन्न हुए। दनायु के चार पुत्र हुए-विक्षर, बल, वीर और महान असुर वृत्र। काला के विनाशन, क्रोध, क्रोध हन्ता, तथा क्रोध शत्रु पुत्र हुए।

असुरों के उपाध्याय शुक्राचार्य महर्षि भृगु के पुत्र थे (आदि पर्व 65, 12-37)। वैशम्पायन जी ने आगे और जानकारी जनमेजय को दी कि विप्रचित्ति ही मनुष्यों में श्रेष्ठ जरासन्ध हुआ। हिरण्यकशिपु ही नरश्रेष्ठशिशुपाल हुआ। संह्लाद ही वाह्णीक देश का सुप्रसिद्ध राजा शल्य हुआ, इसी प्रकार अनुह्लाद ही धृष्टकेतु नामक राजा हुआ। शिबि दैत्य ही पृथ्वी पर द्रुम नाम से विख्यात राजा हुआ। असुरों में श्रेष्ठ वाष्कल ही भगदत्त हुआ। इसी प्रकार अनेक दैत्याओं के मनुष्यावतारों की चर्चा आदिपर्व 67, 3-65 में की गई है। कालेय नामक दैत्यों के आठों पुत्रों में से क्रमश: मगधदेश का जयत्सेन, अपराजित, निषादनरेश, श्रेणिमान्, महोजा, अभीरु, समुद्रसेन और बृहत् राजा हुए। दानवों में कुक्षिनाम से प्रसिद्ध जो महाबली राजा था,वह पर्वतीय नामक राजा हुआ। क्रन्थन नामक महान् असुर पृथ्वी पर सूर्याक्ष नाम से उत्पन्न हुआ। असुरों में जो सूर्य नामक महान् असुर था वह पृथ्वी पर 'दरद' नामक वाह्णीकराज हुआ। असुरों की और भी संतान पृथ्वी पर निम्नांकित वीर राजाओं के रूप में उत्पन्न हुए-'मद्रक, कर्णवेष्ट, सिद्धार्थ, कीटक, सुवीर, सुबाहु, महावीर, वाह्णिक, क्रथ, विचित्र, सुरथ, श्रीमान् नील नरेश, चीरवास, भूमिपाल, दन्तवक्त्र, दानव दुर्जय, नृपश्रेष्ठ, रूकभे, राजा जनमेजय, आषाढ़ वायुवेग, भूरितेजा,एकलव्य, सुमित्र, गोमुख, करुषदेश्च के अनेक राजा, क्षेमधूर्ति, श्रुतायु, उद्वह, बृहत्सेन, क्षेम, उग्रतीर्थ, कलिंग-नरेश कुहर तथा परम बुद्धिमान मनुष्यों का राजा ईश्वर। दानवों में जो महाबली कालनेमि था, वही राजा उग्रसेन के पुत्र बलवान कंस हुए (आदिपर्व 67, 4-67)। पुलस्त्य कुल के राक्षस, मनुष्यों

में दुर्योधन के भाइयों के रूप में उत्पन्न हुए, जबकि दुर्योधन कलि के अंश के रूप में पैदा हुआ (आदिपर्व 67, 88-89)। शिखण्डी राक्षस के अंश से उत्पन्न हुआ था।वह पहले कन्यारूप में उत्पन होकर पुन: पुरुष हो गया (वही, 67, 126)।

दैत्यों की उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई थी, इसीलिए हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, शम्बर, विप्रचित्ति, विराध, नमुचि और बलि कहने लगे कि हम और देवता एक ही जाति के हैं। इसीलिए वे देवताओं के साथ स्पर्धा रखने लगे। जब भगवान रुद्रदेव ने उनका वध किया तो युद्ध में हारकर कितने ही राक्षस धरती में घुस गये, बहुत से पर्वतों में छिप गये कुछ आकाश में उड़ गये, दूसरे बहुत से दैत्य पानी में समा गये (शान्ति पर्व 166, 27-28, 60)। इसी जातीय स्पर्धा के कारण असुर और देवता हमेशा लड़ते रहते थे। उस युद्ध में कभी दानवों की विजय होती तो कभी देवताओं की। वनपर्व (223,3) के अनुसार दोनों एक दूसरे को अस्त्र-शस्त्रों द्वारा चोट पहुँचाया करते थे, और उस संघर्ष के समय भयंकर रूप वाले दानव ही सदा विजयी होते थे। परन्तु इसी पर्व (231, पूरा अध्याय) में देवताओं और राक्षसों के युद्ध का वर्णन है, जिसमें कुमार कार्तिकेय ने देवताओं की ओर से युद्ध करते महिषासुर और एक सौ देवद्रोही राक्षसों का विनाश किया। उन्होंने तारकासुर का वध करके देवेन्द्र इन्द्र को पुनः देवताओं के राज्य पर प्रतिष्ठित किया (13, 87, 29-30)। पिनाकधारी महादेव ने त्रिपुरासुर का वध किया (13, 8, 28 समानान्तर स्थल 12, 284, 77)। शक्र जातक (पृ. 124-126) में देवताओं और असुरों के बीच युद्ध का वर्णन है।

एक बाद देवताओं और दैत्यों में चराचर प्राणियों सहित त्रिलोकी के ऐश्वर्य के लिए परस्पर बड़ा भारी युद्ध हुआ। युद्ध में विजय पाने की इच्छा से देवताओं ने बृहस्पति को और दैत्यों ने शुक्राचार्य को पुरोहित बनाया। युद्ध में मरे हुए दानवों को शुक्राचार्य अपनी संजीविनी विद्या के बल से पुन: जीवित कर देते थे, अतः वे उठकर पुनः देवताओं से युद्ध करते थे। परन्तु असुरों ने मुहाने पर जिन देवताओं को मारा, उन्हें बृहस्पति जीवित नहीं कर सके। इससे देवताओं में भय छा गया (आदिपर्व 76, 5-10। इसी प्रकार एक बार देवताओं और दैत्यों ने अमृत के लिए समुद्र मन्थन किया था।

धन्वन्तरि देव हाथ में श्वेत लिए प्रकट हुए, जिसमें अमृत भरा था। दानवों में अमृत के लिए कोलाहल मच गया। वे सब कहने लगे, यह मेरा है, यह मेरा है (आदि 18, 39)। भगवान विष्णु ने मोहिनी स्त्री का अद्भुत रूप बना कर, दानवों के पास पदार्पण किया। दैत्यों और दानवों पर अपना हृदय निछावर कर दिया। उनके चित्त में मूढ़ता छा गयी अतः उन सब ने स्त्री रूपधारी भगवान् विष्णु को यह अमृत सौंप दिया (आदि 18, 46)। भगवान नारायण की वह मिर्त्तिमती माया हाथ में कलश लिए अमृत परोसने लगी। उस समय दानवों सहित दैत्य पंक्ति में बैठे ही रह गये, परन्तु उस देवी ने देवताओं को ही अमृत पिलाया दैत्यों को नही। अमृत हाथ से निकल जाने पर दैत्य और दानव संगठित हो गये और उत्तम कवच और अस्त्र-शस्त्र लेकर देवताओं पद टूट पड़े (आदि 19, 1) अन्ततः शक्तिशाली नरसहित भगवान नारायण ने जब मोहिनी रूप धारण करके दानवेन्द्रों के हाथ से अमृत लेकर हड़प लिया तब सब देवता भगवान् विष्णु से अमृत ले लेकर पीने लगे, क्योंकि उस समय घमासान युद्ध की सम्भावना हो गयी थी। इसी बीच "राहू" नामक दानव ने देवतारूप से आकर अमृत पीना आरंभ किया। वह अमृत अभी उस दानव के कंठ तक ही पहुँचा था कि चन्द्रमा और सूर्य ने देवताओं के हित की इच्छा से उसका

भेद बतला दिया। तब चक्रधारी श्रीहरि ने अमृत पीने वाले उस दानव का मुकुटमंडित मस्तक चक्रद्वारा बलपूर्वक काट लिया (आदि पर्व 19, 2-6)। इसके बाद क्षीरसागर के समीप देवताओं और असुरों का भयंकर महासंग्राम छिड़ गया। श्री हरि ने सुदर्शन चक्र से अनेक राक्षसों का वध किया (आदि 19, 24) इस प्रकार देवताओं द्वारा पीड़ित हुए महादैत्य, सुदर्शन चक्र को अपने ऊपर कुपित देखकर पृथ्वी के भीतर और खारे पानी के समुद्र में घुस गये। इस प्रकार इस महासंग्राम में देवतागण, दैत्यों पर विजयी हुए (आदि 19, 29-30)।

रामायण में भी समुद्र मन्थन में प्राप्त अमृत को पाने के लिए असुर और राक्षसों के मिलकर देवताओं से युद्ध करने की चर्चा है (बालकांड 45, 41 एकतामगमन् सर्वे असुरा राक्षसैः सह)। जो दैत्य बलपूर्वक अमृत छीन लाने के लिए भगवान् विष्णु के पास गये उन्हें भगवान विष्णु ने युद्ध में पीस डाला (बालकांड 45, 43)।

इन्द्र के अतिरिक्त भगवान विष्णु ने अपनी दोनों जाँघों को अनावृत कर मधु और कैटभ के मस्तकों को उन्हीं पदों पर रखकर तीखी धार वाले चक्र से उन्हें काट डाला (वनपर्व 203, 34-36 शान्तिपर्व 347, 70; हरिवंश पर्व 52, 37) इन दोनों दैत्यों के पुत्र 'धुन्धु' का वध राजा कुवलाश्व ने किया था (वनपर्व 204, 96)। घटोत्कच और जटासुर के पुत्र अलम्बुस के युद्ध एवं अन्त में अलम्बुष के वध का वर्णन भी है (द्रोणाचार्य 109 अध्याय और 128, 28)। कृष्ण ने पाताल निवासी पञ्चनन नामक राक्षस को मारकर उसका दिव्य पाञ्चजन्य शङ्ख प्राप्त किया (द्रोण 11, 20)। उसने आकाश में स्थित सौभ नामक दुर्धुर्ष दैत्य को मार गिराया (द्रोण 11, 14)।

धृतराष्ट्र ने कृष्ण के पराक्रम का वर्णन करते हुए संजय को इस प्रकार बताया—''भगवान् श्रीकृष्ण ने उच्चैश्रवा के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् अश्वराज ''केशी'' को मार डाला (हरिवंश पर्व 24, 42) इसके बाद तो इन्होंने एक-एक करके अनेकों राक्षसों का वध किया-पूतना (हरिवंश पर्व 6, 26), प्रलम्ब (वही 62, 121), हिरण्याक्ष (वही, 36, 21), देवद्रोही रसातल में रहने वाले राक्षसों (शान्तिपर्व 209, 26) आदि। तदनन्तर उसने पराक्रम करके जरासंध द्वारा सुरक्षित महातेजस्वी कंस को उसके गणों सहित रणभूमि में मार गिराया (द्रोण पर्व 11, 6)

कंस को मारने के बाद उसके मझले भाई शूरसेन ने राजा सुनामा को समर में सेनापति सहित दग्ध कर डाला। इतने राक्षसों का विनाश करके भी उसे शान्ति नहीं मिली। उसने अक्षौहिणी सेना के अधिपति महाबाहु जरासंध को उपायपूर्वक दूसरे योद्धा (भीमसेन) के द्वारा मरवा दिया। बलवान् श्रीकृष्ण ने राजाओं की सेना के अधिपति पराक्रमी चेदिराज शिशुपाल को अग्रपूजन के समय विवाद करने के कारण पशु की भांति मार डाला (कर्ण पर्व 11, 3,-13, सभा 45, 25)। उन्होंने जृम्भासुर, पीठ नामक महान् असुर और यमराज सदृश मुर का भी संहार किया (द्रोण, 11, 5)। यज्ञों के विरोधी क्रूरकर्मा महाधनुर्धर जृम्भ नाम से विख्यात असुर को भी मार गिराया (वनपर्व 102, 24)। इन्द्र का हित करने की इच्छा से विशाल नरकासुर का वध किया (वनपर्व 142, 17)। नृरसिंह रूप विष्णु ने दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध किया (वनपर्व 272, 60; हरिवंश पर्व 46, 14)। वामन रूप धारी विष्णु ने महादैत्य बालि से तीन डेग द्वारा पृथ्वी को नापकर त्रिलोकी के राज्य से वंचित कर दिया, और इन्द्र का राज्य निष्कंटक बना दिया (वनपर्व 102, 23)।

(ग) दैत्य

अथर्ववेद (7, 263) में भी विष्णु के तीन डेगों की चर्चा है। उन्होंने क्यों ऐसा किया इसका जवाब रामायण (बालकाण्ड 29, 7-21) में दिया गया है।'' एक समय राक्षसराज बलि ने इन्द्र और देवताओं को परास्त कर दिया था। इसके बाद उसने एक यज्ञ का आयोजन किया। अग्नि आदि देवताओं ने भगवान विष्णु से कहा कि दैत्य बलि के यज्ञ संबंधी नियम पूर्ण होने से पहले ही दैत्य को स्वर्ग का राजा बनने से रोकना चाहिए। इसी समय अदिति ने अपनी पत्नी अदिति से आकर, इन्द्र से आग्रह किया कि वह अदितिपुत्र बनकर देवताओं की सहायता करे। तदनन्तर भगवान् विष्णु अदिति देवी के गर्भ से प्रकट होकर वामन रूप धारण कर विरोचन कुमार बलि के पास गये। वे बलि के अधिकार से त्रिलोकी का राज्य लेना चाहते थे, अतः तीन पग भूमि के लिए याचना करके उससे भूमिदान ग्रहण किया। विष्णु ने अपनी शक्ति से बलि का निग्रह करके त्रिलोकी को पुनः इन्द्र केअधीन कर दिया।''

जिस समय वे डेग बढ़ा रहे थे, उस समय विप्रचिति, शिबि, शंकुर, शंकु, अयः सिरा, तथा शंकुशिरा, हयग्रीव, वेगवान, केतुमान, उग्र, सोमव्यग्र, पुष्कर, पुष्कल, वेपन, बृहत्कीर्ति, महाजिह्वा तथा अश्व सहित अश्वपति, प्रह्लाद, अश्वशिरा, कुम्भ, संह्लाद, गगनप्रिय, अनुह्लाद, हरि और हर, वराह, शंकर, रुज, शरभ, तथा शलभ, कुपन, कोपन, क्रथ, बृहत्कीर्ति, महाजिह्व। शंकुकर्ण, महस्वन, दीर्घजिह्वा, अर्क्रनयन, मृदुचाप, मृदुप्रिय, वायु यविष्ट, नमुचि, शम्बर, महाकाय विज्वर, चन्द्रहन्ता, क्रोधहन्ता एवं क्रोधवर्धन, कालक तथा कालकेय, वृत्र, क्रोध, विरोचन, गरिष्ठ और वरिष्ठ, प्रलम्ब और नरक, इ़न्द्रतापन, वातापि, बलाभिमानी, केतुमान, असिलामा, पुलोमा, वाक्कल, प्रमद, मद, खसुम, कालवदन कराल, केशिक, शर, एकाक्ष, चन्द्रहा, राहु, संहलाद, सुमर और खन आदि दैत्य चारों ओर से भगवान को घेर खड़े हो गये। उनके हाथों में परिध, शूल, ऊखल, फरसे, पाश, मुदगर और आदि हथियार थे। उनकी आकृतियाँ विचित्र थीं, उनके मुख गदहे, ऊँट, सूअर, मगर और सियारों के समान थे वे अत्यन्त तेज से अपने-अपने आयुध लिए हुए थे (हरिवंश पर्व 41 अध्याय 80-81)। तब वामन रूपधारी विष्णु ने महाभयानक रूप धारण कर समस्त दैत्यों को लातों और थप्पड़ों से मथ डाला और शीघ्र ही पृथ्वी को उनसे छीन लिया (वही, 41, 99)। जब रणदुर्जय दैत्यों और दानवों को विष्णु की ओर से भय प्राप्त हुआ है, यह पता चला तो वे देवताओं से युद्ध करने के लिए तैयार हो गये (हरिवंश पर्व 43 अध्याय)।

श्रीकृष्ण और शाल्व युद्ध में शाल्व के अनुगामी वीरों ने श्रीकृष्ण पर झुकी हुई गाँठवाले लाखों वाण बरसाये थे। श्रीकृष्ण कहते हैं कि ''उस समय उन असुरों ने अपने मर्मभेदी वाणों द्वारा उनके घोड़ों, रथ और दारूक को भी ढक लिया (वनपर्व 20, 22-23)। परन्तु बाद में श्रीकृष्ण ने वीरता से युद्ध किया तो वे असुर विभिन्न दिशाओं में कोलाहल करते मारे गये (वनपर्व 22, 8), और उनके द्वारा छोड़े गये सुदर्शन चक्र द्वारा शाल्व का वध किया (वही 22, 37)।

ब्रह्मर्षि अगस्त्य के प्रभाव का वर्णन क्रम में वायुदेवता ने कार्तवीर्य अर्जुन को बताया कि प्राचीन काल में असुरों ने देवताओं को परास्त करके उनका उत्साह नष्ट कर दिया। अतः देवता लोग पृथ्वी पर मारे-मारे फिरने लगे। तब देवताओं ने मुनि अगस्त्य के पास जाकर अपनी पराजय की बात बतलाई। तब अगस्त्य तेज से दग्ध होते हुए दैत्य, दोनों लोकों का परित्याग करके दक्षिण दिशा की ओर चले गये।

उस समय राजा बलि पृथ्वी पर आकर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। अत: जो दैत्य उनके साथ पृथ्वी पर थे और दूसरे जो पाताल में थे, वे ही दग्ध होने से बचे। तत्पश्चात् देवताओं का भय शान्त होने पर पुनः अपने-अपने लोक में चले आये। तदन्तर देवताओं ने अगस्त्य जी से पुन: पृथ्वी पर रहने वाले असुरों का नाश करने का आग्रह किया। इस पर भगवान् अगस्त्य ने अपने तेज और तप से दानवों को दग्ध कर दिया (13, 15, 3-13)।

भीमसेन ने वनवास अवधि में अनेक राक्षसों का विनाश किया था। घटना उस समय की है कि अर्जुन दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिए देवलोक गया हुआ था। वन में उसकी माता कुन्ती, द्रौपदी और भाई रहते थे। एक बार ब्राह्मण के वेश में जटासुर पांडव्रों के साथ रहने लगा था। एक दिन उसकी अनुपस्थिति में उस राक्षस ने माता कुन्ती, द्रौपदी और भाइयों को हर लिया (वनपर्व 157, 3)। भाईयों और द्रौपदी का अपहरण होता देख महाबली भीमसेन कुपित हो उठे। जटासुर और भीमसेन दोनों में युद्ध होने लगा। भीमसेन ने उस राक्षस को दोनों भुजाओं से बलपूर्वक उठा लिया और उसके सारे अंगों को दबा-दबा कर चूर-चूर कर दिया और थप्पड़ मार कर उसके सिर को धड़ से अलग कर दिया (वन पर्व 157 पूरा अध्याय)। उसने बकासुर (आदिपर्व 162, 24-28 समानान्तर स्थल वनपर्व 12, 14,): हिडिम्ब (आदिपर्व 153, 31-32: वनपर्व 12, 109)। का वध किया था। द्रौपदी के कहने पर उसके लिए सौगन्धि ाक पुष्प लाने भीमसेन सौगन्धिक वन पहुँचा। महाराज कुबेर की आज्ञा से लाखों की संख्या में 'क्रोधवश' राक्षस उसकी रक्षा करते थे। जलाशय में भीमसेन को उतरा देख कर सभी राक्षस शस्त्र उठाकर उसकी ओर दौड़े। परन्तु भीमसेन की मार से क्षत-विक्षत होकर उनके पाँव उखड़ गये (वन पर्व 154 अध्याय)। भीमसेन ने महाबली जरासन्धका वध भी किया था (सभापर्व 24, 7)।

राक्षसों के विनाश में अर्जुन भी कम नहीं थे। उसके स्वर्गलोग पहुँचने पर इन्द्र ने उसे कहा --"कि निवातकच नामक दानव उसके शत्रु हैं, वे समुद्र के भीतर रहते हैं, तुम उनका वध करो।" इन्द्र की आज्ञा से अर्जुन इन्द्र-रथ पर सवार होकर पाताल लोक गया और निवातकचों को युद्ध में मार गिराया (वनपर्व 170-172 अध्याय)। इसके बाद देवलोक लौटने के क्रम में पौलोम तथा कालकेयों का वध किया (वन पर्व 173 अध्याय)। परन्तु एक स्थल (आदिपर्व 227, 43-45) में राक्षस हन्ता अर्जुन ने मयासुर को अभयदान दिया था। खांडववन को जलाते समय अग्निदेव उस असुर को भी जला डालना चाहते थे। कृष्ण उसका वध करने के लिए जब चक्र लेकर दौड़े तो मयासुर ने दौड़कर अर्जुन से अभयदान माँगा था। भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार मयासुर ने अद्‌भुत सभा का निर्माण किया था।

राक्षस ब्राह्मण विरोधी भी थे, इसलिए महर्षि अगस्त्य ने असुर वातापि और उसके भाई इल्वल की हत्या की (वनपर्व 99, 9 और 18)।

दानव चाहते थे कि वे दुर्योधन के साथ रहें। कथा वनपर्व में इस प्रकार है—"दुर्योधन, कर्ण और शकुनि वन में पांडवों को देखने द्वैतवन गये थे। दुर्योधन सेना सहित वन में जाकर गौओं की देखभाल करने लगा। इसी बीच सैनिकों एवं गन्धर्वो में परस्पर कटु संवाद हो गया (240 अध्याय)। कौरवों ने गन्धर्वो के साथ युद्ध किया परन्तु कर्ण की पराजय हो गई (241 अध्याय)। गन्धर्वो ने दुर्योधन का अपहरण कर लिया। यह जान कर युधिष्ठिर ने भीमसेन को गन्धर्वो के हाथ से कौरवों को छुड़ाने का आदेश दिया। बड़े भैया का आदेश सुनकर पांडवों और गन्धर्वो का युद्ध हुआ और गन्धर्व हार गये। (242-245व्रॉं सर्ग

अध्याय)। अर्जुन ने चित्रसेन से दुर्योधन को बंदी बनाने का कारण पूछा, इस पर चित्रसेन ने उत्तर दिया ''देवराज इन्द्र को स्वर्ग में बैठे-बैठे दुरात्मा दुर्योधन और पापी कर्ण का यह अभिप्राय मालूम हो गया था कि ये आप लोगों की हँसी उड़ाने के लिए आये हैं। इन्द्र की आज्ञा से ही दुर्योधन को उसी के पास ले जाना है। धर्मराज युधिष्ठिर इसके कुटिल अभिप्राय को नहीं जानते हैं। फिर भी युधिष्ठिर के कहने पर दुर्योधन को चित्रसेन ने मुक्त कर दिया (246वाँ अध्याय)। दुर्योधन, कर्ण से अपनी ग्लानि का वर्णन करके आमरण अनशन पर बैठ गया। शकुनि के समझाने पर भी जब दुर्योधन टस से मस नहीं हुआ तो दैत्यों ने जो पूर्व काल में देवताओं से पराजित हो चुके थे, मन ही मन विचार किया कि इस प्रकार दुर्योधन का प्राणान्त होने से तो उनका पक्ष ही नष्ट हो जायेगा। अतः उन्होंने कृत्या द्वारा दुर्योधन को पाताल में बुलाया (250-251 वाँ अध्याय)। ऐसा लगता है कि महाभारत युद्ध में राक्षसों ने दुर्योधन के पक्ष में करने को ठान लिया क्योंकि वे इन्द्र से बदला लेना चाहते थे और अर्जुन इन्द्र पुत्र था। अपनी योजना बताते हुए दानवों ने दुर्योधन से कहा—''आप की सहायता के लिए बहुत से वीर दानव भूतल पर प्रकट हो चुके हैं। दूसरे अनेक असुर भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि के शरीरों में प्रवेश करेंगे, जिनसे आविष्ट होकर वे लोग दया को त्याग कर आप के शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे।

दैत्यों और राक्षसों के समुदाय क्षत्रिययोनि में उत्पन्न हुए हैं, जो आपके शत्रुओं के साथ पराक्रमपूर्वक युद्ध करेंगे। वे महाबली वीर दैत्य आपके शत्रुओं पर गदा, मुसल, शूल, तथा अन्य छोटे बड़े अस्त्र-शस्त्रों द्वारा प्रहार करेंगे। अर्जुन के वध के लिए भी हम लोगों ने उपाय कर लिया है। श्रीकृष्ण द्वारा जो नरकासुर मारा गया है, उसकी आत्मा कर्ण के शरीर में घुस गई है। वह नरकासुर उस वैर को याद करके श्रीकृष्ण और अर्जुन से युद्ध करेगा, और कर्ण अर्जुन पर विजयी होगा। इस बात को समझकर वज्रधारी इन्द्र, अर्जुन की रक्षा के लिए छल करके कर्ण के कुण्डल और कवच का अपहरण कर लेंगे! इसीलिए हम लोगों ने भी एक लाख दैत्यों तथा राक्षसों को इस काम में लगा रखा है, जो संशप्तक नाम से विख्यात है। वे वीर अर्जुन को मार डालेंगे। देवताओं ने पाण्डवों का आश्रय लिया है, परन्तु हमारी गति तो सदा आप है। (252, 10-26)।''

(घ) दास और आर्य

आर्य-दास संघर्ष की प्रतिध्वनि ऋक् संहिता में सर्वत्र उपलब्ध होती है। ऋग्वेद के मन्त्र 5, 34, 5 में आर्यो द्वारा दासों के पराजय और वशीकरण का संकेत है। इससे पता चलता है कि इनके साथ आर्यों के युद्ध होते रहते थे।

ऋग्वेद (7, 104, 2) में दासों को 'घोर' या भयंकर नेत्र वाले कहा गया है। इन्हें माँस भक्षक (10, 87, 2-3); दुष्कर्म कर्म करने वाले (1, 104, 2); हिंसक मनुष्य और राक्षस (10, 87, 24; 1, 36, 14; 3, 34, 1) और क्रूर कर्म करने वाले (10, 22, 8) कहा गया है। इनका रंग काला था (4, 16, 13)। इनके अलावे ऋग्वेद के अन्यत्र स्थलों (2, 11, 18-19; 7, 32, 2) में भी दासों का उल्लेख है। दासों के बारे और भी कहा गया है कि वे न तो अग्नि में हविर्दान करते थे और न इन्द्र, वरुण के पक्षपाती थे। ऋग्वेद के दो नायकों 'दिवोदास' एवं 'सुदास' के नामों की चर्चा भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से शम्बर, शुष्ण, तुग्र, वेतसु, चुमुरि, अर्वुद जैसे दास नेताओं के नाम अनार्य प्रतीत नहीं होते।

दास, पुर अथवा किलों में निवास करते थे। आर्यो के विरुद्ध युद्ध करने के लिए 10 हजार आदमी जमा कर सकते थे। इन्द्र ने इनके पुरों को अनेकों बार ध्वंस किया। फिर भी अपने किलों और जानवरों की रक्षा के लिए तब तक लड़ते थे, जब तक कि ध्वस्त किलों की कोई उपयोगिता नहीं रह जाती थी, इसके बाद ही आर्यो की अधीनता स्वीकार करते थे।

दासों के पुरों को नष्ट करने केलिए इन्द्र तथा अग्नि से अनेक बार निवेदन भी किया गया है (ऋग्वेद 10, 22, 8; 7, 5, 3; 3, 12, 6) मन्त्र 4, 16, 13में पचास सहस्र कृष्णवर्ण दासों को युद्धभूमि में मारने तथा उनके पुरियों को नष्ट करने का उल्लेख है। इन्द्र को इसी लिए पुरन्दर (पुरों का भेदन करनेवाला ऋग्वेद 2, 12, 4) कहा गया है। राक्षसों के लिए इन्द्र का रूप भयंकर हो जाता है 8, 56, 1)। इसी वेद (8, 56, 3 शतं दासाँ) में दासों को भेड़ों गधों और सौ दासों को दान रूप में पाने के लिए इन्द्र से प्रार्थना की गई है।

वैदिक विभाजन की दृष्टि से जिस प्रकार आर्य और दस्यु तथा आर्य और शूद्र को दो परस्पर विरोधी वर्गो में देखते हैं, उसी प्रकार उसी कोटि में आर्य और दास परस्पर विरोधी दलों में दिखाई देते हैं। यही नहीं, इस प्रकार इन दो परस्पर विरोधी दलों को हम एक दूसरे के शत्रु के रूप में जब देखते हैं, तो पाते हैं कि आर्यों के विरोधी, आर्य भी थे। ऋग्वेद (6, 33, 3)के इस मन्त्र में इन्द्र अथवा सेनापति को सम्बोधित कर यह कहा गया है कि हैं नेता! मनुष्यों में श्रेष्ठ! तुम दोनों प्रकार के शत्रुओं को चाहे वे स्वभाव से ही अच्छे कार्यो में बाधा डालने वाले हों (दास), अथवा आर्यवंशज होकर भी जो आर्यत्व से गिरकर नीच कर्म में प्रवृत्त हो गये हों (आर्य), उन्हें तुम नष्ट कर देते हो। ऋग्वेद 7, 83, 1 में इन्द्रावरुणको दास और आर्य शत्रुओं को मारने के लिए कहा गया है। माधव का मत है कि यदि आर्य भी यज्ञीय कार्यो में बाधा डालते हैं, तो उनको भी मार दो। यहाँ पर वृत्र दास अर्थात् स्वभाव से अच्छे कार्यों में बाधा डालने वाले पुरुषों के नाश का जहाँ वर्णन है, वहाँ आर्यवंशज होकर ऐसे बुरे कार्य करने वालों का भी वध का स्पष्ट निर्देश है, जिससे न्यायपूर्ण समदृष्टि ही सूचित होती है। ऋग्वेद 10, 102, 3 में कहा गया है कि हे इन्द्र! हमें दास बनाने की इच्छा करने वाले (अभिदासतः) और हमारे यज्ञादि शुभ कार्यों में बाधा डालने वाले का तुम नाश करो, चाहे वह स्वभावतः दुष्ट (दास) हो चाहे आर्य वंशज होकर दुष्टों की संगति से दुष्ट स्वभाव वाला बन गया हो।

इस प्रकार की वर्णित भावनाओं के द्वारा दासों की एक विशिष्ट जाति के होने और आर्यो की उनके प्रति घृणा की भावनाओं के होने का समर्थन नहीं होता। इसी प्रकार ऋग्वेद 10, 69, 6 में वर्णन है कि अग्नि ने शत्रुओं के मैदान और पर्वत पर होने वाली दोनों प्रकार की सम्पत्तियों को जीत लिया है, साथ ही दासों के द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को भी नष्ट कर दिया है। इससे ऐसा सोचा जा सकता है कि अग्नि ने आर्य और दास दोनों प्रकार के शत्रुओं की सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया है। इससे दासों के पास भी सम्पत्ति होने का ज्ञान होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त मन्त्रों में, दास ही सिर्फ शत्रु नहीं है अपितु आर्य भी शत्रु रूप में वर्णित किये गये हैं। ऋग्वेद 6, 22, 10 का यह मन्त्र इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम वृत्रा दासानि नाहुषणि आर्याणि करो ''धर्मकार्यों में विघ्न डालने वाले तथा उनका नाश करने वाले दासों को भी आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, धर्मात्मा, सदाचारी, धर्म कर्म परायण कर देते हो। ऋग्वेद 10, 38, 3 में बहुस्तुत इन्द्र से

यह प्रार्थना की गयी है कि हम दास, आर्य अथवा असुर -जो कोई भी हो, उन सभी शत्रुओं को आसानी से परास्त कर सकें। ऋग्वेद 5, 34, 6 में ''दासम्'' और 'आर्य' शब्द आये हैं। इसमें से आर्य इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ सायण ने ''स्वामी'' किया है और दासम् का अर्थ 'दासकर्माणं जनम्' किया है। इस प्रकार सब का स्वामी इन्द्र, दास कर्म करने वाले व्यक्ति को पूर्णतया अपने वश में कर लेता है। यहाँ पर दास आर्यवश्य होता है, ऐसा कहा गया है। इन्द्र और अग्नि के विषय में कहा गया है कि ये दोनों आर्यो के द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को तथा दासों के द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों को नष्ट कर देते हैं। विलसन ने आर्य और दास का क्रमशः Pious और Impious अर्थ किया है। तथा ''हतो वृत्राण्यार्या हतो दासानि'' (6, 60, 6) पर यह टिप्पणी दी है कि वृत्राणि और दासानि ''क्योंकि नपुंसक लिंग में प्रयुक्त हुए हैं, अतः ये अपने आप में आर्यऔर दास को बताने में असमर्थ हैं''। यही कारण है कि सायण ने ''आर्यैः और दासैः कृतानि उपद्रवाणि'' इस प्रकार की व्याख्या की है। अथर्ववेद (5, 11, 3) में ''न मे दासो नार्यो महित्वा'' आया है, जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति चाहे वह दास हो? चाहे वह आर्य हो नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता है। ह्विटनी ने दास का अर्थ barbarian किया है ऋग्वेद 1.103.3 में दासों के पास विद्यमान नगरों का वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका विनाश इन्द्र ने किया है। इस मन्त्र में ''दासी'' पद 'पुर' का विशेषण होकर आया है, जिसका अर्थ है ''दास सम्बन्धी नगर''। विलसन कहते हैं कि "The mention of cities indicates to people not wholly barbarous, although the term may designate villages or hamlet)" ऋग्वेद 6.25.2 में ''कर्मों को नष्ट करने वाली (दासी) सभी प्रजाओं को यज्ञादि को करने वाले आर्य यजमान के लिए नष्ट कर दो'' ऐसी प्रार्थना की गई है। ऋग्वेद 7.87.3 में आता है कि जिस प्रकार (भृत्य) अपने स्वामी की परिचर्या करता है, उसी प्रकार से कामनाओं की वर्षा करने, संसार का भरण पोषण करने के लिए दानादि गुणों से युक्त वरुण की निष्पाप होकर पर्याप्त सेवा करता हूँ। यहाँ पर सेवा के लिए दास को उपस्मन्यु के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इससे यह निष्कर्ष सामान्य रूप से निकाला जा सकता है कि भृत्य के रूप में काम करने वाले को ऋग्वैदिक काल में 'दास' कहा जाता होगा। ऋग्वेद के एक अन्यत्र स्थल (1. 92.8) में कहा गया है कि हे देवता! मैं उस धन को प्राप्त करूँ जो अनेक भृत्यों से युक्त (दासप्रवर्गन्) है अर्थात् मेरे यहाँ अनेक भृत्य काम करने वाले हों' ऋग्वेद में दान के लिए पुरुष 'दास' का बहुत कम उल्लेख मिलता है। जब कि नारी दासों को दान की वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि धनी वर्ग में संभवतः घरेलू दास प्रथा, ऐश्वर्य के एक स्रोत के रूप में विद्यमान थी, परन्तु आर्थिक उत्पादन में दास प्रथा नहीं थी।

यद्यपि बहुत से विजित दास, आर्यों के गुलाम बनाए गए, परन्तु कुछ दासों ने आर्यों पर विजय पाई। एक दास प्रमुख ने तो आर्य संस्कृति को अपना लिया और ब्राह्मणों को संरक्षण देने लगा। आर्य और अनार्य अनुबन्ध के प्रमाण ऋग्वेद के सब से प्रारंभिक स्तर में प्रत्यक्ष हैं, जिसकी भाषा नन इंडो यूरोपियन भाषा से प्रभावित है। सभी भारतीय भाषाएँ— वैदिक से लेकर आधुनिक देशी भाषाओं की ध्वनि शृंङ्खला है—'मूर्धन्य व्यंजन' इसे इंडो यूरोपियन भाषा यहाँ तक कि संस्कृत के बहुत सदृश वाली पुरानी इरानियन भाषा भी नहीं उच्चारण कर सकी। ये ध्वनियाँ अनार्यों के प्रयास से बहुत जल्द ही विकसित हो गईं। फलस्वरूप उन्होंने अपने विजेताओं की भाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया। आर्यों ने मूल आदिवासी

कन्याओं से विवाह किया, जिनके बच्चे द्विभाषी हुए। कुछ पीढ़ियों के बाद आर्यों की मूल भाषा आदिवासी खून के मिश्रण वाली हो गई। ऋग्वेद के बहुत सारे शब्द मूल इंडो यूरोपियन जड़ के न होकर मूल निवासियों की भाषा से लिए गए हैं। सभ्यता और धर्म पर अनार्यों का प्रभाव हुआ। मूल इंडो यूरोपियन की बपौती अनार्यों की नवीनता के उत्तरोत्तर, परत के नीचे ही प्रारंभिक भारत की धार्मिक साहित्य द्वारा ही खोजी जा सकती है (A. L. Basham the Wonder that was India p. 32-33)

(ङ) पणि

आर्यो के दूसरे शत्रु पणि थे, ये वैदिक पुरोहितों को संरक्षण नहीं देते थे, देवताओं के उपासक नहीं थे। ये आर्यों की मवेशी चुराते थे, परन्तु दासों की तरह घृणित नहीं समझे जाते थे। इनके निवास स्थानों पर आर्य छेड़खानी नहीं करते थे। ये धनी, विश्वासघाती, लालची, स्वार्थी, कंजूस, यज्ञ न करने वाले, विरुद्ध भाषा बोलने वाले, युद्ध में इन्द्र के सामने टिकने में अक्षम— ऐसा ही उनका सामान्य वर्णन है। ऋग्वेद के एक सूक्त 5, 45, 7 में पणियों और इन्द्र की संदेशवाहक श्वानदेवी सरमा के बीच का एक संवाद दिया हुआ है। भाष्यकार आम तौर पर यही बताते हैं कि पणियों ने इन्द्र की गायें चुराकर छिपा दी थीं। सरमा दूती बनकर यह माँग करने आयी थी कि वे गाएँ इन्द्र के अनुयायियों यानि देवों को लौटा दी जाये। परन्तु सूक्त में गायों की चोरी का कोई जिक्र नहीं है, परन्तु गाएँ भेंट देने की सीधी और स्पष्ट माँग की गई है, जिसे पणि तिरस्कारपूर्वक ठुकरा देते हैं। तब उन्हें इसके भयंकर परिणामों की चेतावनी दी जाती है। जान पड़ता है कि आक्रमण करने के लिए आर्यो का यह एक आदर्श तरीका था। ऋग्वेद 8, 45, 14;1, 71, 2; 1, 152, 6 के इन स्थलों पर पणियों का वर्णन है। ऋग्वेद (6, 51, 14) में विश्वेदेवा : से प्रार्थना की गई है कि 'पणि का नाश करो, क्योंकि यह भेड़िया है। एक स्थान (ऋ. 7, 6, 3 मृध्रवाचः पणीरश्रद्धाँ अबृधाँ अयज्ञान्) पर पणियों को मृध्रवाच' (नाक में बोलने वाले) श्रद्धारहित, यज्ञ न करने वाले व आर्य संस्कारों से रहित कहा गया है। ऋग्वेद 6, 39, 2 में कहा गया है कि इन्द्र ने पणियों से युद्ध किया एक और अन्य स्थान (ऋ. 6, 53, 7) पर पूषा से कहा गया है कि वह पणियों के टुकड़े-टुकड़े कर दे। ऋग्वेद (5, 45, 1) में यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने अंगिराओं के स्तव से वज्र गिरा कर पणियों द्वारा चुरायी गई छिपी गायों को मुक्त किया। इसी प्रकार अथर्ववेद (20, 13,2) में आर्य प्रार्थना करते हैं— हे इन्द्र! पणियों के धन को छीनकर उन्हें मार डालो। इन्द्र ने पणियों से छीने हुए गौ, अश्व, भेड़-बकरी आदि के रूप में बहुत सा धन प्राप्त किया — (अथर्ववेद 20, 25, 4; 20, 32, 1)।

उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि पणि आर्यों से भिन्न थे। इनका धर्म, व्यवहार, आदि आर्यो से पृथक थे। आर्यो से उनके झगड़े भी होते थे, क्योंकि वे आर्यो की गायें भगा ले जाते थे। पणिक या वणिक्, पण्य, विपणि आदि संस्कृत के व्यापार सूचक शब्दों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इनका व्यापार से विशेष संबंध रहा होगा। इसीलिए कुछ विद्वान् मानते हैं कि इन पणियों का संबंध एशिया के पश्चिमतटवर्ती प्राचीन देश फिनिशिया के निवासी किनिशियन' लोगों से था। वे समझते हैं कि पणि व 'फिनिशियन्स' एक ही थे। फिनिशियन्स प्राचीन काल के व्यापारी थे, जिनके व्यापार का केन्द्र भूमध्य सागर व उनके तटवर्ती देश थे (सिनोबस-एन्शेन्ट सिभिलाइजेशन पृ. 80-84)। इसीलिए फिनीशिया व्यापारियों का राष्ट्र कहा जाता था। बेकनाट शब्द के आधार पर जिसका प्रयोग एक स्थान पर पणि शब्द के साथ किया गया है (ऋ. 8, 6, 10 इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वां पणीरभि)।

कुछ विद्वान् पणियों को बेबिलोनियन लोगों से संबंधित करते हैं और कुछ विद्वान् उन्हें पार्निनयन आदि प्राचीन ईरानी जातियों से संबंधित करते हैं (वैदिक एज: भारतीय विद्याभवन पृ. 246)।

पणि और हरप्पा संस्कृति के लोग

डा. अल्टेकर ने इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन (प्रोसिडिंग्ज आफ दि ट्वेन्टी सेकेंड सेशन 1950 पृ. 20-23) के अवसर पर अपने सभापतित्व के भाषण में पणियों के बारे में एक नया मत प्रतिपादित किया था। उनके मतानुसार इस बात की पर्याप्त संभावना है कि वैदिक साहित्य के पणि और हरप्पन लोग या उनका एक वर्ग एक ही थे। पणि व्यापारी, व्याज खानेवाले तथा धनी थे। यही हाल हरप्पन लोगों का था,जिनके व्यापारिक प्रतिनिधि बेबिलोनिया में थे, जिनके अवशेषों से सिद्ध होता है कि वे बहुत ही धनवान् रहे होंगे। श्री घोष द्वारा की गई खोज के परिणामस्वरूप घघ्घर नदी के कछार में हरप्पा-संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यही नदी ऋग्वेदकालीन सरस्वती नदी थी, जिसके किनारे ऋग्वेद (6, 61, 1) के अनुसार पणियों को विदलित् किया गया था। दिवोदास, जिसका प्रभाव पूर्व पंजाब तक फैला था, सरस्वती नदी के तट पर पणियों से लड़ा था (ऋ. 6, 61, 1-3)। पणि, दिवोदास के राज्य के दक्षिण-पश्चिम में रहते होंगे। इससे पणियों का सरस्वती नदी के निकट रहना सिद्ध होता है। ऋग्वेद में (3, 95, 1) में सरस्वती को लोहे का किला कहा गया है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दीर्घ काल तक वह नदी आर्य और पणियों की सभ्यताओं की सीमा थी। हरियूपीया में इन्द्र ने आर्य स्तोताओं के लिए जिन शत्रुओं का विनाश किया (ऋ. 6, 27, 5-6) वे कदाचित् हरप्पा के हरप्पन लोग होंगे। जब रूपर आलमगिर नगर और अन्य हरप्पा संस्कृति के केन्द्र आर्यो द्वारा जीते गये, तब सरस्वती नदी के दक्षिण-पश्चिमी भाग के हरप्पन लोग कदाचित स्वतंत्र थे, अथवा उन्होंने आर्यो का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया होगा। सिन्धु नदी की निचली उपत्यका के हरप्पन लोग शायद् स्वतंत्र थे। इस प्रकार पणियों का हरप्पन होना स्पष्ट होता है। व्यापारी होने के नाते उन्हें कंजूस कहा गया है। आर्य लोग उनके राज्यों को अपने राज्य में सम्मिलित करने के लिए उतने उत्सुक नहीं थे,जितने कि उनके धन पर अधिकार करने के लिए। ऋग्वेद के अनेकों स्थलों (1, 83, 4; 5, 34, 7; 6, 13, 3; 4, 58, 2) पर आर्यो द्वारा उनके द्रव्य का हरण उल्लिखित है-आर्यों ने किस प्रकार उनकी गायों और धन का आपस में बँटवारा किया।

ऋग्वेद (3, 33 और 3, 53) में वर्णित दाशराज्ञ युद्ध में भी कदाचित पणियों ने भाग लिया होगा, क्योंकि इस युद्ध में सुदास के विरुद्ध पाँच आर्य व दस अनार्य राजा लड़े थे। यह युद्ध यमुना और रावी के बीच के प्रदेश में हुआ था। पणियों ने कुछ अवसरों पर आर्यो को पराजित भी किया होगा। ऋग्वेद (10, 108) मे अनुसार पणियों ने आर्य प्रदेश पर आक्रमण किया और उनकी गायों को ले जाकर एक किले में बन्द कर दी। आर्यो ने पणियों को समझा बुझाकर गायों को छुड़ाने का प्रयत्न किया। इस घटना से भी आर्यो और पणियों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार डा. अल्टेकर के मतानुसार ई. पू. 2000-1500 के लगभग आर्य और पणि राजनैतिक अवस्था में पणि अर्थात् हरप्पन लोगों का बहुत महत्व था, और वे सरस्वती नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेश (आधुनिक राजस्थान सौराष्ट्र गुजरात आदि) में बस गये थे।

पणि लोग कदाचित् जहाज, नाव आदि भी बनाते थे जिसमें बैठकर वे समुद्रयात्रा करते थे। वृबु उनका एक नेता था जो गंगा के तट पर रहता था और जिसने आर्य धर्म स्वीकार कर लिया था। उसकी दानशूरता का उल्लेख ऋग्वेद में आता है (ऋ. 6, 45, 31-33)।

उपरोक्त अनार्यों के अतिरिक्त पक्थ, भलासन, विषाणिन, अलीनास और शिवासः ये अनार्य जातियाँ आर्यो की गायों को चुराते थे, अतः इन्द्र ने उनका वध किया था (आ पक्थासो भलानसो भन्नताऽलिनासो विषाणिनः शिवासः ऋग्वेद 7,18, 7))। पक्थ के बारे में कहा जाता है कि इसका संबंध आजकल के पाकिस्तान और अफगानिस्तान के पख्तून अथवा पठान से है। ये लोग 'पश्तों' भाषा बोलते हैं, जो एक इंडो ईरानी भाषा है। इन लोगों का ऋग्वैदिक मूल होना संभव जान पड़ता हैं, क्योंकि हिरोदोतर ने भी 'पक्त्यन' नाम के एक भारतीय कबीले का उल्लेख किया है (दे. डी, डी कोसम्बी :प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता पृ. 102)।

लिंग और लिंग की पूजा करने वाले अनार्य 'शिश्न देवा' कहे गये हैं (शिश्नदेवा अपि गुऋतं नः ऋग्वेद 7, 21, 5; ध्नत्रिछश्न देवाँ वही 10, 1,13) अज, शिग्र और यक्षु के नाम भी अनार्यो के रूप में ऋग्वेद 7, 18, 19 में आये हैं।

(च) मूषिक

मूषिक जाति का नाम वायु पुराण (46, 65, 125 सेतुका मूषिकाश्चैव कुमना वनवासिका) और ब्रह्माण्ड पुराण (2, 16, 55 सेतुका मूषिकाश्चैव क्षपयावनवासिकाः) में आया है।

(छ) किम्पुरुषा

किम्पुरुषा यह आदिम जनजाति पवंतों में निवास करती थी। वाजसनेयी संहिता में 'किम्पुरुष' पढ़ने से ही पता चलता है कि ये पर्वतीय निवासी थे, और इनकी आकृति कुत्सित थी (45, 65, 6-7 पर्वतेभ्यः किम्पुरुषम् वर्ष किम्पुरुषे पुण्ये प्लक्षो मधुवहः शुभः। तस्य किम्पुरुषाः सर्वो पिबन्ति रसमुत्त्वम्)।

(ज) ब्रह्माण्ड पुराण (45, 54, 120 तोमरा हंसमार्गाश्च काश्मीराः) में तोमर जाति का नाम आया है।

(झ) पुलिन्द, अन्ध्र, पुण्ड्र, काम्बोज और बर्वर जातियों के नाम वायु पुराण (12, 27, 49-50 पुलिन्दा विन्ध्यशैलेया वैदर्भा दण्डकेः सह नैतिकाः कुन्दला, आन्धा, उलिदा नलकारकाः, 13, 27, 47 पुण्ड्राश्च केरलाश्चैव चौडाः कुल्याश्च राक्षसः, 46, 65, 126 पुलिन्दा विन्ध्यमूलीका वैदर्भा दण्डकेः सह) और ब्रह्माण्ड पुराण (2, 16, 40 कांबोजा दरदाशचैव बर्वरा अंगलौहिका) में आये हैं।

(ञ) उत्तर वैदिक ग्रन्थों में इन अनार्य जातियों के नाम महाभारत में अनेकों बार आये हैं। अब इनका विस्तार से वर्णन किया जा रहा है जिन्होंने युद्ध में कौरवों का साथ दिया था।

भारतवर्ष में निवास करने वाली जातियों के नाम संजय ने धृतराष्ट्र को निम्नलिखित गिनाये थे— पुण्ड्र, गर्भ, किरात, सुदृष्ट, यामुन, शक, निषाद, आनर्त, नैर्ऋत, दुर्गाल, प्रतिमत्स्य, कोसल, तीरग्रह, शूरसेन, कुन्तल, ईजिक, कन्यकागुण, तिलभार, मसीर, मधुमान्, सुकन्दक, काश्मीर, सिन्धुसौवीर, गान्धार, दर्शक, अभीसार, उलूतः शैवल, बाह्णिक, दार्वी, वानव, दर्व, वातज, आमरथ, उरग, बहुवाद्य, सुदामा, सुमल्लिक, वध्र, करीषक, कुलिन्द, उपत्यक, वनाय, दश, पार्श्वरोम, कुशविन्दु, कन्छ,

गोपालकक्ष, जांगल, कुरुवर्णक, किरात, बर्बर, सिद्ध, वैदेह, ताम्रलिप्तक, म्लेच्छ और पर्वतीय आदि। दक्षिण दिशा में द्रविड़, केरल, प्राच्य, मूषिक, वनवासिक, कर्णाटक, महिषक, मूषक, शिल्लिक, कुन्तल, सौहृद, कौकुट्टक, चोल, कोङ्कण, मालव, नर, करक, कुकुर, अङ्गार मारिष, ध्वजिनी, त्रिगर्त, शाल्वसेनि, व्यूक, कोकबक, प्रोष्ठ, समवेगवश, पुलिन्द,वल्कल मालव, कुण्डल,करट, मूषक, घट सृंजय, अठिद, तनय, सुनय, ऋषिक विदभ, उत्तर, क्रूर, अपर म्लेच्छ, यवन, चीन, काम्बोज आदि (भीष्म पर्व 9, 51-65)। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्णिक, यमक, काश्मीर, कुमार घोरक, हंसकायन, शिवि, त्रिगर्त, भद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर,ताक्ष्र्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर शक, बंग, अङ्ग, पुण्ड्र शाण्वत्य, तथा गय राजकुमार आये थे और उसे धन सौंप रहे थे (सभा पर्व 52, 11-17)।

महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने दुर्योधन का साथ देने वाले अंग, वंग कलिंग, मगध, काशि, कोसल, वत्स, गर्ग, करुष तथा पौण्ड्र आदि देशों पर विजय पायी थी। इसी प्रकार अवन्ती, दक्षिण प्रान्त, पर्वतीय देश, दशेरक, काशमीर, औरसिक, पिशाच, मुद्गल, काम्बोज, वाठधान चोल, पाण्डय, त्रिगर्त, मालव, अत्यन्त दुर्जय दरद आदि देशों में योद्धाओं को तथा विभिन्न दिशाओं से आये हुए खशों, शकों, और अनुयायियों सहित काल यवन को भी जीत लिया (द्रोण. 11, 15-18)।

चक्रव्यूह की रचना के बारे धृतराष्ट्र को बताते हुए संजय ने कहा—"भूतशर्मा, क्षेमशर्मा, पराक्रमी करकाश, कलिंग, सिंहल, पूर्वदेश के सैनिक शूर आभीर गण, दाशेरक गण, शक, यवन, काम्बोज, शूरसेन, दरद, भद्र केकय देशों के शूरवीर ग्रीवाभाग में खड़े थे। वाह्णिक के वीरगण भूरिश्रवा, शल्य और सोमदत्त के साथ अक्षौहिणी सेना सहित व्यूह के दाहिने में स्थित थे। अवन्ती के विन्द और अनुविन्द तथा काम्बोजराज सुदक्षिण बायें पार्श्व में थे। पृष्ठभाग में कलिंग, अम्बष्ठ, मगध, पौण्ड्र भद्रक, गन्धार, शकुन पर्वतीय देशों के वीर थे (द्रोण. 20, 6-10 1/2)।

दुर्योधन की सेना में अनेक अनार्य राजा और सैनिक थे। वैशम्पायन ने जनमेजय को बताया—"राजन् काम्बोज नरेश सुदक्षिण यवनों और शकों के साथ एक अक्षौहिणी सेना लिए दुर्योधन के पास आया (उद्योगपर्व-सुदक्षिणश्च काम्बोजो यवनैश्च शकैस्तथा 19, 21)। इनके बारे कहा गया —जैसे देवता स्वर्ग की रक्षा करते हैं उसी प्रकार काम्बोज, शक, खश, शाल्व, मत्स्य, कुरु और मध्य देश के सैनिक एवं म्लेच्छ, पुलिन्द, द्रविड़, अन्ध्र और कान्चीदेशीय योद्धा कौरव सेना की रक्षा करते हैं (उद्योग. 160, 103)। अभीषाह, शूरसेन, शिबि, वसाति, शाल्ब, मत्स्य, अम्बष्ठ, त्रिगर्त केकय, सौवीर और कैतव योद्धा, पितामह भीष्म की रक्षा कर रहे थे (भीष्म 18, 12-13 अभीषाहाः शूरसेनाः शिवायोऽथ वसातयः, शाल्वा मत्स्या स्तथाम्बष्ठा स्त्रैगर्ताः केकयास्तथा सौवीराः कैतवाः)। तीसरे दिन के युद्ध के बारे बताते संजय ने कहा-महाव्यूह के पुच्छ भाग में कम्बोज, शक और शूरसेन देश के योद्धा थे (भीष्म. 56,7)। छठे दिन के युद्ध में काम्बोज और वाह्णिक देश के उत्तम सैनिकों के साथ समस्त धनुधरों में श्रेष्ठ नरप्रवर कृतवर्मा व्यूह के शिरोभाग में थे (भीष्म. 75, 17 काम्बोजवर बाह्णिकैः) आठवें दिन शूरवीर त्रिगर्तों के साथ बहुत से काम्बोज और सहस्रों योद्धा थे (भीष्म. 87, 10)। कलिंगराज के साथ भद्र, सौवीर, गान्धार और त्रिगर्त देशीय योद्धा भी थे (भीष्म 71, 14)।

द्रोणाचार्य के सेनापति पद पर अभिषिक्त होने पर उसके वाम पार्श्व' की रक्षा में सुदक्षिण आदि काम्बोज देशीय सैनिक रक्षा कर रहे थे (द्रोण 7, 14)। इसी प्रकार कर्ण के पृष्ठ भाग में भद्र, मलद, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, शिवि, सूरसेन, शूद्र, सौवीर, कितब सैनिक थे (द्रोण. 7, 15-16)। कृतवर्मा, काम्बोज नरेश और श्रुतायु के पीछे अभीषाह, शूरसेन, शिवि, वसाति, केकय, भद्रक, नारायण नामक गोपालगण तथा काम्बोजदेशीय सैनिकगण भी थे (द्रोण. 91, 38-40)। इन राजाओं का उल्लेख भीष्मपर्व (117, 32-34) में भों हुआ है इन्होंने अर्जुन पर धावा किया था।

कर्ण पर्व (22, 2-3) के अनुसार अंग वंग पुंड्र मागध, ताम्रलिप्त, मेकल, कोसल, मद्र, दशार्ण तथा निषद देश के समस्त गजयुद्धगण वीर कलिंगों के साथ मिलकर पांचाल सेना पर वाण, तोमर और नाराचों की वृष्टि करने लगे। इनके बारे में आगे कहा गया —''उग्र कर्म करने वाले, भीषण पराक्रमी एवं भयंकर कर्म करने वाले तुषार, यवन, खश, दार्वाभिसार, दरद, शक, माठर, तङ्गण, आन्ध्र, पुलिन्द, किरात, म्लेच्छ, पर्वतीय तथा समुद्रतट-वर्ती योद्धा जो युद्धकुशल, रोषावेश से युक्त: बलवान, एवं हाथों में डंडे लिए हुए हैं, क्रोध में भर कर कौरव सैनिकों के साथ दुर्योधन की सहायता के लिए आये हैं (कर्णपर्व 73, 19-21)।

इन सैनिकों के बारे संजय ने युधिष्ठिर को इस प्रकार बताया—

विदन्त्यसुरमायां ये सुघोरा घोरचक्षुष:

यवना: पारदाश्चैव शकाश्च सह बाह्णिके:

काकवर्णा दुराचारा: स्त्रीलोका: कलह प्रिय: द्रोण. 93. 41-42

''जो असुरी माया को जानते हैं,तथा जो नेत्रों से युक्त हैं, एवं जो कौओं के समान दुराचारी, स्त्रीलम्पट और कलहप्रिय हैं, वे यवन, पारद, शक और बाह्णिक भी वहाँ युद्ध के लिए उपस्थित हुए।''

सूत ने सात्यकि का बल बढ़ाते हुए कहा—'शुत्रुसूदन! आपने पहले भी युद्ध में बहुतेरे शकों, किरातों, दरदों, बर्बरों, ताम्रलिप्तों तथा हाथों में नाना प्रकार के आयुध लिए अन्य बहुत से म्लेच्छों को पराजित किया है (द्रोण. 119, 21-22)। संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—'प्रजानाथ! सात्यकि ने आपकी सेना का संहार करते हुए वहाँ की भूमि को सहस्रों काम्बोजों, शकों, शबरों, किरातों और बर्बरों की लाशों से पाटकर अगम्य बना दिया (द्रोण. 119, 45-46)। उन लुटेरों के लम्बी दाढ़ी वाले शिरस्त्राण युक्त मुंडित मस्तकों से आच्छादित हुई रणभूमि पंखहीन पक्षियों से व्याप्त हुई सी जान पड़ती थी (वहीं 119, 47 दस्यूनां)। संजय ने यह भी बताया कि दुर्योधन के साथ शक, काम्बोज, बाह्लीक, यवन, पारद, कुलिन्द, तंगण, अम्बष्ठ, पैशाच, बर्बर तथा पर्वतीय योद्धा भी थे। ये सब पत्थर लेकर सात्यकि की ओर दौड़ पड़े। (द्रोण 121, 13-14)

(ट) अनार्य सैनिकों के अलावे महाभारत कालीन समाज में कुम्हार जाति के लोग भी रहते थे। पांडवों ने दुपद की राजधानी में जाकर एक कुम्हार के यहाँ निवास किया था (आदि पर्व 183, 6 कुम्भकारस्य शालायां निवास चक्रिरे)। द्रोणपर्व (7, 26, 25) में एक उपमा दी गई है कि हाथी कुम्हार की चाक के समान सब ओर घूमने लगा। दूसरी जाति

(ठ) बढ़ई थी जिसका उल्लेख इन्द्र द्वारा त्रिशिरा के मृत शरीर को टुकड़े-टुकड़े करने के सन्दर्भ में ऊपर हो चुका है।

रामायण में ब्रह्ममाल, विदेह, मालव, काशी, कोसल, मगध, पुण्ड्र देश तथा अंग के नाम आये हैं, जहाँ सुग्रीव ने विनत नामक यूथपति को सीता की खोज करने के लिए कहा (4, 40, 22 ब्रह्ममालान्, विदेहांश्च, मालवान् काशिकोषलान्, मागधांश्च पुण्ड्रांब्रङ्गांस्तथैव।

(ड) सीता त्याग संबंधी वृतान्त

सीता त्याग की कथाओं का एक दूसरा वर्ग मिलता है, जिसमें लोकपवाद का एक विशेष उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक पुरुष (बाद में यह धोबी कहा जाता है) अपनी पत्नी, जो घर से निकली थी, वापस लेने से इन्कार करते हुए कहता है— मैं राम की तरह नहीं हूँ, जिन्होंने दीर्घकाल तक दूसरे के घर में रहने के पश्चात् भी सीता को ग्रहण किया।

इस वृत्तात का सर्वप्रथम वर्णन संभवतः आजकल अप्राप्त गुणाद्यकृत बृहत्कथा में विद्यमान था और अब सोमदेवकृत कथा सरित्सागर (9, 1, 66) में सुरक्षित हैं। कथा इस प्रकार है— 'एक दिन अपने नगर में गुप्तवेश में घूमते हुए राजा ने देखा कि एक पुरुष अपनी स्त्री को हाथ से पकड़ कर अपने घर से निकाल रहा है और यह दोष दे रहा है कि तू दूसरे के घर गई थी। इस पर वह स्त्री कहती है-राम ने सीता को राक्षस के घर रहने पर भी नहीं छोड़ा, यह मेरा पति राम से बढ़ कर है, क्योंकि यह मुझे बंधु के गृह जाने पर ही अपने घर से निकाल रहा है। यह सुनकर राम को बहुत दुःख हुआ और उन्होंने लोकापवाद के भय से गर्भवती सीता को वन में छोड़ दिया।

भागवत पुराण (9, 11) में जो वृतान्त मिलता है वह कथा सरित्सागर की उपर्युक्त कथा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

पद्म पुराण (4, 55) के अनुसार जिस पुरुष ने अपनी पत्नी को निकाला वह धोबी कहा जाता है। एक आदिवासी कथा के अनुसार वह कुम्भार था (दे. बी एलविन, बोडो हाइलैंडर)।

(ढ) शूद्र

प्रारंभ में शूद्र भी किसी प्रमुख आर्य विरोधी जाति का नाम था जिन्हें आर्यो ने पराजित करके वशीभूत किया। शूद्र नामक अनार्य जाति की स्थिति का संकेत साहित्यिक साक्ष्यों से होता है। इन्होंने दुर्योधन का साथ दिया था (द्रोण. 7, 15)। महाभारत में (6, 10, 66) और नकुल द्वारा विजित जातियों की सूची में शूद्रों का वर्णन आभीरों के साथ हुआ था। आभीर सम्भवतः महाभारत युद्ध के समय एक जाति (ट्राइब) थे, जो बाद में पंजाब में फैल गये। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि शूद्र भी आभीरों की भाँति ही एक जाति (ट्राइब) थे। नकुल द्वारा उनकी पराजय, उनके स्वशासित जन समूह होने का संकेत करता है। महाभारत (2, 29, 6) में शूद्रों तथा आभीरों का निवास सरस्वती के निकट बताया गया है। अथर्ववेद (5, 27, 7-8) में तकमान (ज्वर) को भूजवन्तों, महावृषों और बाह्लीकों के साथ शूद्रों पर भी आक्रमण करने के लिए कहा गया है। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं— एक तो इस प्रसंग में वर्णित शूद्र, समाज का चतुर्थ वर्ण न होकर भूजवन्तों, और बाह्लीकों की ही तरह एक जाति थी। दूसरे ये सभी लोग उत्तर पश्चिम भारत में ही निवास करते थे। उपर्युक्त प्रमाणों की पृष्ठभूमि में यह प्रतीत होता

है कि जिन दासों से आर्यो का संघर्ष हुआ था, उसकी एक प्रबल शाखा का नाम शूद्र था। इनके इस स्थानीय नाम का परिचय आर्यो को काफी बाद में सम्पर्क की स्थिति में हुआ होगा। यही कारण है कि इस नाम का उल्लेख ऋग्वेद के मूल भाग में नहीं हुआ है।

उत्तर वैदिक साहित्य में उन्हें ऋग्वेदिक दासों की भाँति आर्य-विरोधी बताया गया है, तथा उनके प्रति घृणा व्यक्त की गई है। परन्तु कुछ शूद्र आर्य समाज में अंगीकृत किये गये और महाभारत में हम पाते हैं कि भरुकच्छ (भड़ाँच) निवासी शूद्र श्रेष्ठ ब्राह्मणों में उपयोग में आने योग्य रंडकुमृग के चर्म तथा अन्य सब प्रकार की भेंट-सामग्री लेकर युधिष्ठिर की सभा में उपस्थित हुए थे (सभा पर्व 51, 10 शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि)।

ऊपर हम देख चुके हैं कि अथर्ववेद में ज्वर को शूद्रा पर आक्रमण करने के लिए कहा गया है। पैम्पलाद शाखा के उसी मंत्र में (13, 1, 6) शूद्रा के स्थान पर दासी का उल्लेख हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि ये दोनों पर्यायवाची थे। शूद्रों को समाज के सांस्कृतिक जीवन से पृथक करने का जो प्रयास हमें उत्तर वैदिक साहित्य में मिलता है उससे भी उनके अनार्यत्व का बोध होता है। उत्तर वैदिक युग के अयज्ञीय शूद्र की तुलना ऋग्वेद के अयज्वर दास से की जा सकती है (पंचविश ब्राह्मण 6, 1, 11)। दास यदि शिश्नदेव थे तो शूद्र भी अधिकांशतः रुद्र के उपासक कहे गये हैं (शतपथ ब्राह्मण 5, 3, 1,10)। दासों की भाँति शूद्र भी कृष्ण थे। यजुर्वेद में महाव्रत अनुष्ठान के प्रसंग में आर्य और शूद्र के बीच द्वन्द्व की व्यवस्था की गई है जिसमें आर्य विजयी होता है (वैदिक इण्डेक्स भाग 2, पृ. 390) यह आर्यो की विजय और दासों की पराजय का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार यह प्रायः स्पष्ट है कि अधिकांश अनार्य जो आर्यो के समाज में अन्तर्भूत हुए उन्हें शूद्रों के इस चौथे वर्ग में स्थान मिला।

रथकार, कुलाल, कर्मार, निषाद, पुंजिष्ठ, मृगयु, धनुकार, ईषुकार, आदि शूद्र जो अधिकतर अनार्य थे, उनके लिए वैदिक देवता रुद्र अधिक आकर्षक थे, क्योंकि उत्तर वैदिक युग तक अनार्य देवता शिव और वैदिक रुद्र का एकीकरण हो चुका था पृ. 440 द्वितीय परिच्छेद इस प्रकार वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही परोक्ष रूप में अनार्यो ने अपनी धार्मिक परम्पराओं के प्रति आस्था प्रकट की (डा. विजय बहादुर राव, उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति पृ. 118)।

(ण) व्रात्य

अथर्ववेद का 15 वाँ काँड व्रात्यसूक्त है। यह व्रात्य कहीं देवता प्रतीत होता है और कहीं पर्यटक। इसके आरंभ में कहा गया है कि व्रात्य महादेव हो गया, ईशान बन गया। अन्त में कहा गया कि व्रात्य पशुओं की ओर चला और उसने रुद्र धारण किया। इस सूक्त का सही अर्थ क्या है, प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। किन्तु इससे दो तथ्य सुस्पष्ट हैं। प्रथम इसमें व्रात्यों को वैदिक धर्म से पृथक और उसका विरोधी माना गया है और दूसरे व्रात्यों का संबंध रुद्रोपासना से प्रदर्शित किया गया है। इसका समर्थन यजुर्वेद से भी होता है। जिसमें रुद्र के लिए दौर्व्रात्य शब्द का प्रयोग हुआ है। तथा उनके उपासकों में व्रात और व्रातपति की गणना की गई है। ये व्रात्य सांस्कृतिक दृष्टि से आर्येतर परम्परा से संबंध थे। ताण्डय ब्राह्मण में (17, 1, 14) व्रात्यों को रजत-निष्क धारण करने वाला बतलाया गया है।

(त) केशी

ऋकसंहिता के दशम काण्ड के केशि सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। यद्यपि यास्क और सायण ने केशी शब्द का लाक्षणिक अर्थ सूर्य माना है। किन्तु काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण जैसे उत्तर वैदिक ग्रन्थों में केशियों का उल्लेख एक कबीले के अर्थ में होता है। इससे लगता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त का केशी भी सूर्य न होकर 'केशी' जातीय था। ऐसी स्थिति में केशी का अर्थ जटाधारी करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि उसी सूक्त के कुछ मंत्रों में केशी की तुलना मुनियों से की गई है। (ऋकसंहिता 10, 136)। इन मुनियों के संबंध में कहा गया है कि उनके केश लम्बे और वस्त्र पीत होते हैं। वे पवन में विहार करते हैं और मौनेय से उन्मदित रहते हैं। यह स्पष्ट है कि इन मुनियों का केशियों के साथ घनिष्ठ संबंध था। उनके चमत्कार पूर्ण विरल वर्णन और अन्य अनेक तथ्यों के आधार पर प्राय: स्वीकार किया गया है कि वे किसी समृद्ध आर्येतर सांस्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष थे। इस प्रकार व्रात्य, केशी और मुनि अवैदिक धार्मिक परम्पराओं के पोषक थे।

(थ) निषाद

निषादों का वर्णन दे. ऊपर निषाद संस्कृति पृ. 686-690

निषाद की उत्पत्ति कथा भागवत पुराण स्कन्द 4, अध्याय 14, श्लोक 44 के अनुसार इस प्रकार की है—''प्राचीन काल में राजा अंग के वंश में वेन नामक एक महाप्रतापी राजा था। राजा वेन अपने राजवैभव शक्ति तथा दौलत के नशे में इतना चूर था कि अहंकार का भाव पनपने लगा। प्रजा के कल्याण की बात भूल गया। समाज में अराजकता फैल गई। चोरों एवं डाकुओं के आतंक से प्रजा भयभीत हई। चारों ओर भय का वातावरण फैल गया। जब इस अशान्ति का आभास ऋषियों को हुआ तो वे राजा वेन को समझाने हेतु उसके दरबार पहुँचे और उसे प्रजा के कष्टों को बतलाया। परन्तु उसने ऋषियों की एक न सुनी, उल्टे उनका तिरस्कार किया। स्वयं को भगवान का अवतार बताकर अपनी ही पूजा का आह्वान किया।

राजा वेन की इस प्रकार के अशिष्टतापूर्ण व्यवहार से ऋषिगण कुपित हुए और शाप दिया। राजा वेन का प्राणान्त हुआ। बहुत दिन बीत गये परन्तु प्रजा की अराजकता कम न हुई तब प्रशासनिक आवश्यकता हेतु ऋषियों ने राजा वेन की जाँघ का मंथन किया, जहाँ से एक कुरूपा पुरुष प्रकट हुआ, जो रंग से काला, कद से छोटा, चपटी नाकवाला, बड़े जबड़े वाला, चौड़े चेहरेवाला, ताँबे के रंग जैसे बाल, नेत्र लाल व शरीर हष्ट-पुष्ट था। उस पुरुष ने बड़े दीन एवं विनम्र भाव से पूछा-''मैं क्या करूँ?'' ऋषियों ने कहा ''निषीद'' अर्थात् बैठ जा। इसी से वह निषाद कहलाया।

इसी पुराण में उनके गाल की उभड़ी हुई हड्डियाँ, दबी हुई नाक तथा ताम्रवर्णकेशों का उल्लेख है।

महाभारत में निषादों का वर्णन यत्रतत्र मिलता है। आदिपूर्व (28, 2) में गरुड़ की माता विनता ने कहा—''समुद्र के बीच एक टापू है, जिसके एकान्त प्रदेश में निषादों (जीवहिसकों) का निवास

है। वहाँ सहस्रों निषाद रहते हैं। उन्हीं को मारकर खा लो और अमृत लाओ।'' ऐसा सुन कर पक्षिराज गरुड़ ने मछली मारकर-जीविका चलाने वाले उन अनेकों निषादों का विनाश करने के लिए अपने मुख को संकुचित कर लिया (वही, 28 21)। निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य द्रोण के पास धनुर्वेद की शिक्षा लेने गया था, परन्तु निषादपुत्र समझकर द्रोण ने उसे अपना शिष्य नहीं बनाया। इस पर वह वन लौट गया और आचार्य की मिट्टी की मूर्ति बनाई तथा उसी में आचार्य की परमोच्च भावना रखकर उसने धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारंभ किया। वह बड़े नियम से रहता था। गुरु में उत्तम श्रद्धा रखकर और भारी अभ्यास के कारण उसने वाणों के छोड़ने लौटाने और संधान करने में बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर ली। एक बार कौरव और पाण्डव शिकार खेलने के लिए निकले। आवश्यक सामग्री लेकर एक मनुष्य, कुत्ते के साथ उनके साथ ही गया। एकलव्य के शरीर का रंग काला था। उसके अंगों में मैल जम गया था। उसने काला मृगचर्म एवं जटा धारण कर रखा था (1/131/39)। निषादपुत्र को इस रूप में देखकर वह कुत्ता भौं-भौं करके भूँकता हुआ उसके पास खड़ा हो गया। यह देखकर भील ने अपने अस्त्रचालन का परिचय देते हुए उस भूँकते कुत्ते के मुख में मानो एक साथ सात वाण मारे। उसका मुँह वाणों से भर गया और वह उसी अवस्था में पांडवों के पास आया। सभी राजकुमारों ने लज्जित होकर वाण चलाने वाले की प्रशंसा की तत्पश्चात् पांडवों ने उस वनवासी वीर की वन में खोज करते हुए उसे निरन्तर वाण चलाते हुए देखा। पाण्डवों के पूछने पर उसने अपने को निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र तथा द्रोणाचार्य का शिष्य बताया। पाण्डवों ने वहाँ से लौट कर द्रोणाचार्य को सच्ची बातें बतला दीं। आचार्य द्रोण को यह भय हो गया कि वह अर्जुन से आगे न बढ़ जाये इसी लिए गुरुदक्षिणा में एकलव्य का दहिना अँगूठा माँगा। गुरुभक्त एकलव्य ने अपनी दाहिनी अँगूठी काटकर दे दी (आदिपूर्व 131, 31-58)। गुरु ने संकेत से बता दिया कि तर्जनी और मध्यमा के संयोग से वाण पकड़ कर किस प्रकार धनुषकी डोरी खींचनी चाहिये। तब वह निषाद कुमार अपनी अंगुलियों से ही वाणों का संधान करने लगा। (आदि 131, 59)।

वैशम्पायन ने जनयेजय को बताया कि— एक दिन रात्रि के समय कुन्ती ने दान देने के निमित्त ब्राह्मण भोज कराया, उसमें एक भीलनी भी अपने पाँच पुत्रों के साथ वहाँ भोजन करने की इच्छा से आयी, मानो काल ने उसे प्रेरित करके वहाँ भेजा था। वह भीलनी मदिरा पी कर मतवाली हो चुकी थी। उसके पुत्र भी शराब पीकर मस्त थे। शराब के नशे में बेहोश होने के कारण अपने सब पुत्रों के साथ वह उसी घर में सो गई। उस समय वह अपनी सुध-बुध खोकर मृतक सी हो रही थी (7-81/2)।

नल दमयन्ती की कथा में व्याध की चर्चा होती है। दमयन्ती को सोती छोड़ नल वहाँ से चल पड़ा। जागने पर सामने पति को न पाकर वह विलाप कर रही थी, तो सामने एक अजगर आकर उसे निगलने लगा। वह अपनी रक्षा के लिए जोर-जोर से नल का नाम लेकर चिल्लाने लगी। उसी जंगल में विचरने वाला एक व्याध वहाँ पहुँचा। दमयन्ती को उस अवस्था में देखकर उसने अजगर का मुँह फाड़ दिया, और साँप के टुकड़े-टुकड़े कर उसे छुड़ाया। उसके सर्पग्रस्त शरीर को जल से धोकर, उसे आश्वासन देकर, उसके लिए भोजन की व्यवस्था की (वन पर्व 63, 27-24)। परन्तु दमयन्ती पर बुरी नजर रखने के कारण उसे, उसका कोप भाजन बनना पड़ा, और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ (वनपर्व 62, 39)। चर्चा है पुनः इसी पर्व (5,4) में एक मांस लोभी व्याध का, जो विष में बुझाया हुआ वाण लेकर शिकार की खोज में गाँव से निकला। शान्ति पर्व में एक बहेलिए के बारे इस प्रकार कहा गया है— ''एक

समय किसी घने वन में कोई भयंकर बहेलिया चारों ओर विचर रहा था। वह बड़ा खोटे आचार-विचार का था। पृथ्वी पर वह काल के समान जान पड़ता था। उसका शरीर 'काकोल' जाति के कौओं के समान काला था। आँखें लाल-लाल थीं। बड़ी-बड़ी पिंडलियाँ, छोटे-छोटे पैर, विशाल मुख और लम्बी सी ठुढी यही उसका हुलिया था (143, 10-11)। उसके न कोई सुहृद्, न सम्बन्धी, और न भाई बन्धु ही थे। उसके भयानक क्रूर कर्म के कारण सब ने उसे त्याग दिया था। वह प्रतिदिन जाल लेकर वन में जाता और बहुत सी पक्षियों को मार कर उन्हें बाजार में बेच देता था। इसी वृत्ति से रहते हुए उस दुरात्मा को वहाँ दीर्घ काल व्यतीत हो गया, किंतु उसे अपने इस अधर्म का बोध नहीं हुआ। एक दिन मूसलाधार पानी में भींग कर व्याकुल हृदय से इधर-उधर वन में भटकने लगा। उसने एक कबूतरी देखी जो सर्दी के कष्ट से व्याकुल हो रही थी। पह पापात्मा व्याध यद्यपि स्वयं भी बड़े कष्ट में था, तो भी उसने उस कबूतरी को उठाकर पिंजड़े में डाल दिया। स्वयं दुःख से पीड़ित होने पर भी उसने दूसरे प्राणी को दुःख ही पहुँचाया। सदा पाप में ही प्रवृत्त रहने के कारण उस पापात्मा ने उस समय भी पाप किया (143, 12-26)। इसी प्रकार विदुर ने धृतराष्ट्र को एक कथा सुनाई कि जाल के भीतर फंसे दो पक्षी आपस में झगडने लगे, उसी समय व्याध ने चुपचाप उन दोनों को पकड़ लिया (उद्योग पर्व 64, 9)।

महाभारत युद्ध की समाप्ति पर इन्हीं धन के लोभी व्याधों ने ही सरोवर के जल में छिपे दुर्योधन का पता बता दिया था। शल्यपर्व में विस्तार से इसके बारे में इस प्रकार कहा गया है—''सभी भाईयों के मारे जाने पर दुर्योधन सरोवर में छिप गया था। वह युद्ध करना नहीं चाहता था, फिर भी अश्वत्थामा उसे युद्ध के लिए प्रेरित कर रहा था। कृपाचार्य, अश्वत्थामा और कृतवर्मा बात कर ही रहे थे कि मांस के भार के थके हुए बहुत से व्याध उस स्थान पर पानी पीने के लिए अकस्मात् आ पहुँचे। उन्होंने खड़े होकर उनकी एकान्त में होने वाली सारी बातें सुन ली। परस्पर मिले हुए व्याधों ने दुर्योधन की भी बातों को सुना। उन कौरव महारथियों की वैसी मनोवृत्ति जानकर जल में ठहरे हुए राजा दुर्योधन के मन में युद्ध का उत्साह न देखकर और सलिल निवासी दुर्योधन के साथ इन तीनों का संवाद सुन कर व्याध यह समझ गये कि दुर्योधन इसी सरोवर के जल में छिपा हुआ है। सर्वप्रथम युधिष्ठिर ने दैववश अपने पास पहुँचे हुए उन व्याधों को दुर्योधन के बारे में पूछा। उस समय पाण्डुपुत्र की कही हुई बात याद कर वे व्याध आपस में धीरे-धीरे बोले-यदि हम दुर्योधन का पता बता दें तो पाण्डुपत्र युधिष्ठिर हमें धन देंगे। हमें तो यहाँ स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गया कि राजा दुर्योधन इसी सरोवर में छिपा है। अतः जल में सोये हुए अमर्षशील दुर्योधन का पता लगाने के लिए, हम लोग उस स्थान पर चलें, जहाँ राजा युधिष्ठिर मौजूद है। बुद्धिमान भीमसेन को हम बता दें कि धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन जल में सो रहा है। इससे प्रसन्न होकर वे हमें बहुत सा धन देंगे। फिर हमें शरीर का रक्त सुखा देने वाले इस मांस को ढोकर व्यर्थ कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता? इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते धन की अभिलाषा करने वाले वे व्याध बहुत प्रसन्न हुए ओर मांस का बोझ उठाकर पांडव शिविर की ओर चल दिये। द्वारपालों के रोकने पर भी वे अन्दर घुस गये। भीमसेन के पास जाकर उन्होंने सरोवर तट पर जो देखा था, और जो सुना था, वह सब कह सुनाया। तब भीम ने उन व्याधों को बहुत धन दिया और युधिष्ठिर को सूचना दी कि व्याधों द्वारा दुर्योधन का पता चल गया है। (30, 30-43)

परन्तु महाभारत के युद्ध में निषादों ने कौरवों का साथ दिया था। पाण्डवनरेश ने अन्य पुलंद, खस, बाह्लीक, आन्ध्र आदि शूरों के साथ निषादों को भी युद्ध में मार गिराया था (कर्णपर्व 20, 10-11)। फिर इसी पर्व (60, 80-81) में हम पाते हैं कि भीमसेन ने गरजते हुए निषाद पुत्र को तोमर सहित दोनों भुजाओं को काट दिया। उसने निषाद राजपुत्र केतमान को चोट पहुँचाई। इस पर चेदि, मत्स्य तथा करुष देश के क्षत्रियों ने निषादों एवं उनके राजाओं पर आक्रमण किया (6, 54, 16)। बहुसंख्यक कलिंगों और निषादों के साथ अल्पसंख्यक चेदिदेशीय सैनिकों का बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा (6, 54, 14)।

रामायण कालीन समाज में भी व्याध (बहेलिए) रहते थे, जो जंगलों में पशु पक्षियों का शिकार करते थे। जिस व्याध के वाणों से विद्धे जाकर मादा कौञ्ची को छटपटाते देख कर महर्षि वाल्मीक को रामायण लिखने की प्रेरणा मिली वह एक अनार्य था। रामायण में लिखा गया है— "तमसा नदी के तट पर दो क्रौञ्च पक्षियों का जोड़ा विचर रहा था। उसी समय पापपूर्ण विचार रखने वाले एक निषाद ने, जो समस्त जन्तुओं का अकारण वैरी था, वहाँ आकर पक्षियों के उस जोड़े में से एक नर पक्षी को मुनि के देखते-देखते वाण से मार डाला (1, 2 10 पापनिश्चय: जघान वैरनिलयो निषादस्तस्य पश्चात:)। निषाद ने जिसे मार गिराया था, उस नर पक्षी की यह दुर्दशा देखकर ऋषि को बड़ी दया आयी। यह अधर्म हुआ है, ऐसा निश्चय कर रोती हुई क्रौञ्ची की ओर देखते हुए निषाद से इस प्रकार कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती: समा:।
यत् क्रौञ्ची मिथुनादेकमवधी: काममोहितम्।। 1, 2, 15।।

"हे निषाद! तुझे नित्य-निरन्तर कभी भी शान्ति न मिले, क्योंकि तूने इस क्रौंच जोड़े में से एक की, जो काम से मोहित हो रहा था, बिना अपराध के ही हत्या कर डाली'।

वाल्मीकि के बारे और अधिक जानकारी मिली है जो इस प्रकार है—

रामायण के रचयिता वाल्मीकि पहले एक डाकू थे। अध्यात्म रामायण के अयोध्याकाण्ड (सर्ग 6 श्लोक 42-88) में कहा गया है कि राम लक्ष्मण और सीता निर्वासित होकर चित्रकूट के पास पहुँचे, उन्होंने अपना निवास स्थान निश्चित करने के लिए वाल्मीकि का परामर्श माँगा। वाल्मीकि ने राम की स्तुति करने के पश्चात् रामनाम महात्म्य दिखलाने के उद्देश्य से अपनी कथा सुनाई—

अहं पुरा किरातेषु किरातै: सह वर्धित:।
जन्म मात्र द्विजत्वं मे शूद्राचारत: सदा।।65।। सर्ग 6

"मैं पहले किरातों के साथ रहा करता था और निरन्तर शूद्रों के आचरण में रत रहने के कारण मेरा ब्राह्मणत्व जन्म मात्र का था।" शूद्र के गर्भ से मेरे पुत्र उत्पन्न हुए। चोरों के कुसंग से मैं भी चोर बन गया था, और सदा धनुष-वाण धारण किये रहता था। एक दिन मैं ने सात मुनियों को जाते देखा और उनके वस्त्र इत्यादि छीनने के उद्देश्य से उनको घोर वन में रोक लिया। मुनियों ने कहा कि जिन कुटुम्बियों के लिए तुम नित्य पाप संचय करते हो उनसे जाकर पूछ लो कि वे तुम्हारे अधर्म के भागी बनने के लिए तैयार हैं या नहीं। मैं ने जाकर पूछा— मुझे उत्तर मिला "यह पाप तो तुम्हीं को लगेगा, हम केवल धन के ही भोगने वाले हैं।' यह सुनकर मुझे वैराग्य हुआ और मैं ने उन मुनियों की शरण ली। हे राम! मुनियों

ने आपस में परामर्श किया और आपके नामाक्षरों को उलटा कर मुझ से कहा तुम इसी स्थान पर एकाग्रचित होकर निरन्तर 'मरा' का जप करो। मैंने ऐसा किया। प्रतिदिन खड़ा रहने के कारण मेरे ऊपर बल्मीक बन गया। एक सहस्र युग बीतने पर ऋर्षि लौटे और उन्होंने मुझको निकलने का आदेश देकर कहा-'हे मुनिप्रवर! तुम वाल्मीकि हो। इस समय तुम बल्मीक से निकले हो, अत तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ।'

तत्वसंग्रह रामायण में जो दस्यु वाल्मीकि की कथा मिलती है इसमें कई अलौकिक घटनाओं का सन्निवेश किया गया है। जब व्याध अपने परिवार की ओर से निराश होकर सप्तर्षियों के पास पहुँचा तो वे व्याध को राम की महिमा समझाने लगे। उस समय एक आकाशवाणी सुनाई दी और सप्तर्षियों को आदेश मिला कि वे व्याध को 'मरा' मंत्र सिखावें। इसके बाद व्याध तपस्या करने लगा और उसके शरीर के चारों ओर बल्मीक बनने लगा। यह देखकर इन्द्र घबराने लगे, किन्तु बृहस्पति ने उनको समझाया कि वह तपस्वी महर्षि बनकर रामायण की रचना करने वाला है। बहुत समय बीत जाने पर सप्तर्षि लौटे तब देवता भी आ पहुँचे और विष्णु ने वाल्मीकि को आर्शीवाद किया कि वह रामायण के रचयिता बन जायेंगे। इस पर वाल्मीकि ने नारायण की स्तुति की तथा जाकर तमसा नदी के तट पर रहने लगे। वहीं पर उन्होंने नारद से राम कथा सुनकर रामायण लिखने का निर्णय किया (दे.अयोध्या काण्ड, अध्याय 22-30)। आनन्द रामायण (अध्याय 14) तोरवे रामायण (1, 2) में भी वाल्मीकि के व्याध होने की चर्चा मिलती है। (दे. राम कथा उत्पत्ति और विकास- डा. कामिल बुल्के एस. जे.पृ. 37-45)।

निषादराज गुह के बारे रामायण में इस प्रकार कहा गया है—

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसम: सखा

निषादजात्यो बलवान् स्थपतिश्चेति विश्रुत:।। 2, 50, 33।।

''श्रृंगवेरपुर में गुहनाम का राजा राज्य करता था। वह श्रीरामचन्द्रजी का, प्राणों के समान प्रिय मित्र था। उसका जन्म निषादकुल में हुआ था। वह शारीरिक शक्ति और सैनिक शक्ति की दृष्टि से भी बलवान् था तथा कारीगर था।

जब उसने सुना कि पुरुष सिंह श्रीराम मेरे राज्य में पधारे हैं, तब वह बूढे मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवों से घिरा हुआ वहाँ आया। निषादराज को दूर से आया हुआ देखकर श्रीराम लक्ष्मण आगे बढ़कर उससे मिले। श्रीराम को वल्कल आदि धारण किये गये देख गुह को बड़ा दु:ख हुआ। उसने श्रीराम को हृदय से लगाकर कहा-श्रीराम! आपके लिए, जैसे अयोध्या का राज्य, उसी प्रकार यह राज्य है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? महाबाहो! आप जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होगा? फिर भाँति-भाँति का उत्तम अन्न लेकर वह सेवा में उपस्थित हुआ। उसनें शीघ्र ही अर्घ्य निवेदन किया और इस प्रकार कहा-'महाबाहो। आपका स्वागत है। यह सारी भूमि, जो मेरे अधिकार मैं है, आपकी है हम आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी, आज से आप ही इस राज्य का भली भाँति शासन करें। यह भक्ष्य (अन्न आदि) भोज्य (खीर आदि), पेय तथा लेह्य (चटनी आदि) आप की सेवा में उपस्थित है, इसे स्वीकार करें। ये उत्तमोत्तम शय्याएँ है तथा आपके घोड़ों के खाने के लिए चने और घास भी प्रस्तुत हैं— यह सब सामग्री ग्रहण करें। गुह के ऐसा कहने पर श्रीराम ने उसे इस प्रकार उत्तर दिया-सखे!

तुम्हारे यहाँ पैदल आने और स्नेह दिखाने से ही हमारा सदा के लिए भली भाँति पूजन-स्वागत सत्कार हो गया। तुमसे मिलकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है। (2, 50, 42-1/2)। फिर श्रीराम ने गुह का आलिंगन करते हुए उसका हाल-चाल पूछा और कहा तुमने प्रेमवश यह जो सामग्री प्रस्तुत की है इसे स्वीकार करके मैं तुम्हें वापिस ले जाने की आज्ञा देता हूँ, क्योंकि इस समय दूसरों की दी हुई कोई भी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करता। इन सामग्रियों में जो घोड़ों के खाने-पीनेकी वस्तु है उसी की इस समय मुझे आवश्यकता है दूसरी किसी वस्तु की नहीं। घोड़ों को खिला पिला देने मात्र से तुम्हारे द्वारा मेरा पूर्ण सत्कार हो जायेगा (2, 50, 43-45)। तब गुह ने अपने सेवकों को उसी समय यह आज्ञा दी कि वे घोड़ों के खाने-पीने के लिय आवश्यक वस्तुएँ शीघ्र लाकर दें।

जब पत्नी सहित श्रीराम भूमि पर तृण की शय्या पर सो गए तो गुह भी धुनष लेकर लक्ष्मण के साथ बातचीत करते रातभर जागता रहा। लक्ष्मण को भाई के लिए जागते देखकर निषादराज गुह ने उसे कहा—"तात! राजकुमार! तुम्हारे लिए यह आराम देने वाली शय्या तैयार है, इस पर सुखपूर्वक होकर भली-भाँति विश्राम कर लो। मैं तथा समस्त वनवासी क्लेश सहने के योग्य हैं। हम सब लोग श्रीराम चन्द्रजी की रक्षा के लिए रातभर जागते रहेंगे। इस वन में सदा विचरते रहने के कारण मुझसे यहाँ की कोई बात छिपी नहीं है। हम लोग यहाँ शत्रु की अत्यन्त शक्तिशालिनी विशाल चतुरंगिणी सेना को भी अनायास ही जीत लेंगे (2, 51, 2 -7) दूसरे दिन निषाद राज गुह से श्रीराम ने कहा "तुम सेना खजाना, किला और राज्य के विषय में सदा सावधान रहना, क्योंकि राज्य की रक्षा का काम बड़ा कठिन माना गया है। (अयो. 52, 72)।" गंगा नदी के तट पर खड़ी देख कर तीनों नाव पर बैठ गये। उनके बैठने पर निषाद राज गुह ने अपने भाई -बन्धुओं को नौका खेने का आदेश दिया (अयोध्या काण्ड 52, 77 ततो निषादधिपतिः गुहो ज्ञातीनचोदयत्)। इस प्रकार मल्लाहों की सहायता से श्रीराम लक्ष्मण और सीता ने गंगा नदी पार की।

दूसरी बार निषादराज का वर्णन इसी काण्ड में पाते हैं। भरत अपने अनुयायियों के संग श्रीराम को लौटाने के क्रम में शृंगवेरपुर पहुँचे। भरत के साथ आई लोगों की फौज को देखकर गुह के मन में चिन्ता हो गई। उसने सभी मल्लाहों को एक-एक नाव में सौ-सौ जवानों को युद्ध सामग्री से लैस होकर बैठने का आदेश दिया इसके बाद वह मिश्री, फल के गूदे और मधु आदि भेंट की सामग्री लेकर भरत के पास गया। सुमन्त्र ने निषाद राज गुह को श्रीराम का सखा बताया। भरत ने स्वयं निषाद राज से मिलने की इच्छा जाहिर की। मिलने की अनुमति पाकर गुह अपने भाई बन्धुओं के साथ भरत के पास आया और बड़े प्रेम से उसका आतिथ्य सत्कार किया (अयो. 84-85)। बातचीत के क्रम में जब गुह को विश्वास हो गया कि भरत श्रीराम के प्रति किसी दुर्भावना से नहीं आये हैं, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ। रात्रि विश्राम के समय श्रीराम के लिए शोकार्त्त भरत को बहुत सान्त्वना दी (84, 85, 22)। भरत के साथ ही श्रीराम के लिए बहुत विलाप किया (86 पूरा सर्ग), उन दोनों के बीच और श्रीराम आदि के भोजन और शय्या आदि के बारे में बातचीत हुई। गुह ने यह भी बताया कि इंगुदी-वृक्ष की जड़ में सीता एवं श्रीराम की लक्ष्मण सहित उसने भी भाई बन्धुओं के साथ रक्षा की थी। (87 पूरा सर्ग) दूसरे दिन मल्लाहों की सहायता से भरत अपनी सेना सहित गंगा पार कर सका (86, 21)।

(द) चाण्डाल

महाभारत में चाण्डालों के, समाज में रहने का प्रमाण मिलता है। विडाल और चूहे के आख्यान में एक चाण्डाल का वर्णन है। किसी वन में एक विशाल बरगद का वृक्ष था। उसी वन में एक चाण्डल भी घर बना कर रहता था। वह प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त हो जाने पर वहाँ आकर जाल फैला देता और ताँत की डोरियाँ को यथास्थान लगा, घर जाकर मौज से सोता था। फिर सवेरा होने पर वहाँ आया करता था। रात को जाल में प्रतिदिन नाना प्रकार के पशु फंस जाते थे। उन्हीं को लेने के लिए वह सवेरे आता था। (शान्तिपर्व 138, 23-24)। उसी जाल में चूहा लोमश, विलाव फंस गये। प्रातः काल उन्होंने आते हुए चाण्डाल को जिस रूप में देखा वह इस प्रकार है—

ततः प्रभात समये विकृतः कृष्णपिंगलः।
स्थूलस्फिग् विकृतो रूक्षः श्वयूथपरिवारितः।
शंकुकर्णो महावक्त्रो मलिनो घोर दर्शनः।
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत।। 115-116।।

(शान्ति पर्व, अध्याय 138)

"तदनन्तर प्रातःकाल परिघ नामक चाण्डाल हाथ में हथियार लेकर आता दिखायी दिया। उसकी आकृति बड़ी विकराल थी। शरीर का रंग काला और पीला था। उसका नितम्ब भाग बहुत स्थूल था। कितने ही अंग विकृत हो गये थे। वह स्वभाव का रूखा जान पड़ता था। कुत्तों से घिरा हुआ वह मलिन वेशधारी चाण्डाल बड़ा भयंकर दिखायी दे रहा था, उसका मुँह विशाल था और कान दीवार में गड़ी खूँटियों के समान जान पड़ते थे। परिच्छद विश्वामित्र के बारे में कहा गया है कि वे भूख से पीड़ित होकर दौड़ लगा रहे थे, और एक दिन वे किसी वन के भीतर प्राणियों का वध करने वाले हिंसक चाण्डालों की बस्ती में गिरते-गिरते जा पड़े (शान्ति पर्व 141,28)। वहाँ चारों ओर टूटे-फूटे घरों के खपड़े और ठीकरे बिखरे पड़े थे। कुत्तों के चमड़े छेदने वाले हथियार रखे हुए थे, सूअरों और गदहों की टूटी हड्डियाँ, खपड़े और घड़े वहाँ सब ओर भरे दिखायी दे रहे थे। मुर्दो के ऊपर से उतारे गये कपड़े चारों ओर फैलाये गये थे और वहीं से उतारे हुए फूल की मालाओं से उन चाण्डालों के घर सजे हुए थे। चाण्डालों की कुटियों को सर्प की केंचुली मालाओं से विभूषित एवं चिन्हित किया गया था। उस पल्ली में सब ओर मुर्गो की आवाज गूंज रही थी। गदहों की रेंकने की ध्वनि भी प्रतिध्वनित हो रही थी। वे चाण्डाल आपस में झगड़ा फसाद करके कठोर वचनों द्वारा एक दूसरे को कोसते हुए कोलाहल मचा रहे थे (वही 141, 29-31)। मुनि ने देखा कि चाण्डाल के घर में तुरंत शस्त्र द्वारा मारे हुए कुत्ते की जांघ के मांस का एक बड़ा सा टुकडा पड़ा है (वही 141, 37)। वह चाण्डाल सोया हुआ जान पड़ता था। उसकी आखें कीचड़ से बंद सी हो गई थी, परन्तु वह जागता था वह देखने में बड़ा भयानक था। स्वभाव का रूखा भी प्रतीत होता था। मुनि को आया देख वह फटे स्वर में बोला-अरे चाण्डालों के घरों में तो सब सो गये है। फिर कौन यहाँ आकर कुत्ते की जाँघ लेने की चेष्टा कर रहा है? मैं देखता हूँ, उस क्रूर स्वभाव वाले चाण्डाल ने जब ऐसी बात कही, जब विश्वामित्र डर गये। वे नीच कर्म से उद्विग्न हो सहसा बोल उठे-आयुष्मान्! मै विश्वामित्र हूँ भूख से पीड़ित होकर आया हूँ। उत्तम बुद्धि वाले चाण्डाल! यदि तू ठीक देखता और

समझता है तो मेरा वध न कर। यह सुनकर चाण्डाल ने विश्वामित्र के पास जाकर आने का कारण पूछा। जब विश्वामित्र ने सब कुछ बता दिया तो चाण्डाल ने कहा मनीषी कहते हैं कि कुत्ता सियार से भी अधम होता है। कुत्ते के शरीर में भी उसकी जाँघ का भाग सब से अधम होता है। आपने जो निश्चय किया है यह ठीक नहीं। चाण्डाल के धन का उसमें भी विशेष रूप से अभक्ष्य पदार्थ का अपहरण धर्म की दृटि से अत्यन्त निन्दित है (शान्ति पर्व 141, 44-58)।

(ध) **दस्यु**

दस्युओं को लूट पाट करने वाले के रूप में महाभारत में प्रस्तुत किया गया है राजा सृजन का पुत्र ऐसा था कि नारद के वरदान से वह सोने की खान था। अपने पुत्र के कारण राजा बहुत धनी हो गया था। राजा के वैभव को देखकर दस्युओं ने संगठित होकर उनके यहाँ लूट-पाट आरंभ कर दी (7, 55, 27)। एक तपस्वी कौशिक नामक सत्यवादी ब्राह्मण की कथा में दस्युओं की चर्चा है। इस कथा को वासुदेव ने अर्जुन को बताया था—"एक दिन की बात है कुछ लोग लुटेरों के भय से छिपने के लिए उस वन में घुस गये। परन्तु वे लुटेरे कुपित हो वहाँ भी उन लोगों का यत्न पूर्वक अनुसंधान करने लगे। उन्होंने सत्यवादी मुनि के पास आकर उन लोगों के बारे में पूछा। इस पर कौशिक ने उन दस्युओं को यथार्थ बातें बता दी। तब उन निर्दयी डाकुओं ने उन सब का पता पाकर उन्हें मार डाला, ऐसा सुना जाता है (कर्णपर्व 69, 48-52)। इन लुटेरे दस्युओं की चर्चा मौसलपर्व में भी हुई है। जब अर्जुन वृष्णिवंश की अनाथ स्त्रियों को लेकर रास्ते में पन्र्चनद प्रदेश में आये, तो उन स्त्रियों को देखकर लुटेरों के मन में लोभ पैदा हुआ (7, 46 ततो लोभः समभवद् दस्यूनां निहतेश्वराः)। लोभ से उन के चित्त की विवेकशक्ति नष्ट हो गई। उन अशुभदर्शी पापाचारी आभीरों ने परस्पर मिलकर सलाह की और उन्हें लूटने का विचार किया। इसके बाद लूट का माल उड़ानेवाले वे लट्ठधारी लुटेरे वृष्णिवंशियों के समुदाय पर टूट पड़े। अर्जुन के साथ उनका युद्ध हुआ। परन्तु अर्जुन के देखते ही दस्युओं ने सुन्दरी स्त्रियों को लूट लिया (7, 47 आभीरा मन्त्रयामासुः 7, 63 जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः) यहाँ दस्यु को क्रूर कर्म के कारण 'आभीर' और म्लेच्छ की संज्ञा दी गई है। परन्तु भीष्म ने (12, 135,2-4) ने एक कायव्य नामक दस्यु के बारे युद्धिष्ठिर को बताया जो क्रूरता सहित, प्रहार कुशल और ब्राह्मण भक्त था। भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि डाकुओं से पीड़ित (दस्युभि' परिपीडिताः) होकर स्पष्ट कष्ट पाते हुए अनाथ मनुष्यगण, जिसकी शरण में जाकर सुखपूर्वक रह सकें वही राजोचित सम्मान पाने योग्य है (शान्ति पर्व 78, 29)।

(न) रामायण में अनेक जातियों का वर्णन है जो इस प्रकार है—

भरत के साथ श्रीराम से मिलने के लिए मणिकार, कुम्भकार, सूत का ताना-बाना करके वस्त्र बनाने की कला के विशेषज्ञ, शस्त्र निर्माण करके जीविका चलानेवाले, मायूरक (मोर की पंखों से छत्र-व्यंजन आदि बनाने वाले) आरे से चन्दन आदि की लकड़ी चीरने वाले, मणि मोती आदि में छेद करने वाले, रंगरेज (दीवारों में शोभा का सम्पादन करने वाले), दन्तकार (हाथी दाँत आदि से नाना प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने वाले) सुधाकार (चूने की पुताई करने वाले) गन्धी, प्रसिद्ध सोनार, कम्बल और कालीन बनाने वाले, गरम जल से नहलाने का काम करने वाले, वैद्य, धूपक (धूपन क्रिया द्वारा जीविका चलाने वाले) शौण्डिक (मद्य-विक्रेता) धोबी, दर्जी, गाँवों तथा गोशालाओं के महतो, स्त्रियों सहित नट, केवट भी निकले थे (अयोध्या काण्ड 83, 12-16)

(प) शबरी

श्रीराम और लक्ष्मण मतंगवन में शबरी के आश्रम में आये और उसका सत्कार ग्रहण किया। शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाईयों को आश्रम पर आया देखकर वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी तथा उसने बुद्धिमान् श्रीराम और लक्ष्मण के चरणों में प्रणाम किया। फिर पाद्य अर्घ्य और आचमनीय आदि सब सामग्री समर्पित कर विधिवत उनका सत्कार किया। श्रीराम से कहा ''मैंने आप के लिए पम्पातट पर उत्पन्न होने वाले नाना प्रकार के जंगली -फल-मूलों का संचय किया है (मया तु संचितं वन्यं विविधं पुरुषर्सभ तवार्थे पम्पायास्तीर सम्भवम् 3, 74, 17)। शबरी (जाति से वर्णवाह्य होने पर भी विज्ञान में बहिस्कृत नहीं थी, उसे परमात्मा के तत्व का नित्य ज्ञान प्राप्त था)

(फ) किन्नरियाँ

किन्नरियों का वर्णन रामायण के सिर्फ एक स्थल (उत्तरकाण्ड 42, 20-21) में हुआ है वह इस प्रकार कि श्री राम और गर्भवती सीता अशोक वाटिका में विहार कर रहे थे, उसी नृत्य समय और गीत की कला में निपुण अप्सराएँ और नाग कन्याएँ किन्नरियों के साथ मिलकर नृत्य करने लगीं। उसी प्रकार नाचने गाने में निपुण अपनी नृत्य कला का प्रदर्शन करने लगीं।

(ब) काम्बोज

यास्क ने अपने निरुक्त 2, 2 में लिखा है कि काम्बोज देश में गति के अर्थ में शव-धातु का तिङ्त 'शवति' होता है। ऐसा प्रयोग आर्य लोग नहीं करते थे। यास्क फिर कहते हैं कि कम्बोज (देश विशेष रूप से) कम्बलों का भोग करने वाले होने से (कम्बल भोज पदों में से 'ल' तथा वर्णो का लोप होकर 'कम्बोज' पद बना है। अथवा कमनीय (पदार्थो) का भोग करने वाले होने से (कम + भोज में 'भ' के स्थान पर ब होकर कम्बोज शब्द बनता है, यह इस दूसरे निर्वचन का अभिप्राय है)। 'कम्बल' कमनीय (अर्थात् शीतार्त पुरुषों के द्वारा प्रार्थनीय) होता है। इस (शव धातु) सुबन्तरूप 'शव' को आर्यो (आर्य देशों) में बोला जाता है (पृ. 143-44)। यास्क के अनुसार कम्बोज की उत्पत्ति 'कम्' धातु से हुई है जिसका अर्थ आनन्द मनाना है। कंबोज देश के लोग कम्बल बनाते थे।

पाणिनि के अष्टाध्यायी (4, 1, 175) के अनुसार कम्बोज शब्द के बाद तद्राज प्रत्यय का लोप होता है (क्षत्रियबोधक जनपदवाची शब्दों से जिन अञ्' आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन्हें 'तद्राज' कहते हैं)। कम्बोजस्यापत्यम् कम्बोज की सन्तान अर्थ में अञ् (अ) प्रत्यय होकर अजादि वृद्धि होकर कम्बोज बनता है (पृ. 568)। इसका अर्थ न केवल जाति या देश है, परन्तु राजा भी है। ब्रह्माण्डपुराण (2, 16, 49 काम्बोज)। में कंम्बोज का नाम आता है। काम्बोज बाद में आर्यो में शामिल किये गये।

युधिष्ठिर को भेंट में मिली हुई वस्तुओं का वर्णन दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से कहा ''काम्बोज नरेश ने भेड़ के ऊन, बिल में रहने वाले चूहे आदि के रोएँ तथा बिल्लियों की रोमवलियों से तैयार किये गये सुवर्णचित्रित बहुत से सुन्दर कम्बल दिये थे। (सभापर्व 51. 3)। पुलिन्द, मद्र, म्लेच्छ, खश, दरद, यवन, और शकों के साथ काम्बोज सैनिकों की चर्चा ऊपर हो चुकी है (द. अनार्य जातियाँ)

काम्बोज देश के राजा का नाम सुदक्षिण था। महाभारत में इस वीर योद्धा की चर्चा अनेक स्थलों

पर हुई है। इसने एक अक्षौहिनी सेना दुर्योधन के लिए दी थी (5,16,14)। इसके अलावे 6, 16, 15; 6, 17,26; 6, 4, 66 और 68; 6, 47, 48; 6, 71, 32 में भी काम्बोजराज की चर्चा है। काम्बोज नरेश ने सामने आकर अर्जुन को युद्धस्थल में रोका था (द्रोण 61, 37) इसके बाद उसका शूरवीर पुत्र वेगशाली अश्वों द्वारा अर्जुन का सामना करने आया (द्रोण. 92, 91)।

सात्यकि ने प्रतिज्ञा की—'मैं आज विषधर सर्प के समान क्रूर स्वभाव वाले उन काम्बोज सैनिकों के साथ युद्ध करूँगा जो नाना प्रकार के शस्त्र समुदायों से सम्पन्न और भाँति-भाँति के आयुधों द्वारा युद्ध करने में कुशल हैं (द्रोण 112, 48 कम्बोजैर्हि समेष्यामि) युयुधान का मुकाबला काम्बोजों की महान् सेना के साथ हुआ था (द्रोण. 113, 60 काम्बोजानां महाचमूम्)। सात्यकि के सूत के कथन से पता चलता है कि उसने पहले भी युद्ध में बहुतेरे कवचधारी, क्रूरकर्मा रणदुर्भेद काम्बोजों को परास्त किया है (द्रोण 119. 20 दंशिता क्रूरकर्माणः काम्बोजा युद्धदुर्मदा)। इस पर उत्साहित होकर सात्यकि ने सूत से कहा—'सूत! मैं आज ही इन काम्बोजों का वध करूँगा और ऐसा करके अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करूँगा। (द्रोण 119, 27 प्रतिज्ञां पारयिष्यामि काम्बोजानेव मां वह), मुझे उनकी ओर ले चलो। संजय ने भारतवर्ष का वर्णन करते हुए धृतराष्ट्र को दक्षिण दिशा के जनपदों का नाम बताते 'काम्बोज' के बारे निन्दा शब्दों में कहा 'जहाँ भयानक म्लेच्छ जाति के लोग निवास करते हैं, (69, 65 काम्बोजा दारुणा म्लेच्छजातयः)। अनुशासन पर्व (33, 21) के अनुसार शक, यवन और काम्बोज आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय ही थीं, किन्तु ब्राह्मणों की कृपा दष्टि से वञ्चित होने के कारण उन्हें शूद्र एवं म्लेच्छ होना पड़ा।

(भ) किरात

अथर्ववेद में 'किरात' जाति का नाम आया है। उन्हें पर्वतीय प्रदेश का निवासी माना गया है। ऐसा 'सका' नामक कुमारी लड़की के बारे अथर्ववेद में कहा गया है—

केरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।

हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिराणामुप सानुषु।। 10.4.14।।

''यह किरात के देशों में अवस्थित सका कुमारी, लोहे की कुदारी से पहाड़ों की शिखरों पर औषधि खोदती है।''

अथर्ववेद के अलावे वाजसनेयी संहिता (30, 16 गुहाभ्यः किरात, 30, 16 गुहाभ्यः किरातम्) में उन्हें गुहानिवासी कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3, 4, 12 गुहाभ्यः किरातम्) में भी उन्हें गुहा निवासी की संज्ञा दी गई है। ऐतरेय ब्राह्मण (7, 18) के अनुसार विश्वामित्र ने अपने पचास पुत्रों को शाप देते हुए कहा-''तुम्हारी संतान अभक्ष्यवाली होंगी।'' इसी संदर्भ में एन्द्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिंद, आदि जातियों का उल्लेख हुआ है।

वामन पुराण में 'किरात' 'तोमर' आदि जनजातियों के नाम आये हैं (13, 27, 58 त्रिगर्ताश्च किराताश्च तोमरा) वामन पुराण के अन्य स्थल, (13, 27, 42 किरातानां च जातयः) में भी 'किरात' का नाम आया है। ब्रह्माण्डपुराण में 'चोल' 'तोमर' और किरात इन तीन आदिम जातियों के नाम हैं (2, 15, 5, अंगवंगश्चोलभद्र किरातानां च जातयः। तोमरा हंसभंगाश्च। वायु पुराण में भी किरात का उल्लेख हुआ है (45, 64,82 पूर्वे किराताह्यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्मृता 45, 64, 120, अपगाश्चतिमद्राश्च

किरातञ्च, जातयः)।

महाभारत में किरातवेषधारी शिव और अर्जुन के बीच युद्ध हुआ था (वनपर्व 34, 44-61)। महाभारत के युद्ध में किरातों ने दुर्योधन का पक्ष लिया था। अर्जुन ने किरातों के राजा भगदत्त को युद्ध में मार डाला था (कर्णपर्व 5, 15, 16 किरातानामधिपति . . . . भगदत्तो यमसदनम्)।

परन्तु युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में फल और मूल ही जिसका भोजन है वे चर्मवस्त्रधारी, क्रूरतापूर्वक शस्त्र चलानेवाले और क्रूरकर्मा किरात नरेश भी वहाँ भेंट लेकर आये थे (सभा 52, 9)।

राजा भगदत्त ने दुर्योधन के लिए एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की, जिसमें सुनहरे शरीरवाले चीन और किरात देश के योद्धा थे (उद्यो. 19, 15)।,

सात्यकि ने युधिष्ठिर से कहा—''महाराज! पूर्वकाल में दृढ़तापूर्वक आपकी सेवा करने वाले थे, वे ही (किरात) आज आप से ही युद्ध करना चाह रहे हैं। ये रणदुर्भद किरात हैं (किरात युद्धदुर्भदाः। द्रोण पर्व 112, 30) मैं दुर्योधन का हित चाहने वाले और विष के समान घातक उन प्रहार कुशल किरात योद्धओं के साथ भी संग्राम करूँगा, जिनका राजा दुर्योधन ने सदा ही लालन पालन किया है (द्रोण. 112, 49 किरातैश्च समेष्यामि)।

सात्यकि ने युद्ध में अन्य अनार्य सैनिकों के साथ ''किरातों'' का भी संहार किया था (द्रोण. 110, 45)।

जैसा कि ऊपर कहा गया, शम्बर जातिवाचक अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। महाभारत में इन्हें हिमवन्त प्रदेश का निवासी बताया गया है दे. किरात संस्कृति पृ 690-691 (हिमवद्दुर्गनिलयाः किराताः 7, 4, 7)

(म) मछुआरे

मछली पकड़ कर उन्हें बेचते थे और इस प्रकार उनकी जीविका चलती थी। आदि पर्व 63 अध्याय में राजा वसु का नाम आया है। उनके विषय में प्रसिद्धि यह है कि अपने स्खलित वीर्य को पत्ते में रखकर अपनी पत्नी गिरिजा के पास पहुँचाने का आग्रह किया। बाज वह वीर्य लेकर आकाश में उड़ रहा था, उसी समय दूसरे बाज से छीना झपटी हो गई। इसी क्रम में वीर्य यमुना नदी के जल में गिरा। उस वीर्य को मत्स्यरूप धारिणी अद्रिका अप्सरा ने वेगपूर्वक आकर निगल लिया। तत्पश्चात् दसवाँ मास आने पर मत्स्यजीवी मल्लाहों ने उस मछली को जाल में बाँध दिया और उसके उदर को चीरकर एक कन्या और एक पुरुष, राजा को दिया (58-62)। उनमें से पुत्री को राजा उपरिचर ने मल्लाहों को ही सौंप दिया और कहा यह तेरी पुत्री होकर रहे (1,63,67)। मछेरों के आश्रय में रहने के कारण वह मतस्यगन्धा कहलाई क्योंकि उसके शरीर से मछली की गंध आती थी। वह पिता कि आज्ञा से नाव चलाया करती थी (आदि 63, 69)। इसी पर्व के 100 वें अध्याय में हम राजा शान्तनु के बारे में पढ़ते है कि एक दिन घूमते हुए उसने मल्लाहों की एक कन्या देखी जो अत्यन्त सुन्दरी थी। कन्या को देखते ही उसने पूछा—''भीरु तू कौन है? किसकी पुत्री है क्या करना चाहती ? उस कन्या ने कहा –मैं निषाद कन्या हूँ और अपने पिता की आज्ञा से धर्मार्थ नाव चलाती हूँ। राजा ने मल्लाह से उस कन्या को अपने

लिए माँगा। कुछ शर्त के साथ राजा शान्तनु का विवाह निषादकन्या सत्यवती से हुआ (आदिपर्व 100,47-50 और 101,1)।

एक बार महर्षि च्यवन गंगा यमुना के संगम में जल के भीतर प्रविष्ट हुए और वहाँ काष्ठ की भाँति स्थिर भाव से बैठ गये। उन्हें पानी में रहते बहुत दिन बीत गये। तदनन्तर एक समय मछलियों से जीविका चलाने वाले बहुत से मल्लाह मछली पकड़ने का निश्चय करके जाल हाथ में लिए हुए उस स्थान पर आये। वे मल्लाह बड़े परिश्रमी, बलवान शौर्यसम्पन्न और पानी से कभी पीछे न हटनेवाले थे। वे जाल बिछाने का दृढ़ निश्चय करके उस स्थान पर आये थे, और वहाँ मछलियाँ रहती थीं, उतने गहरे जल में जाकर उन्होंने अपने जाल को पूर्ण रूप से फैला दिया। थोड़ी देर बाद वे सभी मल्लाह निडर होकर पानी में उतर गये। वे सभी प्रसन्न और एक दूसरे के अधीन रहने वाले थे। उन सब ने जाल को मिलकर खींचना आरंभ किया। उस जाल में खींचते समय मल्लाहों ने दैवेच्छा से उस जाल के द्वारा मत्स्यों से घिरे हुए भृगु पुत्र महर्षि को जाल के साथ फंसा देखकर सभी मल्लाह हाथ जोड़ मस्तक झुका कर पृथ्वी पर पड़ गये (अनुशासन पर्व 50, 11-21)। इसके बाद उन्होंने महर्षि च्यवन को गौ स्वीकार करने का आग्रह किया। महर्षि च्यवन ने उन दी हुई गाय स्वीकार कर ली और उन्हें स्वर्ग जाने का वरदान दिया। ऋषि के कहते ही वे मल्लाह, मछलियों के साथ ही स्वर्ग लोक चले गये (अनुशासन पर्व 51, 39-40) तत्कालज्ञ, दूरदर्शी, और दीर्घसूत्री इन तीन मत्स्यों के दृष्टान्त में मछुवारों की चर्चा है। (शान्तिपर्व 137, 12-14 मत्स्योपजीविनः)।

महाभारत में एक नाविक की भी चर्चा है, जिसने विदुर के कहने पर पांडवों को गंगा के उस पार पहुँचाया था। प्रसंग इस प्रकार है— बुद्धिमान् विदुर को गुप्तचर द्वारा पुरोचन की चेष्टाओं का भी पता चल गया था। इसलिए उन्होंने इस समय उस बुद्धिमान् आदमी को वहाँ भेजा था। उस नाविक ने वायु के समान वेग से चलने वाली एक नाव पांडवों को दिखायी जो सब प्रकार से हवा का वेग सहने में समर्थ और ध्वजा पताकाओं से सुशोभित थी। उसने पांडवों को यह भी बताया कि नाव उन सबको इस देश से दूर छोड़ देगी (आदि पर्व 148, 10)। वैशम्पायन ने जनमेजय को नाविक के बारे में बताते हुए कहा कि विदुर के भेजने से आये हुए उस नाविक ने उन शूरवीर नरश्रेष्ठ पांडवों से ऐसी बातें कहकर उसी नाव से उन्हें गंगा के उस पार उतार दिया। पार उतारने के बाद जब वे गंगा के दूसरे तट पर जा पहुँचे, तब उन सब के लिए जय हो, जय हो, यह आर्शीवाद सुनाकर वह नाविक जैसे आया था, वैसे चला गया। (आदि पर्व 148, 13-14)।

(य) नाग

उत्तर वैदिक ग्रन्थ विशेषकर महाभारत में नाग नामक अनार्य जाति का वर्णन मिलता है। नाग सर्प दानव के साथ-साथ मानव भी थे जिन्हें इतना दुष्ट समझा गया कि उनके विनाश के लिए विशेष प्रकार के शक्तिशाली यज्ञ का आयोजन किया गया। लेकिन फिर भी ब्राह्मणों के संयोग से उनकी स्त्रियों ने वैध और अतिसम्मान्य संतान को जन्म दिया। आस्तीक ऐसा ही पुत्र था। जातिगत अर्थ में नाग शब्द का प्रयोग जंगलों में रहने वाले उन आदिवासियों के लिए हुआ जो अनिवार्यतः एक दूसरे से संबंधित नहीं थे, परन्तु जिनका गण चिन्ह ((टोटेम) नाग था या जो नाग की पूजा करते थे, जैसा कि भारत के बहुत से आदिवासी आज भी करते है। जब आर्यो ने कुरूदेश में पहली बार बस्तियाँ स्थापित की, उस

समय ये नाग लोग पास के जंगलों में रहते थे। अर्द्ध मरूक्षेत्रवाली खुली नदी घाटियों अथवा पंजाब की निचली पहाड़ियों के प्रदेश की अपेक्षा गांगेय प्रदेशों के जंगलों में भोजन संग्रह अधिक आसान था। परन्तु इन्हीं घने जंगलों के कारण नाग, लोगों को जीतना या उन्हें कबीलाई दासों की अवस्था में ले आना संभव न हो सका। वेदों में ही यह जानकारी मिलती है कि ऐसे भी कुछ गरीब ब्राह्मण थे, जिन्हें किसी आर्य कबीले का संरक्षण प्राप्त नहीं था और जो शान्ति पूर्वक जंगलों में जाकर सामान्यत: आहार संग्रह पर और कभी-कभी कुछ मवेशियों के सहारे जीवन यापन करते थे। विद्याध्ययन की पुरानी ब्राह्मण परम्परा जो ईसवी सन् की शुरूआत तक प्रचलित रही, यह थी कि वेदाध्ययन के इच्छुक विद्यार्थी को किसी अरण्याश्रम में बसे हुए किसी वरिष्ठ आचार्य की बारह साल तक सेवा करनी पड़ती थी, उसे गायों की देखभाल करनी पड़ती थी। इन आश्रमों में न तो शिकार करने की प्रथा थी, न ही खेती की जाती थी। यह शुरू-शुरू काल था, इसलिए यदा-कदा आदिवासी नाग स्त्रियों से विवाह कर लेने की अनुमति थी। नाग लोगों के साथ इसके संघर्ष का सवाल ही नही उठता था, क्योंकि ये नाग आज कल के आसाम के नागाओं की तरह युद्ध प्रेमी नहीं थे और खेती भी नहीं करते थे, और इसलिए जंगलों में इनकी काफी विरल आबादी थी। जैसे-जैसे जंगल साफ होते गये, नाग लोग कृषि को अपनाते गये। महाभारत में कुरुओं के साथ मैत्रीपूर्ण और कुछ विशेष प्रकार के संबध थे।

ब्राह्मण धर्म के कठोर नियम के अनुसार ब्राह्मण पिता और किसी भी अन्य जाति की माँ से उत्पन्न सन्तान को कभी-भी ब्राह्मण नहीं माना गया। इसलिए ऐसे पुत्र अपनी वंश परम्परा आर्य दायरे से दूर होने की बेझिझक घोषणा करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि नाग लोग कोई राक्षस अथवा निम्न जाति के नहीं, बल्कि किसी सम्मान्य जनजाति के रहे होंगे। आस्तीक 'यायावर' (घुमक्कड़) कुल में पैदा हुआ था। इस नाम का एक परिवार ईसा की नौवी सदी तक मौजूद था। संस्कृत का प्रख्यात कवि नाटककार राजशेखर जो ब्राह्मण नहीं था, या जिनके कम से कम मराठा अथवा राजपूत सामन्तों के चाहमान कुल की अब्राह्मण स्त्री से विवाह किया था, इसी यायावर परिवार का था (डी.डी. कोसम्बी प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति पृ. 118।

नागों की उत्पत्ति देखी जाये तो ये कद्रू के पुत्र थे। इन्द्र इन्हें नहीं चाहते थे कि इन्हें अमृत मिले इसलिए गरुड़ द्वारा नागों के लिए जाने पर इन्द्र को ईर्ष्या हो गई। जब सभी सर्प स्नान के लिए गये थे, तो इन्द्र ने छल से अमृत चुरा लिया (आदि 34, 20)। कुरु कुल, के अंतिम राजा परीक्षित को तक्षक सर्प ने डंस लिया था, इसलिए आर्यो और नागों में दुश्मनी हो गई आर्य राजा जनमेजय ने सर्पो के विनाश के लिए सर्प यज्ञ आरम्भ किया। ऊपर वर्णित यायावर आस्तिक ने सर्प यज्ञ बन्द कराया (आदि 58, 7)। ये ब्राह्मण जरत्कारु और सर्पकन्या जरत्कारू के पुत्र थे। अर्जुन ने नागराज की कन्या से विवाह करके इरावान् को उत्पन्न किया था (6, 90,9)।

(र) म्लेच्छ

म्लेच्छों का वर्णन महाभारत के युद्ध के अलावे अन्य स्थल पर भी मिलता है। भीष्म पर्व (9, 13) के अनुसार वैदिक युग में आर्यो के साथ म्लेच्छ जाति भी रहती थी। आर्य इन्हें घृणित समझते थे। अत: बुरे अर्थ में म्लेच्छ शब्द का प्रयोग होता था। इन्हें सर्वभक्षी और कठोर (वन पर्व 140, 13

म्लेच्छाचाराः सर्वभक्षा दारुणाः सर्वकर्मसु) और उग्र स्वभाव वाले एवं भयंकर कर्म करने वाले कहा गया है (कर्ण 73, 16 उग्राश्च भीमकर्माण म्लेच्छाश्च, समानान्तर स्थल द्रोण पर्व 112, 26)। काम्बोज देशीय म्लेच्छों के बारे में कहा गया है कि वे उस देश में बहुतायत से निवास करते और लूट पाट कर जीविका निर्वाह करते हैं। (शान्ति पर्व 65 15 सर्वे वै दस्युजीविनः।) लुटेरों के रूप में म्लेच्छों की चर्चा ऊपर हो गई है (दे. अनार्यः 7, 11, 47; 7, 21, 29; 7, 121, 20)। कलमासपाद के अनुसार मनुष्यों के मल हैं म्लेच्छ, म्लेच्छानां शौण्डिका मलम्)। उसने यह भी कहा यवनजातीय म्लेच्छ अपने द्वारा कल्पित संज्ञाओं पर ही अधिक आग्रह करते है-याने वैदिक धर्म को नहीं मानते (कर्ण पर्व 4, 5)।

धृतराष्ट्र के कथन से यह स्पष्ट होता है कि दुर्योधन के राज्य में म्लेच्छ और जंगली जातियाँ दुर्योधन की कृपा से जीवन धारण करती थीं (शल्य पर्व 32, 4)। एक सुरंग खोदनेवाला मनुष्य विदुर जी का हितैषी एवं विश्वासपात्र था। एक दिन एकान्त में पाण्डवों से मिलकर उसने उन्हें बताया कि -''विदुर जी ने म्लेच्छ भाषा में कुछ संकेत आप को किया था (आदि पर्व 146.6)

इसी प्रकार सभी अनार्य जातियाँ म्लेच्छ कहलाती हैं। यहाँ तक कि युद्ध में साथ देने वाले और उसी की रक्षा करने वाले आन्ध्र, पुलिन्द, शबर, भद्रक जातियों को भीष्म ने म्लेच्छ कहा (शान्ति पर्व 207, 42-43)।

कलियुग के स्वरूप के बारे बताते मार्कण्डेय ने राजा युधिष्ठिर को बताया कि जब सब लोगों के विचार और व्यवहार विपरीत हो जाते है तब प्रलय का पूर्व रूप होने पर पृथ्वी पर बहुत से म्लेच्छ राजा राज्य करने लगते हैं (वन. 188, 34 बहवः म्लेच्छ राजानः पृथिव्यां मनुजाधिप)। कलियुग में सारा संसार म्लेच्छों की भाँति शुभकर्म और यज्ञ यागादि छोड़ देगा (वन. 124, 29 और 46 म्लेच्छीभूत)। यह कहा गया कि पृथ्वी थोड़े समय में म्लेच्छों से भर जायेगा (वन 142, 72)। अंत में एक ब्राह्मण के घर विष्णु यशा कल्की का जन्म होगा जो नीच स्वभाववाले सम्पूर्ण म्लेच्छों का संहार करेगा (वन. 190, 93)।

परन्तु सभापर्व (51, 14-15) में हम पाते है कि म्लेच्छों के स्वामी शूर वीर राजा भगदत्त अच्छी जाति के शीघ्रगामी घोड़े और सब प्रकार की भेंट लिए युधिष्ठर के पास आया था।

महाभारत के युद्ध में सात्यकि ने दुर्योधन की विशाल सेना के बारे में युधिष्ठिर को इस प्रकार म्लेच्छों के संदर्भ में बताया-''महाराज! यह जो आप हजारों हाथियों की सेना देखते हैं, उसका नाम आन्ञ्जनकुल है। इसमें पराक्रमशाली गजराज खड़े हैं, जिनके ऊपर प्रहार कुशल और युद्ध निपुण बहुत से म्लेच्छ योद्धा सवार हैं (द्रोण. 112, 16-17 आस्थिता बहुभिम्लैच्छैर्युद्धशौण्डैः प्रहारिभिः)। यहाँ एकत्र हुए हिमदुर्ग निवासी पापाचारी म्लेच्छों की यह सेना धुएँ के समान काली प्रतीत होती है (द्रोण. 112, 37)। सात्यकि ने लुटेरे म्लेच्छों का भी सब प्रकार से संहार कर डाला (द्रोण. 121, 20)। इसी से मिलता जुलता सन्दर्भ (द्रोण 128, 28) है जिसमें कहा गया है कि भीमसेन ने दरदों की विशाल सेना पार कर बहुत से युद्ध विशारद म्लेच्छों को परास्त किया (तथा म्लेच्छ गणानन्यान्) अश्वत्थामा कौरव पक्ष के प्रमुख वीरों एवं शौर्य सम्पन्न म्लेच्छ सैनिकों के साथ रथ सेना के साथ पीछे-पीछे चल रहा था (कर्ण 46. 23 शूर म्लेच्छैः) म्लेच्छों द्वारा आगे बढ़ाये हुए अत्यंत क्रोधी गजराज मनुष्यों, घोड़ों और रथों को अपनी सूड़ों से उठाकर फेंक देते और उन्हें पैरों से मसल डालते थे। (कर्ण 22, 10) अंगजातीय भगदत्त ने पांडव वीरों के साथ भयंकर युद्ध किया था (द्रोण. 27-29 पूरा अध्याय)।

जब सात्यकि द्वारा हाथी काल के गाल में जा रहे थे, तब दु:शासन ने लूट पाट करने वाले म्लेच्छों से कहा-धर्म को नहीं जानने वाले योद्धाओ! इस तरह भाग जाने से तुम्हें क्या मिलेगा? लौटो और युद्ध करो। इतने पर भी उन्हें जोर-जोर से भागते देख दु:शासन ने पत्थरों द्वारा युद्ध करने वाले शूरवीर पर्वतीयों को आज्ञा दी-तुमलोग प्रस्तरों द्वारा युद्ध करने में कुशल हो, सात्यकि को इसका ज्ञान नही है (द्रोण 121, 29-31)। इसके बाद यह सुन कर अन्य अनार्य योधाओं के साथ कुलिन्द देशीय म्लेच्छों ने सात्यकि पर चारों ओर से पत्थर बरसाने आरंभ किये (द्रोण (121, 43)।

सात्यकि से परास्त होकर जब शक, काम्बोज, बाह्णिक, यवन, पारद, कुलिन्द, तंगण, अम्बष्ठ, पैशाच, बर्वर तथा पर्वतीय योद्धा फिर से उत्साहित होकर फिर लौट आये और हाथों में पत्थर लेकर सात्यकि की और दौड़े। पत्थरों द्वारा युद्ध करने वाले पर्वतीयों के पांच सौ शूर वीर रथी सात्यकि पर चढ़ आये। सात्यकि ने रथ सेना और गज सेना का तथा उन समस्त घुड़सवारों एवं लुटेरे म्लेच्छों का भी सब प्रकार से संहार कर डाला (द्रोण 121, 13-20)। सात्यकि के भल्ल से चूर-चूर हुए शिलाखण्डों द्वारा मारे गये म्लेच्छ प्राणशून्य होकर जहाँ तहाँ पड़े थे। सात्यकि द्वारा मारे जाते हुए वे म्लेच्छ सैनिक, उनपर बड़ी भयंकर पत्थरों की वर्षा करते थे। वे पाषाणों द्वारा युद्ध करने वाले शूरवीर विजय के लिए यत्नशील होकर रणक्षेत्र में डटे हुए थे। सात्यकि ने उन सब का संहार कर डाला तदनन्तर पुनः हाथ में लोहे के गोले और त्रिशूल लिए मुँह फैलाये हुए दरद, तंगण, खस, लम्पाक और कुलिन्द देशीय म्लेच्छों ने सात्यकि पर चारों ओर से पत्थर बरसाने आरम्भ किये। परन्तु प्रतीकार करने में निपुण सात्यकि ने अपने नाराचों द्वारा उन सब को छिन्न-भिन्न कर दिया (द्रोण. 121, 40-43)।

अर्जुन के साथ युद्ध करने के लिए हजारों लाखों संस्कार शून्य म्लेच्छ वहाँ उपस्थित थे, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती थी (द्रोण. 43, 44 व्रात्या: शतसहस्रशः) नाना प्रकार के युद्धों में कुशल वे सभी म्लेच्छ गण अर्जुन पर तीखे वाणों की वर्षा करके उन्हें आच्छादित करने लगे (वही. 93, 45)। अर्धमुंडित, जटाधारी, अपवित्र तथा दाढ़ भरे मुखवाले समस्त सैकड़ों म्लेच्छ संघ, अर्जुन के वाणों से विद्ध कर रण भूमि से भागने लगे। अर्जुन के तीखे वाणों से मरकर पृथ्वी पर गिरे हुए उन हाथी सवार और घुड़सवार म्लेच्छों का रक्त कौवे, बगुले और भेड़िये बड़ी प्रसन्नता के साथ पी रहे थे (द्रोण. 93, 47-49)।

भीम ने घमासान लड़ाई में बहुत से युद्धविशारद म्लेच्छों को परास्त किया (द्रोण. 128, 28 म्लेच्छगणानन्यान्)। साथ ही एक अंगराज का वध किया (वही. 26, 17 म्लेच्छ · · · शिरश्चिच्छेद भल्लेन वृकोदरक्षिप्रकारि)। नकुल ने भी म्लेच्छजातीय अंगराज का वध किया था (कर्ण 22, 18 स पपात हतो म्लेच्छस्तेनैव सह दन्तिना।) धृतराष्ट्र दु:खित होकर याद करते है कि किस प्रकार दुर्योधन कहा करता था कि उसकी सेना में म्लेच्छराज भगदत्त एवं लाखों म्लेच्छ सहायता के लिय उद्यत हैं (शल्य 2, 18, म्लेच्छाश्चशतसाहस्रा:)।

महाभारत युद्ध के अलावे एक राजा सुहोत्र थे जिन्होंने पृथ्वी को म्लेच्छों एवं तस्करों से रहित करके इसका उपभोग किया था (द्रोण 56, 5 वसुमतीं म्लेच्छाटविकवर्जिताम्)

(ल) वाह्लिक

व्यूह निर्माण में वाहि्लक ने द्रोणाचार्य, भीष्म और अश्वत्थामा का साथ दिया था (भीष्म 17,

39)। उस व्यूह के दाहिने पार्श्व में वाह्लिक वीरगण भी अन्य वीरों के साथ थे (द्रोण 20,8)। वाह्लिक ने कृतवर्मा, शाल, शल्य आदि के साथ भीष्म को शीघ्रता से चारों ओर घेर लिया (भीष्म 48, 63)।

दोनों पक्षों के प्रधान वीरों के द्वन्द्व युद्ध का वर्णन करते संजय ने कहा धृतराष्ट्र को इस प्रकार बताया– ''महाबली शिखण्डी ने युद्ध स्थल में वेगशाली वाह्लिक को भयंकर तीखे वाणों द्वारा गहरी चोट पहुँचाई। इससे वाह्लिक अत्यन्त कुपित हो उठे और झुकी हुई गाँठवाले नौ वाणों द्वारा शिखण्डी को घायल कर दिया। वाह्लिक राज महारथी द्रौपदी पुत्रों के साथ घनघोर युद्ध करने लगे (द्रोण 467-12)। सेना सहित राजा वाह्लिक ने धावा करते हुए राजा द्रुपद को अपने वाणों द्वारा रोक दिया था (द्रोण. 25, 18) दृष्टद्युम्न ने भी अनेक वाह्लिक सैनिकों का वध किया था (द्रोण 192, 33)।'

सात्यकि ने अपने सूत को कहा-तुम सावधान होकर रणक्षेत्र में चलो और मेरी यह दूसरी बात भी सुनो-यह अवन्ति निवासियों की अत्यन्त तेजस्विनी सेना दिखायी देती है। इसके बाद यह दाक्षिणात्यों की विशाल सेना है, उसके पश्चात् यह वाह्लिकों की विशाल सेना है। वाह्लिकों के पास ही उनसे जुड़ी हुई कर्ण की बड़ी भारी सेना खड़ी है। ये सारी सेनाएँ एक दूसरे से भिन्न हैं। ये सबके सब एक दूसरी का सहारा लेकर युद्ध के लिए डटी हुई हैं। सारथे! मध्यम वर्ग का आश्रय लेकर तुम मुझे वहाँ ले चलो, जहाँ नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लिए युद्ध के लिए तैयार वाह्लिक देशीय सैनिक दिखायी देते हैं। (द्रोण. 113, 35-40)।

सात्यकि ने सोमदत्त की छाती पर उत्तम और तीखे वाण का प्रहार किया इससे वह मूर्छित होकर गिर पड़े। अपने पुत्र के मूर्छित होने पर वाह्लिक ने वाणों की वृष्टि करते हुए सात्यकि पर धावा बोल दिया। भीमसेन ने सात्यकि के लिए महात्मा वाह्लिक को पीड़ित करते हुए युद्ध के मुहाने पर उन्हें नौ वाणों से घायल कर दिया। तब वाह्लिक ने अत्यन्त कुपित हो भीमसेन की छाती में अपनी शक्ति धंसा दी। इस शक्ति से आहत होकर भीमसेन मूर्छित हो गये। सचेत होने पर बलवान् भीम ने उस पर गदा का प्रहार करके वाह्लिक का सिर उड़ा दिया (द्रोण.157, 9-15 स पपात हतः पृथ्व्यां वज्राहत)।

कर्ण ने वाह्लिक और अन्य अनार्य जातियों की निन्दा में निम्न शब्द कहे थे– ''वाह्लिक भुने हुए जौ और लहसुन के साथ गोमांस खाते और गुड़ से बनी हुई मदिरा पीकर मतवाले बने रहते हैं। पूआ, मांस और वाटी खाने वाले वाह्लिक देश के लोग शील और आचार से शून्य रहते हैं। मार्ग में तक्र साथ और सत्तू के पिण्ड खाकर अत्यन्त प्रबल हो राहगीरों के कपड़े छीनते हैं। जिनके धर्म-कर्म नष्ट हो गये हैं, वे संस्कारहीन,जारज वाह्लिक यज्ञ-कर्म से रहित होते हैं। वहाँ के लोग काठ के कुण्डों, तथा मिट्टी के बर्तनों में जहाँ, सत्तू और मदिरा लिपटे होते हैं, और जिन्हें कुत्ते चाटते रहते है, घृणाशून्य होकर भोजन करते हैं। कारस्कर, माहिषक, कुसंड, केरल, कर्कोटक और वीरक इन देशों के धर्म दूषित हैं। भद्र, गन्धार, आरट्ट, खस, वसाति, सिंध तथा सौवीर ये देश प्रायः अत्यन्त निन्दित हैं (8,44 पूरा सर्ग) फिर उसकी निन्दा करते कर्ण ने शल्य से कहा– ''वाह्लिक पहले ब्राह्मण होकर फिर क्षत्रिय होता है। तत्पश्चात् वैश्य और शूद्र भी बन जाता है। इसके बाद नाई होता है। नाई होकर ब्राह्मण फिर से बनता है। ब्राह्मण होने के बाद फिर वही दास बन जाता है। विभिन्न जातियों के कर्म को अपनाने के कारण वह जन जातियों के नाम से निर्दिष्ट होता है। गान्धार, मद्र और मद्रदेश के कुछ निवासी तो कुछ ऐसे होते हैं कि कुछ भी नहीं समझ पाते (8, 45 पूरा सर्ग)।

युद्ध में पीछे न हटने वाले सात्यकि को अपनी सेनाओं के बीच पाकर शीघ्रतापूर्त्रक हाथ चलाने वाले बहुतेरे यवनों ने उनके ऊपर वाणों की वर्षा आरंभ कर दी। सात्यकि ने उनके अस्त्रों को काट दिया। उसने अपने तीखे वाणों से यवनों के मस्तक, भुजाएँ और काँसे के बने हुए कवच भी काट डाले। वे वाण उनके शरीरों को विदीर्ण करके पृथ्वी में घुस गये। वीर सात्यकि द्वारा रण भूमि में आहत सैकड़ों म्लेच्छ प्राण त्याग कर धाराशायी हो गये (द्रोण. 119, 39-43)।

कर्ण ने यवन जातियों को म्लेच्छ कहते हुए कहा कि वे वैदिक धर्म को नहीं मानते हैं (8, 45, 9)।

(व) **आभीर**

इस जाति का नाम वामन पुराण (13, 27 48 आभीराः सहवैसक्या आरण्याः शबशच ये), वायु पुराण (46, 65, 126 आभीराः सह चैषीका अटव्याश्च वराश्च) और ब्रह्माण्ड पुराण (2, 16, 58 आभाराश्च सहैषीका आटव्या साखास्तथा) में आया है।

कौरव-पांडवों के युद्ध में आभीरों ने कौरवों का पक्ष लिया था। द्रोणाचार्य के गरुणव्यूह में आभीर सैनिक भी थे (द्रोण. 20, 6 शूर आभीरा दशेरकाः)। आभीर जाति को आर्य घृणित समझते थे, इसीलिए मार्कण्डेय ने जनमेजय को बतया कि असत्यवादी आभीर इस देश के राजा होंगे (वन पर्व 189, 39)।

लूटपाट करने के अर्थ में आभीरों को दस्यु भी कहा गया है (दे. ऊपर दस्यु संदर्भ मौसलपर्व 7, 47)।

(श) **गान्धार**

ऋग्वेद (1,126,7 गान्धारीणामिव) में गान्धार शब्द का नाम आया है। उत्तरवैदिक काल के ग्रन्थों में सिर्फ महाभारत में ही गान्धार शब्द मिलते हैं।

भीष्म ने धृतराष्ट्र के विवाह के लिए गान्धारराज सुबल के पास अपना दूत भेजा (ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास 1,109,11) गान्धारराज शकुनि गान्धार देश के पर्वतीय योद्धओं के साथ दुर्योधन को सब ओर से घेर चल रहा था (6, 20,8) सार्ध गान्धरैर्याति गान्धारराजः)। इसके अलावे और भी अन्य स्थलें (6, 45, 76 गान्धरान्, 6,51,76 गान्धरान्, 6,51,13 गान्धारा; 6,58,7 गान्धारान्, 6,71,14 गान्धारै; 6,90,30 गान्धारा युद्धदुर्मदा, 7 20,10 गान्धारा; 7,30,2 गान्धारराजस्य; 7,30,6 गान्धारानुद्यरानुद्यतायुधान, 7,34,23 गान्धारराज 8,9,78; 8,46,13 गान्धारिभिः में गान्धार सेना की चर्चा है।

(ष) **राक्षस**

मैत्रीबल जातक पृ. 70 में कहा गया है कि इनकी प्रकृति स्वभाव से ही क्रूर होती (राक्षसानां पिशाचानां वा निसर्गरौद्राप्रकृतिरिति)। स्वभाव के साथ ही इनकी आकृति भी बैडौल होती थी। शूर्पणखा की आकृति के बारे में कहा गया-उसका मुख बहुत ही भद्दा एवं कुरूप था। वह बेडौल लम्बे पेट वाली थी। उसके नेत्र कुरूप और डरावने थे, बाल ताँबे जैसे लाल थे और रूप बीभत्स और विकराल था

(अरण्यकांड 17, 9-10)। ये ब्राह्मण और यज्ञ विरोधी थे। विश्वामित्र के यज्ञ में मारीच और सुबाहु नामक दो राक्षस विध्न उपस्थित करते थे। उन दोनों ने यज्ञ वेदी पर रक्त और मांस की वर्षा की थी (बालकाण्ड 19,6)। अत: उनका विनाश करने के लिए वे दशरथ से श्रीराम को माँगने आये। श्रीराम ने इन सभी राक्षसों का वध किया (बालकांड 30, 22-23)। इन्हें देवद्रोही कहा गण है (उत्तरकांड 8, 25)।

श्रीराम ने उन्हें अनार्य कहा था। श्रीराम के रूप से मोहित होकर शूर्पणखा ने पहले तो उन्ही से प्रणय याचना की। उसकी मनोभावाओं को जानकर श्रीराम ने लक्ष्मण की ओर इशारा किया। लक्ष्मण ने कुछ परिहास करते हुए शूर्पणखा को पुन: श्रीराम की ओर इशारा किया। शूर्पणखा, सीता को खाने के लिए दौड़ी जिससे कि कोई उसका सौत न रहे। यह देखकर उन्होंने कुपित होकर लक्ष्मण से कहा-'सुमित्रानन्दन! क्रूर कर्म करने वाले अनार्यो से किसी प्रकार का परिहास नहीं करना चाहिये (क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहास: कथंचन न कार्य: 3, 18,19)।

राक्षसों में रावण, कुम्भकर्ण और विभीक्षण के नाम प्रमुख है।

राक्षस राज रावण

कैकसी पुत्र रावण के जन्म से ही दस मस्तक, बड़ी-बड़ी दाढ़ें, ताँबे जैसे ओंठ, बीस भुजाएँ, विशाल मुख,और चमकीले केश थे। उसके शरीर का रंग कोयले के पहाड़ जैसा काला था। दस ग्रीवाओं के कारण यह 'दशग्रीव' कहलाया (उत्तरकांड 9, 28-29)। उसने दस हजार वर्षो तक लगातार उपवास किया। प्रत्येक सहस्र वर्ष के पूर्ण होने पर वह अपना एक मस्तक काटकर आग में होम देता था (उत्तरकांड 4, 10, 10)। दसवाँ सहस्र पूरे होने पर जब वह अपना दसवाँ मस्तक काटने को उद्यत हुआ तो पितामह ब्रह्मा ने दिखाई देकर उसे वर माँगने को कहा। तब उसने गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस तथा देवताओं के द्वारा अवध्य होने का वरदान माँगा, क्योंकि प्राणियों को वह तिनके के समान तुच्छ समझता था (उत्तरकांड 10, 16-20)। प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे इच्छित वरदान देने के अलावे और भी वरदान देते हुए कहा—''तुमने पहले अग्नि में जिन-जिन मस्तकों का हवन किया है, सब तुम्हारे लिए फिर पूर्ववत् प्रकट हो जायेंगे। इसके सिवा एक और भी दुर्लभ वर मैं तुम्हें दे रहा हूँ-तू अपने मन से जब जैसा रूप धारण करना चाहोगे, तुम्हारी इच्छा के अनुसार उस समय तुम्हारा रूप वैसा ही हो जायेगा।' पितामह ब्रह्मा के इतना कहते ही राक्षस दशग्रीव के वे मस्तक, जो पहले आग में होम दिये गये थे, फिर नये रूप में प्रकट हो गये (उत्तर कांड 10,23-25)।

कैलाश पर्वत पर जाकर कुबेर को युद्ध में पराजित कर उसने उनके इच्छानुसार चलने वाले पुष्पक-विमान को भी अपने अधिकार में कर लिया (अरण्य. 32, 14, 1/2) पाताल जाकर नागराज वासुकि और तक्षक को भी डंसकर उसकी प्यारी पत्नी को वह हर ले आया। समाप्ति के निकट पहुँचे हुए यज्ञों का विध्वंस करने वाला वह दुष्ट निशाचर ब्राह्मणों की हत्या तथा दूसरे-दूसरे क्रूर कर्म करता था। वह बड़े ही रूखे स्वभाव का और निर्दयी था (अरण्य. 32, 14, 19-20)।

राम लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा की ये रोंगटे खड़ी कर देने वाली बातें सुनकर रावण मन्त्रियों की सलाह से अपने कर्तव्य का निश्चय करके वहाँ से चल दिया। उसने पहले सीताहरण रूपी कार्य पर विचार किया। फिर उसके दोषों और गुणों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके बलाबल का निश्चय किया।

अन्त में यह स्थिर किया कि इस काम को करना ही चाहिये। जब इस बात पर उसकी बुद्धि रम गई, तब वह रमणीय रथशाला में गया (अरण्य 35, 1-3)। रथ पर चढ़ कर वह मारीच के पास गया और श्रीराम के अपराध बताकर उनकी पत्नी सीता के अपहरण में सहायता माँगी (अरण्य 7, 36 सर्ग)। प्रारंभ में मारीच ने श्रीराम के गुण और प्रभाव बताकर सीताहरण के उद्योग से रोकना चाहा (अरण्य. 37 सर्ग)। परन्तु रावण ने मारीच को फटकार कर सीता हरण कार्य में सहायता करने की आज्ञा दी (अरण्य. 40 सर्ग) अंत में मारीच उसकी आज्ञानुसार सुवर्णमय मृगरूप धारण करके श्रीराम के आश्रम पर गया। सीता ने उसे देखकर श्रीराम से उस मृग को जीवित या मृत अवस्था में भी ले आने के लिए प्रेरित किया। सीता को लक्ष्मण के संरक्षण में छोड़ श्रीराम उस कपट मृग के पीछे गये। श्रीराम के वाणों से मरते समय योजनानुसार श्रीराम के ही समान हा सीते! हा लक्ष्मण! कह कर पुकारा। सीता के मार्मिक वचनों से प्रेरित होकर लक्ष्मण, श्रीराम के पास चले गये। इसी समय रावण साधुवेश में आया और सीता के पास जाकर उनका परिचय पूछा। सीता ने उसे आतिथ्य के लिए आमन्त्रित किया। रावण ने उन्हें अपनी पटरानी बनाने की इच्छा प्रकट की, इस पर सीता ने उसे बहुत फटकारा। इस पर अपने शरीर को बड़ा बनाकर, अपने राक्षस रूप को धारण कर बलपूर्वक सीता को उठा लिया (अरण्य 42-49 सर्ग)। सीता उनकी कैद से अपने को छुड़ाने के लिए चोट खाई नागिन की तरह रथ पर छटपटा रही थी। सीता की करूण पुकार सुन जटायु ने पहले तो रावण को समझाया। अन्त में दोनों में घोर युद्ध हुआ। रावण ने जटायु के दोनों पंख, पैर तथा पार्श्वभाग काट डाले (3, 51, 42)।

लंका पहुँच कर उसने सीता को अन्तः पुर में रखकर अपनी भार्या बनने के लिए समझाया। सीता ने जब रावण को फटकारा तब राक्षसियों के बीच अशोकवाटिका में रखा (अरण्य 56 सर्ग)। अपने वानर मित्रों की सहायता से श्रीराम ने लंका पर आक्रमण किया। रावण ने पहले तो पुत्र इन्द्रजित और भाई कुम्भकर्ण और पक्ष के महारथियों को युद्ध में भेजा। वे सब किसी न किसी के द्वारा मारे गये। अन्त में स्वयं श्रीराम से युद्ध करने आया और इन्हीं के हाथों मारा गया (5, 108,22)।

कुम्भकर्ण

रावण के छोटे भाई कुम्भकर्ण ने भी दस हजार वर्षो तक तपस्या की थी। तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने वरदान देते हुए सरस्वती से कहा 'वाणी! तुम राक्षसराज कुम्भकर्ण की जिह्वा पर विराजमान हो देवताओं के अनुकूल वाणी के रूप में प्रकट होओ। तब सरस्वती कुम्भकर्ण के मुख में समा गई। इसके बाद प्रजापति ने उस राक्षस से कहा महाबाहु कुम्भकर्ण! तुम भी अपने मन के अनुकूल कोई वर माँगो। इस पर कुम्भकर्ण ने वर्षो तक सोने का वरदान माँगा (उत्तर. 10,42-45)। कुछ काल बीतने पर ब्रह्माजी की भेजी हुई निद्रा जँभाई आदि के रूप में मूर्तिमती हो कुम्भकर्ण के भीतर तीव्र वेग से प्रकट हुई। उसे नींद सताने लगी। रावण द्वारा बनाये शयनागार में जाकर हजारों वर्ष सोता रहा (उत्तर. 12, 1-7)।

अपनी पराजय से दुःखी होकर रावण की आज्ञा से कुम्भकर्ण को बहुत मुश्किल से जगाया गया। उसके शरीर पर हजारों हाथी दौड़ाये गये थे (6, 60, 55)। कुम्भकर्ण ने सर्वप्रथम सीताहरण के कुकृत्य के लिए उपालम्भ दिया। युद्ध के समय वह छः सौ धनुष के बराबर विस्तृत और सौ धनुष के बराबर ऊँचा हो गया। उसकी आँखें दो गाड़ी के पहियों के समान जान पड़ती थी। वह विशाल पर्वत के समान दिखाई देता था (6,65,41) उसने अनेक वानरों को रौंद दिया। द्विविद एवं हनुमान, ऋषभ, नील, गवाक्ष,

गन्धमादन ने कुम्भकर्ण को पर्वतों, वृक्षों, थप्पड़ों, लातों और मुक्कों से प्रहार किया (वही 67, 25)। इसके बाद एक हजार वानरों ने उस पर आक्रमण किया। कुम्भकर्ण ने इन सब को परास्त किया। अंगद को उसने मूर्च्छित किया। इसे देख सुग्रीव ने दौड़ कर राक्षस पर शैल शिखर को घुमाकर उसके ऊपर छोड़ा। इस पर क्रोधित कुम्भकर्ण ने सुग्रीव को उठा लिया और लंका की ओर चल पड़ा। अपने कान और नाक सुग्रीव के दाँत और नखों से नोचे जाने पर उसने सुग्रीव को भूमि पर पटक दिया। परन्तु इसी समय सुग्रीव वेगपूर्वक आकाश में उछलकर श्रीराम के पास आ गये (6, 67,88)। कुम्भकर्ण फिर युद्ध के लिए निकला। उस समय उसे भूख लगी थी। वानर सेना में प्रवेश कर उन्हें खाना शुरू किया। इसे देखकर लक्ष्मण उससे युद्ध करने आये। परन्तु उसका अनादर करते हुए श्रीराम पर ही धावा किया। दोनों के बीच घोर युद्ध हुआ और अन्त में श्रीराम के वाणों से उसका वध हुआ (6, 67,116-168)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी वानर प्रमुखों (हनुमान समेत) लक्ष्मण और अन्त में स्वयं श्रीराम को इसके वध के लिए धनुष उठाना पड़ा।

विभीषण

ये रावण के तीसरे भाई थे। इन्होंने भी नित्यधर्म परायण रहकर शुद्ध आचार-विचार का पालन करते हुए पाँच हजार वर्षो तक एक पैर से खड़े रहकर तपस्या की (उत्तरकांड 10,6)। ब्रह्मा से उन्होंने वरदान माँगा ''भगवन्! बड़ी से बड़ी आपत्ति पड़ने पर भी मेरी बुद्धि धर्म में ही लगी रहे, और बिना सीखे ही मुझे ब्रह्मास्त्र का ज्ञान हो जाये। जिस जिस आश्रम के विषय में मेरा जो-जो विचार हो, वह धर्म के अनुकूल ही हो, और धर्म का मैं पालन करूँ, यही मेरे लिए सबसे उत्तम और अभीष्ट वरदान है (उत्तर. 10,30-32)। धर्म के तत्व को जानने वाली गन्धर्व राज शैलूष की कन्या सरमा से विभीषण का विवाह हुआ (7, 12, 24)।

जब रावण सीता का हरण कर उसे लंका लाया, तो श्रीराम ने वानरों सहित लंका पर धावा वोल दिया। विभीषण ने राम को अजेय बताकर उनके पास सीता को लौटा देने की सलाह दी (6,14 सर्ग)। उनकी बातों को सुनकर सर्वप्रथम इन्द्रजीत ने उनका उपहास किया। इस पर विभीषण ने उसे सभा में अपनी उचित सम्मत्ति दी (6, 15 सर्ग)। रावण ने भी उसे श्रीराम का पक्ष लेने के कारण तिरस्कार किया, इस पर वे वहाँ से तिरस्कृत होकर चल दिये (6, 16 सर्ग) और श्रीराम और लक्ष्मण की शरण में आये। प्रारंभ में सुग्रीव आदि श्रेष्ठ वानरों ने उसे रावण का ही पक्ष का समझ कर उसका वध करना चाहा। वे ऐसा सोच ही रहे थे कि आकाश से ही इस प्रकार कहा—

''रावण नामक जो दुराचारी राक्षस निशाचरों का राजा है, उसी का मैं छोटा भाई हूँ। मेरा नाम विभीषण है। रावण ने जटायु को मारकर सीता को रोक रखा है। इन दिनों सीता राक्षसियों के पहरे में रहती है। मैं ने भाँति-भाँति के युक्तिसंगत वचनों द्वारा उसे बारंबार समझाया कि तुम श्रीराम की सेवा में सीता को सादर लौटा दो इसी में भलाई है। यद्यपि मैंने यह बात उसके हित के लिए ही कही थी, तथापि काल से प्रेरित होकर रावण ने मेरी बात नहीं सुनी। ठीक उसी प्रकार जैसे मरणासन्न पुरुष औषधि नहीं लेता। यही नहीं उसने मुझे बहुत सी कठोर बातें सुनायी और दास के समान मेरा अपमान किया। इसलिए मैं अपने स्त्री-पुत्रों को वहीं छोड़कर श्रीरघुनाथजी की शरण में आया हूँ (6,1712-16)

यह सुनकर शरणागत की रक्षा का महत्व एवं अपना व्रत बताकर श्रीराम विभीषण से मिले (6, 18, 39)। उनके पूछने पर रावण की शक्ति का परिचय दिया। यह सुनकर श्रीराम ने रावण वध करके उन्हें लंकाधिपति बनाने की प्रतिज्ञा की। श्रीराम के इन वचनों को सुनकर विभीषण ने कहा— प्रभो! राक्षसों के संहार में और लंका पर आक्रमण करके उसे जीतने में मैं आपकी यथाशक्ति सहायता करूँगा तथा प्राणों की बाजी लगाकर युद्ध के लिए रावण की सेना में भी प्रवेश करूँगा (6, 19, 23)। उन्होंने अपने वचन का पालन किया भी। उन्होंने श्रीराम को इन्द्रजित की माया का रहस्य बताकर, सीता के जीवित होने का विश्वास दिलाया। उन्होंने सेना सहित लक्ष्मण को निकुम्भिला मन्दिर जाने का अनुरोध किया। विभीषण के ही अनुरोध पर श्रीराम ने लक्ष्मण को इन्द्रजित के वध के लिए निकुम्भिला मन्दिर भेजा (6,84-85 सर्ग)। लक्ष्मण को देखकर इन्द्रजित और विभीषण में रोषपूर्ण बातचीत हुई (6, 87 सर्ग)। युद्ध में विभीषण ने राक्षसों पर प्रहार किया, वानर यूथपतियों को प्रोत्साहन दिया (6,89 सर्ग)। लक्ष्मण द्वारा इन्द्रजित का वध होने पर यह शुभ समाचार देने, लक्ष्मण के साथ विभीषण भी श्रीराम के पास आये। रावण वध के बाद श्रीराम ने विभीषण को लंका की गद्दी पर बैठया (6, 112,14-16) परन्तु इसके पहले विभीषण ने रावण की अन्त्येष्टि भी की।

श्रीराम की आज्ञा से विभीषण ने ही सीता को उनके पास लाया (6, 114 सर्ग)। श्रीराम के लिए उन्होंने विमान मंगाया। उन्होंने सभी वानरों को रत्न और धन देकर उनका पूजन किया (6, 122,10)। इसके बाद विभीषण के साथ ही श्रीराम पुष्पक विमान से अयोध्या आये।

अरण्यकांड में हम पाते हैं कि श्रीराम ने अपने वनवास की अवधि में अनेक राक्षसों का वध किया था। विराध नामक राक्षस ने श्रीराम, लक्ष्मण और सीता पर आक्रमण किया और सीता को गोद में ले लिया। यह देखकर श्रीराम क्रोधित हो उठे और लक्ष्मण सहित उसे मार गिराया (4 था सर्ग)। इसके बाद वे तीनों आगे बढ़े और पंचवटी में पर्णशाला बना कर रहने लगे। एक दिन सूर्पणखा राक्षसी, उनका परिचय जानने के बाद, अपना परिचय देकर उनसे अपने को भार्या के रूप में ग्रहण करने के लिए अनुरोध किया। श्रीराम के टाल देने पर उसने लक्ष्मण से प्रणययाचना की। उनके भी टालने पर सीता पर आक्रमण किया। लक्ष्मण ने क्रोध में आकर उसके नाक-कान काट डाले (17, 18 सर्ग) सूर्पणखा के मुंख से उसकी दुर्दशा का वृतान्त सुनकर क्रोध में भरे हुए खर ने श्रीराम आदि के वध के लिए चौदह राक्षसों को भेजा और श्रीराम ने उन चौदहों राक्षसों का वध किया (20 सर्ग)। उन राक्षसों के वध को जानकर चौदह हजार राक्षसों की सेना के साथ खर-दूषण जनस्थान से पंचवटी आये (समानान्तर स्थल विष्णु पुराण 4 अंश पृ. 108)। श्रीराम और राक्षसों के बीच घनघोर युद्ध हुआ और दूषण सहित सभी राक्षस उनके हाथों मारे गये (26 सर्ग)। चौदह हजार राक्षसों के वध से क्रुध खर श्रीराम से युद्ध करने सामने आया। परन्तु इसी बीच त्रिशिरा ने श्रीराम से युद्ध करने की इच्छा प्रकट की। युद्ध में श्रीराम द्वारा उसका वध हुआ (27, 18)। इसके बाद तो खर के साथ श्रीराम की घमासान लड़ाई हुई और खर को भी मार गिराया (30, 27)। रावण ने मारीच की सहायता से सीता के अपहरण की योजना बनाई। ना नुकुर करने के बाद मारीच कपटमृग बन कर आश्रम के पास ही विचरने लगा। सीता जी की मृग के प्रति उत्कंठा देखकर श्रीराम उसकी ओर ही चल पड़े और अन्त में कपटी मृग मारीच राक्षस का वध किया (44, 16)। मरते समय सीते! हा लक्ष्मण! कहकर पुकारा। सीता के मार्मिक वचनों से प्रेरित होकर लक्ष्मण श्रीराम के पास गये। इसी बीच राक्षस रावण ने सीता का अपहरण कर लिया (40, 22)।

सीता की खोज करते समय दोनों भाईयों ने क्रमश: कबन्ध राक्षस की दोनों भुजाएँ काट दीं, क्योंकि उसने उन दोनों के रास्ते रोक रखा था (अरण्यकांड 70, 10)। इन्द्र ने उस राक्षस की एक-एक योजन भुजाएँ लम्बी कर दी, और उसके पेट में तीखे दाढ़ों वाला एक मुँह बना दिया था। उसने ही सुग्रीव का नाम बताया, जो सीता को खोजने में मदद करेगा। सुग्रीव के बड़े भाई बालि ने दुन्दुभि नामक राक्षस को मारा (किष्किन्धाकांड 11,46)। सीता की खोज में भ्रमण करते वानरों को भयानक कार्य करने वाला एक असुर दिखाई पड़ा (किष्किन्धाकांड 48, 17 भीमकर्माणमसुर)। रावण समझ कर बालि पुत्र अंगद ने उसे एक तमाचा जड़ दिया और उसके प्राण पखेरू उड़ गये (किष्किन्धा 48, 21)। मय दानव का वर्णन रामायण में भी मिलता है। एक वृद्धा तापसी ने हनुमान को बताया कि अपनी माया के प्रभाव से मय ने समूचे स्वर्णमय वन का निर्माण किया था। उसका हेमा नाम की अप्सरा के साथ सम्पर्क हो गया। यह जानकर इन्द्र ने हाथ में वज्र ले उसके साथ युद्ध करके मार भगाया (किष्किन्धाकांड 51,14)। हनुमान ने प्रमदवन के फाटक पर रखे हुए लोहे के परिध से कंकर नामधारी राक्षसों का वध किया जो सब ओर से हनुमान को मारने के लिए टूट पड़े थे (सुन्दरकांड 42, 41)। उसने चैत्यप्रासाद के रक्षक अनेकों राक्षसों को सौ धार वाले खम्भे से मार डाला (वही, 43, 41), इसके बाद जम्बुमाली राक्षस, हनुमान से युद्ध करने आया और वह भी उससे मारा गया (वही 44, 18)। जम्बुमाली और किंकरों के मारे जाने से क्रुद्ध रावण ने अपने मंत्री के सात पुत्रों को भेजा। हनुमान द्वारा सब मारे गये (वही 45, 13)। यह जानकर रावण ने अपने पाँच सेनापतियों को हनुमान से लड़ने भेजा, उनका भी वही हाल हुआ (वही, 46,39-41)। उनके वध का समाचार सुनकर रावण ने अपने पुत्र अक्षकुमार को युद्ध के लिए भेजा। हनुमान ने उस राक्षस को हजारों बार घुमाकर भूमि पर पटक कर मार डाला (वही, 47, 35)। युद्धकाण्ड में धूम्राक्ष और हनुमान के युद्ध का वर्णन है, जिसे हनुमान ने मार डाला (52,36) धूम्राक्ष को मार कर वानर सेना ने लंका में प्रवेश किया। वानरों और राक्षसों का घोर युद्ध हुआ। राक्षसों से युद्ध करते हुए अंगद ने उनके सेनापति बज्रदंष्ट्र को मार गिराया (युद्धकांड 54, 35)। नील ने प्रहस्त का वध किया (वही 58, 54)। प्रहस्त के मारे जाने से दुःखी हुए रावण ने अपने भाई कुम्भकर्ण को युद्ध के लिए भेजा, वह राम के हाथों मारा गया (युद्धकांड 67,168)। कुम्भकर्ण के मारे जाने पर रावण ने बहुत विलाप किया। उसने अपने अन्य अन्य पुत्रों को समर के लिए भेजा सभी नरान्तक सहित मारे गये (युद्ध, 69, 94)। हुनमान द्वारा देवान्तक और त्रिशिरा का नील कें द्वारा महोदर का तथा ऋषभ द्वारा महापार्श्व का वध हुआ (युद्ध 70 सर्ग)। लक्ष्मण ने इन्द्र शत्रु अतिकाय का वध किया (युद्ध 71,111)। अंगद द्वारा कम्पन और प्रजंघ, द्विविद के द्वारा शोणिताक्ष का, मैन्द के द्वारा यूपाक्ष का और सुग्रीव द्वारा कुम्भ का वध (युद्ध 76 सर्ग) हुआ।

श्रीराम द्वारा मकराक्ष का वध (6,77, 20; 74, 29), लक्ष्मण द्वारा इन्द्रजित वध (वही 90, 71)। सुग्रीव द्वारा विरूपाक्ष और महोदर वध (वही 96, और 97 सर्ग), अंगद द्वारा महापार्श्व वध (वही 98,22), और श्रीराम रावण वध (वही 108,22) शत्रुघ्न द्वारा लवण वध (हरिवंश 41,140 और 54)। इस प्रकार युद्ध में श्रीराम एवं उनके सहयोगियों द्वारा अनेक राक्षस मारे गये।

महाभारत के युद्ध में भी अनेक राक्षसों ने भाग लिया परन्तु सब मारे गये। घटोत्कच ने पांडवों की ओर से युद्ध किया, और जटासुर के पुत्र अलम्बुष ने कौरवों का साथ दिया। अलम्बुष ने अर्जुन पुत्र

इरावान् का वध किया (6, 90,77)। उसने भीमसेन के संग भी युद्ध किया था (7,108,13-43)। घटोत्कच और अलम्बुष ने परस्पर युद्ध किया ओर घटोत्कच ने उसे मार डाला (7, 174 अध्याय समानान्तर स्थल 7, 109, 28)।

अलायुध नामक पराक्रमी राक्षस के साथ घटोत्कच का भी युद्ध हुआ। अलायुद्ध द्वारा घटोत्कच को पराजित होते देखकर भीमसेन अलायुद्ध से भिड़ गया। दोनों में घोर युद्ध होने लगा। श्रीकृष्ण के आदेश से घटोत्कच भीमसेन की सहायता के लिए गया। फिर तो घटोत्कच और अलायुध के युद्ध में घटोत्कच ने अलायुध को पकड़ कर उसे घुमाकर बलपूर्वक पटक दिया। फिर उसके विशाल मस्तक को उसने काट डाला (7,178,31)। अलम्बुष और अलायुध को मारने वाले घटोत्कच, कर्ण से युद्ध करते समय, उसके द्वारा चलाई गई इन्द्रप्रदत्त शक्ति से मारा गया (7,179,58)।

VII. संस्कृत साहित्य में जनजातियाँ

वेदों, पुराणों रामायण और महाभारत में जिस प्रकार अनार्य जातियाँ पाई जाती थीं, उसी प्रकार कथा साहित्य में भी यत्र-तत्र इनकी चर्चा है।

1. मित्रभेद में मछलियों के वार्तालाप के संदर्भ में मछुओं का नाम आया है (तन्नूनं प्रभातसमये मत्स्यजीविनोऽत्र समागम्य मत्स्यसंचयं करिष्यन्ति-कथा 4)। इसी प्रकार मित्रसम्प्राप्ति में एक भील का वर्णन है जो शिकार के लिए वन गया (अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे कश्चित्पुलिन्दः कथा -3)। कथासरित्सागर में एक सँपरे भील का नाम है, जिसने राजा सहस्रीक को उदय पर्वत पर साँप पकड़ने का वृतान्त सुनाया था (कटक प्राप्तिवृतान्तं शबरः स जगाद तम्, द्वितीय श्लोक संख्या 86)। राजा श्रीदत्त ने भीलाधिपति का पुत्री से विवाह किया था (शबराधिपते, सुता गान्धर्वविधिना गुप्तं भार्यां व्यथित सुन्दरीम् 2, 146) जीमूत वाहन के पूर्वजन्म की कथा के प्रसंग में निषादराज के पुत्रों, उसकी एक पुत्री का भी नाम आया है (दाशपते सुताः 5, 137, अस्त्येषां दाशपुत्राणां नाम्ना विन्दुमती स्वसा 5, 150)। इसी कथा सारित सागर में श्रीदत्त राजा ने बहेलियों से मृगनयनी का समाचार पूछा था (2, 153)। उल्लू, नेवला, बिल्ली और चूहे की कथा में बहेलिए के निकट आने पर चूहे ने तुरन्त जाल के बन्धन काट डाले (6, 127)।

2. गद्य साहित्य में वर्णित अनार्य

दण्डी द्वारा रचित दशकुमार चरित में उपहार वर्मा और वृद्धा के वार्तालाप के संदर्भ में जंगली शबरों की चर्चा है। वृद्धा ने उसे बताया कि जब प्रहारवर्मा जंगल से होकर जा रहे थे तो शबरों ने उसे लूट लिया। ''मेरी गोद में उपहारवर्मा का छोटा लड़का था। मैं उसे शबरों के वाणों से बचाने के लिए जंगल में भाग गयी। राजा का दूसरा पुत्र किराताधिपति के हाथों में गया। फिर किसी जंगली ने बेटी का इलाज किया (लुब्धकलुप्तसर्वस्य अभूत। तत्सुतेन च कनीयसा हस्तवर्तिना सहैका वनचर शरवर्षभय पलायिता वनमगाहिषि। भिल्लदारकैः सः बालः अपाहारि ˙ ˙ ˙ आदि तृतीय उच्छ्वास पृ. 104)।

अष्टमोच्छ्वान में नालीजंघ और सुश्रुत जब बात कर ही रहे थे उसी समय किसी बहेलिए के तीन वाणों से बचकर निकले हुए दो हिरण आ पड़े साथ में बहेलिया भी था (तावदापतितौ च कस्यापि व्याधस्य त्रीधिषूनतीत्य द्वौ मृगौ स च व्याधः पृ. 296)। सुश्रुत ने उस बहेलिए से पूछा-''क्या माहिष्मती

का समाचार जानते हो? वह बोला—''क्या माहिष्मती का समाचार जानते हो? वह बोला-'वहाँ बाघ की खाल और चमड़े के थैले बेचकर आज ही आया हूँ क्यों न जानूँगा? तत्र व्याघ्रत्वचो दृतीश्च विक्रीय अद्य एवागत। किं न जानामि पृ. 270)।

वनवासी नरेश की चर्चा भी हुई है दे. वही पृ. 266-67 अयं च वानवास्य: प्रिय मे मित्रम्! वानवास्यं केनचिदंशेनानुगृह्य . . . . अकरोत्।

वाणभट्ट की कादम्बरी में भी शबर का उल्लेख मिलता है शबरवृन्दै: परिवृतम्, मातंगनामानं शबरसेनापतिम् अपश्यम् पूर्वभाग पृ. 63। जाबालि के आश्रम में एक चाण्डाल रहता था। जब श्वेतकेतु ने पूछा-भद्र कस्त्वम्? उसने उत्तर दिया-महात्मन् अहं खलु क्रूरकर्मा जात्या चाण्डाल: उत्तर भाग पृ. 589। चाण्डालकन्या को आई देख प्रतीहारी ने कहा-दक्षिणपथादागता चाण्डालकन्यका पंजरस्य शुकमादाय देवं विज्ञापयति पूर्व भाग पृ. 16।

कालिदास की रचनाओं में वर्णित अनार्य

कालिदास (प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) ने अपनी विभिन्न रचनाओं में वन में रहने वाले वनवासियों का उल्लेख किया है। बहेलिए जंगलों में रहकर चिड़ियों का शिकार करते थे, क्योंकि यही उनकी जीविका का साधन था। अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में हम विदूषक को यह कहते हुए पाते हैं— महत्येव प्रत्यूषे दास्या: पुत्रै: शकुनिलुब्धै: वनग्रहणकोलाहलेन प्रतिबोधित: अस्मि (द्वितीय अंक पृ. 98)। अर्थात् मैं बहुत सबेरे नीच पक्षियों के लोभी नीच बहेलियों के वन को घेरने के कोलाहल से जगा दिया जाता हूँ।

कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् के छठे अंक में एक धीवर का उल्लेख है। प्रसंग इस प्रकार है कि ऋषि दुर्वासा के शाप के कारण राजा दुष्यन्त, शकुन्तला को भूल चके थे। गर्भवती जानकर आश्रम के कुछ तपस्वी उसे, दुष्यन्त के पास पहुँचा दे रहे थे। राजा द्वारा प्रदत्त सोने की अँगूठी शकुंतला ने अंगुली में पहना था। शक्रावतार नामक तीर्थ में चेहरा धोने के समय अँगूठी नदी में गिर गई। शकुन्तला को इसका पता नही चला। जब एक मछुवे ने वहाँ की मछली पकड़ कर उसका पेट फाड़ा तो सोने की अँगूठी मिली, जिसमें दुष्यन्त नाम लिखा हुआ था। बाजार में जब वह अँगूठी बेच रहा था तब राजा के सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया। उसने सिपाहियों को अपने बारे में बताया—''मै शक्रावतार (नामक तीर्थ) पर रहने वाला धीवर हूँ। मैं जाल-काँटा आदि मछली पकड़ने के साधनों से अपने कुटुम्ब का पालन करता हूँ (अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवर:। अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायै: कुटुम्बभरणं करोमि पृष्ठ 332-333)।''

मेघदूत में किन्नरों का नाम आया है, जो हिमालय पर्वत पर निवास करते थे। ये लोग संगीत-प्रिय होते थे। मेघ को किन्नरों के बारे बताते हुए कहता है.

संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभि:।

पूर्वमेघ श्लोक संख्या 60

''किन्नरों की स्त्रियाँ भी स्वर मिलाकर त्रिपुर विजय का गीत गाने लगती है।''

रघुवंश में किरात का नाम वर्णित है— गजवर्ष्म किरातेभ्य: शशंसुर्देवदारव 4,76। रघु जब

हिमालय को पार कर बह्मपुत्र की तराई में पहुँचे तो उस की सेना वाण चलाती थी और पहाड़ी लोग पत्थर चलाते थे। इस प्रकार जब लोहे और पत्थर की भिड़न्त हो जाती थी, तो कभी-कभी आग उत्पन्न हो जाती थी-नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानभम् 4,77। इस प्रकार वाण बरसा कर उत्सवसंकेत नामक पहाड़ियों के छक्के छुड़ा दिये, तो किन्नरों ने मिलकर रघु की वीरता के गीत गाये (4, 78)।

इस प्रकार समस्त संस्कृत साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि अनार्य, आर्यो से पहले किसी न किसी रूप में रहते थे, भले ही उनका नाम वेदों अथवा विभिन्न ग्रन्थों में अलग-अलग था।

मैत्रीबल जातक (पृ. 70) में एक वनचारी गोपालक (ग्वाले) का वर्णन है, जिसे यक्षों ने एक छाँहदार वृक्ष के मूल में हरी दूब पर बैठा हुआ देखा। वह जूते पहने हुए था तथा जंगली वृक्षों के फूलों और पल्लवों से बनी माला धारण कर रहा था। अपनी दांई ओर लाठी और कुल्हाड़ी रखकर वह अकेला ही रस्सी बाँटने में लगा हुआ था और स्वर कम्प के साथ गीत गा रहा था।

हंस जातक में व्याध का वर्णन इस रूप में किया गया है। एक बार वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक राजा रहते थे। उनके सरोवर में दो हंस आये। तब राजा ने व्याधों के बीच पक्षी पकड़ने के कार्य में प्रसिद्ध निपुण व्याध को खोजकर उन हंसों को पकड़ने का सादर आदेश दिया। उसने कहा-ऐसा ही होगा यह प्रतिज्ञा की और उन दो हंसों के गोचर और विचरण के स्थानों का अच्छी तरह पता लगाकर, वहाँ सुदृढ़ गुप्त फन्दे लगाये। निषाद को आते देखकर, दोनों श्रेष्ठ हंस चुप हो गये। हंसों के उस झुंड को उड़ा हुआ देखकर अवश्य ही कोई यहाँ फंसा है, यह सोचकर फन्द के स्थानों को खोजते हुए उसने उन श्रेष्ठ हंसों को देखा (पृ. 224-226)। यद्यपि उसका हृदय क्रूर कर्म करते-करते कठोर हो गया था तथापि उसके स्वामिभक्त वचनों को सुनकर उसका हृदय द्रवीभूत हो गया और उसने सुमुख से कहा—"साधु साधु! हे महाभाग कहते हुए हंस राज को दया पूर्वक बन्धन मुक्त किया (अथ स नैषादः क्रूरताभ्यास कठिन हृदयोऽपि ··· सुमुखमुवाच-साधु साधु महाभाग! पृ. 228)।

शशजातक (श्लोक 26, पृ. 53) में मछलियों के संदर्भ में मछुओं का नाम आया है)।

VIII. कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी, किरात, आटविक, म्लेच्छों का वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (1, 21, 18, 3) के अनुसार राजा जब शयनगृह से निकलकर तीसरे कमरे में पहुँचता है, तो किरात उसकी सेवा करते हैं। गूढपुरुषों की नियुक्ति में राजा वनों की रक्षा के लिए वनवासियों की नियुक्ति करता था (1, 12,7,25 वने वनचराः)। कौटिल्य राजा को सलाह देते हैं कि अपने जनपद के मध्यभागों की रक्षा का भार व्याध, शबर, पुलिन्द, भील, चाण्डाल तथा अन्य वनवासी पुरुषों के अधीन कर दे (2, 19,7,1)। जब राजा यह समझ ले कि मैं अपनी सेना और मित्र तथा वनवासी वीरों की सेना को लेकर बराबर शक्तिवाले या अधिक शक्तिशाली को कुछ हानि पहुँचा सकता हूँ, तब दुर्ग और राष्ट्र का प्रबन्ध करके प्रथम युद्ध करे और फिर सन्धि कर ले (3, 4, 8, 2 यदि वा पश्येत्स्व दडैर्मित्राटवीदण्डैर्वा ···· विगृह्यासीत्)। जब राजा को ऐसी परिस्थिति दिखाई दे कि शत्रु के मन्त्री, आमात्य आदि अपने देश के चोर और वन के भील आदि लोगों से दबाये हुए है, तो युद्ध करे (3, 7, 4, 10)। और दूसरी परिस्थिति में भी युद्ध करे-जब वह सोच ले कि जब मैं युद्ध छेड़ दूँगा तो इससे बिगड़े हुए शत्रु या वनचर भील आदि का विग्रह नहीं कर सकेगा दूष्वामित्राटवीनिग्रहं वा विगृहीतो नप

करिष्यति (3, 7, 4, 16)। आटविक सेना के विषय कौटिल्य इस प्रकार लिखते हैं—''इसी तरह आटविक सेना को युद्ध में भेजने का समय समझना चाहिये। आटविक सेना शत्रु पर जाने के समय मार्ग बताने में बड़ी काम आती है। यह शत्रु से युद्ध करने योग्य शस्त्रों का अच्छा प्रयोग जानती है। शत्रु भी वनचर भीलों की सेना अधिक लाया है अतः इसी समय एक बिल्व को दूसरे बिल्व से फोड़ देने के समान दोनों आटविक सेनाओं को भिड़ा देना चाहिये। शत्रु के तृण, घास आदि वस्तुओं को यदि नष्ट भ्रष्ट कर देना है, तो इस दशा में राजा आटविक सेना का प्रयोग करे- यही समय इस सेना के प्रयोग का है (2,9,2,24-25)।

राजा को मित्रबल का उपयोग कब करना चाहिये, इसके लिए कौटिल्य कहते है—''जब राजा समझ ले कि अपने मित्रबल के साथ प्रथम आटविक (वनचर) लोगों की सेना या नगर की सेना तथा आसार से लड़ाकर फिर अपनी सेना से लड़ाऊँगा (2, 4, 2, 17 मित्रबलेन वा पूर्वमटवीनगरस्थानमासारं . . . . . योधयिष्यामि)। अथवा मैं दूसरे शत्रु की नगर सेना या आटविक सेना से उसे लड़ा दूँगा (2, 9, 2, 20 प्रभुतं मे शत्रुबलेन योधयिष्यामि नगर स्थानमटवीं वा)। अपने आसार आरि या वनचरों के मध्य में जो कंटक है, उनका भी इस समय इस तरह शोधन करा दूँगा (2, 2, 22)।

कौटिल्य यह भी कहते हैं कि आर्यपुरुषों से युक्त शत्रुबल भी अब्वीबल से श्रेष्ठ है। ये दोनों सेना तो लूट-मार करने के काम आती हैं। यदि लूट का माल उन्हें न मिले और कभी कोई राजा पर संकट आ जाये तो ये दोनों सेना सर्प का सा भय खड़ा कर देती हैं (2, 9, 2, 40-42)। राष्ट्र के प्रधान व्यक्ति, अन्तपाल, आटविक, दंडद्वारा वश में किया हुआ राजा-इन के द्वारा खड़ा हुआ उपद्रव वाक्य, कोप कहलाता है। इनके उपद्रव को शान्त करने का यह बबड़ा सरल उपाय है कि उनको परस्पर लड़ा देवे (3, 9, 3, 27-28) अपने किसी दृढ़ दुर्ग के अभिमान से अकड़े हुए अन्तपाल आदि को किसी सामन्त आटविक या उसके वंशज या अपने बन्धन में लिए हुए उनके किसी प्रेमी के द्वारा उसे पकड़वा लेवे (5, 6, 3, 29)।

दुष्ट मंत्री के षड्यन्त्र के बारे कौटिल्य लिखते हैं-''यदि अन्तपाल ने मेरी बात मान ली, तो मैं अपने शत्रु और वनचरों से इसका युद्ध करवा दूँगा ((3, 6, 3, 5, 8)। मेरा चक्कर बैठ गया तो स्वयं राज्य पर अधिकार कर लूँगा। इनको बंधन में डाल कर वाह्य अधिकारी अन्तपाल या आटविक तथा अपने स्वामी, इन दोनों की भूमि का मैं ही अधिकारी बन जाऊँगा (3, 9,3, 64)।

राजा को युद्ध की सलाह देते हुए कौटिल्य और आगे लिखते हैं— कि अपने से छुपे हुए बिगड़े हुए राजा, दबे हुए शत्रु और आटविक लोगों की प्रबलता से प्रथम शत्रु को थका कर, आप अश्रांत हुए शत्रु का आघात करें (3, 10, 3, 15)। जो राजा अपनी विजय चाहता है, तो किसी देश के एक प्रान्त, वीर श्रेणी और वनवासी भीलों को अपनी सहायता के लिए जीतकर उनका आश्रय लेवे (2, 13, 3, 4)। इसी तरह किसी अमात्य या आटविक लोगों को शत्रु के देश में गुप्तचर के रूप में भेजा जा सकता है (2, 13, 3, 7)।

विजेता राजा शत्रु से मित्रता करके अपने अमात्यों का अपमान कर देवे। जब वह अमात्य शत्रु के यहाँ चला जाये तो कपटी, गुप्तचर, विरक्त, भीतर से दुष्ट, शक्तिहीन चोर या भीलों को शत्रु राजा

के सहायक बनाकर प्रस्तुत करे (2, 13, 3, 15)। वह अपमानित अमात्य, शत्रु राजा से कहे कि तुम्हारे अमुक-अमुक अन्तपाल, आटविक या सेनापति निश्चय शत्रु से मिल गये हैं, फिर कुछ बनावटी पत्र पकड़वा कर इनको शत्रु राजा द्वारा मरवा डाले (2, 13, 3, 7-9)। आटविकों के वध के विषय कौटिल्य ने लिखा है— ''इसी तरह कंटक शोधन प्रकरण में तथा यहाँ कहे हुए गुप्तचर ही जंगली जातियों के साथ व्यवहार करने के उपयोगी हो सकते हैं। वन के समीप किसी गोशाला में राजा के गुप्तचर पहुँचे और वहाँ के चोरों से किसी व्यापारी के झुंड को लूटवाये। जब आटविकों को इन पर विश्वास हो जाये तब संकेत के अनुसार भोजन अथवा पान के विष मिलाकर वहाँ से चम्पत हो जाय (3, 13, 3, 67-68)। अथवा शराब बेचने वाले के रूप में फिरने वाले गुप्तचर, देवता, प्रेतकार्य उत्सव समाज के बहाने वनवासी लुटेरों को शराब अधिक बिकने के उपहार में धतुरे के विष में मिली हुई शराब पिला देवे और उनको इसी तरह पकड़ ले (4, 13, 3, 72)। जब जंगली लुटेरे गाँव के घात के लिए आक्रमण करें तो गुप्तचर' उनको अनेक उपायों से धोखे में डाल कर मरवा दें। इस प्रकार जंगली लुटेरों में भी गुप्तचर छोड़े जा सकते हैं। (4, 13, 3, 74)।

विजयाभिलाषी राजा के लिए कौटिल्य कहते हैं कि वह वनचर भील को बुलावे और उसे शत्रु के विरुद्ध उत्तेजित करे कि तुम इस पर चढ़ाई करके इसकी भूमि छीन लो। जब वह चढ़ाई कर दे तो उसके अमात्य या दूषित मुख्य सेनापति आदि के द्वारा तथा विष प्रयोग से मरवा देवे (4, 13, 4, 58-50)। अपने दूषित पुरुष या वनचर भीलों के अपकार का बहाना बनाकर उन पर थोड़ी सी सेना लेकर चढ़ाई कर दे और घेरा डालकर उनके दुर्ग छीन ले (4, 13, 3, 66 अपकारयित्वा दूष्याटविकेषु वा बलैकदेशमतिनीय दुर्गमवस्कन्देन हारयेत)।

कौटिल्य के समाज में राजा, किरात और म्लेच्छ स्त्री पुरुषों को शत्रुओं के भोजन या शरीर में कालकूट देने के लिए प्रयुक्त करता था—

कालकूटादि: विषवर्ग: श्रद्धेयदेशवेषशिल्पभाजनापदेशै: कुब्जवामन किरात मूकबधिर-जडान्धच्छद्मभि: म्लेच्छजातीयीयैरभि प्रेतै: स्त्रीभि: पुंभिश्च परशरीरोपभोगेष्वधातव्य: (11, 14, 1, 2)।

(राजा को चाहिये कि चारों वर्णो की रक्षा के निमित्त) श्रद्धा के योग्य देश, वेष, शिल्प, और सुपात्रता, का ढोंग बनाये हुए, कुबड़े बौने किरात, गूंगे, बहरे, मूर्ख और अन्धे के रूप में विचरने वाले अपने अनुकूल म्लेच्छ स्त्री पुरुषों के द्वारा शत्रु के शरीर या भोजन में कालकूट आदि विष समूह का प्रयोग करे।''

IX. वैदिक समाज के जन जाति और विभिन्न आर्य राजा

तत्कालीन सप्त सिन्धु प्रदेश और निकवर्ती भूभाग विभिन्न आर्य राज्यों में विभाजित था, जो दस्युओं से लड़ा करते थे, तथा आपस में भी युद्धरत रहते थे। उनमें महत्वपूर्ण राज्य ये थे— अनु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु पुरु, तृत्सु, भरत आदि। इनमें से अनु द्रह्यु, यदु और तुर्वशु राज्य-सरस्वती नदी की निचली उपत्यका में स्थापित थे। पुरु राज्य सिन्धु नदी के ऊपरी कछार में स्थित था, जहाँ से वह दस्यु राज्य परुष्णी (रावी) नदी के पूर्ववर्ती भूभाग में स्थित था।

उपरनिर्दिष्ट राज्यों के अतिरिक्त और भी दूसरे राज्य ऋग्वेद में उल्लिखित हैं। क्रिवि राज्य सिन्धु और आसिक्री (चिनाब) के तट पर स्थित था। कीकट (ऋग्वेद 3, 53, 14) राज्य मगध में स्थित था (वैदिक एज, भारतीय विद्या भवन), पृ. 248)। यास्क के अनुसार यह अनार्य राज्य था (निरुक्त 7, 32 कीकटा नाम देशोऽनार्य निवासः कीकटाः)। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह राज्य सप्तसिन्धु प्रदेश के पर्वतीय भूभाग में स्थित था (ए. सी. दास ऋग्वैदिक कल्चर पृ. 162)। चेदि राज्य शायद यमुना नदी और विन्ध्यपर्वत के मध्य स्थित था। उसके बलशाली राजा कशु की दानस्तुति ऋग्वेद (8,5, 37-39) में समाविष्ट है। गान्धारी (ऋग्वेद 1, 126, 7) राज्य सप्तसिन्धु के पश्चिमोत्तर प्रदेश में वर्तमान था। कदाचित यह राज्य सिन्धु और कुभा (काबुल) के संगम के निकटवर्ती भूभाग में स्थित था। ऋग्वेद (7, 18, 19) में एक स्थल पर मत्स्य राज का उल्लेख भी आता है। यह राज्य कदाचित् आधुनिक अलवर, भरतपुर, जयपुर आदि के भूभाग में स्थित था। अज, यक्षु, शिश्रु आदि राज्यों का उल्लेख भी (ऋग्वेद 7, 18, 19) जो भेद के नेतृत्त्व में सुदास से लड़े थे। वृचिवन्त एक और राज्य था, जो सृन्र्जय शासक देववात द्वारा हरियूपीया और यय्यावती के निकट युद्ध में जीता गया था (ऋ. 7, 27, 5)। एक स्थान पर पर्शु और पृथु राज्य का भी उल्लेख है (ऋ. 10, 33, 2; 7, 83, 1), जिन्हें कुछ विद्वान् पर्शियन व पर्थियन लोगों से सम्बन्धित करते हैं (ए. सी. दास -ऋग्वेद कल्चर पृ. 163) इनके अतिरिक्त विषानिन, शिव, अलीन, पक्थ, भलानस आदि राज्य भी ऋग्वेद में उल्लिखित है (दे. अनार्य जाति)। ये राज्य पश्चिमोत्तर प्रदेश में वर्तमान थे, और उनमें से कुछ अनार्य थे।

अथर्ववेद, आयुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि उत्तर वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से उत्तर भारत और पूर्व भारत में स्थित अनेक राज्यों का पता चलता है। मध्य देश (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में कुरु, पांचाल, वश, उशीनर आदि महत्वपूर्ण राज्य थे। अथर्ववेद (22/127/7-10) में कुरु राज्य के राजा परीक्षित का उल्लेख आता है, जिसके राजत्व काल में कुरु राज्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया था। कुरु राज्य आधुनिक थानेसर, दिल्ली और ऊपरी गंगा जमुना के दोआब में स्थित था। पांचाल राज्य कुरु राज्य के पड़ोस में ही था। ब्राह्मण-युग में ये राज्य बहुत महत्वपूर्ण थे, तथा एक राष्ट्र के रूप में उल्लिखित हैं। कुरु-पांचाल में किये जाने वाले यज्ञ सर्वोत्तम माने जाते थे। वहाँ के ब्राह्मण उपनिषद-काल में अपनी विद्वता व योग्यता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे।

ऐतरेय ब्राह्मण (7, 3, 18) में कुछ अर्ध सभ्य और असभ्य दस्यु जातियों का उल्लेख है, जैसे आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मुतिब। ये जातियाँ विन्ध्य के दक्षिण में बसी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में उन्हें विश्वामित्र के उन पचास पुत्रों की सन्तान कहा गया है, जिन्होंने शुनः शेप आर्जीगर्ति को अपना भाई मानना स्वीकार नहीं किया, जिससे उनके पिता ने उन्हें श्राप दिया। परिणाम स्वरूप उनकी सन्तान आन्ध्र, मुतिब आदि बन गई।

इस प्रकार उत्तर वैदिक युग में भी उत्तर भारत में महत्वपूर्ण आर्य राज्य वर्तमान थे, जो परस्पर युद्ध रत भी रहते थे, तथा जिनके कारण आर्य संस्कृति विभिन्न भागों में विस्तारित की गई थी। इनके अतिरिक्त आदिम जातियों के कुछ राज्य भी आर्य राज्यों के दक्षिण में बसे हुए थे।

1. पारस्परिक युद्ध

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन विभिन्न राज्य न केवल दस्युओं या दासों से लड़ा करते थे, किन्तु परस्पर भी लड़ा करते थे। ऋग्वेद में बहुत से मन्त्र हैं, जिनमें युद्धों का उल्लेख और वर्णन है तथा युद्धों में प्राप्त विजयों का विशद विवेचन है। ऋग्वेद के ऋषियों ने शत्रुओं की पराजय या उनके नाश से संबंधित बहुत से प्रार्थना मन्त्र रचे हैं। इन्द्र आर्यो का युद्ध देवता प्रतीत होता है। उसी देवता को विभिन्न युद्धों में विजय प्राप्त करने का श्रेय दिया जाता है। इन्द्र ने शत्रुओं के किलों को तोड़ा, उनके राज्यों को जीता, उन्हें अधीनस्थ किया, तथा उन्हें पूर्णतया नष्ट किया। ऋग्वेद (1, 53, 9-10) में उल्लेख आता है कि बीस राजाओं ने मिलकर सुश्रवा राजा पर आक्रमण किया, किन्तु उसने इन्द्र की सहायता से उन सब को हरा दिया।

2. दाशराज्ञ युद्ध

यह युद्ध तृत्सुओं के राजा सुदास तथा अनु दुध्यु, भरत, यदु, तुर्वश, पूरु, शिंयु, अज, शिग्रु, यज्ञु आदि दस राजाओं के मध्य हुआ था। सुदास की ओर से परशु और पृथु (ऋ. 7, 83, 1) तथा अलीन, पवक्थ, भलानस, शिव, विषाणिन आदि राजा भी युद्ध में सम्मिलित हुए थे। विश्वामित्र और वशिष्ठ के पारस्परिक मतभेदों के कारण यह युद्ध हुआ, ऐसा इतिहास के विद्वान मानते है (ए. सी. दास-ऋग्वेदिक कल्चर पृ. 358-59, ऋग्वेद 3, 53, 24)। वसिष्ठ से मत भेद होने के कारण विश्वामित्र, सुदास का संरक्षण त्याग कर भरत-राज्य में चले गये। उनके प्रयत्न से तृत्सु के विरुद्ध दस राजाओं का संग तैयार हुआ, जिसने अपने शत्रु पर आक्रमण की तैयारी की।

विश्वामित्र के नेतृत्व में पूर्व की ओर से दस राजाओं का संग आगे बढ़ा तथा शुतद्री और विपाश को पार कर परुष्णी के दक्षिण की ओर पहुँच गया। सुदास ने अपने साथियों सहित परुष्णी के उत्तरी तट पर शत्रुओं से संषर्ध करने की तैयारी की थी। इस प्रकार सुदास और उसके शत्रुओं के बीच परुष्णी नदी थी। सुदास की सेना की एक टुकड़ी ने रात्रि के अन्धेरे में परुष्णी पार कर शत्रु की सेना पर पीछे से आक्रमण किया। दस राजाओं की सेना इस अनपेक्षित आक्रमण से घबरा गई और उसके सैनिक इधर-उधर भागने लगे तथा कितने ही परुष्णी में डूब गये। शुत कवस हु आदि के वीर योद्धा नदी में डूब गये (ऋ. 7, 18, 12)। लगभग साठ हजार अनु व दुहयु योद्धा युद्ध में मारे गये (ऋ. 7, 18, 14)। इन्द्र की कृपा से सुदास के शत्रुओं की सब सेनाएँ नष्ट हो गई और सुदास विजयी हुआ (ऋ. 7, 18, 15)। इसके पश्चात् सुदास ने शत्रुओं के प्रदेशों पर आक्रमण किया और उनके किले तथा नगरों को नष्ट किया (ऋ. 7, 18, 13)। उसने अनुराज्य को अपने राज्य में मिला दिया। तुर्वश, द्रध्यु, भरत आदि राज्य पराजित किये गये। उसने अज, शिघ्रु, यक्षु आदि के राजाओं को भी पराजित किया (ऋ. 7, 18, 10)। सुदास ने इन आक्रमणों में जो कुछ द्रव्य प्राप्त किया था वह सब ऋषियों में बाँट दिया (ऋग्वेद 7, 18, 22-24)।

उपरोक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि सुदास ऋग्वेदकालीन, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण राजा था, जिसने सप्तसिन्धु प्रदेश के बहुत से राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य का विकास किया था।

अध्याय 6

आर्य और जनजातियों के धार्मिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन

समानताएँ

वैदिक युग के लोग पूर्ण आस्तिक थे। वे अपने जीवन और संसार को भी धार्मिक दृष्टिकोण से ही देखते थे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से नहीं। बाद के वैदिक साहित्य में भारतीय दर्शनशास्त्र ने संसार और प्राणि की उत्पत्ति की वैज्ञानिक व्याख्या की। वैदिक युग में वैदिक पुरुष, देवता और अदृश्य शक्ति को पृथ्वी की उत्पत्ति और रक्षा का कारण समझता था।

वैदिक आर्य अनेक में एक पर विश्वास करते थे। वे प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की पूजा करते थे, परन्तु तब भी प्रकृति की मूल एकता पर विश्वास करते थे। वे देवताओं की पूजा प्राकृतिक घटनाओं के भय के कारण नहीं परन्तु उनसे वरदान पाने के लिए करते थे। उनका मानना था कि सभी प्राकृतिक, अद्भुत घटनाएँ जैसे — आकाश, बादल, वर्षा, हवा आदि उनके अधिष्ठाता, देवताओं द्वारा संचालित होते हैं। वे उन्हें भय और विस्मय से देखते थे। प्रकृति में अनुकूल परिस्थितियाँ होना देवताओं की कृपा और विपरीत परिस्थितियाँ उनके धार्मिक क्रोध का परिणाम समझी जाती थीं। ऋग्वेद के स्तोत्र मुख्यत: देवताओं की स्तुति संबंधी हैं, जिससे वे खुश हो जायें। ईश्वर ही शासक, वर्तमान जीवन का निश्चय कर्ता, मनुष्यों का रक्षक और खुशी देने वाला समझा जाता था।

वैदिक आर्यो का धर्म एक प्रकार का प्रकृति पूजा था। प्राकृतिक घटनाएँ विभिन्न देवताओं की अभिव्यक्ति समझी जाती थीं। आकाश के अविर्भाव के लिए विभिन्न देवताओं, उदाहरण स्वरूप वरुण, इन्द्र, मित्र, द्यु की कल्पना की गई। इन्द्र को वर्षा का देवता माना गया। नक्षत्रों को भी देवता समझा गया। वर्षा, बादल, गर्जन, प्रात: और रात्रि ये सभी रहस्य अलौकिक शक्ति समझे गये। बहुत सी प्राकृतिक घटनाओं का मानवीकरण हुआ। इस प्रकार संसार का पहला मिथक शास्त्र का आरंभ हुआ। मानवीकरण की प्रक्रिया का आरंभ हुआ जिसके द्वारा प्राकृतिक घटनाएँ देवताओं में व्यक्त की जाने लगीं।

अगर हम जनजातीय धर्म के बारे में देखें तो दोनों में बहुत समानताएँ पायी जाती है। वैदिक जीवन और जनजातीय जीवन का जिस किसी वाह्य पदार्थ से संबंध था, उसे वैदिक ऋचाओं और

जनकविता में जीवन-आवश्यकता के अनुरूप सहज अभिव्यक्ति मिली है। कई वाह्य पदार्थों को दोनों ने देवता के रूप में स्थापित किया है। वैदिक देव और जनजातीय देव अपने-अपने युग की आवश्यकता विशेष के ही प्रतीक हैं। दोनों के रूप हैं, रंग हैं आकार और उपयोगिता हैं। वैदिक मानव के लिए अग्नि की बड़ी जबरदस्त उपयोगिता थी, इसलिए उसने अग्नि की, अपनी ऋचाओं में स्तुति की है— ''अग्नि मीले पुरोहितम्'' तथा अरणि का माहात्म्य बताया है। दण्डामी माड़िया जनजाति, सियाड़ी, लता के मेरुदण्ड से अग्नि का आविष्कार करता है, जिसमें अरणि के ही प्रतीक स्थापित हैं।

आदिम जनजातियों के भी इन्द्र अग्नि, पृथ्वी, मंडूक आदि देवता हैं, जो आवश्यकताओं के जीवन्त प्रतीक हैं। वैदिक आर्यो के समान आदिम समाज में भी इन देवताओं से अलग धर्म नाम की कोई चीज नहीं है।

जनजातियाँ तो पूर्ण रूप से प्रकृति पूजक हैं। अपने सिंगबोंगा अथवा धर्मेस और अन्य भूत प्रेतों से वह भयभीत रहती हैं अत: उन्हें बलि देकर खुश रखता है कि प्राकृतिक आपदाओं से उनकी रक्षा करें।

2. मिथकों की प्रकृति : जीवन सत्य

जनजातियों के मिथकों के अध्ययन से इस बात का पता चलेगा कि ये लोग कैसा सोचते हैं? कैसी जिन्दगी जीते हैं। छतीसगढ़ झारखण्ड की सभी जनजातियाँ न केवल एक-दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया से जुड़ी रही हैं अपितु इन्होंने वैदिक साहित्य तथा पुराणों, उपपुराणों एवं महाकाव्यों की परम्पराओं को आत्मसात् कर रखा है। इन जनजातियों के जीवन में प्रमुख रूप से महाकाव्यों तथा पुराणों की कथाएँ परिव्याप्त हैं। इस लिए जब हम जनसाहित्य पर विचार करें तो हमें इस तथ्य से भी परिचित होना चाहिये कि वह इन जनजातियों से जुड़ा हुआ व्यापक तथा सामयिक भारतीय साहित्य है, जो यहाँ पहुँचते-पहुँचते मौखिक साहित्य के रूप में परिवर्तित हो गया है। इसने एक स्थान से दूसरे स्थान तक की यात्रा करते हुए क्षेत्रगत विविध परिवर्तन जुटा लिए हैं। यह साहित्य इन्हें उत्तराधिकार के रूप में मिला है।

इन जनजातियों के मिथकों में कतिपय समानताएँ दृष्टि गत होती है— उदाहरण के लिए सृष्टि रचना के विचार पौराणिक आख्यानों के माध्यम से सर्वत्र छाये हुए हैं। अग्नि और मृत्यु के मिथक पृथक् जनजातियों में नये तथा मौलिक रूपों से आख्यायित हैं, किन्तु इन सब के विश्वास और रीति रिवाज, पौराणिक चिन्तन के समतुल्य सर्वत्र एक से हैं। गोंड, गदबा या मुरिया के जनजीवन में धान या कोसरा का महत्व है इसमें कोई परिवर्तन नहीं मिलता। महुए से संबंधित मिथक आश्चर्यजनक रूप से सर्वत्र एक जैसे हैं, यद्यपि उनमें कुछ भेद विशेषताएँ जुड़ गयी हैं, जिसमें आदिवासी जीते हैं। ये उपन्यास के समान काल्पनिक नहीं हैं, अपितु एक जीवन सत्य है। मिथक में वर्णित प्रत्येक चीज आधुनिक सी प्रतीत होती है। सृष्टि रचना से लेकर जीवन और जगत के मध्य, अन्त: क्रियाशील ब्रह्माण्ड और प्राकृतिक शक्तियों से संबंधित जनजातीय मिथकों का एक ऐसा अनन्त सिलसिला उपलब्ध है, जो आश्चर्यजनक ढंग से वैदिक चिंतन और पौराणिक आख्यानों के समतुल्य है, यद्यपि उनमें स्थान और काल से सम्बन्धित परिस्थितिजन्य भेदक विशेषताएँ भी सम्मिलित होती गई हैं। अत: इसका क्रमिक विवेचन उचित होगा।

सृष्टि— रचना और जनजातीय मिथक

सृष्टि रचना से संबंधित वैदिक चिन्तन ने इन आदिवासियों को प्रभावित किया है। ऋग्वेद के नासदीसूक्त में वर्णित विचार धारा सभी जन साहित्य में मिलती है।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं

नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्

किमावरीवः कुहकस्य शर्म

त्रम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।

दशम मंडल, 11 अनुवाक् सूक्त 124, ऋचा-1

प्रलय काल में असत् नहीं था। सत्य भी उस समय नहीं था। पृथ्वी आकाश भी नहीं थे। आकाश में स्थित सप्तलोक भी नहीं थे, तब कौन यहाँ रहता था? ब्रह्माण्ड कहाँ था? गंभीर जल भी कहाँ था?

आदिवासियों के मिथकों के वेद से लेकर पुराणों तक की ये सारी परम्पराएँ जीवन्त हैं। तदनुसार गोंड यह मानते हैं कि पहले सर्वत्र जल ही था और सागर के अनन्त जल के मध्य सिंगमाली पक्षी के एक जोड़े का जन्म हुआ। पानी के ऊपर ही उन्होने अपना एक घोंसला बनाया और वहीं दो अण्डे दिये, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि चली। बैगा भी यही मानता है कि प्रारम्भ में जल ही था। देवताओं की आवाज नहीं सुनाई देती थी। न ही भूतप्रेत, पवन, चट्टान या वनों की आवाज थी। आज जैसे आकाश है वैसे ही पहले जल व्याप्त था। तब एक कमल के पत्ते पर भगवान ने जन्म लिया। इस आदिसागर में बैठकर भगवान संसार की रचना करते हैं। सर्जना के क्या कारण थे? यह स्पष्ट नहीं है। बैगा कथा के अनुसार एकोऽहं बहु स्यामः की प्रतिध्वनि मिलती है। मुरिया जनों की कल्पना लिंगो (लिंगपुराण) से चलती है। तदानुसार लिंगो या लछमनजाति ही सृष्टि की रचना करते हैं।

पृथ्वी की रचना-संबंधी मिथक

ब्रह्मा की सृष्टि के अनुसार पृथ्वी की रचना को लेकर भी तीन प्रकार की कल्पनाएँ मिलती हैं। प्रथम परम्परा है कि कुछ माटी चुरा ली गई और भगवान ने चोर की खोज कराई। जब खोयी हुई मिट्टी मिल गयी तो उसे विस्तृत जल सागर पर फैला दिया गया और उससे पृथ्वी बनी। द्वितीय परम्परा में यज्ञ (ढेले) के माध्यम से पृथ्वी की रचना होती है तो तृतीय परम्परा में पृथ्वी स्वतः स्फूर्त हुई।

बैगा, अगरिया तथा गोंडों में यह अनुश्रुति है कि भगवान ने कौए की रचना की और उसे मिट्टी की खोज में भेजा। यह कौआ ''ककड़ामल'' नामक एक क्षत्रिय की पीठ पर सवार हुआ जो उसे समुद्र के पार ''गिचना राजा'' के पास ले गया, जिसने जल के भीतर धँसी हुई पृथ्वी को बाहर निकाला। कौए ने गिचना राजा को वमन करने के लिए बाध्य किया, जिससे उसके मुख से मिट्टी के इक्कीस लोंदे निकले। इन पिण्डों को वह भगवान के पास ले गया। भगवान उसे अपनी पालथी में रखकर एक कुँआरी कन्या को मिट्टी के मथने के लिए बुलाते हैं। आठ दिन और नौ रातों तक मथने के बाद भगवान उस मिट्टी को चपाती की शक्ल में बदल कर उसे अनन्त जल के ऊपर फैला देते हैं और वह पूरी तरह

पानी के ऊपर फैल जाती है। भीली कथा के अनुसार भगवान पहले पैदा हुए। तब उन्होंने पृथ्वी को जन्म दिया। उसी के साथ प्रारम्भ हुई दिन-रात, सूर्य-चन्द्रमा, ग्रीष्म-वर्षा की सृष्टि। अन्त में पशु, फिर पाँच पाण्डव पैदा हुए, जिनसे सृष्टि चली।

ऋग्वेद में पुरुष सूक्त की परिकल्पना में महापुरुष की अवतारणा हुई है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।
(10 मंडल अध्याय 7 सूक्त 90, ऋचा 3)

"अर्थात इतनी उसकी महिमा है, और उससे भी बड़ा पुरुष है। यह ब्रह्माण्ड इनका एक पग मात्र है, तथा इसके तीन पग स्वर्ग लोक में हैं और यह कथा जनजातियों में भी विकसित हुई है।" महापुरुष के अंग-प्रत्यंग से जो सृष्टि रचना हुई, उसका विस्तृत विवरण पौराणिक साहित्य में मिलता है। आदिवासियों के मिथकों में वह प्राचीन और अत्यधिक दार्शनिक चिन्तन दो धाराओं में मिलता है। एक के अनुसार मनुष्य का शरीर सृष्टि में रूपांतरित हो जाता है और दूसरे में नरबलि के रक्त से सृष्टि की रचना होती है। गोंडों की कथा में यह मिलता है कि माता भूमि तथा नन्दासुर दानव का शरीर पृथ्वी में रूपान्तरित हो जाता है।

पृथ्वी की स्थिरता संबंधी मिथक

सृष्टि रचना के अनन्तर उसकी स्थिरता और दृढ़ता के संबंध में अनेक कथा प्रचलित हैं।

बैगा, पवन दसेरी तथा भीमसेन को भगवान के द्वारा भेजवाता है तो अगरिया अभिचार मूलक लौह स्तम्भों की बात करता है। गोंडों की मान्यता है कि नयी-नयी रचित गीली पृथ्वी पर जब भीमसेन लुढ़के तो पर्वत पैदा हो गये। राजमुरिया के अनुसार महाप्रभु ने अपने ही केशों को अपने दाईं टाँग से कुचल कर उन्हें नौ कोनों में स्थापित कर दिया। (नवग्रह की कल्पना), जिससे पृथ्वी स्थिर हो गई। धनवान यह मानता है कि धरती माता ने जिन दो अण्डों को अपने नीचे रख लिया है, उसी से पृथ्वी स्थिर है।

भूकम्प से सम्बद्ध मिथक पारम्परिक भारतीय विचार वराह से जुड़ा है। उराँव जनजाति यह मानती है कि धरती कछुए की पीठ पर रखी हुई है तथा केंकड़ा उसकी देखभाल करता है। जब कछुआ हिलता डुलता है तो भूकम्प होता है, किन्तु केंकड़े की रखवाली के कारण अनर्थ नहीं हो पाता।

राजमुरिया जाति की मान्यता है कि महाप्रभु अपने प्रथम पुत्र व पुत्री से रुष्ट हो जाते हैं और उनका वध कर देते हैं। जैसे ही दोनों की मृत्यु होती है रक्त पानी बन जाता है तथा केश घास में परिवर्तित होते हैं। महाप्रभु की इस परिकल्पना में कतिपय अपवाद भी मिलते हैं। अगरिया कथा के अनुसार राक्षसी हीरामन ने मिट्टी के तोते को सोने के पिंजरे में कैद कर लिया था। राम ने लड़की की माँ को जीतकर जब तोते का स्पर्श किया तो वह पृथ्वी की शक्ल में बदल गया।

सृष्टि-विनाश और पुनर्रचना के मिथक

सृष्टि के विनाश के सम्बन्ध में अलग-अलग मिथक हैं। जलप्रलय से सृष्टि के विनाश की कथा माड़िया लोगों में प्रचलित है। अग्निदाह से विनाश की कथा खड़िया, कोल तथा ओराँव में मिलती

है। विनाश की ये सारी कथाएँ पौराणिक युगों की कल्पनाओं के साथ जुड़ी हुई हैं। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि एक मत्स्य ने मनु को सावधान किया था कि प्रलय होगा और वह उसकी रक्षा करेगा। मनु उस मत्स्य की हिफाजत करते हैं और वही नाव के रूप में रूपांतरित होकर मनु की प्रलय की स्थिति में रक्षा करता है। शतपथ ब्राह्मण की यह कथा भीलों में तद्वत् मिलती है।

पृथ्वी के जलप्लावन की घटना का उल्लेख सभी जनबोलियों में मिलता है। दण्डामी-माड़िया यह मानते हैं कि एक बार प्रलयकारी वर्षा हुई और प्रथम सृष्टि उसमें डूब गई। मुरिया की मान्यता है कि महाप्रभु ने उसे उलट-पुलट दिया और अन्त में उसे कीड़ों ने खा लिया। प्रलय की इन सभी घटनाओं में प्राय: समान रूप से यही विवरण मिलता है कि केवल एक स्त्री और पुरुष को छोड़कर सृष्टि का संहार हो गया था। दण्डामी माड़िया इन्हें भाई-बहिन मानता है तथा उनका विचार है कि तुम्बे के अन्दर रहने के कारण दोनों बच निकले।

कुछ जनजातियों की यह मान्यता है कि सृष्टि का विनाश प्रलयकारी अग्निदाह के कारण हुआ। दण्डकारण्य के अग्निदाह की कथा पुराणों के समान इन जनों में भी प्रचलित है। अगरिया के अनुसार एक बार सूर्य के साथ मानवों का संघर्ष हुआ और पृथ्वी में त्राहि-त्राहि मच गई। खड़िया के अनुसार ''पोनामोसोर'' ने सृष्टि की पुन: रचना की थी। सृष्टि रचना के पश्चात् उसने मिट्टी के दो पुतले तैयार किये-एक स्त्री तथा दूसरा पुरुष। उन दोनों को वट-वृक्ष के खोखले में रख दिया गया और जब वट-वृक्ष का दूध उनके मुँह में गिरा तो उन पुतलों में जान आ गई। उनसे जब सन्तानें उत्पन्न हुईं, तो वहाँ रह कर खाने के लाले पड़ने लगे। तब दम्पति ने पोनोमोसोर से अधिक भोजन की याचना की। फलस्वरूप ''पोनोमोसोर' सारी मानव जाति से रुष्ट हो गये और सृष्टि का संहार कर डाला। अधिकांश लोग मर गये किन्तु जो पहाड़ की चोटियों पर चढ़ गये थे वे बच गये। आठ दिनों के बाद पानी कम हुआ और भूमि दिखी, लोग फिर बसने लगे। किन्तु एक बार और उन्होंने ''पोनामोसोर को रुष्ट कर दिया तो ''पोनोमोसोर ने अग्नि-वर्षा की। अब एक भाई और बहन को छोड़कर कोई जीवित नहीं बचा, उन्हीं से सृष्टि चली।

उराँवों में भी अग्निवर्षा की अनुश्रुति मिलती है। इस अनुश्रुति में शिव और पार्वती भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शिव (धर्मेस) ने रुष्ट होकर जब अग्निवर्षा की तो पार्वती ने केंकड़े के बिल में एक भाई-बहन को छिपा दिया था। उसके सिवाय पूरी सृष्टि राख में मिल गई।

इन भाई-बहनों के पौराणिक नाम (मनु और श्रद्धा) जनजातियों में अपने पर्यावरण के अनुसार रूपान्तरित हुए। दण्डामी माड़िया के अनुसार उनका नाम क्रमश: कवाची तथा कुहरामी था। बस्तर की दण्डामी कथा के अनुसार प्रलयंकारी वर्षा हुई और सृष्टि जलमग्न हो गई। किन्तु गजभी मुल ने कवाची तथा कुहरामी नामक भाई-बहन को एक तुम्बे में सुरक्षित रख दिया। तुम्बा बहता रहा और अंत में एक चट्टान में जाकर ठहर गया। महाप्रभु ने एक कौवे को भेजा क्या कोई स्त्री पुरुष बचा है? कौआ उड़ता रहा, उड़ता रहा उसने एक चट्टान में तुम्बा देखा। उसने चट्टान में बैठना चाहा किन्तु वह बहुत गर्म थी, वह लौट आया। महाप्रभु ने समाचार पाकर पुन: कौवे को यह देखने के लिए भेजा कि तुम्बे में कोई जीवित तो नहीं है। उसी समय चट्टान के पास एक वट वृक्ष उगा दिया। वृक्ष पर बैठकर कौवे ने तुम्बे को उठा लिया। उस तुम्बे से कवाची (भाई तथा कुहरामी (बहन) बाहर आये। वे भूखे थे और उस पेड़ का

रस पीने लगे। जब रस खतम हो गया तो भूख से दोनों रोने लगे। जब महाप्रभु ने सुना तो नाराज हुए और कौवे को शान्त करने के लिए भेजा। कौआ लोभी था, उसने सोचा जब ये लोग भूख से मर जायेंगे तो अच्छा माँस खाने को मिलेगा। अतएव वह लौट गया। महाप्रभु से बोला कि वे कुशल हैं। भूख से उनके बिलबिलाने की आवाज जब दुबारा महाप्रभु ने सुनी तो, उन्होंने कुशलक्षेम पूछने के लिए गरुड़ को भेजा। किन्तु गरुड़ ने भी वही किया, जो कौवे ने सोचा था। जब उसने तीसरी बार रोने की आवाज सुनी तो महाप्रभु ने एक शेर को भेजा। शेर के मन में भी लोभ समा गया। उसने गरुड़ का ही अनुवर्तन किया। चिल्लाने की ध्वनि से रुष्ट होकर चौथी बार महाप्रभु ने बन्दर को भेजा। बन्दर चट्टान में बैठा ही था, उसके पुट्ठे जल गये और जब उसने मुँह में हाथ लगाया तो मुँह भी जल कर काला हो गया। बन्दर ने तब भी उनका हाल जाना और महाप्रभु को समाचार दिया। महाप्रभु ने एक सूअर को भेजा और कहा कि चट्टान के नीचे कीचड़ है उसे गरम चट्टान पर फैला दे। सूअर ने वैसा ही किया और धरती उभरी। दोनों ने फसल बोई तथा सूअर ने उसे खाया। गजभीमुल इस चक्कर में थे कि सृष्टि का और भी विकास हो। उन्होंने दोनों भाई बहनों से विवाह करने के लिए कहा, किन्तु दोनों ने कहा कि यह संभव नहीं है। तब गजभीमुल ने बूढ़ी माताल को बुलाकर चेचक रोग सृजा और दोनों दुनिया का चक्कर लगाने लगे। दुबारा जब दोनों मिले तो चेचक से विकृत चेहरों के कारण एक दूसरे को पहचान नहीं पाये। दोनों ने विवाह किया जिससे बारह भाई और बहनें हुई- कवाची, मारती, ओसानी, कंजामी, पोरियामी, कलमूनी, नेन्दी, मरकामी, कुहरामी, बर्से, वेत्ती तथा कती। इन्हीं से मानव-समाज का विकास हुआ।

राजमुरिया से सृष्टि के विकास के प्रसंग में केतब (पौराणिक कैटभ) दानव की चर्चा आती है। उसने धरती को निगल लिया था। महाप्रभु ने जब उसे मारा तभी सृष्टि की पुनर्रचना उसके माँस तथा अस्थि पिंजर से हुई।

आकाशीय रहस्य की खोज

नक्षत्र विद्या से सम्बन्ध जनजातीय मिथकों में भी पौराणिक मिथकों से समानता है। उराँव में सूर्य पुरुष तथा चन्द्र स्त्री है। दोनों भाई-बहन थे पहले सूर्य की संख्या सात थी। अन्त में एक ही बचा। दण्डामी माड़िया की कथा के अनुसार सूर्य-चन्द्र तरु नामक मछली के पेट से निकले थे तथा माड़ियों ने उन्हें आकाश में रहने का निर्देश दिया। एक दूसरी कथा के अनुसार पहले सूर्य काले बैल के रूप में रोज पृथ्वी पर घूमने आता था। एक माड़िया ने उसे पकड़ लिया और तभी से सूर्य बारह घंटे माड़ियों के कैद में रहने लगा। इसलिए रात्रि होने लगी। ग्रहण की पौराणिक कल्पना जनजातियों में यथावत् मिलती है।

माड़िया यह मानते हैं कि तारे, सूर्य और चन्द्रमा के पुत्र हैं तथा नीचे गिरने वाले तारे उनके बच्चों के मलत्याग हैं। उराँव के अनुसार गिरने वाले तारे चुगुलखोर बच्चे है। एक बार इन्द्र के दरबार में ये ऋषियों की बात छुपकर सुन रहे थे तभी से उन्हें यह दंड मिला।

आदिवासियों की रुचि आकाश के प्रति बहुत कम है। उनकी देवमालाओं में इन्दल तथा भीमसेन ही दो ऐसे हैं, जो नभोमंडल में निवास करते हैं। बस्तर में भीमसेन या भीमा, वर्षा का एक सुनिश्चित देवता है। उसकी सहायता इन्दल भी करते हैं। ये धरती पुत्र वायवीय कल्पनाएँ नहीं करते। गोंडों की

कथा है कि पहले आकाश और धरती पास-पास थे और एक दिन क्रोध से एक वृद्धा ने आकाश को झाडू से ऊपर ठेल दिया। यह कथा ऐतरेय ब्राह्मण से संबंधित है।

वैदिक साहित्य के अनुसार विद्युत मरुत का एक अस्त्र है, पर्जन्य गाज को धारण करता है। धुर्वा यह मानते हैं कि पहले सर्वत्र पानी था। पानी की छोटी-छोटी मछलियाँ ही विद्युत में परिणत हो गयीं। मुरिया के अनुसार भीमुल पुरुष है तथा धरती पानी। जब भीमुल कामातुर होता है तो दौड़कर अपनी पत्नी के पास जाना चाहता है। उस संभ्रम और लड़खड़ाहट की स्थिति में जो आवाज पैदा होती है यह बिजली की कड़क है और जो पानी बरसता है, वह रास्ते में ही कामावेग के कारण उसके वीर्य के स्खलन हैं।

इन्द्रधनुष को आदिमजन राम के धनुष से जोड़ते हैं, तो दण्डामी माड़िया के अनुसार यह भीमुल का धनुष (बीमुल बिल) है, तो लिंगों इसे "आगिनबान" मानते हैं बैतूल के गोंड इन्द्रधनुष को धामन गोटा (सर्प) कहते हैं और उनकी धारणा है कि यह वाभी से निकलता है। मण्डला के प्रधानों के अनुसार यह वासुकि का फण है बैगा भी वाभ को इन्द्रधनुष का आश्रय मानते हैं अबुझमाड़िया इन्द्रधनुष को बूमतरास (भूमि का सर्प) मानते हैं तथा कुछ मुरियों का भी यही विचार है।

जनजातियों में प्रकृति के सभी उपादानों में मिथकों का तानाबाना मिलता है। कोरवा अशोक को राम से जोड़ते हैं तो मुरिया वृक्षों की उत्पत्ति लिंगों से मानते हैं। साजा वृक्ष तो लिंगों की अग्नि परीक्षा का साक्षी माना जाता है।

पशुपक्षी

मिथकों द्वारा मानव के सहचर के रूप में संस्थापित है। पशु-पक्षियों में भी प्रत्येक के साथ मिथक आरोपित हैं। संस्कृत में दृष्टिवास के पीछे जो कथा है वह बस्तर के माड़ियाजनों में टोंडतरास से मिलती है। अगरिया तो मत्स्य को ही मानव जाति की माता मानते हैं। पक्षियों की सृष्टि पत्तों से हुई, यह खड़िया मन सोचता है। गोड़ तथा अन्य जनजातियाँ भी मानती है कि प्रारंभ में पशु-पक्षी तथा मनुष्य आपस में वार्तालाप करते थे।

बैगा चीते के शरीर में जो धारियाँ देखते हैं, उसे पार्वती के दुलार से बनी हुई मानते हैं। बिल्ली, महादेव के घर में पली थी और कुत्ता, पार्वती के घर में। इसीलिए आदिवासी इन दोनों को नहीं मारते हैं। दण्डामी माड़िया यह मानते हैं कि माड़िया पहले कुत्तों से संभाषण कर सकते थे। कुत्ते महाप्रभु की बात "पोराबूम" से सुनकर माड़ियों को बता देते थे। महाप्रभु ने कुत्तों की भाषा को छीन लिया। अगड़िया मानते हैं कि हाथी और पहाड़ पहले उड़ते थे और बात करते थे।

3. पूर्व वैदिक आर्यो के धर्म और दर्शन

वैदिक साहित्य का निर्माण करने वाले ऋषि धार्मिक व दार्शनिक वृत्ति से ओत-प्रोत थे, तथा उन्होंने धार्मिक उद्देश्य से प्रेरित होकर ही उक्त साहित्य का निर्माण किया। अतएव वेदों में तत्कालीन धार्मिक, व दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही है। वेदों के आलोचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनमें जिन देवताओं की स्तुति में बहुत से मन्त्र लिखे गये हैं, वे भौतिक शक्तियों के रूप में एक सर्वोपरिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि प्रकृति-पूजा वेदकालीन धार्मिक जीवन का आदि स्रोत है। प्राचीन काल में विश्व के अन्य देशों में भी धर्म का प्रारंभ

प्रकृति पूजा से ही हुआ।

जब मनुष्य ने अपनी सांस्कृतिक बाल्यावस्था में प्रकृति के दर्शन किये, तब वह उसके विभिन्न रूपों को देखकर कभी प्रसन्न कभी भयभीत कभी स्तम्भित हुआ। अपनी असहाय अवस्था के कारण अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की सरलता से पूर्ति न कर सकने के कारण मनुष्य ने प्रकृति में दैवी शक्ति की कल्पना की, जिसकी सहायता से उसने सोचा कि मैं अपने कष्टों को दूर कर सकूँगा व अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर जीवन को सुखी बना सकूँगा। यहीं से ''बहुदेवतावाद'' का प्रारंभ होता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, पृथ्वी, आदि देवताओं के वर्णन पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करें तो ऋग्वेद के उपरोक्त मन्तव्य का तथ्य स्पष्ट हो जायेगा। वेदकालीन ऋषि देवताओं से कहीं अपने कष्टों को दूर करने की प्रार्थना करते हैं, तो कहीं धन प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। धीरे-धीरे यही ''बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद में परिणत हो जाता है। प्राचीन आर्यो ने अपने सांस्कृतिक विकास के प्रारंभ से ही अनेकत्व में एकत्व का दर्शन किया। प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक विकास का मूलतत्व भी यही है। इसी भाव से प्रेरित होकर वैदिक ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की पृष्टभूमि में एक सर्वोपरि व सर्वनियामक सत्ता की कल्पना की और उन्होंने ''एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति'' (एक ईश्वर को विद्वान् नाना प्रकार से वर्णन करते हैं) आदि द्वारा ''एकेश्वर'' का सूत्रपात किया। दार्शनिक वृत्ति के ऋषियों ने धीरे-धीरे इसी ''एकेश्वरवाद'' के सिद्धान्त को ''सर्वेश्वरवाद'' का स्वरूप दिया, जिस का चरम विकास उपनिषदों के ''अहं ब्रह्मास्मि,'' ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' ''तत्त्वमसि'' आदि वचनों में हुआ, तथा उन्होंने जीव ब्रह्म की एकता के निरूपण द्वारा अनेकत्व में एकत्व के दर्शन किये। इस प्रकार वैदिक युग के धार्मिक और दार्शनिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

वैदिक युग के धार्मिक जीवन में प्रारंभ से ही दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं (1) भक्ति की धारा (2) कर्मकाण्ड की धारा।

वैदिक साहित्य में देवताओं की जो स्तुति की गई है, उसमें भक्ति की भावना स्पष्टतया झलकती है। राजा के प्रति जैसी भक्ति रखी जाती है तथा उससे संरक्षण आदि प्राप्त करने की इच्छा रखी जाती है, उसी प्रकार देवता के प्रति भी भक्ति धारण कर उससे ऐहिक सुख, समृद्धि आदि के लिए प्रार्थना की गई है। वरुण, इन्द्र, विष्णु, आदि देवताओं से सम्बन्धित वेदमन्त्र इसी प्रकार की भक्ति के अमित भंडार हैं, जहाँ से वैदिक युग के पश्चात् भक्तिमार्ग ने प्रेरणा प्राप्त की। विभिन्न देवताओं के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति वैदिक काल के धार्मिक जीवन की प्रमुख विशेषता रही है। उस समय के धार्मिक जीवन में यज्ञों का भी कुछ कम महत्व नहीं था। बहुत सी प्राचीन जातियों में यज्ञ का जो स्वरूप वर्णित है, उसके अन्तर्गत अग्नि के माध्यम से अपने इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए उसे जो वस्तुएँ इष्ट हैं, उन्हें प्रदान करने का भाव निहित है। वैदिक आर्य मानते थे कि यज्ञों में विभिन्न देवता मंत्रों द्वारा बुलाये जाने पर उपस्थित होते हैं और हविष् ग्रहण करते हैं। तत्कालीन धार्मिक जीवन में यज्ञों का क्रियाकलाप बहुत अधिक व्याप्त था। ऋग्वेद का प्रारंभ ही यज्ञ की भाषा में होता है।

अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।1, 1, 1।।

अर्थात् मधुच्छंदा ऋषि कहते हैं—''अग्रणी प्रकाशित, यज्ञकर्ता, देवदूत, सत्यमुक्त अग्नि का स्तवन करता हूँ।'' इससे यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञ का क्रियाकलाप ऋग्वेद में विकसित हो गया था वैदिक युग में यज्ञ का विकास उत्तरोत्तर होता ही रहा, और नाना प्रकार के यज्ञों का प्रादुर्भाव हुआ यज्ञों के क्रियाकलाप को सम्पादित कराने वाले ब्राह्मण वर्ग ने भी समाज में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। यज्ञ का प्रभाव राजशक्ति पर भी पड़े बिना नहीं रहा। राजाओं को भी राज्याभिषेक द्वारा ''मूर्धाभिषिक्त'' होना पड़ता था, तथा अश्वमेध यज्ञ द्वारा ''चक्रवर्ती'' की पदवी प्राप्त करनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त वाजपेय, सर्वमेध, आदि यज्ञ भी राजाओं को करने पड़ते थे। इस युग में यज्ञों का इतना प्राबल्य हो गया था कि द्विजों के लिए कितने ही ''संस्कार'' आवश्यक बन गये थे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त द्विज का समस्त जीवन यज्ञमय हो गया था। यज्ञ को भवसागर को पार करानेवाली नाव माना जाता था। यज्ञों का महत्व इतना बढ़ा कि परमेश्वर व देवता भी उसके सामने कुछ नहीं माने जाते थे। इस सिद्धान्त ने ''पूर्वमीमांसा'' तथा ''कर्ममीसांसा'' को जन्म दिया, जिसका विवेचन कितने ही आचार्यो ने किया।

वैदिक युग के धार्मिक जीवन में एक विशेषता और पाई जाती है और वह है धर्म और दर्शन का सुन्दर मिलन। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रकृति पूजा ने ''बहुदेवतावाद'' सिद्धान्त को जन्म दिया। यह ''बहुदेवतावाद'' धीरे-धीरे दार्शनिक पुट द्वारा ''एकेश्वरवाद'' में परिणत हुआ। ''एकेश्वरवाद'' ने दार्शनिक क्षेत्र में प्रवेश करके ''सर्वेश्वरवाद'' को जन्म दिया जिसमें से वेदान्त के बहुत से मन्तव्यों का जन्म हुआ। सर्वेश्वरवाद ने दार्शनिक विकास को एक नया मोड़ प्रदान किया। जीव और ब्रह्म की एकता या तादात्म्य के सिद्धान्त ने आत्मनिरीक्षण व आत्मोन्नत्ति की ओर समाज को प्रेरित किया। मनुष्य केवल एक सुख-दुःख भोगनेवाला क्षणभंगुर जीव मात्र नहीं था, वह उस अमर ज्योति का ही अंश मात्र था, जिसमें से यह चराचर जगत् आविर्भूत हुआ है। कुछ विचारक तो और बढ़े और उन्होंने जीव और ब्रह्म के तादात्म्य का मन्तव्य उपस्थित किया। ''अहं ब्रह्मास्मि'' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। माया के परदे को अलग कर देने से विशुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है, यह महान् आदर्श विचारकों के सामने उपस्थित किया गया।

प्राचीन भारतीयों के दार्शनिक विकास का केवल सैद्धान्तिक रूप ही नहीं था, उसका व्यवहारिक रूप भी बहुत महत्वपूर्ण था। वरुण ''ऋत'' में हमें आर्यो के सर्वप्रथम नैतिक कार्यक्रम के दर्शन होते हैं जिसके अनुसार जीवन को अनुशासित करना प्रत्येक का कर्तव्य था। जो ऐसा नहीं करता था, उसके लिए वरुण के तीन पाश (बन्धन) सर्वदा तैयार रहते थे। वरुण के ऋत से ही प्रेरणा प्राप्त करके प्राचीन भारतीयों ने नैतिकता के नियमों को जन्म दिया। जिन्हें हम यम (पतन्त्रजलि योगसूत्र साधनापाद सूक्त 30) नियमादि (पतन्त्रजलि योग सूत्र साधनापाद सूक्त 32 शौच संतों ··· प्राणिधानानि नियमाः) के रूपमें देखते हैं। मनु के दशलक्षण युक्त धर्म भी इसी ऋत के आधार पर विकसित हुआ (मनुस्मृति 6, 92 धृति क्षमा दमाऽस्तेयं ··· दशकं धर्मलक्षणम्।) ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि विचारकों ने यम नियम, दाशलाक्षणिक धर्म आदि प्रवृति को ''एकेश्वरवाद'' का सूचक माना है (स्मिट, ओरिजन एण्ड ग्रोथ आफ रिलिजन पृ. 172)। मैक्समूलर के मत का खंडन हो चुका था। इतना सुनिश्चित है कि विभिन्न देवताओं में समान गुणों के आरोप तथा प्रत्येक की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। ऋग्वेद के कुछ ऋषियों ने स्पष्टतः बहुदेववाद को चुनौती

दिया। (दे. एकेश्वरवाद-ऋग्वेद 1, 164, 46)। इसी प्रकार अन्यत्र देवताओं के असुरत्व को एक माना गया (ऋग्वेद 3, 55)। दशम मंडल के कुछ सूक्त, जिनकी प्राचीनता संदिग्ध है, दार्शनिक चिन्तन का भी संकेत करते हैं इस प्रकार पुरुष सूक्त में सृष्टि का कारण भूत एक तत्व विराट पुरुष को तथा नासदीय सूक्त में अव्यक्त ''तदेकम्'' को बताया गया है। ऋक् संहिता में बहुदेववाद तथा एकेश्वर के सूचक मन्त्रों का साथ-साथ होना विस्मयजनक नहीं है, क्योंकि प्रत्येक समाज में एक ही समय में धार्मिक विश्वासों के विविध स्तर दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार की स्थिति प्रायः बौद्धिक वैषम्य के कारण उत्पन्न होती है।

ऋग्वेद के अनेक देवताओं में इन्द्र का प्राधान्य है (ऋग्वेद 1, 164,46)। वह युद्ध और जल का देवता है (ऋग्वेद 3, 55)। यहाँ तक कि इन्द्रिय शब्द प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी बल का पर्यायवाची है। आर्य प्रसार के युग में युद्धों का बाहुल्य उनकी लोक-प्रियता का कारण था। उत्तर काल में इन्द्र वर्षा के देवता के रूप में चर्चित हुए और इस प्रकार लोकप्रिय बने रहे। वरुण, सत्य और ऋत के पालक के रूप में माने जाते थे। जो ईरानी देव अहुरमन्द से संबंधित रखता है। इन सभी देवताओं को आगे विस्तार से वर्णन किया गया है।

4. आर्यो के प्रमुख देवता

धार्मिक जीवन के संबंध में वैदिक साहित्य में काफी सामग्री मिलती है, क्योंकि जहाँ भौतिक जीवन के साधन, समय पाकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गये, वहाँ धर्मपरायण आर्य जाति ने अपने साहित्य को बड़े परिश्रम से सुरक्षित रखा। वेदों को पढ़ने से मालूम होता है कि आर्यो का धार्मिक जीवन आदिम अवस्था से काफी आगे बढ़ चुका था। जैसा कि ऊपर कहा गया आर्यो ने असभ्य अन्धविश्वासों से ऊपर उठकर एक नये जीवन के उमंग में प्रकृति की दिव्य विभूतियों का दर्शन किया। प्रकृति के दृश्यों में उसके लिए एक विचित्र आकर्षण, कुतूहल, अनुराग एवं श्रद्धा थी। प्राकृतिक दृश्यों के भीतर उसको दिव्य सत्ता का स्पर्श और अनुभव हुआ। फिर इन्हीं दृश्यों को प्रकट करने वाले देवताओं की कल्पना हुई, जिनकी स्तुति और उपासना से वेद भरा हुआ है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल दैवी शक्तियों की उपासना और याज्ञिक अनुष्ठानों में ही बंध कर रह गये। वैदिक ऋचाओं का अनुशीलन करने पर अनेक ऐसे सूक्त मिलते हैं, जिनके द्वारा आर्यो ने धार्मिक जीवन द्वारा प्रतिपादित नैतिक नियमों को अपनाया था, तथा ये उन्हीं नियमों के अनुसार अपने जीवन को बनाते थे।

वेदकालीन विचारकों ने न केवल आन्तरिक जगत् को समझने की चेष्टा की, किन्तु बाह्य जगत् पर भी पूरी तरह से विचार किया। उन्होंने विभिन्न प्रकार से प्रकृति के रहस्यों को समझने का प्रयत्न किया। दृश्य और अदृश्य विश्व को समझने का प्रयत्न भी उन्होंने किया। उसके अनादित्व और अनन्तत्व का अनुभव भी उन्होंने किया। सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई, उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति क्या थी, इस संबंध में उन्होंने गंभीरतापूर्वक विचार किया, जिसको नासदीय सूक्त (ऋग्वेद 10.124) में देखा जा सकता है। सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में भिन्न-भिन्न सिद्धान्त उपस्थित किये गये, जिनके दर्शन ''हिरण्यगर्भ सूक्त (ऋग्वेद 10, 121) पुरुष सूक्त (ऋग्वेद 10.90) आदि में होते हैं।

नासदीय सूक्त में ''असत्'' व सत्'' के विवेचन द्वारा सृष्टि उत्पत्ति के पहले की परिस्थिति

तथा सृष्टि उत्पत्ति की प्रणालिका को समझने का प्रयत्न किया गया है। ''पुरुष सूक्त'' में मेध्य पुरुष से यज्ञ प्रणालिका द्वारा ऋष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। हिरण्यगर्भ सूक्त में हिरण्यगर्भ को प्रजापति नाम से सम्बोधित कर सृष्टि का उत्पादक, नियामक और संचालक माना गया है।

इस प्रकार वैदिक दार्शनिकों ने सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर विश्व की पहेलियों को बूझने का प्रयत्न किया था।

पूर्ववैदिक आर्यो का धर्म बहुदेववादी था। भौतिक प्रकृति तथा मानव जीवन के विविध व्यापारों के पीछे बहुविध शक्तियाँ अधिष्ठातृ के रूप में विद्यमान हैं। इन शक्तियों का ही देवता शब्द से अभिधान हुआ। देवताओं की सत्ता शुभ ज्योतिर्मय एवं अमर मानी गई है। संहिता में सभी देवताओं का मानवीकरण समान रूप से पूर्णता प्राप्त नहीं कर सका। अनेक स्थानों पर उनके शारीरिक अवयव उन प्राकृतिक दृश्यों के रूपात्मक प्रतिनिधि हैं, जिनके वे वस्तुत: प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ सूर्य के बाहु उसकी रश्मियाँ हैं और अग्नि की जिह्वा उसकी ज्वाला। आर्य लोग अपने विभिन्न देवताओं को मंत्र यज्ञ के द्वारा प्रसन्न करने का प्रयास करते थे, जिसका प्रमुख उद्देश्य लौकिक समृद्धि और कल्याण था। उनकी कल्पना में यह जगत-पृथ्वी अन्तरिक्ष और आकाश में विभक्त था। प्रत्येक लोक में अलग-अलग देवता थे (विस्तार के लिए आगे देखिये)। वैदिक ऋषियों ने इन देवताओं के व्यक्तित्व में प्राय: किसी भी देवता को सर्वोच्च घोषित किया है। मैक्समूलर ने इस प्रवृत्ति को उपपस्यदेव श्रेष्ठतावाद (हेनोथीज्म) नाम से अभिहित किया है तथा कुछ अन्य विद्वानों ने इसे तत्व चिन्तन् कहा।

सृष्टि के प्रति जिज्ञासा और कुतूहल के भाव प्रकट होते हैं आर्यो की इसी धार्मिक विचारधारा के फलस्वरूप आगे चलकर उपनिषदों तथा दार्शनिक ग्रन्थों की रचना हुई। इन ग्रन्थों में आर्यो की ब्रह्मविद्या, तत्वचिन्तन, या आत्म विषयक विचारधारा अथवा धारणा का वर्णन मिलता है। अनेक ऐसे विचारशील, तत्वज्ञानी मुनियों का उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है, जो आत्मा, ब्रह्म का स्वरूप सृष्टि, मानव-जीवन और मृत्यु जैसी कुतूहलमय समस्याओं को समझने की दिशा में तन्मय रहे हैं। इन रहस्यमय प्रश्नों को समझने और तत्वचिन्तन में लिप्त न केवल जनसाधारण व्यक्ति ही थे, अपितु अनेक ऐसे राजाओं का भी इस प्रसंग में उल्लेख मिलता है जिनकी राज्य सभा में ऋषि मुनियों को आश्रय मिलता था और ऐसे गूढ़ आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार होता था।

आर्यो के विश्वास अनुसार जिनके द्वारा अभ्युदय एवं निश्रेयस की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। श्रुति द्वारा जो कर्म समाज के कल्याण के लिए विहित हैं वे ''धर्म'' है। धर्म में ही समस्त जगत की प्रतिष्ठा है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म को प्रथम स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद में देवताओं की जो स्तुति की गई है उसमें भक्ति या श्रद्धा की भावना ही दिखाई पड़ती है। इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवताओं की स्तुतियों में भक्ति एवं श्रद्धा दिखाई पड़ती है।

ऋग्वेदीय देवताओं के तीन वर्ग है— द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथ्वी स्थानीय, और उनकी संख्या तैंतीस बतायी गई है। प्रत्येक वर्ग में ग्यारह देवता संबंधित किये गये हैं (ऋग्वेद 1, 36, 11)। तद्नुसार द्यौ, वरुण, मित्र, आदित्य, सविता, सूर्य, विष्णु, अश्विनौ, पूसा, उषस् आदि द्यु स्थानीय देवता कहे जाते हैं।

इन्द्र, मरुत्, रुद्र, वायु, पर्जन्य, आपः अपनिपात् आदि अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं और पृथ्वी सोम, अग्नि, बृहस्पति, आदि पृथ्वी स्थानीय देवता कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ नदियों को भी देवताओं में गिना गया है। मन्यु आदि कुछ भावात्मक देवता और द्यावापृथ्वी, मित्रावरुण, आदि युगल देवता भी वर्णित हैं। सरस्वती, वाक् से संबंधित एक-एक सूक्त हैं। ऋग्वेद में देवताओं के विविध रूप वर्णित हैं-प्रथम आधिभौतिक रूप जिनका सूक्ष्मरूप भौतिक इन्द्रियों से दृष्टिगम्य नहीं है। दूसरा आध्यात्मिक रूप आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक धार्मिक जीवन आध्यात्मिकता एवं नैतिकता से परिपूर्ण था। वे ऋग्वैदिक देवता ही धर्म के प्रेरणास्रोत थे।

देव मण्डल

देव अथवा देवता का अर्थ है ''प्रकाश'' ज्ञान या दान देने वाला। प्रकृति के जो दृश्य प्रकाश या ज्ञान देते हैं अथवा किसी प्रकार से मानव जीवन के लिए उपयोगी हैं, उनकी कल्पना देवता के रूप में की गई। कुछ देवताओं की गणना इस प्रकार है जिनकी आर्य पूजा करते थे।

1. द्यावा-पृथिवी (छितिज के छोरों को छूनेवाला आकाश और विस्तृत धरती)
2. वरुण (व्यापक आकाश और जी व के अधिपति, नैतिक देवता)
3. इन्द्र (वर्षा के अधिपति और आर्यों के राजसत्ता और सैनिक बल के प्रतीक)
4. आदित्य (सूर्य के कई रूप — सवित्, मित्र, पूषन्, विष्णु आदि)
5. रुद्र और शिव (प्रकृति के संहारक और सौम्य रूप)
6. मरुत्, वायु वात (वायु के भिन्न-भिन्न रूप)
7. पर्जन्य (बादल)
8. अश्विन् (प्रातः और सायं, संध्या का धुंधला प्रकाश)।
9. उषस् (अरुणोदय के पहले का प्रकाश)
10. अग्नि (पार्थिव और आकाशीय)।
11. सोम (सोम लता और चन्द्रमा)
12. भावात्मक देवता— अदिति, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, विराट, पुरुष, श्रद्धा, मन्यु (क्रोध), वाक्, आदि।

इस देववाद के युग में बहुत सी देवेतर योनियों को भी देवता का पद मिला। भृगु और अंगिरस जो कभी मानव ऋषि थे, देवता माने गये। अप्सराएँ और गंधर्व भी अर्द्ध-देवयोनि में आ गये। नदी वृक्षों का भी दैवीकरण हुआ। सरस्वती, नदी न रहकर वाक् और विद्या की अधिष्ठात्री देवी हो गई। देव-मण्डल के साथ-साथ राक्षस तथा निशाचर मण्डल की भी कल्पना हुई। प्रकृति की अन्धकारमयी और विनाशकारिणी शक्तियों की कल्पना इन रूपों में की गई। ऋग्वेद के टीकाकार यास्क हैं, इन्होंने ''निरुक्त'' शायद ईसा पूर्व 500 लिखा है। इस टीका में यास्क ने बताया कि बहुत पहले ब्राह्मण अप्रचलित शब्दों के वास्तविक अर्थ को भूल चुके थे। परन्तु ऋग्वेद के धर्म की रूप रेखा काफी साफ हैं। पूजा

मुख्यत: देवताओं की होती थी। ''देव'' शब्द की उत्पत्ति और लैटिन देयुस (deus) की उत्पत्ति एक समान है। आर्यो के देवता आकाश (दित्) से संबंध रखते थे और पुरुष प्रधान थे। पृथ्वी, अदिति, रात्रि, अरण्यानि आदि कुछ ही देवियाँ ऋग्वेद में वर्णित हैं। इन देवियों का पूजन विधि में कुछ भी महत्व नहीं था।

बहुत पहले आर्यो, इरानियनस, ग्रीक, रोमन्स, स्लायस और सेल्ट्स धर्म अभिन्न नहीं तो सामान्य थे। आर्यो के भारत प्रवेश करने के समय तक उन्होंने इंडो यूरोपियन विश्वास का विकास कर लिया था। इंडो यूरोपियन लोगों का "great father" देवता, जो ग्रीक का जेयुस (Zeus) और लैटिन का जुपिटर था वह आर्यो का द्युस (Dyaus) के रुप में जाना जाने लगा। द्युस का मानवीकरण हुआ परन्तु तारे स्थिर रहे। पिता आकाश को सभी देवताओं का पिता कहा गया। परन्तु ऋग्वेद के कुछ ही मन्त्र उसकी स्तुति में रचे गये, उनके बच्चों की स्तुति में ही बहुत मन्त्र रचे गये।(A. L. Basham, The Wonder was India p. 232)

द्युस्थानीय देवता

द्युस्थानीय देवताओं में द्यौस् का महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ सूक्तों में उसे ''वृषभ'' कहा गया है। उसका रंग पीला है, और वह सदा नीचे की ओर रम्भाता है। एक अन्य सूक्त में उसे मुक्तालंकृत से तुलना की गई है। एक दूसरे ऋषि ने इसे वस्त्रधारी देवता बताया है। द्यौस को प्राय: पृथ्वी के साथ संयुक्त देवता माना गया है, और द्यावा-पृथिवी के रूप में प्रसिद्ध है। ऋग्वेद में द्यावापृथिवी को जगत् का माता-पिता बताया गया है। ऋग्वेद में कुल छ: सूक्तों में इसका वर्णन आया है।

वरुण

इन्द्र के बाद इसका महत्व दूसरे स्थान पर आता है। यह अन्य देवताओं से भिन्न है। विभाजन के पहले जिस प्रकार द्युस इंडो यूरोपियन का मुख्य देवता था उसी प्रकार वरुण भी इंडो ईरानियन लोगों का प्रमुख देवता था। इंडो यूरोपियन लोग कुछ उत्तर-पच्छिम भारत में बस गये और दूसरे परसियन पठार में बसे, वरुण का नाम अवास्तविक ग्रीक स्वर्गिक देवता उरनुस से संबंध रखता है, यह कुछ विशेषज्ञों का मानना है। वेदों की रचना के समय इन्द्र के सामने वरुण की महत्ता नहीं थी, परन्तु बहुत शताब्दियों तक अपना महत्व बनाये रखा (A. L. Basham . The wonder was India p. 232)

द्युस्थानीय देवताओं में वरुण सब से अधिक शक्तिशाली बताया गया है। ऋग्वेद में इसे ''असुर'' कहा गया है। ''असुर'' शब्द का अर्थ है प्राणदायक। अवेस्ता में उसे ''असुर'' कहा गया है। वरुण का रूप एकान्त सुन्दर, उसका शरीर, हृष्ट-पुष्ट एवं मांसल है। वह सुनहरे कवच को धारण करता है, जो दर्शकों को चकाचौंध कर देता है। सूर्य उसका नेत्र है जिसके द्वारा वह दूर-दूर तक देख लेता है। उसका रथ सूर्य की तरह चमकता है, जिसमें सुन्दर घोड़े जुते हुए होते हैं। ऊर्ध्वलोक में एक सहस्र स्तम्भों एवं द्वारों से मण्डित उसका भव्य प्रासाद है, जहाँ बैठकर वह लोकों का निरीक्षण करता है। वह स्वराट् एवं सम्राट् की उपाधियों से विभूषित है। उसकी शारीरिक एवं नैतिक शक्ति अपार है। उसकी शक्ति का नाम माया है, जिसके द्वारा वह जगत् का रक्षण एत्रं संचालन करता है। उसी के द्वारा वह उषस् को प्रेरित करता है और सूर्य को भी भ्रमणार्थ नियोजित करता है (ऋग्वेद 5, 6, 34)। वरुण का नियम

अत्यंत दृढ़ है। उसमें अपार शक्ति है। वरुण के नियम को ''ऋत'' कहा गया है। उसके शासन में देवता भी रहते है। उसके शासन में ही रात में चन्द्रमा सञ्चार करता है और तारे चमकते हैं। उसी शासन से ही नदियाँ सतत् प्रवाहित होती है। उसी के शासन से पर्वत मेघाच्छन्न, होते हैं। आकाशमंडल में बहने वाला वायु उसी का निःश्वास है। वह सर्वज्ञ एवं सब जगह व्याप्त है। वह आकाशगामी पक्षियों के मार्ग को, समुद्रगामी नावों के पथ को, सुदूर तक बहने वाले वायु के मार्ग को भलीभाँति जानता है। वह मनुष्यों के कार्यकलापों को जानता, एवं इतना शुद्ध और पवित्र था कि केवल यज्ञ मात्र से वह खुश नहीं होता था क्योंकि पाप से उसे घृणा थी। बहुत से धार्मिक पाप और निषेधों का उल्लंघन, झूठ पाप में गिने जाते थे। क्रोध, मद्यपान, जूआ और बुरे आदमियों के प्रभाव से किये गये बुरे कामों से वरुण और मित्र देवता को घृणा थी। वरुण और गुप्तचर बैठते थे, जो कि पूरी दुनिया में घूमते रहते थे। वह मानवों के झूठ सच का साक्षी है। नैतिक प्रशासन के रूप में तो वरुण से बढ़ कर और कोई देवता है ही नहीं। वह पापियों से क्रुद्ध होता है और नियम भंग करने वलो को कठोर दंड देता है। पापियों को बाँधने के लिए उसके पास पाश है जिसे ''वरुणपाश'' कहते हैं। ये पाश संख्या में तीन हैं— उत्तर, मध्यम एवं अवर, जिसे ऋत द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। वह अत्यंत दयालु है जो अपने पापों के लिए पश्चात्ताप करता है उसे वह क्षमा कर देता है, और पापों से मुक्त कर देता है। इस प्रकार वरुण समस्त विश्व का ''अध्यक्ष'' था, किन्तु परवर्ती पुराणकाल में उसकी सार्वभौमिकता धीरे-धीरे विगलित हो गई और मात्र जल का देवता रह गया।

मित्र

सौर देवताओं में ''मित्र'' सबसे प्राचीन है। वैदिक काल में ही ''मित्र'' का अपना अस्तित्व समाप्त हो गया था, और वरुण में अन्तर्भाव हो गया। अत: ''मित्र'' का आह्वान सदा वरुण के साथ किया है। अक्रेले ''मित्र'' का वर्णन करने वाला केवल एक सूक्त है। अवेस्ता में ''मित्र'' को सूर्य का प्रतीक माना गया है। प्रतिज्ञा और समझौता इस देवता की विशेषताएँ थीं।

सूर्य

सौर देवताओं में सूर्य सबसे शक्तिशाली है। उसका संबंध प्रकाश से है, द्यौस् उसका पिता और अदिति उसकी माता है। अवेस्ता में उसे ''ह्वरै'' कहा गया है। वह समस्त विश्व का द्रष्टा है। और मनुष्यों के कर्म का प्रेरक है। वह स्थावर एवं जङ्गम जगत की आत्मा है। वह सब के पुण्य एवं पाप कर्मो का द्रष्टा है। वह ''हरित'' नामक सात तेज चलने चाली घोड़ियों से जुते हुए रथ पर बैठकर चलता है। संध्या के समय वह अपने घोड़ियों को खोल देता है अनेक मंत्रों में आकाश में उड़ने वाले पक्षियों के रूप में उसका चित्रण है। सूर्य, अन्धकार को दूर करता है, दिन का मापक है जीवन का वर्द्धक है,र ोग का नाशक है और दुःस्वपनों को दूर करता है। वह विश्व का नियामक है।

सवितृ

सौरमंडल का एक देवता सवितृ भी है। वह सूर्य की गति को प्रेरित करता है, इसलिए उसे सविता कहते हैं। ऋग्वेद के 11 सूत्रों में सवितृ का वर्णन आया है। वह हिरण्यमय देव हैं। वह सोने के रथ में बैठकर भ्रमण करता है और समस्त विश्व को अपने हिरण्यमय नेत्रों से देखता है। वह अपनी

स्वर्ण भुजाओं से लोक को जागरित करता है वह उषा के पथ का अनुसरण करता है। वह दानवों और दुःस्वप्नों का नाशक है। वह देवताओं को अमर बनाता है। मानवों के आयु का वर्द्धक है। इन्द्र, जैसे शक्तिशाली देव भी उसके शासन को स्वीकार करते हैं। प्रेरक होने के कारण वेदारम्भ के समय उसका स्मरण किया जाता है। (दे. आर्यों की शिक्षा, अध्याय 2 पृ. 317)

पूषन्

पूषन् का वर्णन ऋग्वेद के आठ सूत्रों में आया है। उसके सिर पर जटायें और हाथ में सुवर्ण तथा अंकुश है। उसके रथ में बकरे जुते होते हैं। उस पर बैठकर वह आकाश मार्ग में गमनामन करता है और संसार का निरीक्षण करता है। प्रेतात्माओं को पितरों के पास पहुँचाता है। वह पथ का अध्यक्ष है। वह प्राणियों को परलोक में पहुँचने के पथ प्रर्दशन का कार्य करता है। वह पशुओं का रक्षक है, बिना किसी हिंसा के उन्हें घर पहुँचा देता है। वह पोषणशक्ति का प्रतीक है। वह सूर्य की कन्या सूर्या का पति है। उसका निवास स्वर्ग में है।

विष्णु

ऐतिहासिक दृष्टि से सौरमंडल के देवताओं में विष्णु का सर्वाधिक महत्व है। उसका नाम त्रिविक्रम है। वह अपने तीन "डगों" से विश्व को माप लेता है। वह विशाल डगों के कारण ही उसे उरुक्रम तथा उरुगाय भी कहते हैं। उसकी उपमा यथेच्छ भ्रमण करने वाले सिंह (पर्वतीय) से दी गई हैं। उसका सर्वोच्च पदक्रम उर्ध्वतम और उसके परमपद में अमृत का स्रोत है। ऋग्वेद के सूक्तों में कई बार यह आया है कि वह अकेले ही अपने तीन (कदमों) पदक्रमों से विश्व का मापन करता है और अपने विशाल पदक्रमों से त्रिलोकी में भ्रमण करते है। उसका परमपद सब से उत्तम स्थान है, जहाँ पर मधु (अमृत) का झरना है। वहाँ पर प्रभूत श्रृंगों से युक्त (भूरिश्रृंगा) गायें हैं। वहाँ पर प्रकाश है और वह सदैव प्रकाशमान रहता है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि विष्णु त्रिपाद से ऊर्ध्वलोक (परमपद) में निवास करता है और एकपाद से अधोलोक में अवस्थित रहता है।

इस प्रकार प्रकृति भगवान विष्णु की एकपादविभूति के अन्तर्गत है। त्रिपाद उसकी नित्य विभूति है जो उसका परम पद कहा जाता है। ब्राह्मणों में उसके वामन अवतार का संकेत मिलता है कि उसने वामन का रूप धारण कर तीन पादक्रम से पृथ्वी का उद्धार किया था। पुराणों में यही अवतार-वाद का आधार बना।

अश्विन्

अश्विन् युगल देवता हैं, जो सदा एक अविभक्त रूप में रहते हैं। ऋग्वेद के पचास सूक्तों में इनकी स्तुति की गई है। ये द्यौः के पुत्र हैं और युवक एवं सुन्दर हैं। इनका रूप स्वर्णमय है और कमलों की माला से अलङ्कृत हैं। इनका पथ भास्कर है जिस पर वे सदा आरूढ़ रहते हैं। ये मधु के प्रेमी हैं। इनके पास मधु का कोष भरा रहता है। इनका रथ, घोड़ों के द्वारा खींचा जाता है। इस पर बैठकर प्रतिदिन द्यावापृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। ये सूर्योदय के पूर्व सबेरे प्रकट होते हैं और उषा के आविर्भाव के पश्चात् उसका अनुगमन करते हैं। ये सूर्यपुत्री के सहचर हैं। सूर्या इनके पथ पर साथ रहती हैं।

आश्विन लोकरक्षक देव हैं। ये प्राणियों की आपत्तियों से रक्षा करते हैं। वे देवों के कुशल चिकित्सक हैं जो औषधियों द्वारा रोगों को दूर करते हैं। अन्धों को दृष्टि प्रदान करते हैं और पं गुओं को गति। इन्होंने ही च्यवन ऋषि की वृद्धता को दूर कर उन्हें यौवन प्रदान किया था। उन्होंने ही विपश्चला के कटे हुए पैर को लोहे से जोड़ दिया था। इन्होंने ही अत्रि का अन्धकार के कारागार से, भृज्यु का समुद्रतल से उद्धार किया था। वे प्रातः एवं सायंकालीन नक्षत्र के घोतक तथा कुछ प्रकाश एवं कुछ अन्ध कार वाले काल के प्रतीक हैं। ये ग्रीक जुँएस के दो पुत्रों एवं हेलेना के दो भाईयों से मिलते जुलते हैं। ये नासत्यौ के नाम से प्रसिद्ध हैं। बूढ़ी युवतियों के लिए लड़के भी इन्होंने ढूँढ़े हैं।

उषा

ऋग्वेद के बीस सूक्तों में उषा का चरित्र है और तीन सौ से अधिक बार उसका उल्लेख हुआ है। उषासूक्त में गीतिकाव्य का मनोरम रूप मिलता है। उषा का मानवीरूप देदीप्यमान एवं परम सौन्दर्यमय है। ऋग्वेद के मंत्रों में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

द्युलोक की दुहिता उषा एक परम सुन्दरी कन्या है और श्याम रजनी उसकी बहन है। वह नर्तकी के समान प्रकाशमय सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होकर मुस्कुराती प्राची दिशा में उदित होती है और अपने मोहिनी रूप को प्रकट करती है। अपने मोहिनी रूप से देदीप्यमान वह कुमारी अपनी कान्ति चारों ओर बिखेरती है, अपनी सम्मोहक कमनीयता को प्रदर्शित करती है। वह द्युलोक के द्वार को खोलती है और अंधकार को दूर करती है। वह अपनी बहन रजनी के श्याम परिधान को उतार कर दूर फेंक देती है। उषा को ''पुराणी युवति'' कहा गया है। वह प्राचीन होकर भी नित्य नवीन रूप में प्रकट होती है, उसकी कान्ति देदीप्यमान है, और वह लाल वर्ण के घोड़ों या बैलों से जुते हुए चमकीले पथ पर बैठकर स्वेच्छा से विचरण करती है। उस समय पक्षीगण कलरव द्वारा और स्तोता ऋषिगण मधुर गीतों से उसका स्वागत करते हैं। वह प्रातः सभी उपासकों को जागृत करती हे और अग्निहोत्र के लिए उन्हें प्रेरित करती है (ऋग्वेद 1, 113)।

उषा का सूर्य से घनिष्ठ संबंध है। उषा सूर्य की प्रेयसी है और सूर्य उसका प्रियतम। वह सूर्य के लिए द्वार खोल देती है। उसके लिए मार्ग प्रशस्त करती है और उसके लिए श्रृंगार कर दमकती आभा को बिखेरती हुई सामने आ खड़ी होती है। सूर्य अपनी प्रेयसी के पीछे उसी तरह दौड़ता है, जिस प्रकार कोई युवक किसी युवती कन्या के पीछे-पीछे दौड़ता है। कुछ सूक्तों में उषा को सूर्य की माता कहा गया है। उषा, रजनी की बड़ी बहन है। दोनों बहनों में परस्पर स्नेह और प्रेम है। दोनों में संघर्ष नहीं होता दोनों ही बहनें एकत्रित होकर अपने-अपने समय के अनुसार अपना-अपना काम करती हैं। दोनों का मार्ग एक ही है। दोनों बारी-बारी से अपने उसी मार्ग पर चलती रहती हैं। एक स्थान पर अग्नि को, उषा का कामुक बताया गया है उषा प्रतिदिन नया प्रभात लेकर आती है और अत्यन्त भास्वर रूप धारण करती हुई चारों ओर अपनी कमनीय आभा बिखेरती है। वह सविता की शुभयात्रा के लिए कल्याण मय पथ प्रस्तुत करती है, और हमारे लिए नव जागृति एवं जीवन को स्फुरित करती है।

अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता

इन्द्र

अन्तरिक्ष मंडल के देवताओं में इन्द्र सब से प्रमुख देवता है। उसके व्यक्तित्व रूप, स्वभाव,

क्रिया कलाप आदि का जितना व्यौरेवार वर्णन ऋग्वेद में है उतना किसी अन्य देवता का नहीं है। उसका वर्णन ऋग्वेद के 250 सूक्तों में विस्तार के साथ किया गया है। उसका शरीर स्वर्ण के समान देदीप्यमान, सुगठित एवं बलशाली है। उसका रंग भूरा है और उसकी दाढ़ी एवं उसके बाल भी भूरे हैं। आकार में वह दैत्य के समान है। उसकी ठुड्ठी बहुत सुन्दर है, वह हाथ में वज्र धारण करता है। उसका वज्र लोहे का बना होता है। उसकी शक्ति अनन्त है। उसकी शक्ति और उत्साह का न तो कोई देवता और न मर्त्य प्राणी ही मुकाबला कर सकता है। द्युलोक और पृथ्वी लोक, उसकी एक मुट्ठी में समा जाते हैं। वह अपनी शक्ति से देवता-समूह को पराभूत कर देता है। उसकी शक्तिमत्ता के कारण ही उसकी तुलना ''वृभभ'' से की गई है। उसका रथ सुनहरा है और उसमें भूरे रंग वाली घोड़े जुते रहते हैं जिस पर बैठकर वह युद्ध करता है। उसकी सोमपान की क्षमता अनन्त है। वृत्रवध के समय वह सोम से भरे हुए तीन तालाब पी गया था। एक स्थल पर बताया गया कि एक बार वह सोम से भरे हुए (30) तालाब पी गया था। सोमपान से ही वह अपना पेट भरता है। जब वह जी भरकर सोमपान कर लेता है, तब वह अपनी ठुड्डियों को हिलाता है। सोमपान से उसमें अपूर्व शौर्य एवं उत्साह की अभिवृद्धि होती है, जिससे वह वीरतामय कार्यो को करता है।

इन्द्र आर्यो का देवता है अनार्यो (अदेवयुः) का दमन करता है। उसने अनार्यों के कोष भंडार को लूटा।

इन्द्र ने शंबर, विप्रु, अर्थनासस्, शुष्ण (जो संभवतः अनावृष्टि का साकार रूप था) नमुचि आदि अनेक दानवों की हत्या की। इनमें से कई नाम अनार्यो के जान पड़ते हैं। शत्रुओं को काले (कृष्ण) और चपटी नाकवाले (अनासस्) कहा गया है। इन्द्र (पुरन्दर) ने घनी आबादी वाले जिन पुरों या दुर्गों को नष्ट किया उन्हें आलंकारिक भाषा में ''कृष्ण भ्रूणों से गर्भित'' कहा गया है।

जिस एक साहसिक कार्य के लिए इन्द्र की बार-बार स्तुति की गई है वह है ''नदियों की मुक्ति।'' उन्नीसवीं सदी में, जब प्रकृति संबंधी मिथकों से हर प्रकार की घटना को, यहाँ तक कि होम के काव्य में वर्णित ट्रॉय के विध्वंस को भी, समझाया जा रहा था, तब उपर्युक्त कथन का अर्थ लगाया गया, वर्षा लाना। इन्द्र बादलों में बन्द जल को मुक्त करने वाला वर्षा का देवता बन गया। परन्तु वर्षा का वैदिक देवता पर्जन्य है। जिन नदियों को इन्द्र ने मुक्त किया था वे ''कृत्रिम व्यवधानों''से रोकी गई थीं। दानव वृत्र ''एक विराट सर्प की तरह पर्वत की ढाल पर लेटा हुआ था। इन्द्र ने जब इस दानव की हत्या की तो पत्थर, गाड़ी के पहिये की तरह लुढ़कने लगे और दानव की निर्जीव देह के ऊपर से जल बह निकला। इस वर्ण की समस्त अलंकार के बावजूद इसका केवल एक ही अर्थ हो सकता है— ''बाँध का विध्वंस। योग्य भाषा-शास्त्रियों के विश्लेषण के अनुसार, वृत्र शब्द का अर्थ '' बाधा'' अथवा व्यवधान है, कोई दानव नहीं। इस अपूर्व कार्य के लिए इन्द्र को वृत्रहन् कहा गया है। यही शब्द ईरानी में परेत्रध्न बनकर महान जरतुश्ती देवता अहुरमज्द के लिए प्रयुक्त होने लगा।

इन्द्र द्यौस का पुत्र है, इन्द्राणी उसकी पत्नी है। भारतीयों का वह लोकप्रिय देवता है।

इन्द्र का वृत्र के साथ युद्ध का वर्णन वीर रस से परिपूर्ण है। कई सूक्तों में इन दोनों के युद्ध का वर्णन है। सोमपान करके वह अपने वज्र से वृत्र का वध करता है, जो जल को बहने से रोके रहता

है और झुलसी भूमि पर वृष्टि करता है। वह पर्वतों को चूर-चूर कर डालता है और गुफा में बँधी हुई गायों के समान जल बहने के लिए मुक्त कर देता है। मुक्त होते ही जल वृत्र के शव पर द्रुत गति से बहने लगता है (ऋग्वेद 1,32)। वृत्र को अपने बल पर बड़ा अहंकार था। वह अपनी चालाकी से सदा इन्द्र से बचा रहता था, किन्तु इन्द्र ने उसे चालीसवें वर्ष में खोज निकाला और उसे वज्र से छिन्न-भिन्न कर डाला जब उसने वृत्र का वध किया तो उस समय द्युलोक और पृथ्वीलोक काँपने लगे थे। इन्द्र, वृत्र का कई बार वध करता है। सूक्तों में उसकी स्तुति की गई है कि बार-बार वृत्र का वध करे, जिससे अवरूद्ध जल प्रवाहित होता रहे।

यास्क के अनुसार वृत्र मेघ का प्रतीक है, वह मेघ में अनावृष्टि का कारण है और जलवृष्टि न करने वाले मेघ ही का प्रतीक है। इन्द्र उसे वज्र से छिन्न -भिन्न करके वर्षण के योग्य बनाता है। कुछ व्याख्याकार इन्द्र को तड़ित झंझा का देवता मानते हैं। उनका कहना है कि मेघ ही पर्वत है, जिसमें जल का अवरोध है। इनमें वृत्र ही जल का अवरोधक है। पाश्चात्य विद्वान् हिलकाण्ट का मत है कि वृत्र शीत दैत्य है जिनके कारण नदियों में बर्फ जम जाती है और उनका जल प्रवाह रूक जाता है। इन्द्र बर्फ को नष्ट कर उसे प्रवाह के योग्य बनाता है। सूर्य के द्वारा हिम (बर्फ) जलने लगते हैं और नदियों में जल प्रवाहित होने लगते हैं। इन्द्र सोमपान का इतना व्यसनी है कि कभी-कभी वह इतना सोमपान कर लेता है कि उसके नशे में वह मदमस्त हो जाता है (ऋग्वेद 10, 119 पूरा सूक्त)।

ऋग्वेद के एक मंत्र में इन्द्र के पराक्रम कलापों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

जघान वृत्रं स्वधितिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
विभेद गिरिं नवभिन्न कुम्भ मा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भि:

।।10, 89, 7।।

"जंगल को जैसे कुल्हाड़ी काट देता है, वैसे ही इन्द्र ने वृत्र को काट डाला और शत्रुओं के नगर को नष्ट कर दिया। उन्होंने घट के समान मेघ को तोड़ कर वर्षा के जल से नदियों के लिए मार्ग बनाया। इन्द्र ने अपने सहायक मरुदगण के जल को हमारे अभिमुख कराया।"

युद्ध में मरुत सदा उसके साथ रहते हैं और अग्नि, सोम तथा विष्णु भी उनकी सहायता करते हैं। इन्द्र अपने स्तोताओं का रक्षक एवं मित्र है, वह उन्हें धन देता है, अत: उसे मघवन् कहते हैं। ऋग्वेद में इन्द्र और वरुण समान थे, किन्तु उत्तर वैदिक काल में इन्द्र का महत्व बढ़ गया। ब्रह्मण एवं पौराणिक युग में वह देवेन्द्र हो गया। वह अत्यन्त उदार है। यही उसके चरित्र की सर्वाधिक विशेषता है। इन्द्र युद्ध संबंधी गीत गाते आकाश को पार करता है। आर्यो की अनेक दन्तकथायें थीं जिनमें इन्द्र नायक था। परन्तु स्तोत्रों के गुप्त संकेतों से किसी भी दन्त-कथा का विस्तार से पुननिर्माण नहीं हो सका। परन्तु इन्द्र की दो विशेषताएँ उसे इन्डो यूरोपियन पौराणिक दन्तकथाओं से जोड़ती हैं। ये दन्तकथायें पूरे प्राचीन यूरोप में विभिन्न देवताओं और नायकों के लिए प्रयुक्त थी-इन्द्र परदार साँप को मारनेवाला और आँधी पर सवार होने वाला था। उसके चरित्र की पहली विशेषता, मेसोपोटामिया से उद्घृत है (A. L. Basham the wonder that was India pg. 232-33)

रुद्र

ऋग्वेद में केवल तीन सूक्तों में रुद्रों की स्तुति की गई है। ऋग्वेद में यह विष्णु की अपेक्षा कम महत्व का है, किन्तु उत्तर वैदिक काल में यह महत्वपूर्ण देवता के रूप में उभरता है।

रुद्र का शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उसके होंठ अत्यन्त सुन्दर हैं और उसके सिर पर जटाजूट है। उसका रंग भूरा और आकार दीप्तिमान है। वह अनेक रूपों को धारण करने वाला है। उसके अंग देदीप्यमान स्वर्णभूषण हैं। वह सुन्दर रथ पर आरूढ़ होकर चलता है। ऋग्वेद में उसे "त्रयम्बक" कहा गया है। वह मरुत् का पिता है। उसके पास रोगनाशक औषधियाँ हैं, जिनके द्वारा वह तक्मन (ज्वर) एवं विष का वमन करता है उसे सर्वश्रेष्ठ वैद्य कहा गया है।

यह धनुर्धर देवता है, जिसके तीर बीमारी पैदा करते हैं। इन्द्र के समान आँधी से संबंधित है परन्तु उसके समान लोकप्रिय नहीं है। यह पर्वतों पर निवास करता है और भयभीत करने वाला देवता है। उसके तीर फेंकने से प्लेग जैसे बीमारी होती है। एक अच्छाई उसमें है कि वह रोग दूर करने वाले शाकों (जड़ी-बूटियों) का संरक्षक है। परन्तु अपने प्रियपात्रों को ही स्वास्थ्य देता है।

मरुत्

ऋग्वेदमें 33 सूक्तों में इसका स्वतंत्र वर्णन है और सूक्तों में इन्द्र के साथ तथा एक-एक सूक्त में अग्नि तथा पूषन् के साथ उनका वर्णन है। मरुत् संख्या में 21 हैं और कहीं-कहीं उनकी संख्या 100 बताई गई है। मरुद्गण रुद्र के आत्मज हैं और पृश्नि इनकी माता कही गई है। इनकी पत्नी का नाम रोदसी है जो रथ पर इनके साथ आरूढ़ रहती है। मरुत् शक्तिशाली देव है। वे हाथ में भाले एवं परशु लिए रहते हैं, और सिर पर शिरस्त्राण धारण किये रहते हैं उनका रंग स्वर्णमय एवं शरीर दीप्तिमान् है। उनके प्रभाव के सामने द्यावा-पृथिवी एवं पर्वत काँप उठते हैं। जलवृष्टि कराना उनका प्रमुख कार्य है। उस समय वे सूर्य को अन्धकार से आच्छन्न कर देते हैं, पृथ्वी को भिंगो देते हैं, अमृत की वर्षा करते हैं, और पृथ्वी को जल से आद्र करते हैं। वे बिजली के समान चमकते हुए स्वर्णमय रथ पर आरूढ़ रहते हैं। उनका स्वरूप वन्य वराह के समान भीषण है। वे वृत्र के वध में इन्द्र की सहायता करते हैं और रुद्र के समान विपक्षियों से रक्षा एवं रोगों का निवारण करते हैं। ये मरुद्गण अपने बाहुबल से उसी प्रकार चमकते रहते हैं, जिस प्रकार नक्षत्रमण्डल से आकाश चमकता है।

पर्जन्य

ऋग्वेद के केवल तीन सूक्तों में ही पर्जन्य की स्तुति की गई है और सम्पूर्ण वेद में केवल तीस बार इनका उल्लेख हुआ है। यह वृष्टि का देवता माना जाता है। अनेक मंत्रों में पर्जन्य मेघ का वाचक है। पर्जन्य जलवर्षक मेघ के साथ निकट संबंध रखता है, इसीलिए जलधर पर्जन्य को ऊधस, दोहनपात्र और अशक भी माना है। इसकी तुलना बलीवर्द से की जाती है। वृष्टि करना ही उसका प्रमुख कार्य है। वह गर्जन एवं बिजली के साथ जलमय रथ में बैठकर आकाश में गमन करता है। जिस प्रकार सारथि कोड़ों से घोड़ों को भगाता है उसी प्रकार वह वृष्टिदूतों को तेजी से भगाता है। जब वह गगन मंडल को वृष्टि से व्याप्त कर देता है, तब दूर से सिंहनाद करता है (ऋग्वेद 5, 83,3)। पर्जन्य अपनी शक्ति से वृक्षों को धराशायी कर देता है, राक्षसों का वध करता है। सारा विश्व उसके भय से काँपता है। जब वह

पृथ्वी में बीज का आधान करने को उद्यत होता है तो उस समय झंझावात उठता है, बिजली तड़कने लगती है, औषधियों से अङ्कुर निकलने लगते हैं और नभोमंडल जलाद्र हो जाता है (ऋग्वेद 5, 83,2-4)। धारापात वर्षा के समय वह सिंहगर्जन करता है, मेंढक, पर्जन्य द्वारा उद्‌बुध होकर टर्र-टर्र करते हैं। वह द्यौस का पुत्र है और सोम का पिता। विद्युत, अग्नि, मरुत एवं वात के साथ उसका संबंध है। वह दुराचारिणों का विध्वंसक है।

पृथ्वीस्थानीय देवता

अग्नि

अग्नि भूमंडल के देवों में सर्वश्रेष्ठ देवता है। ऋग्वेद के लगभग 200 सूक्तों में अग्नि की स्तुति की गई है। इस लोक में सारा यज्ञिय कार्य-कलाप अग्नि के द्वारा ही संपन्न होता है। अग्नि की आकृति दीप्तिमान है। ज्वाला ही उसका केश है, उसके बालों से घी चूता है, धूम्रवर्ण की श्मश्रु है, उसका मुख देदीप्यमान है, चमकीले इस्पात के समान उसके दाँत हैं, उसके त्रिमूर्ध सप्तरश्मि और उसके अश्व भी जिह्वा वाले हैं। धृतपृष्ठ, धृतमुख, धृतकेश, धृतलोक आदि उसके नाम है। एक ऋषि अग्नि के एक सहस्र शृंगों की चर्चा करता है। ऊपर उठती हुई उसकी ज्वालाओं की सींग के रूप में कल्पना की गई है। अग्नि अपनी सींगों को तीक्ष्ण करता है और क्रोध में उन्हें हिलाता है। एक सूक्त में अग्नि को अश्व रूप बताया है। ज्वालाएँ उसकी पूँछ हैं। वह हर्षोल्लास से हिनहिनाता है और तीव्रगति से दौड़ता हुआ देवों के पास पहुँच जाता है। कहीं उसे श्येन पक्षी कहा गया है और कहीं उसकी तुलना गरुड़ से की गई है। अग्नि अपने तीक्ष्ण दाँतों से वनों को खा जाता है, उनका चर्वण करता है और शत्रुओं पर आक्रमण करने वाले योद्धाओं के समान उन पर आक्रमण करता है (ऋग्वेद 1, 143, 5)। एक मंत्र में बताया गया है कि वह सदागति वायु से प्रेरित होकर वनों में संचरण करता है और नापित के समान पृथ्वी केशों (घास-पूस) को काट डालता है (ऋग्वेद 1, 5, 8)। वनों में संचरण हुआ वह वृषण की हुंकार के समान गर्जन करता है। उसका भक्ष्य तृण, काष्ठ एवं छवि है और धृत उसका पेय है। अपनी विजयपताका फहराता हुआ व्योममंडल को धूम से आवृत कर देता है इसीलिए उसे धूमकेतु कहा गया है। वातप्रेरित धूम्रवर्ण अश्वों से वाहित रथ से संचरण करता है और सारथि के साथ देवताओं को यज्ञभूमि पर लाता है। इसी लिए उसे पुरोहित कहा गया है। उसे ऋत्विक, होता, पुरोहित, जातवेदाः आदि नामों से पुकारा जाता है।

अग्नि का अर्थ आग है और इस शब्दका संबंध ''लैटिन'' के ''इंगनिस'' से संबंध रखता है। प्रारंभ में वह अटकलों और प्रारंभिक रहस्यवाद की वस्तु थी। वह पुरोहित का देवता है जो अग्नि-यज्ञ के समय उसके साथ रहता है। वह घर का भी देवता है। वह मनुष्यों और देवताओं के बीच मध्यस्थता का काम करता है। वह यज्ञ को देवताओं के पास पहुँचाता है। विद्युत के रूप में वह स्वर्ग के पानी में निवास करती है। पृथ्वी पर उसके अनेक रूप हैं। वह अग्नि की झाड़ियों में छिपा रहता है जिससे यज्ञ की आग सुलगायी जाती है। अग्नि क्या है अथवा बहुत अग्नि देवता हैं। एक ही समय में अग्नि एक और अनेक कैसे हो सकता है? इस प्रकार के प्रश्न ऋग्वेद में पूछे गये हैं और अद्वैतवाद के प्रारंभिक चिन्ह दिखलाये गये हैं।

अग्नि के जन्म के संबंध में विविध कल्पनायें हैं। अग्नि के तीन जन्मस्थान, तीन योनियाँ, तीन गृह और तीन रूप हैं। सर्वप्रथम वह आकाश में जन्म लेता है। वहाँ सूर्य ही अग्नि के रूप में प्रदीप्त होता है, द्यौस् उसका पिता है। द्वितीय बार उसका पृथ्वी पर जन्म ही अग्नि के रूप में प्रदीप्त होता है। वहाँ दो अरणियाँ उसके माता-पिता हैं। दो अरणियों के मन्थन से उसका जन्म होता है और जन्म लेते ही वह अपने माता-पिता को खा जाता है (ऋग्वेद 10, 79, 4)। एक ऋषि कहता है कि इसका जन्म दस कुँवारियों द्वारा हुआ है। अरणि मन्थन में व्याप्त दस अँगुलियाँ ही दस कुमारियाँ हैं। वहाँ उसे शक्ति (बल) का पुत्र कहा गया है, क्योंकि शक्ति के द्वारा ही दो अरणियों का मन्थन होता है। तृतीय बार वह जल में विद्युत के रूप में जन्म लेता है। इसी आधार पर अग्नि की ''त्रिमूर्ति'' की कल्पना की गई है। आकाश भूतल और जल में उसका वास है। यही उसके तीन घर हैं। सम्भवतः इसी आधार पर परवर्ती युग में ''अग्नित्रय' की कल्पना की गई होगी।

सोम

ऋग्वेद में लगभग 120 सूक्तों में सोम की स्तुति की गई है। ऋग्वेद के पूरे नवम मंडल में सोम का वर्णन है। अवेस्ता में इसे ''हओम'' कहा गया है। उसका निवास स्वर्ग में है। वह स्वर्ग का पुत्र, स्वर्ग का दूध और स्वर्ग का पति कहा गया है। वहीं से वह पृथ्वी में लाया गया है। सोम एक औषधि का नाम है, जिसे पत्थरों से कूटकर उसका रस निकाला जाता था और उसे छन्ने से काष्ठपात्र में छाना जाता था। जब उसकी बूँदें छन्ने पर टकराती थीं, तो वह योद्धाओं के समान निनाद करता था। छन्ने से छन्नकर पात्र में गिरने पर सोम में पानी मिलाया जाता था। जहाँ वह दस कुमारियों द्वारा शुद्ध किया जाता था। वे दस कुमारियाँ दस अँगुलियाँ हैं। उसे पीकर देवता मस्त होते थे। इन्द्र उसे पान करके वृत्रवध के लिए क्षेत्र में उतरता था। सोम रस में कभी-कभी दूध भी मिलाया जाता था।

ऋग्वेद में सोम की तुलना वृषभ से की गई है। सोम की ध्वनि का वर्णन कहीं वृषभ के रम्भा-रव के समान और बिजली की कड़क के समान किया गया है। सोम का रंग पीत है। उसका शारीरिक गुण ओज है उसका पान करना आनन्द दायक होता है। पान करने से पान करने वाला भाव और आनन्द में मग्न हो जाता है, उसकी वक्तृत्व-शक्ति बढ़ जाती है। सोम में असीम शक्ति है। उसके पान से बुद्धि बढ़ती है, बल बढ़ता है और वार्धक्य अमर होता है। सोम को अमृत भी माना गया है। सोम ने ही देवताओं को अमर बनाया। इस प्रकार उसे अमरत्व प्रदान करने वाला ''पेय'' बताया गया है।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में सोम का समीकरण चन्द्रमा के साथ किया है। यजुर्वेद में औषधियों को उसकी पत्नियाँ कही गई हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एवं उपनिषद् ग्रन्थों में भी सोम का चन्द्रमा के साथ तादात्म्य का वर्णन आया है। एक उपनिषद् में सोम को (चन्द्र को) ब्राह्मणों का राजा बताया गया है। वैदिकोत्तर साहित्य में सोम, चन्द्रमा का पर्याय हो गया देवता उसका क्षय करता है और प्रतिदिन एक-एक कला क्षीण होती है और पुनः प्रतिदिन एक-एक कला बढ़कर पूर्ण हो जाती है। इसी आधार पर सोम का चन्द्रमा के साथ तादात्म्य किया गया है

बृहस्पति

यह देवता ऋग्वेद के 11 सूक्तों में स्वतंत्र रूप से और अन्य दो सूक्तों में इन्द्र के साथ संयुक्त

रूप में वर्णित है। इसका दूसरा नाम ब्रह्मणस्पति (मन्त्र के पति) भी है। इसके शारीरिक चिन्हों का विशेष परिचय नहीं मिलता। उसकी तीखी सीगें तथा काली पीठ है, स्वयं स्वर्ण के समान देदीप्यमान है।

हाथ में धनुष-वाण तथा सुनहला परशु है। इसके रथ को लाल रंग के घोड़े खींचते हैं और वे दैत्यों का नाश कर गोष्ठों को खोल देते हैं। सब प्रार्थनाओं तथा मन्त्रों के प्रेरक होने से बृहस्पति के बिना यज्ञानुष्ठान एक निष्फल व्यापार है। इन्द्र के साथ अधिकतर संयुक्त रूप से प्रशंसित होने के कारण इन्द्र के अनेक विशेषण, जैसे— मघवन् (दानशील) तथा वज्री, इन्हें कहा जाता है। इसी कारण गुहा के भीतर छिपी हुई गायों के निष्कासन-व्यापार से इनका भी संबंध है। गायन करनेवाले गणों से घिरा हुआ बृहस्पति बल नामक असुर को अपने गर्जन से फाड़ डालता है, गायों को बाहर निकाल देता है, अन्धकार को दूर भगा देता है तथा प्रकाश का आविर्भाव करता है।

बृहस्पति पद का अर्थ है-मन्त्र या प्रार्थना का अधिपति। बृहस्पति अग्नि के प्रतीक प्रतीत होते हैं। अग्नि के समान ये भी यज्ञानुष्ठान के ऊपर शासन करने वाले एक दिव्य ऋत्विज हैं। हिन्दु धर्म के विकास काल में ये बृहस्पति ही गणपति (गणेश) के रूप में स्वीकृत किये गये हैं। बृहस्पति तथा इन्द्र दोनों अंगिरस गण के साथ गायों की प्राप्ति के लिए संबंधित हैं (1, 62, 3)।

5. धार्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं का जो वर्णन किया गया है, उसको आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्त उदात्त आध्यात्मिकता व नैतिकता से परिपूर्ण थे। ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन धार्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं तथा उसके सम्बन्धित धार्मिक सिद्धान्तों का भी बोध होता है। वेदकालीन धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत विचार भिन्नता है। कोई विद्वान् विशुद्ध प्रकृति-वाद को ही तत्कालीन धार्मिक सिद्धान्त का मूल मन्त्र मानते हैं, तथा अन्य विद्वान् बहुदेवतावाद को वैदिक युग का महत्वपूर्ण धार्मिक सिद्धान्त मानते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार, जिनमें से अधिकांश भारतीय हैं, एकेश्वरवाद ऋग्वेद का मुख्य धार्मिक सिद्धान्त है। कोई-कोई विद्वान् सर्वेश्वरवाद को भी ऋग्वेद में पाते हैं।

ऋग्वेद के धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में एक और मन्तव्य उपस्थित किया जाता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि वैदिक युग में धार्मिक सिद्धान्तों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं को भली-भाँति जाना जा सकता है। प्रकृतिवाद, बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद, सर्वेश्वरवाद आदि धार्मिक सिद्धान्तों के विकास की विभिन्न अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह विकास प्रकृतिवाद से प्रारम्भ होकर बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद आदि की अवस्थाओं में से होता हुआ सर्वेश्वरवाद की अन्तिम अवस्था तक पहुँच जाता है।

(क) प्रकृतिवाद

ऋग्वेद के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि धार्मिक सिद्धान्तों के विकास की सर्वप्रथम अवस्था में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को पूजा जाता था। ऋग्वेद में द्यौः (आकाश), पृथ्वी, द्यावापृथिवी आदि देवता प्रकृतिवाद की अवस्था के प्रतिनिधि थे। द्यौस्, देवता को यूनानियों के ज्यूस तथा रोमन लोगों के ज्युपिटर से सम्बन्धित किया जा सकता है। इस प्रकार आकाश और पृथ्वी की पूजा

आर्यों के प्राचीनतम धार्मिक जीवन का अंग थी। इन्द्र और अग्नि भी प्राकृतिक शक्ति के ही प्रतीक हैं। इन्द्र को वर्षा से सम्बन्धित किया गया है। कृषि प्रधान भारत में वर्षा का क्या महत्व था यह बात ऋग्वेद में इन्द्र देवता के वर्णन को पढ़कर स्पष्टतया समझ में आ जाती है। ऋग्वेद में वर्णित इन्द्रवृत्रयुद्ध भी वर्षा का महत्व ही प्रतिपादित करता है। वरुण अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में केवल आकाश का देवता माना गया है, और मित्र उसका हमेशा का साथी है। ऋग्वेद में मित्र व वरुण को ''मित्रावरुणौ'' के रूप में एक साथ सम्बोधित किया गया है। वरुण और मित्र रात और दिन के प्रतीक भी माने गये हैं। धीरे-धीरे वरुण एक महत्वपूर्ण नैतिक देवता के रूप में परिवर्तित हो जाता है, और ऋग्वेद में उसका यही स्वरूप अधिक महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार पूषा, अश्विन् पर्जन्य आदि प्रकृति के विभिन्न अङ्गों के प्रतीक हैं। पूषा सूर्य से सम्बन्धित है, तथा मवेशियों व ग्रामीणों का देवता है। ऊषः प्रातःकाल, अश्विन् दोनों सन्ध्याओं और पर्जन्य आकाश से सम्बन्धित किये जाते हैं।

(ख) बहुदेवतावाद

द्यावापृथिवी आदि के अतिरिक्त इन्द्र, वरुण, पूषा, उषः, अश्विन्, पर्जन्य आदि प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के प्रतिनिधि हैं, उनमें केवल विशुद्ध प्रकृतिपूजा की झलक ही दृष्टिगोचर नहीं होती, उनका सजीव मानवी रूप भी निखर आता है। ये सब देवता, मानवों के समान चित्रित किये गये हैं। उनके अंग प्रत्यंग हैं, वे रथ में बैठकर इधर-उधर निरीक्षण करते हैं, तथा स्तुति करने वालों से बहुत प्रसन्न होते हैं, पाप पुण्य का सब को फल देते हैं, विश्व के सर्जक, संरक्षक आदि के रूप में उनकी कल्पना की गई है। इससे स्पष्ट है कि वे देवता विशुद्ध प्रकृति के क्षेत्र से बहुत आगे बढ़ चुके हैं। उनके मानवीकरण के पश्चात् उनमें दैवी शक्ति का प्रादुर्भाव भी हो चुका है। इस प्रकार के सिद्धान्त को बहुदेवतावाद कहा जाता है। अधिकांश विद्वान् यह मानते हैं कि बहुदेवतावाद ही ऋग्वेद का मुख्य धार्मिक सिद्धान्त है।

(ग) एकेश्वरवाद

कुछ विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन के विकास का केन्द्र बिन्दु ''एकेश्वरवाद'' था। ऋग्वेद में कितने ही वेदमन्त्र ऐसे हैं, जो स्पष्टतया एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं। कुत्स अंगिरस ऋषि, इन्द्रकी स्तुति करते हुए कहते हैं—''पृथ्वी, आकाश तथा यह महान् जाति उसी इन्द्र के हैं। वरुण, सूर्य आदि उसी के व्रत में रहते हैं। घोड़े गाय आदि का वही संचालन करता है तथा सम्पूर्ण विश्व और प्राणियों का रक्षक है। उसी ने दस्युओं को हराया। उसे ही हम मैत्री के लिए बुलाते हैं। शूरों, भागते हुए भीरुओं व विजेताओं द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है, उसी इन्द्र ने इन सब भुवनों को बनाया है, उसी की मैत्री हम प्राप्त करें (ऋग्वेद 1, 101, 3-9)। ऋषि इन्द्र के प्रति कहते हैं—

गुत्समद ऋषि आदित्य की स्तुति करते हुए कहते हैं—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च भर्ताः।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षे ऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा।।

(ऋग्वेद 2, 27, 10)

"हे वरुण! तुम देवता हो या मनुष्य सबके स्वामी हो। सौ वर्ष देखने के योग्य करो, जिससे हम पूर्वजों की आयु को भोग सकें।"

हिरण्यगर्भ प्राजापत्य ऋषि "क" (प्रजापति, ईश्वर) देवता की स्तुति में कहते हैं— सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। वे उत्पन्न होते ही सब प्राणियों के स्वामी हुए। उन्होंने इस आकाश और पृथ्वी को अपने-अपने स्थान पर स्थिर किया। उन प्रजापति का हम हव्य द्वारा पूजन करेंगे। जिन प्रजापति ने प्राणी को शरीर और बल प्रदान किया है, उनकी आज्ञा में सभी देवता चलते हैं। जिनकी छाया ही मधुर स्पर्श वाली है और मृत्यु भी जिनके अधीन रहती है, उन प्रजापति के "क" आदि अनेक नाम हैं। जो अपनी महिमा से ही चलते और देखने वाले प्राणियों के अद्वितीय स्वामी हैं और जो उन मनुष्यों और पशुओं के भी ईश्वर हैं, उनके "क" आदि अनेक नाम हैं। सब हिमाच्छादित पर्वत जिनकी महिमा से उत्पन्न हुए और समुद्र से युक्त पृथ्वी भी जिनकी कृति समझी जाती है,तथा समस्त दिशाएँ जिनकी भुजाओं के समान हैं, वे प्रजापति "क" आदि अनेक नाम वाले हैं। इस पृथ्वी और ऊँचे आकाश को जिन्होंने अपनी-अपनी महिमा में दृढ़ किया है जिन्होंने अन्तरिक्ष में जल की रचना की है और जिन्होंने सूर्य निकलते मंडल में स्थापना की है, वे प्रजापति "क" आदि अनेक नाम वाले हैं।

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक ऋषियों ने विशुद्ध एकेश्वर को पूर्णतया विकसित किया था। एक ही ईश्वर को विभिन्न नामों से जगत् का स्रष्टा, रक्षक, संहार-कर्ता आदि माना गया है। अदिति वाक् आदि से सम्बन्धित सूक्त भी इसी एकेश्वरवाद को प्रतिपादित करते हैं। ऋग्वेद के विश्वकर्मा सूक्तों में "एकेश्वरवाद" का प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया गया है। एक सूक्त में वर्णन आता है कि "विश्वकर्मा, जिसने समस्त भुवनों की रचना की, हमारा होता व पिता है। विश्वकर्मा ने जब भूमि का सृजन किया तब उसका अधिष्ठान क्या था? उसका आरंभ कैसे हुआ? विश्वकर्मा के नेत्र, भुजा और चरण सब ओर हैं। वे अपने बाहु और चरणों से द्यावापृथिवी को प्रकट करते हैं। वे विश्वकर्मा एक हैं। विश्वकर्मा ने कौन से वन में किस वृक्ष द्वारा आकाश और पृथ्वी की रचना की? (ऋग्वेद 10, 81, 1-7)। एक और सूक्त (ऋग्वेद 10, 82, 1-7) में कहा गया है कि शरीरों के रचने वाले और अत्यन्त धीर विश्वकर्मा ने जल को सर्वप्रथम रचा, फिर द्यावापृथिवी की रचना की, फिर आकाश, पृथिवी के प्रदेशों को स्थिर किया। विश्वकर्मा का मन महान् है वे स्वयं महान् हैं। वे सर्वद्रष्टा, सर्वश्रेष्ठ और सब के निर्माता हैं। वे सप्तर्षियों के दूरस्थ स्थान को भी देखते हैं। वहाँ के अकेले ही हैं। संसार के उत्पत्तिकर्ता विश्वकर्मा हमारे उत्पन्न करने वाले तथा पालन करने वाले हैं। सभी प्राणी एकमात्र उन देवता को प्राप्त करने के विषय में जिज्ञासु बनते हैं। तुम उन विश्वकर्मा को नहीं जानते, जिन्होंने समस्त प्राणियों की रचना की है।"

विश्वकर्मा के उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि विश्वकर्मा को जगन्नियन्ता, सब का पिता, माता, विधाता, आदि कहकर सर्वोपरि जगन्नियामक शक्ति का प्रतिपादित किया गया है (ऋग्वेद 10, 83,3) यही एकेश्वरवाद का सार है।

यद्यपि विकास की दूसरी स्थायी एकेश्वरवाद की थी, जिसमें प्रजापति आदि को यह स्थान था। किन्तु एकेश्वरवाद में भी ईश्वर, जीवात्मा और ऋषि का त्रैत बना हुआ था जो एकत्व की खोज में भटकता था। अत: विश्वास का अगला चरण सर्वेश्वरवाद था (जिसके अनुसार एक ही विराट् पुरुष

के द्वारा विश्व उत्पन्न हुआ और विकसित होता हुआ देखा गया। उस विराट् पुरुष के एक अंश (पाद) से ही सारी सृष्टि व्याप्त थी, उसका अधिकांश सृष्टि का अतिक्रमण करके स्थित था। अर्थात् वह अन्तर्व्यापी और अतिगामी दोनों था। किन्तु विचार की इस श्रेणी में भी अंतिम पुरुष के लिंग और व्यक्तित्व से सीमित था। इसलिए इससे आगे चलकर लिंग, पुरुषत्व से रहित शुद्ध अद्वैत सत्ता की कल्पना ''सत्'' के रूप में की गई :—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सः सुपर्णो मरुतावान्।
एकं सद्विप्र बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः

(ऋग्वेद 1, 164, 46)।

उसे इन्द्र, मित्र या वरुण कहते है। वही आकाश में सूर्य है, वही अग्नि, यम और मातरिश्वा है। मेधावी जन एक ब्रह्म का अनेक रूप में वर्णन करते हैं।

भावसूचक देवताओं का मन्तव्य वैदिक युग में धार्मिक सिद्धान्तों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ''प्रकृतिवाद'' और ''बहुदेवतावाद'' के सिद्धान्तों से एकेश्वरवाद की ओर एक महत्वपूर्ण कदम उसे कहा जा सकता है। ऋग्वेद काल के धार्मिक विकास में बाह्य उपकरणों से आन्तरिक तत्व की ओर बढ़ने की वृत्ति स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। इसी का एक परिणाम भावसूचक देवताओं के रूप में पाया जाता है, जो कि अधिकांश ऋग्वेद के दसवें मंडल में पाये जाते हैं। विभिन्न भाववाचक संज्ञाओं को देवता के रूप में वर्णित किया गया है, जैसे श्रद्धा (ऋग्वेद 10, 151, 1-5), मन्यु ऋग्वेद 10, 83, 1-7; 10, 84, 1-7), अदिति (ऋग्वेद 1, 89) त्वष्टा (ऋग्वेद 10, 18, 9) आदि। इन भावसूचक देवताओं के वर्णन में आध्यात्मिकता का पुट स्पष्ट-तया दिखाई देता है। श्रद्धासूक्त में श्रद्धा के महत्व को समझाते हुए कहा गया है कि ''श्रद्धा के बिना अग्नि प्रदीप्त नही होता, यज्ञ भी उसी से सफल होता है। सम्पत्ति के मस्तक पर श्रद्धा ही निवास करती है। हे श्रद्धे! दानशील को अभीष्ट फल प्रदान करो। मन में जब कोई निश्चय उठता है, तब उपासक गण श्रद्धा का ही आश्रय लेते हैं। श्रद्धा की अनुकूलता से ही वैभव की प्राप्ति होती है। प्रातः काल, मध्याह्न और सायंकाल हम श्रद्धा का ही आह्वान करते हैं।''

मन्यु के संबंध में कहा गया है कि ''हे मन्यु! तुम वज्र और वाण के समान तीक्ष्ण हो। जो यजमान तुम्हारी स्तुति करता है, वह ओज और बल का धारण करने वाला होता है। तुम महाबली हो, अतः तुम्हारी सहायता से हम शत्रुओं को पराभूत करें। हे मन्यो! संग्राम के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रेरित करो। तुम जब सहायता करोगे तो हमारा तेज कभी नष्ट नहीं होगा। हम विजय की कामना करते हुए सिंहनाद करते हैं, और तुम्हारी स्तुति करते हैं।'' वागाम्भूणी सूक्त (ऋग्वेद 10, 125) में वाग्शक्ति का महत्व बहुत ही अच्छी तरह से समझाया गया है। वाग्शक्ति द्वारा कहलाया गया है— ''मैं रुद्रों और वसुओं के साथ घूमती हूँ। मैं आदित्यगण और अन्य देवताओं के साथ निवास करती हूँ। मैं मित्रावरुण को धारण करने वाली तथा इन्द्र, अग्नि और अश्विनी को आश्रय देनेवाली हूँ। मैं राज्यों की अधिष्ठात्री और धन-प्रदात्री हूँ। मैं ज्ञान से सम्पन्न और यज्ञों में प्रयुक्त साधनों में श्रेष्ठ हूँ। मैं सब प्राणियों में वास करती हूँ। देवताओं ने मुझे अनेक स्थानों में स्थापित किया है। जिसके आश्रय को देवता और मनुष्य प्राप्त होते हैं, मैं उसी

की उपदेशिका हूँ। जिसे मैं चाहूँ वही मेरी कृपा से बलवान्, मेधावी, स्तोता हो सकता है। मैं ही आकाश और पृथ्वी में व्याप्त होकर मनुष्य के लिए संग्राम करती हूँ। मैं अपनी महिमा से महिमामयी होकर आकाश और पृथ्वी का उल्लंघन कर चुकी हूँ'' (वेदकालीन समाज पृ. 275, 76 डा. शिवदत्त ज्ञानी)।

(6) धार्मिक विश्वास-यज्ञ

प्रारंभ में वैदिक पूजा मुख्यत: चढ़ावा और प्रार्थना ही थी। पवित्र ग्रन्थों का स्वर पाठ तब तक नहीं होता था। बाद में स्तोत्रों की नवीनता पर बल दिया जाने लगा। वैदिक आर्यो का धार्मिक विचारों का केन्द्र यज्ञ ही था। अग्नि हव्यवाह के रूप में प्रकट होते थे। नैवेद्य को यज्ञ की अग्नि में डालते समय ऋग्वेद के मन्त्रों को उच्चारण करते थे। बहुत से भजन या स्तोत्र सिर्फ यज्ञीय गानों के लिए होते थे।

हवि के रूप में विविध धान्य और पेय के अलावे घोड़े, भेड़, भैंसे, साँढ़ भी चढ़ाये जाते थे।

यज्ञ की महत्ता

वैदिक आर्य यज्ञ को सर्वोच्च शक्ति से संबंधित मानने लगे, जो संसार को क्रम में रखता है। इसके बिना न तो दिन होगा न रात, न वर्षा और न फसल, क्योंकि यज्ञ के बिना देवताओं को इन्हें भेजने की शक्ति कम होगी। यहाँ तक कि स्वयं समस्त देवता और यह संसार भी यज्ञ से ही उत्पन्न हुए हैं, जिसके बिना सब कुछ उलट-पुलट हो जाता है। इसीलिए समस्त प्रकृति की व्यवस्था एक विस्तृत और स्थायी यज्ञ के समान देखी जाने लगी। बिजली और सूर्य, पवित्र ज्वाला, बादल का गर्जन स्तोत्र की तरह, नदियाँ और वर्षा तर्पण के समान और समस्त देवता गण और स्वर्गिक दिव्य दर्शन पुरोहित की तरह माने जाने लगे (R. C. Majumdar Early Aryan Society p. 51)

यज्ञ का उद्देश्य और आवश्यकता मूलत: विभिन्न दृष्टिकोण से होते थे और कभी-कभी देवता और मनुष्य के बीच सौदा के समान होते थे। सौदा इसलिए कि मनुष्य की आवश्यकताएँ केवल ईश्वर की कृपा से पूर्ण होती हैं, उनके बदले उनकी भूख मिटाने के लिए अन्न और प्यास बुझाने के लिए पेय देता है। परन्तु यह विचार अधिक मान्य नहीं था। यज्ञ का मुख्य उद्देश्य, प्रेम और धन्यवादी हृदय से देवताओं को प्राप्त वरदानों के लिए धन्यवाद देना और भविष्य में वरदान पाने के लिए उन्हें प्रसन्न करना था। यज्ञ पूजन पद्धति का एक प्रकार था, जिसके द्वारा वैदिक आर्य देवों के प्रति भक्ति भाव रखते थे।

केवल पुरोहित (ब्राह्मण) ही धर्मविधि जानते थे और यज्ञ में देवताओं को बुलाते थे, वे यज्ञीय विधि के मास्टर कहे जाते थे। उनकेबिना यज्ञ नहीं हो सकता था, इसीलये उनकी महत्ता भी बढ़ गई (R. C. Majumdar Early Aryan Society p. 51)

ऋग्वेद में दो प्रकार के यज्ञों का वर्णन है—

(क) कुछ भजन और श्लोक, जन्म, विवाह और दूसरे अवसरों पर आर्शीवाद और प्रार्थना के लिए प्रयुक्त होते थे। ये गृह कर्म धर्मानुष्ठान नियम जैसे थे और सबसे सरल प्रकार के यज्ञ होते थे, जिन्हें गृहस्वामी खुद कर सकता था। छोटे दान घरेलू यज्ञों तक ही सीमित रहते थे।

(ख) परन्तु कभी-कभी बड़े यज्ञों का भी आयोजन होता था, जिसमें न केवल पूरा गाँव परन्तु शायद पूरी जाति भाग लेती थी।

बड़ा यज्ञ विशेषकर इन्द्र से संबंधित सोम पूजनपद्धति जिसे सिर्फ धनी कुलीन व्यक्ति (मघवन्) और राजा ही कर सकते थे। ऐसे यज्ञों में अनेक पुरोहितों की आवश्यकता होती थी और यज्ञ के लिए भी अधिक विस्तृत जगह की आवश्यकता होती थी (वी. के. अग्निहोत्री, एन्शेंयट इंडिया पृ. 56)।

यज्ञों का कर्मकाण्ड वेदकालीन धार्मिक जीवन का एक विशेष अंग था। समस्त वैदिक साहित्य के संकलन का मूल उद्देश्य यज्ञों का कर्मकाण्ड ही है। वैदिक आर्य यज्ञों से बहुत प्रेम करते थे। वे दैनिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, वार्षिक आदि यज्ञ किया करते थे। इसके अतिरिक्त सब महत्वपूर्ण अवसरों पर तथा जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के समय (जन्म, दाँत निकालना, चूड़ाकर्म, विवाह आदि) विशेष यज्ञ किये जाते थे। इस प्रकार वैदिक आर्यो का जीवन यज्ञमय था, और यज्ञों का सम्पादित किया जाना आवश्यकीय था। यज्ञों की प्रथा इण्डो-ईरानियन व इण्डो यूरोपियन युग में भी प्रचलित थी। प्राचीन ईरान, यूनान व रोम में यज्ञ किये जाते थे, देवताओं को जो कुछ अर्पित करने का रहता था, वह अग्नि में डाल दिया जाता था, जिसके द्वारा वह देवताओं तक पहुँचा दिया जाता था। इस प्रकार यज्ञ की पृष्टभूमि में त्याग की भावना निहित है। मनुष्य अपने देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अपनी प्रिय से प्रिय वस्तुएँ उन्हें अर्पित करता थी। प्राचीन काल में यह भावना व्याप्त थी कि अग्नि द्वारा सब वस्तुएँ देवताओं तक पहुँचाई जा सकती था। इसी मान्यता ने यज्ञों के कर्मकाण्ड को जन्म दिया।

मानव संस्कृति के विकास में अग्नि का महत्वपूर्ण हाथ है। वैदिक आर्यो ने भी प्रारंभ से ही अग्नि के महत्व को समझ लिया था। अग्नि की स्थापना गृह के देवता के रूप में की गई। उसे ''गृहपति'' और यज्ञ का पुरोहित कहा गया (ऋग्वेद 1, 1, 1)। उसे देवताओं और मानवों के बीच का माध्यम समझा गया। प्रत्येक वेदकालीन गृहस्थ यज्ञकर्ता था और अग्नि के माध्यम द्वारा देवताओं को हविष् प्रदान करता था। उस समय उसे ''आहिताग्नि'' कहते थे, जिसके घर में यज्ञाग्नि हमेशा प्रज्वलित रहा करता था।

प्रत्येक वैदिक आर्य के लिए यह आवश्यकीय था कि वह आहिताग्नि बने और प्रतिदिन मृत्युपर्यन्त अपनी पत्नी के साथ यज्ञाग्नि में हविष आदि प्रदान करे। जातकर्म, उपनयन, समावर्तन, विवाह आदि संस्कार इस यज्ञाग्नि में किये जाने थे। इसे गृह्याग्नि आवस्थ्याग्नि या स्मार्ताग्नि कहा जाता था।

अग्न्याधान

विवाह के पश्चात् गृहस्थ को श्रौताग्नि प्रज्वलित कर उसमें प्रतिदिवस आहुतियाँ प्रदान करनी पड़ती थी। सर्वप्रथम अग्नि को प्रज्वलित करने की विधि को ''अग्न्याधान'' या अग्न्याधेय कहते थे। इस कार्य के लिए एक ''अग्निशाला'' का निर्माण किया जाता था, जिसमें चतुर्भुजाकार वेदी बनाई जाती थी, वेदी के पश्चिम वृत्ताकार में ''गार्हपत्याग्नि'' के लिए स्थान रहता था, जिसका क्षेत्रफल तीन वर्गफुट रहता था। उसके पूर्व में ''आह्वनीयाग्नि'' का स्थान वर्गाकार में रहता था। और दक्षिण में ''दक्षिणाग्नि'' के लिए स्थान अर्धवृत्ताकार में रहता था। गार्हपत्याग्नि गृहपति से, आह्वनीयाग्नि देवताओं से तथा दक्षिणाग्नि पितरों से सम्बन्धित थी। इन तीनों प्रकार की अग्नि में यज्ञ का विभिन्न कर्मकांड सम्पादित किया जाता था।

यज्ञ के सविधि सम्पादित किये जाने के लिए विभिन्न कर्मकांडी पुरोहितों की आवश्यकता होती थी। होता को ऋग्वेद में निष्णात रहना पड़ता था। यज्ञ के समय ऋग्वेदीय-मन्त्रों के उच्चारण द्वारा वह देवताओं को आह्वान करता था। अध्वर्यु यजुर्वेद के मन्त्रों द्वारा अग्नि में हविष् प्रदान करता था, तथा यज्ञ के लिए हव्य आदि तैयार करता था। उसे यजुर्वेद में निष्णात रहना पड़ता था। उद्गाता सामवेद में निष्णात रहता था और यज्ञ के समय उसे सामगान करना पड़ता था। इन सब ऋत्विकों में ''ब्रह्मा'' मुख्य था, जो यज्ञकार्य का अध्यक्ष रहता था तथा होता, अध्वर्यु, उद्गाता आदि ऋत्विकों के कार्यो का निरीक्षण भी करता था। उसे तीनों वेदों में निष्णात रहना पड़ता था। ब्रह्म को अथर्ववेद से भी सम्बंधित किया जाता है।

अग्निहोत्र

अग्न्याधान विधि के समाप्त होने पर गृहस्थ, जो कि 'आहिताग्नि' कहलाता था, और उसकी पत्नी दोनों को प्रति दिवस दो बार ''अग्निहोत्र'' नाम का योग करना पड़ता था। आहिताग्नि गृहस्थ गार्हपत्याग्नि में से जो कि हमेशा प्रज्वलित रहती थी, आह्वनीय व दक्षिणाग्नि को प्रज्वलित करता था, तथा सायं-प्रात: वेदमन्त्रों के उच्चारण के साथ उन अग्नियों को गाय दूध के हविष् प्रदान करता था। इसी प्रकार वह गार्हपत्याग्नि में भी हविष् प्रदान करता था। यह अग्निहोत्र, याग प्रत्येक गृहस्थ के लिए मृत्युपर्यन्त अनिवार्य था। समाज की यह मान्यता थी कि इस याग के करने से मनुष्य ऋषिगण, देवऋण और पितृऋण से उन्मुक्त हो जाता है। कोई वस्तु प्राप्त न होने पर ''श्रद्धा-होम'' भी किया जा सकता था।

इष्टियाग

आहिताग्नि गृहस्थ को अन्य श्रौतयाग भी करने पड़ते थे, उनमें से एक ''इष्टियाग'' कहलाता था। यह याग प्रत्येक पक्ष में किया जाता था। यह पूर्णिमा और अमावस्या के दिन किया जाता था, इसलिए ''दार्शपौर्णमास'' भी कहलाता था। इस अवसर पर ''अष्टकपाल पुरोडाश'' ''एकादशकपाल पुरोडाश'' आदि आहुतियाँ प्रदान की जाती थीं।

सोम याग

सोम याग वैदिक युग के श्रौतयज्ञों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। ऋग्वेद में उसे ''प्रत्नमित'' (सर्वाधिक प्राचीन) (9, 42, 4) और यज्ञस्य पूर्व्यः 9, 2, 10) (यज्ञों में सर्वप्रथम) कहा गया है। ऋग्वेद के सम्पूर्ण नवम मंडल में ''सोम याग'' का ही वर्णन है। यह याग बहुत ही खर्चीला तथा बहुत से विधानों से युक्त था। उसके लिए विभिन्न नामवाले कितने ही ऋत्विकों की आवश्यकता होती थी, जिसमें से प्रत्येक को सोना-चाँदी, गायें आदि दक्षिणा के रूप में देनी पड़ती थीं। उसके लिए, बहुत बड़ा स्थान भी आवश्यक होता था। अतएव यह याग ग्राम के बाहर किसी बड़े स्थान में किया जाता था। कभी-कभी यह याग एक दिन में पूर्ण हो जाता था, तब उसे ''एकाहिक'' कहा जाता था, कभी-कभी बारह दिन तक चलता था, तब उसे ''अहीन'' कहा जाता था। कभी-कभी यह याग एक वर्ष या उससे अधिक समय तक भी चलता था, तब उसे ''सत्र'' कहा जाता था ''अग्निष्टोम'' नाम की विधि एक दिन में पूरी की जाती थी, किन्तु उसकी तैयारी में चार दिन लग जाते थे।

सोम-याग में सोम के पौधे के रस की आहुति दी जाती थी। सोमरस विधिपूर्वक निकाला जाता था, और दूध, दही अथवा शहद के साथ मिलाया जाता था। सोम का पौधा भूजवत् पर्वत पर उगता था और यज्ञ के लिए उसकी मांग रहा करती थी। यह कदाचित् चमकीला पौधा था और रात्रि के समय उसमें से प्रकाश निकलता था। इसीलिए उसे "सुपर्ण" (सोने के पंखवाला पक्षी) और गन्धर्व (सूर्य) की उपमा दी जाती थी (ऋग्वेद 9, 85, 11-12) उसकी तुलना चन्द्र से भी की गई हैं। यज्ञ करने वाले यजमान ऋत्विक् आदि तथा युद्ध करनेवाले सैनिक सोम रस का पान करते थे (ऋग्वेद 9, 114, 2)। सोमरस देवताओं का बहुत ही प्रिय पेय था, विशेषकर इन्द्र तो सर्वदा उसके लिए लालायित रहता था। सोम-याग का मुख्य उद्देश्य इन्द्र-वृत्र युद्ध में इन्द्र को शक्तिशाली बनाता था तथा कृषि-कार्य के लिए मेघों से ठीक समय पर वर्षा प्राप्त करना था। ठीक समय पर वर्षा प्राप्त करने के लिए यह याग कभी-कभी नौ, दस या बारह महीनों तक चलता था। जो ऋत्विक् नौ महीने तक उस याग को करते थे, वे "नवग्व" तथा जो दस महीने तक करते थे वे दशग्व कहलाते थे।

वैदिक साहित्य में सोम को राजा कहा गया है, क्योंकि उसके अन्तर्गत देवता ने वृत्र पर विजय प्राप्त करने में इन्द्र को सहायता प्रदान की थी और लोगों को सुखी तथा समृद्धिशील बनाया था। वह न केवल जनता का राजा था, किन्तु देवताओं का भी राजा था, क्योंकि उसकी सहायता से देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की थी। अतएव प्रत्येक वैदिक आर्य सोम की पूजा करता था तथा सोमरस का पान करता था, जिससे उसे सौभाग्य और अमरत्व प्राप्त होवे। ऋग्वेद में सोम की स्तुति, प्रशंसा आदि में कितने ही मन्त्र हैं, जिससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकालीन आर्यो के जीवन में सोम याग का बहुत महत्व था।

यज्ञों के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के धार्मिक जीवन में उनका महत्वपूर्ण स्थान था।

(7) धार्मिक जीवन की दो धाराएँ

वैदिक आर्यो के धार्मिक जीवन के बारे में ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उस पर यदि आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाये तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन धार्मिक विकास की दो मुख्य धाराएँ थीं— (1) भक्ति और (2) यज्ञों का कर्मकांड। वैदिक आर्य जगन्नियंता परमेश्वर के अस्तित्व में पूर्ण विश्वास करते थे। उस परमेश्वर के दर्शन विभिन्न देवताओं के रूप में करते थे। यद्यपि देवताओं के नाम अलग-अलग थे, किन्तु उनके कार्य, गुण और मानव जाति के प्रति उनकी परोपकार वृत्ति आदि लगभग समान ही थे। प्रत्येक देवता को मानव के भाग्य का निर्माता, जगत का स्रष्टा, संरक्षक आदि माना गया है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से वेदमन्त्रों का अध्ययन किया जाये तो स्पष्टतया समझ में आ जायेगा कि प्रत्येक मन्त्र ईश्वर भक्ति से ओत-प्रोत है। आजकल जिस प्रकार सब भक्त यथार्थ में एक समान ही रहते हैं, चाहे कोई विष्णु का उपासक हो, शिव का उपासक हो अथवा और किसी देव का। जिस प्रकार सब भक्तों को ईश्वरभक्त ही माना जाता है, क्योंकि वे अपने इष्ट देवों में नाम से जगन्नियन्ता परमात्मा की ही आराधना और उपासना करते हैं, उसी प्रकार वैदिक युग में भी सब भक्त एक ही थे, चाहे वे इन्द्र को माने, चाहे वरुण को अथवा विष्णु को। उन विभिन्न नामों से एकमात्र परमेश्वर की ही भक्ति

की जाती थी। इससे सिद्ध होता है कि समाज में धार्मिक सहिष्णुता का भाव पूर्णतया व्याप्त था।

एक वरुणभत अपने इष्ट देवता के लिए अपना भक्तिभाव दर्शाता हुआ कहता है—

''हे वरुण देव! हम मानव हैं, दिन प्रतिदिन तुम्हारे नियमों को भंग करते हैं। हमारे अपराधों को क्षमा कीजिये (ऋग्देव 1, 25, 1)। हम अपने कल्याण के लिए सर्वव्यापी वरुण को कब प्राप्त करेंगे (ऋग्वेद 1, 25, 5)। वरुणदेव सर्वज्ञ हैं, वे अन्तरिक्ष में उड़नेवाले पक्षियों के स्थान को, समुद्र में चलनेवाले जहाजों को तथा वायु के विशाल मार्ग को जानते हैं (ऋग्वेद 1, 25, 7-9)। मैंने वरुण के विश्व द्वारा दर्शनीय सुन्दर रथ को पृथ्वी पर देखा। हे वरुण! मेरी प्रार्थना सुनिये और मेरा कल्याण कीजिये (ऋग्वेद 1, 25, 18-19) हे वरुण! मैं ने ऐसा कौन सा पाप किया है कि आप इस ज्येष्ठ स्तोतामित्र को शासित करते हैं (ऋग्वेद 7, 68, 4) हे वरुण! हम दोनों का वह सख्य कहाँ गया, जिसके कारण हम दोनों साथ-साथ चलकर तुम्हारे सहस्रद्वारवाले गृह में गये थे (ऋग्वेद 7, 88, 5)? पानी के मध्य रहकर भी मैं प्यासा हो गया हूँ। हे सुक्षत्र वरुण! कृपा कीजिये! हे वरुण! देवताओं के प्रति हम मनुष्यों ने जो कुछ अभिद्रोह किया हो, अनजान में तुम्हारे नियमों का जो भंग किया हो, हे देव! इन अपराधों के पापों के लिए, हमें शासित न कीजिये (ऋग्वेद 7, 86, 4-5)।

एक विष्णुभक्त अपने इष्टदेवता के प्रति कहता है—''हम विष्णु की वीरता का वर्णन करते हैं, जिसने पृथ्वी को मापा, जिसने तीन पदों में ऊपर के आकाश में परिभ्रमण किया। उसी विष्णु का उसके वीर्य के लिए हम स्तवन करते हैं (ऋग्वेद 1, 154, 1-2)। हम उसके प्रियधाम में उपभोग करें, जहाँ देवताओं के भक्त आनन्द मनाते हैं। वह हम सभी का बन्धु है। विष्णु के परमधाम में मधु का कूप है। हम उसी धाम में जाना चाहते हैं, जहाँ बहुत से सींगवाली गायें हैं। उस विष्णु का परम धाम अत्यधिक प्रकाशित होता है (ऋग्वेद 1, 154, 5-6)।

एक इन्द्रभक्त अपने इष्टदेव के लिए कहता है— ''हे इन्द्र! तुम दिव्यलोक में रहते हुए भी पार्थिव मनुष्यों के बन्धु बनते हो। यह तुम्हारे श्रेष्ठ बल और महिमा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। वे सभी राक्षसों का हनन करने वाले हैं (ऋग्वेद 10, 55, 4-8)। हे इन्द्र! मैं तुम्हारी श्रेष्ठ महिमा का वर्णन करता हूँ। यजमान को शक्ति प्रदान करते हुए तुमने दुष्ट राक्षसों को मार डाला था। हमारे पूर्व ऋषियों ने भी तुम्हारी माया का आदि और अन्त नहीं पाया। हे इन्द्र! तुम प्रकट व अप्रकट दोनों प्रकार के स्वामी हो। सभी धनों पर तुम्हारा अधिकार है। हे इन्द्र! तुम दान करने का स्वयं ही आदेश करते हो और स्वयं ही दान करते हो। अतः मेरी कामनाओं की सिद्धि करने वाले होओ (ऋग्वेद 1, 10, 16)।

एक अश्विन् देवताओं की भक्तिन (घोषा काक्षीवती) अपने इष्ट देवताओं के प्रति अपना भक्तिभाव इस प्रकार दर्शाती है— हे अश्विन् देवताओ! तुम्हारा रथ जो सर्वत्र गमनशील है और तुम्हारे जिस सुदृढ़ रथ का रात दिन आह्वान करना यजमान का कर्तव्य माना गया है, इस समय हम उसी रथ का नामोच्चार करते हैं। जिस प्रकार पिता का नाम स्मरण करता हुआ मनुष्य सुखी होता है, वैसे ही इस रथ का नाम लेते हुए सुखी होते हैं। हे अश्विन् देवताओ! हम मधुरभाषी बनें। हमारे कार्य पूर्ण हों। हमारी प्रार्थना है कि आप हममें अनेक सुमति उदित करें। हमें श्रेष्ठ और कीर्त्तिशाली ऐश्वर्य का भाग प्रदान करो। एक स्त्री अपने पिता के घर में बढ़ रही थी, तुम उसके सौभाग्य के योग्य वर को ले आये। हे

अश्विनौ! जो पंगु है, पतित है, उसे भी तुम शरण प्रदान करते हो। तुम नेत्रहीन, बलहीन रोगियों की चिकित्सा करने वाले कहे जाते हो। पुराने रथ की मरम्मत करके जैसे कोई व्यक्ति उसे नया सा कर लेता है वैसे ही तुमने वृद्धावस्था से जीर्ण हुए च्यवन ऋषि को तरुण बना दिया। तुम्हारे ये पराक्रम यज्ञ में कीर्तन के योग्य हैं। हे अश्विन देवताओ! तुम्हारे पराक्रमों का मैं बखान करती हूँ तुम अत्यन्त कुशल चिकित्सक हो, अतः मैं तुम्हारी शरण प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करती हूँ। हे अश्विन् देवताओ! मेरा आहवान प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करती हूँ। हे अश्विन् देवताओ! मेरा आह्वान सुनो। जैसे पिता पुत्र को सीख देता है, वैसे ही तुम मुझे दो। मुझे ज्ञान देने वाला न कोई भाई है, न कुटुम्बी है। श्रेष्ठ बुद्धि भी मेरे पास नहीं है। यदि मुझे क्लेश प्राप्त हो तो उसे पहिले ही दूर कर दो (ऋग्वेद 10, 39, 1-9)।

इसी प्रकार ऋग्वेद के अग्नि, सूर्य, सविता, पूषा आदि अन्य देवताओं से सम्बन्धित मंत्र भी भक्तिभाव से पूर्णतया ओतप्रोत हैं। वरुण, विष्णु, इन्द्र, अश्विन् आदि देवताओं के जो मन्त्र ऊपर दिये गये हैं उसमें उत्कृष्ट भक्ति का रस अविकल रूप से प्रवाहित होता है। एक सच्चा भक्त अपने इष्टदेवता का सख्य, नेतृत्व बन्धुत्व और सान्निध्य प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा उन मन्त्रों द्वारा प्रकट करता है। वेदों के इन मन्त्रों में हमें पुराणों की भक्ति के विभिन्न अंगों का स्पष्ट आभास प्राप्त होता है। मध्ययुगीन भक्तिस्रोत के दर्शन भी उनमें होते हैं।

ऋग्वेद के उपरोक्त मन्त्रों में सूरदास मीरा आदि भक्तश्रेष्ठों का हृदय ओत-प्रोत प्रतीत होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि वेदकालीन धार्मिक जीवन में भक्ति का महत्वपूर्ण स्थान था।

वैदिक युग के धार्मिक जीवन की दूसरी धारा यज्ञों का कर्मकांड है। भक्ति और कर्मकांड दोनों की धाराएँ इस प्रकार आपस में घुल-मिल गई हैं कि उनका समन्वय, पद-पद पर दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में भक्ति और यज्ञ एक दूसरे के विरोधी नहीं है, किन्तु पूरक हैं। भक्त, यज्ञ की अग्नि के द्वारा अपने इष्ट देवता को हविषादि के रूप में अपनी भक्ति भेंट देता है। इन्द्र, वरुण, विष्णु, अश्विनौ आदि विभिन्न देवताओं को ऋत्विक् द्वारा बुलाये जाने पर यज्ञ में उपस्थित होकर हविष् को स्वीकार करना पड़ता था। यज्ञाग्नि भक्तों की भक्तिभेंट को विभिन्न देवताओं तक पहुँचाने का महत्वपूर्ण माध्यम था। ऋग्वेद-युग में देवताओं की मूर्तियाँ नहीं रहती थीं, अतएव भक्त को उनके साक्षात्कार का कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होता था। यज्ञ द्वारा उसे विभिन्न देवताओं के साक्षात्कार का मधुर अनुभव होता था। यही कारण है कि ऋग्वेद का प्रत्येक देवता किसी न किसी रूप में यज्ञ से सम्बन्धित किया गया था।

इन्द्र, जो आर्यो का राष्ट्रीय देवता था, कितनी ही बार यज्ञ से संबंधित किया गया है। उसे सोमरस बहुत ही प्रिय था, जैसा कि और देवताओं को भी था। सोमरस पीकर वह इन्द्र, वृत्रयुद्ध में प्रवृत्त होता था, तथा बल और ओज को प्राप्त होता था। ऋग्वेद (1, 170, 4) में कहा गया है कि वेदी के सामने अग्नि प्रज्वलित होवे। हे इन्द्र! तुम्हारे लिए अमृतत्व को प्रदान करने वाले यज्ञ हम करते हैं। अन्यत्र स्थल (2, 12, 3) पर कहा गया है कि उसने (इन्द्र ने) दो पत्थरों के बीच अग्नि (यज्ञाग्नि) को उत्पन्न किया। इन्द्र को ''सोमपा'' भी कहा गया है (ऋग्वेद 2, 12, 13 यः सोमपा निचितो)। पुनः एक स्थान (ऋग्वेद 2, 14, 1-12) पर कहा गया है कि अध्वर्युओं ने इन्द्र के लिए सोम का सेचन करते हुए वृत्र, हृभीक, उरण, अर्बुद, पिप्रु, नमुचि आदि का हनन किया। अध्वर्युओं ने (इन्द्र के लिए) शम्बर के सौ किलों

का नाश किया। ऋत्विजों ने इन्द्र के लिए सोम की आहुति दी। अध्वर्युओं ने इन्द्र के लिए गाय के दूध आदि की आहुति दी। इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद काल में इन्द्र व यज्ञ का कितना घनिष्ठ संबंध था।

इसी प्रकार ऋग्वेद में मित्र देवता को भी यज्ञ से संबंधित किया गया है। उसमें वर्णन आता है कि मित्र ने पृथ्वी और आकाश को धारण किया है। मित्र के लिए घृतयुक्त हव्य प्रदान करो (ऋग्वेद 3, 55, 1)। मित्र को यज्ञिय (ऋग्वेद 3, 56, 4) नाम से सम्बोधित कर कहा गया है कि मित्र के लिए अग्नि के हविष् प्रदान करो। ऋग्वेद के अन्य देवताओं को भी इसी प्रकार यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित किया गया है।

ऋग्वेदकालीन धार्मिक जीवन पर यज्ञ का जो अमिट प्रभाव था, उसका स्पष्टीकरण अग्नि और सोम सूक्तों के अध्ययन से होता है। ऋग्वेद में लगभग दो सौ सूक्त अग्नि के विषय में लिखे गये हैं, जिनमें यज्ञ का महत्व और उससे संबंधित कर्मकाण्ड का स्पष्ट विवेचन किया गया है। लगभग एक सौ बीस सूक्त सोम से संबंधित हैं, जिसमें सोमयागों की विधि का विवेचन तथा सोम पौधे का पर्वत पर से लाया जाना, उसकी पत्तियों का दो पत्थरों के बीच पीसा जाना तथा सोमरस का निकाला जाना आदि का वर्णन किया गया है। उसमें यह भी दर्शाया गया है कि यज्ञ के अवसर पर ऋत्विक, यजमान आदि सोम-रस का पान करते थे। देवता भी उसे बहुत पसंद करते थे। अग्नि और सोम मन्त्रों के निम्नांकित उदाहरणों से वैदिक युग के धार्मिक जीवन में उनका क्या महत्व था, यह बात स्पष्टतया समझ में आ जायेगी।

अत्रि ऋषि कहते हैं—''हे अग्नि! तुम नित्य होता और देवताओं के आह्वानकर्ता हो। तुम्हारे सम्पर्क में रहकर मैं यज्ञ करने वाला होऊँ। तुम्हें हवि प्राप्त हो सके, इसलिए तुम्हारे द्वारा मुझे अश्वादि से युक्त धन प्राप्त हो। देवताओं का आह्वाहन करने के लिए मनुष्यों ने अग्नि को प्रदीप्त किया है तथा मित्र के समान संगति के योग्य यह अग्नि यजमानों की भुजा द्वारा उत्पन्न हुआ है (ऋग्वेद 10,7, 4-5)। उरुक्षय ऋषि अग्नि के बारे में ये कहते हैं— ''हे अग्नि! तुम श्रेष्ठ प्रतिज्ञावाले हो। तुम अपने स्थान में मनुष्यों के मध्य प्रज्वलित होकर बूढ़ों और शत्रु का नाश करनेवाले होओ। हे अग्ने! यह स्रुक् तम्हारे ही निमित्त ग्रहण किया गया है। तुम्हारे लिए श्रेष्ठ आहुति प्रदान की गई है। तुम इस घृताहुति से प्रसन्न होओ। अग्नि का आह्वान किया गया है। वाणी द्वारा उसकी स्तुति की गई है। सभी देवताओं के आह्वान के पूर्व उसे स्रुक् द्वारा स्निग्ध किया जाता है, तब वह प्रदीप्त होता है। अग्नि में जब आहुति दी जाती है, तब उसका शरीर घृत से स्निग्ध होता है। वह घृत से सींचे गये, पर अत्यन्त दीप्तिवाला और प्रकाशवान् होता है। हे अग्नि्! तुम देवताओं के लिए अग्निवाहक होते हो। जब उपासक गण तुम्हारा आह्वान करते हैं, तब स्तुतियों से प्रसन्न होते हुए तुम वृद्धि को प्राप्त होते हो (ऋग्वेद 10, 118, 1-5)।

वशिष्ठ ऋषि सोम की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं-'यह सोम पाषाणों द्वारा अभिषुत होकर अपनी हर्ष प्रदायक धाराओं के द्वारा देवताओं को सींचता है। यह छन्ने के द्वारा क्षरित होता है। यह उज्जवल सोम इन्द्र के आश्रय के निमित्त इन्द्र को हर्ष प्रदान करता हुआ गिरता है। यह शोधित, क्रीड़ाशील इन्द्रादि देवताओं का पूजक और प्रियकर्मा सोम जब क्षरित होता है, तब दस अँगुलियाँ उसे छन्ने पर रखती हैं। वृषभ के समान शब्द करता हुआ सोम आकाश और पृथ्वी में व्याप्त होता है। रणक्षेत्र

में भी सोम को शब्द के समान ही सुनाई पड़ता है। इसके उच्च स्वर के कारण सभी इसको जान लेते हैं। हे सोम, तुम मधुर रसवाले, शब्दवान् और दूध से मिलनेवाले हो। हे पवमान सोम, तुम जल से सींचे जाकर शुद्ध होते हो, और जब तुम्हारी धाराएँ बढ़ती हैं, तब तुम इन्द्र के प्रति गमन करते हो। हे सोम, तुम जल को रोकनेवाले मेघ को अपने तीक्ष्ण आयुधों से खोलकर नीचे गिरनेवाला करते हो। तुम इन्द्र के हर्ष के लिए क्षरित होओ। तुम हमारी गौओं के दूध की कामनावाले हो, अतः शीघ्र क्षरित होओ (ऋग्वेद 7, 97, 11-15)।

(8) दार्शनिक विकास

वैदिक साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से तत्कालीन दार्शनिक और आध्यात्मिक विकास का भी पता लगता है। वैदिक आर्यो ने संसार की क्षणभंगुरता का अनुभव किया था और जीवन मरण की समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया था। मृत्यु की विभीषिका को दूर करने के लिए उन्होंने अमरत्व के भंडार देवताओं की स्तुति आरंभ की। उन्होंने आत्मतत्व को भी पहचाना था, इसीलिए देवताओं को "आत्मदा' शब्द से सम्बोधित किया। जीवन-मरण की गुत्थी सुलझाने के लिए पुनर्जन्म के सिद्धान्त का भी विकास उन्होंने किया, क्योंकि वैदिक साहित्य में उक्त सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख आता है। ऋग्वेद में देवताओं के विभिन्न जन्मों का स्पष्ट उल्लेख है। प्रकृति, जीव, ब्रह्म आदि के पारस्परिक सबंधों को भी उपनिषदों के ढंग पर सुलझाया जाने लगा था।

सृष्टि उत्पत्ति के संबंध में भी दार्शनिक विचार द्वारा कितने ही सिद्धान्त उपस्थित किये गये थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय दर्शनशास्त्र का विकास वैदिक युग से ही प्रारंभ हो गया था, क्योंकि उसी समय से आर्यो ने सांसारिक पहेलियों को समझने की चेष्टा आरंभ कर दी थी। जीवन मरण, जगत की उत्पत्ति आदि पर विचार करना उन्हें आता था।

सत्

ऋग्वेदादि में कितने स्थलों पर दार्शनिक ढंग पर संसार की समस्याओं को समझने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है —

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।

भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्धांसमुप गात् प्रस्टुमेतत्। 1,164, 4

"प्रथम जन्म वाले को किसने देखा? उस अस्थि रहित ने अस्थित युक्त को धारण किया। पृथ्वी पर प्राण और रक्त उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मा कहाँ से उत्पन्न हुई? इस विषय को जानने के लिए विद्वान् के पास कौन जायेगा?

फिर प्रश्नोत्तर के रूप में उस परम तत्व को समझाने का प्रयत्न किया गया है— (प्रश्न) पृथ्वी का परम अन्त कहाँ है? भुवन की नाभि कहाँ है? वृष (धर्म) रूपी अश्व का वीर्य कहाँ है? परम वाग्शक्ति कहाँ है?

(उत्तर) "यह वेदी पृथ्वी का परम अन्त है। यह यज्ञ भुवन की नाभि है। यह सोम वृषरूपी अश्व का वीर्य है। यह ब्रह्मा परम वाग्शक्ति है (ऋग्वेद 1, 14, 34-35)। इन प्रश्नोत्तरों में दार्शनिकों

और कर्मकांडियों के परस्परिक वाद-विवादों की गन्ध आती है। इसी प्रकरण में उस परमतत्व को समझने का प्रयत्न करते हुए कहा गया है कि वैदिक ऋचाएँ वह अक्षर परमधाम हैं, जहाँ सब देवताओं का वास रहता है। जो इस बात को नहीं जानता उसे ऋचा से कोई लाभ नहीं हो सकता (ऋग्वेद 1, 14, 36)। अन्त में उस परमतत्व का निर्देश करते हुए कहा गया है (ऋग्वेद 1, 16, 49) कि वह सत् (परम तत्व) एक है विद्वान् लोग अग्नि, यम मातरिश्वा आदि बहुत से नामों द्वारा उसका विवेचन करते हैं। इस प्रकार एक परमतत्व जगत् के आदि कारण को निश्चित किया गया। इस सत् को ऋग्वेद में ''हिरण्यगर्भ'' शब्द से भी सम्बोधित किया गया, जहाँ कहा गया

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जातः परिरेक आस्रीत्।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम

''सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। वे उत्पन्न होते ही सब प्राणियों के स्वामी हुए। इन्होंने इस आकाश और पृथ्वी को अपने-अपने स्थान पर सित किया इन प्रजाति का हम हव्य द्वारा पूजन करेंगें।''

इन ''सत्'' और ''हिरण्यगर्भ'' शब्दों में एक महान् अर्थ भरा है। इन शब्दों को स्थूल जगत् के सूक्ष्म रूप के अर्थ में ले सकते हैं। ''सत्'' का शाब्दिक अर्थ है ''वह जिसका भौतिक अस्तित्व हो,'' ''हिरण्यगर्भ'' का अर्थ होता है ''जिसके गर्भ में हिरण्य (बीजरूप चराचर जगत्) हो।'' जिस प्रकार बीज में से वृक्ष का विकास होता है उसी प्रकार ''सत्'' या ''हिरण्यगर्भ'' में से चराचर जगत का विकास होता है। इस प्रकार सत् और हिरण्यगर्भ'' में से चराचर जगत का विकास होता है। इस प्रकार सत् और हिरण्यगर्भ शब्दों में से विकासवाद के सिद्धान्त की ध्वनि निकलती है। सत् की तुलना सगुण ब्रह्म से की जा सकती है, इसे नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत् से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, अथवा उपनिषदों का व्यक्त ब्राह्मण भी कहा जा सकता है।

असत्

ऋग्वेद (10, 72, 2; 19, 129,1) में असत् के तत्व का उल्लेख भी मिलता है। उसकी तुलना अव्यक्त ब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म से कर सकते हैं, ऋग्वेद में सत् व असत् का संबंध समझाते हुए कहा गया है कि देवों के पूर्व युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् भूमि, दिशाएँ, और वृक्ष उत्पन्न हुए। अदिति से दक्ष और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुए। उसके बाद अमृत से बान्धव देव उत्पन्न हुए, जो जल में रहते थे। अदिति के आठ पुत्र आदित्य हुए (ऋग्वेद 10,72, 2-8)। इस प्रकार वहाँ असत् से सृष्टि का विकास बड़े ही सुन्दर शब्दों में समझाया गया है। इससे वैदिक ऋषियों की दार्शनिक मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है।

ब्रह्म

ब्रह्म शब्द ऋग्वेद में साधारणतया प्रार्थना या स्तुति के मन्त्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसी से ''ब्रह्मस्पति'' देवता की कल्पना ऋग्वेद में की गई है। ब्रह्मन् शब्द ब्राह्मण और यज्ञ के मुख्य ऋत्विक अर्थ में भी प्रयुत होता है।

अद्वैतवाद

वैदिक साहित्य में उपनिषदों के अद्वैतवाद के भी दर्शन होते हैं। ऋग्वेदादि संहिताओं में कुछ

मंत्र ऐसे है, जिनमें अद्वैतवाद का स्पष्ट विवेचन है। उन मन्त्रों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों के अद्वैतवाद की आधारशिला ऋग्वेद के मन्त्र हैं, जिनमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। प्रकृति, जीव और ब्रह्म का पृथक-पृथक निरूपण ऋग्वेद में विभिन्न शब्दों द्वारा किया गया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर जीव और ब्रह्म का संबंध आलंकारिक भाषा में दार्शनिक ढंग से समझाया गया है, जो कि इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिसस्वजाते।

तयोरन्य: पिप्तलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति 1, 164, 20

"दो पक्षी वृक्षों पर रहते हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है। जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी हैं। एक सांसारिक भोगों में लिप्त और दूसरा केवल देखता है। यह मंत्र अथर्ववेद (9, 9, 20) में भी आया है। जीवब्रह्म के पारस्परिक संबंध का निरूपण करने के लिए इस मन्त्र का उपयोग श्वेताश्वतरोपनिषद (4, 6) तथा मुण्डकोपनिषद (3, 1, 1) में भी किया गया है।

अद्वैतवाद का बहुत ही सुन्दर विवेचन ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में किया गया है, जहाँ ब्रह्म को परम पुरुष नाम से सम्बोधित करते हुए सृष्टि के विकास क्रम को समझाया गया है।

सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्राक्षप: सहस्रधात्।

स भूमि विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्।।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति 10, 90, 1-2

सहस्र मस्तक और सहस्र नेत्र वाले विराट् पुरुष के चरण भी अनन्त हैं। पृथिवी को सब ओर व्याप्त करके और दस अँगुलियों के बराबर बढ़कर अवस्थित हैं। भूतकाल और भविष्यत् काल यह सब पुरुष रुप ही है। प्राणियों के योग के लिए अपनी कल्पनावस्था को त्यागकर जगदावस्था पाने के कारण वे दिव्यता से सम्पन्न हैं।

उपसंहार

सारांश में यह कहा जा सकता है कि वैदिक आर्यो ने प्राकृतिक जगत् का सम्यक् अध्ययन करके इस बात का अनुभव कर लिया था कि इस जगत का कर्ता अवश्य कोई है, जिसने प्राणीमात्र में जीवन शक्ति भर दी है, जो कि जीवन या प्राण कहलाती है। उस परम शक्ति की स्तुति में कितने ही वेदमन्त्र हैं, जिनसे तत्कालीन आध्यात्मिक व दार्शनिक विकास का स्पष्ट पता चलता है। वैदिक आर्यो ने जीवन ब्रह्म की एकता के निरूपण द्वारा अद्वैतवाद का सिद्धान्त भी सिद्ध किया था।

(9) आर्यो का सृष्टि उत्पत्ति सिद्धान्त

वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़े-बड़े सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। सृष्टि के प्रवाह को अनादि व अनन्त मानकर उसकी उत्पत्ति परमात्मा ने किस प्रकार की इसे समझाने का

प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद के एक स्थान (10, 190, 1-3) पर बताया गया है कि सर्वप्रथम परमात्मा ने ऋत व सत्य को तप द्वारा उत्पन्न किया। तत्पश्चात् दिन-रात, आकाश, पृथ्वी आदि बनाये गये। उसने सूर्यचन्द्रादि को पहिले के समान बनाया। इस सम्बन्ध में मन्त्रों में जो ''यथापूर्व'' शब्द प्रयुक्त किया गया है, उससे सृष्टिक्रम के अनादित्व का बोध होता है। इसी प्रकार वरुण, इन्द्र, अग्नि, विश्वकर्मा आदि देवताओं को सृष्टि का कर्ता बताया है।

ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त (10, 121, 1-10) में सृष्टि की उत्पत्ति को समझाते हुए कहा गया है कि ''हिरण्यगर्भ ही सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व वर्तमान था, वही उत्पन्न भूतों का एकमात्र पति था। वह आत्मिक तथा शारीरिक बल को देने वाला है। अमृतत्त्व और मृत्यु उसकी छाया है (ऋग्वेद 10, 121, 1-2)। उसने पृथ्वी और आकाश को स्थिर किया। प्रजापति के अतिरिक्त अन्य कोई समस्त विश्व में व्याप्त नहीं है।''

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में (10, 90, 1-16) में आलंकारिक भाषा में सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। यह संसार परमात्मा रूपी पुरुष के शरीर से बना है। सृष्ट्युत्पत्ति के कार्य का एक महान् यज्ञ माना गया है जिसमें पुरुष को ''मेध्य'' कहा गया है। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ और विराट् से पुनः पुरुष उत्पन हुआ (10,90,5)। इस प्रकार पुरुष उत्पादक व उत्पादित दोनों है। वही परम आत्मा और अहंकारमय जीवात्मा दोनों ही है। यही शंकर के मायावाद का मौलिक स्वरूप है। इस सूक्त में वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति का भी उल्लेख है, तथा चन्द्र, सूर्य, भेड़-बकरी आदि की उत्पत्ति का वर्णन है।

नासदीय सूक्त (ऋग्वेद 10, 129, 1-7) में दार्शनिक ढंग से सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। उसमें सृष्टि उत्पत्ति के पूर्व की अवस्था पर विचार किया गया है। ''उस समय न असत् था न सत् न व्योम जो कि उसके परे है। क्या छिपा हुआ था? और कहाँ? क्या गहन व गंभीर जल था? (ऋग्वेद 10, 129,1)। ''उस समय न तो मृत्यु थी न अमृत। रात्रि व दिन का कोई संकेत नहीं था। वही एक बिना वायु के अपनी आन्तरिक शक्ति द्वारा श्वास ले रहा था (ऋग्वेद 10, 129, 2)। उसके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व में नहीं था।'' ''सर्वप्रथम अन्धकार से गूढ़ अन्धकार ही था, जिसका कोई संकेत नहीं था। यह सब जलमय था। वह जो शून्य से ढँका हुआ था, तप की शक्ति से उत्पन्न हुआ (10, 129, 3)। ''सर्वप्रथम काम ने उसमें प्रवेश किया जो मन का प्रथम बीजांकुर था। मनीषी कवियों ने अपने हृदयों में ढूँढ़कर असत् में सत् को बन्धु पाया (ऋग्वेद 10, 129, 4)।'' उसके प्रकाश ने अन्धकार में विस्तार पाया। किन्तु क्या वह ऊपर था या नीचे? वहाँ उत्पादन करने की वह उत्पन्न होने की शक्ति थी। नीचे स्वधा व ऊपर प्रयतिः थी (ऋग्वेद 10, 129,5)। इस सूक्त के असत् व सत् में हमें सांख्य के पुरुष व प्रकृति के दर्शन होते हैं तथा असत् व सत् के पूर्व की ऐक्यमय स्थिति में वेदान्त के अद्वैतवाद को बीजरूप से पाते हैं।

(10) उत्तर वैदिक काल में आर्यो के धर्म और दर्शन

ऊपर यह वर्णन किया गया कि पूर्व वैदिक धर्म के तीन प्रमुख पक्ष थे-देव तत्व, यज्ञ तत्व और दार्शनिक चिन्तन। इसमें देव तत्व की ही प्रधानता थी। इन देवताओं को प्रसन्न करने के लिए ही यज्ञ किये जाते थे। यज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था।

यद्यपि दार्शनिक चिन्तन की झलक भी ऋग्वेद में यत्र-तत्र उपलब्ध है (ऋग्वेद 1/ 164/ 10; 1/ 129/ 10; 1/ 10/ 90; 1/ 10/ 121) तथापि सम्पूर्ण ऋक्- संहिता में विस्तृत दार्शनिक चर्चा का अभाव ही है। उत्तर वैदिक धर्म में भी ये ही तीन पक्ष हैं।

उत्तर वैदिक युग में हम देवतत्व का ह्रास तथा यज्ञ एवं दार्शनिक चिन्तन की दशा में झुकाव पाते हैं। तत्कालीन धर्म के अन्तर्गत स्थूल यज्ञीय कर्मकाण्डों का विस्तार तथा सूक्ष्म तत्व चिंतन की गरिमा दोनों समान रूप से दृश्य हैं। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ संस्था का साम्राज्य है। उस युग में धार्मिक विश्वासों के अनुसार यज्ञ ही वह परम शक्तिमान साधन है, जिसके द्वारा देवता भी वशीभूत किये जा सकते हैं (तैत्तिरीय संहिता 2, 3, 1, 5 पन्र्चविंश ब्राह्मण 9, 2, 22)। इसी के द्वारा लौकिक सुख और पारलौकिक शान्ति भी संभव है। उत्तर वदिक युग में यज्ञमूलक धर्म का जो अतिशय विकास एवं विस्तार हुआ, उसके परिणामस्वरूप मूल धार्मिक भावना लुप्त प्राय: हो गई, तथा धर्म का प्रतीकात्मक एवं आडम्बर पूर्ण कलेवर ही अधिक महत्वपूर्ण हो गया। कर्मकाण्डों के इस विस्तार के स्वाभाविक प्रतिक्रियास्वरूप उषनिषत्काल में दार्शनिक चिन्तन की वह प्रबल धारा प्रवाहित हुई, जिसका उद्गमन ऋक् संहिता से हुआ था, तथा जिसकी गति परवर्ती संहिताओं एवं ब्राह्मणों के युग में प्राय: अवरूद्ध हो गई।

1. सामाजिक और आर्थिक परिवेश तथा धर्म पर उसका प्रभाव

यद्यपि उत्तर-वैदिक समाज पर धर्म का अतिशय प्रभाव अप्रत्याख्येय था तथापि नवोदित सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियों ने भी धर्म के विकास एवं धार्मिक दृष्टिकोण में न्यूनाधिक परिवर्तन को प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। वर्ण व्यवस्था के विकास के साथ ही वंशानुगत ब्राह्मण वर्ग अस्तित्व में आया। पौरोहित्य, ब्राह्मणों का व्यवसाय था। ऋक्संहिता में ही ब्राह्मणों (पुरोहितों) की श्रेष्ठता को स्थिर करने का प्रयास प्रतिध्वनित है। एक प्रसंग में स्पष्ट कहा गया है कि राजा की समृद्धि तभी होती है जब राजा ब्राह्मण का आदर करता है (ऋग्वेद 4, 50, 8)। उत्तर वैदिक युग तक यज्ञ कार्य पुरोहित की सहायता के बिना असंभव माना गया (ऐतरेय ब्राह्मण 40, 1)। ब्राह्मणों ने अपने इस व्यवसाय को अधिक लाभप्रद और स्थायी बनाने का प्रयास किया। उत्तर वैदिक यज्ञ संस्था के आशातीत विस्तृत, विपुलकाय एवं जटिल होने का एक प्रमुख कारण ब्राह्मण पुराहितों का वर्गगत स्वार्थ भी था, जिसके परिणाम स्वरूप धर्म के उदात्त आदर्श निष्प्राण हो गये। यज्ञों को रहस्यात्मक दुरूह बनाने के लिए अधिकतर प्रतीकों को सहारा लिया गया तथा भाषा का प्रयोग भी इस प्रकार किया गया मानो उसका उद्देश्य विचारों को प्रकट न करके अवगुंठित करना हो। एकान्त रूप से पौरोहित्य में प्रवृत्त होने के कारण जहाँ ब्राह्मणों ने यज्ञ संस्था को विकसित किया, वहीं जन-साधारण में भय मिश्रित श्रद्धा उत्पन करने के लिए यज्ञों का स्वरूप रहस्यमूलक भी बनाया। विशाल श्रौत यज्ञ, जो महीनों तक चलते थे, पुरोहितों की आय में वृद्धि के महत्वपूर्ण साधक बने। अश्वमेघ जैसे यज्ञ में तो यदा-कदा पुरोहित (अध्वर्यु) राजा की चतुर्थ पत्नी को भी दक्षिणा में प्राप्त कर लेता था।

उत्तर वैदिक युग में यज्ञ बहुत ही व्यवसायपूर्ण विस्तृत एवं रहस्यात्मक हो गये थे। कुछ यज्ञ महीनों तथा वर्षो चलते थे। इनमें अन्तर्निहित वणिक वृत्ति (लेने-देने का भाव) यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में अनेक जगह मुखरित है (वाजसनेयी संहिता 3, 50 शतपथ ब्राह्मण 3, 5, 3, 19)। इस युग में सब

कर्मों में यज्ञ को श्रेष्ठ माना गया(शतपथ ब्राह्मण 1, 7, 3, 5)। यज्ञ से सृष्टि के निर्माण की बात ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में ही मिलती है, जिसे प्रकारान्तर से ब्राह्मणों में अनेकशः दुहराया गया है (ताण्ड्य ब्राह्मण 6, 1)। शतपथ ब्राह्मण (2, 3, 1, 6) के अनुसार अग्निहोत्र अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापों से मुक्त हो जाता है। इसी ग्रन्थ (13, 5, 4, 1) में अन्यत्र कहा गया है कि अश्वमेध करने वाला अपने समस्त पापों को तथा ब्रह्महत्या को दूर भगा देता है। गोपथ ब्राह्मण (4, 6) में एक सुन्दर उपमा द्वारा इस पापमोचन के तत्व को समझाया गया है। इसके अनुसार जिस प्रकार साँप अपनी पुरानी केंचुल से छूट जाता है तथा ''इषीका'' भूज से छूट जाती है, उसी प्रकार शाकला का हवन करने वाला समस्त पापों से छूट जाता है। इस युग में प्रमुख देवताओं को यज्ञ का आध्यात्मिक प्रतीक माना गया। शतपथ ब्राह्मण (4, 3, 4, 3) के अनुसार यज्ञ प्रजापति का ही प्रत्यक्ष रूप है। उत्तर वैदिक युग में भी पूर्व वैदिक युग के समान ही यज्ञों में ऋत्विक के कर्मों का चतुर्धा विभाजन हुआ।

यज्ञों का वर्गीकरण

उत्तर वैदिक काल में यज्ञों की संख्या में अतिशय विस्तार हुआ तथा स्थूलरूपेण उनके वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया। अग्नि प्रमुखतया दो प्रकार की मानी गई— स्मार्ताग्नि और श्रौताग्नि। इनमें प्रथम अग्नि की स्थापना प्रत्येक व्यक्ति के लिए कर्तव्य है। इस गृह्याग्नि में क्रियमाण यज्ञ, पाक् यज्ञ कहलाता है, जिसके अन्तर्गत औपासन होम, वैश्वदेव, पार्णव, अष्टका, मासिक, श्राद्ध श्रवण, शूलगव आदि सात यज्ञों की गणना हुई। ये यज्ञ साधारण और सरल हैं। श्रौतयज्ञों को हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ इन दो भागों में विभाजित किया गया है। हविर्यज्ञ के अंतर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरूढ़-पशुबन्ध, सौत्रामणी और पिण्ड-पितृयज्ञ माने गये हैं। इसी प्रकार सोमयाग के अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडषी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम का उल्लेख है।

पुनश्च यज्ञों का विभाजन एकाह, अहीन और सत्र में हुआ है। ब्राह्मण युग में राजसूय और अश्वमेध सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोम-यज्ञ माने गये। राजाओं की शक्ति एवं प्रभुत्व में वृद्धि के साथ राजनैतिक महत्व के इन यज्ञों की महत्ता में वृद्धि स्वाभाविक थी। ब्राह्मण युग तक सोम-यज्ञों के लिए विस्तृत चितियों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

अग्निहोत्र

अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातः काल और सन्ध्याकाल में अग्नि की उपासना है, जिसमें मुख्यतः दूध की तथा गौणतः यवागू, तण्डुल, दधि और घृत की आहुति दी जाती थी। इसे पापों से मुक्त करने वाला तथा स्वर्ग ले जाने वाला नाव माना गया (शतपथ ब्राह्मण 1, पृ. 191 अच्युत ग्रन्थमाला)। सूर्य के विषय में यह विश्वास था कि शाम की अग्नि में समाहित हो जाता है (वही पृ. 178)। अग्निहोत्र के अनेक तत्वों की प्रतीकामक व्याख्या भी हुई (वही. 2 पृ. 1174)।

दर्श और पूर्णमास

दर्श और पूर्णमास को अन्य सभी इष्टियों की प्रकृति माना गया है। दर्शपूर्णमास याग क्रमशः अमावस और पूर्णिमा को किये जाते थे। दर्श में आग्नेय पुरोडाश याग, इन्द्र देवताक, दधि द्रव्यक याग तथा इन्द्र देवताक पयोद्रव्यक याग, ये तीन भाग होते हैं। पौर्णमास में अग्नि देवताक अष्टाकपाल पुरोडाश

याग, अग्निषोनीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग, तथा अग्निषोमीय एकादश पुरोडाश याग, ये तीन भाग होते हैं। इस प्रकार छः यागों की समष्टि दर्शपूर्णमास के नाम से प्रसिद्ध है। दर्श में अग्नि और इन्द्र प्रमुख देवता है और पूर्णमास में अग्नि और सोम।

चातुर्मास्य

चार-चार मासों में अनुष्ठेय होने के कारण इसका यह नामकरण है। इसका संबंध स्पष्टतः ऋतुओं से है। इसमें चार पर्व होते हैं, वैश्वदेव का फाल्गुनी पूर्णिमा को तथा वरुण-प्रधास का सम्पादन आषाढ़ी पूर्णिमा को होता था। साकमेध चार मासों के अनन्तर कार्तिकी पूर्णिमा को तथा शुनासीरीय फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को अनुष्ठेय थे। वरुण प्रधास का संबंध स्पष्टतः पापमोचन से है। शुनासीरीय कृषि कर्म से संबंधित अनुष्ठान है। यह भी कहा गया है कि वैश्वदेव अग्नि से सायुज्य प्राप्त कराता है, वरुण प्रधास वरुण से तथा शाकमेध इन्द्र से, शाकमेध अनुष्ठान में त्रयम्बक को बलि चढ़ाने की महत्वपूर्ण बात कही गई है। उन्हें बलि चौराहे पर दी जाती थी। इस अवसर पर एक पिण्ड उत्तर की दिशा में चींटियों के झुंड पर फेंक दिया जाता था और कहा जाता था, हे रुद्र यह तुम्हारा भाग है। इस प्रसंग में आगे रुद्र से मूजवन्त के उस पार चले जाने को कहा जाता था (द्रष्टव्य-रुद्र अनार्यो के देवता)। शाकमेध का यह प्रसंग दो बातों को सूचित करना है। प्रथम यह कि उत्तर वैदिक ऋत्विज-समाज की दृष्टि में रुद्र की स्थिति अन्य देवताओं से पृथक थी। दूसरे उनकी बलि भी आदिम विधि से प्रदत्त की जाती थी तथा यजमान बलि द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयास करता था।

आग्रयण

आग्रयण इष्टि का प्रयोजन स्पष्ट है। नवीन उत्पन्न द्रव्य (धान तथा यव) के लिए शरद और वसन्त में यह इष्टि विहित है। यह नित्य इष्टि है। इसके अनुष्ठान के पश्चात् ही आहिताग्नि नये अन्न को खाता है।

निरूढ़ पशुबन्ध

पशु यज्ञ प्रति वत्सर वर्षा ऋतु में करने का विधान था। कहीं-कहीं उत्तरायण के तथा दक्षिणायन के प्रारंभ में दो बार भी विकल्प से अनुष्ठान विहित है। द्रव्य है छाग और वह भी प्रत्यक्ष नहीं किन्तु उसके वसा, हृदय वक्ष, यकृत आदि नाना अंगों का होम इन्द्राग्नि, सूर्य, अथवा प्रजापति के उद्देश्य से अग्नि में विहित हैं। खादिर अथवा विल्ब के वृक्ष में छाग को बाँधकर संज्ञपन करते हैं। तदनतर अंग विशेषों को निकाल कर यज्ञ में हवन करते हैं। क्रमश पशुवध में होने वाली हिंसा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है शांखायन ब्राह्मण (11, 13) में कहा गया है कि यज्ञ में हिंसित पशु दूसरे लोक में जाकर यज्ञकर्ता को खाते हैं। अतः पुरोहितों ने पशु यज्ञ को रहस्यात्मक और मिथ्याभिचारिक स्वरूप देने का प्रयास भी किया है (शतपथ ब्राह्मण 1, 379 384 अच्युत ग्रंथमाला।)

सौत्रामणी

यद्यपि सूत्र साहित्य में सौत्रामणी को हविर्यज्ञ के अन्तर्गत स्थान दिया गया है, किन्तु यह याग सोम यज्ञ के अधिक निकट प्रतीत होता है। इसमें पशु और सुरा की बलि दी जाती थी। स्वतंत्र और अंगभूत होने से यह इष्टि दो प्रकार की होती है। स्वतंत्र याग में ब्राह्मण का ही तथा अंगभूत में क्षत्रिय

एवं वैश्य का अधिकार माना गया है। पशु तीन होते है— अज, मेष, और ऋषभ तथा देवता भी यथाक्रम अश्विनौ, सरस्वती और इन्द्र होते हैं। प्रारंभ में ''सौत्रामण्यां सुराग्रह:'' संभवत: एकान्त नियम था किन्तु आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में ''पयोग्रहा, वा स्यु:'' नियम भी मिलता है (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र 14, 2, 23)।

पिण्डपितृयज्ञ

पितृ यज्ञ के अन्तर्गत बलि द्वारा पितरों को संतुष्ट किया जाता था। इस यज्ञ के प्रसंग में पारिवारिक तथा श्रौत अनुष्ठानों में नितान्त साम्य है। पितृ यज्ञ के स्वरूप के अध्ययन से यह बात प्रकट होती है कि पितरों तथा देवताओं के प्रति लोगों के भाव में पर्याप्त अन्तर था। देवताओं के प्रति किये गये यज्ञ में जहाँ फल प्राप्ति की कामना प्रमुख थी वहीं पितृयज्ञ के मूल में पूर्वजों की प्रति श्रद्धा-भाव ही मुख्य-प्रेरक तत्व था।

सोमयज्ञ

सोम यज्ञों की विशालता एवं जटिलता विशेष उल्लेखनीय है, जो विशेषत: वाजपेय, अश्वमेध तथा राजसूय इत्यादि राजनैतिक महत्व के यज्ञों में पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। सोम रस की आहुति देने से इन यज्ञों को सोम याग के अन्तर्गत माना गया है। वाजपेय प्रारम्भ में एक क्षत्रिय अनुष्ठान था जिसका लक्ष्य विजय प्राप्त करना था (गोपथ ब्राह्मण 5, 8)। वैसे ब्राह्मण साहित्य में इनका सम्पादन ब्राह्मणों के लिए भी विहित है। ईशुप्रासन, अजिधावन, दुंदुभिवादन, आदि इसके प्रमुख तत्व हैं। यूपारोहण जैसे अनुष्ठानों को संभवत: बाद में जोड़ा गया। अश्वमेध यज्ञ के सौर और उर्वरतामूलक अनुष्ठान होने के चिन्ह स्पष्ट हैं। इस दृष्टि से मेध्य अश्व तथा राजमहिषी का समागम उल्लेखनीय है (शतपथ ब्राह्मण 13, 5, 2,2)। मूलत: अश्वमेघ यज्ञ का उद्देश्य उर्वरता के कारणभूत वसन्त के सूर्य के आगमन पर उत्सव मनाना था।

कालक्रम से यह यज्ञ राजाओं के दिग्विजय से संबंधित किया गया। राजसूय के अन्तर्गत राजा के अभिषेक तथा उससे संबंधित अनेक अनुष्ठानों का संकलन है। अभिसेचन, द्यूतक्रीड़ा, रथ-धावन तथा रत्नहविषी आदि इसके प्रमुख तत्व हैं। इस यज्ञ के प्रसंग में प्रयुक्त प्रतीक, प्रतिज्ञा तथा आशीष राजनैतिक संगठन की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

अग्निष्टोम

यज्ञा यज्ञा वो अग्नये (ऋग्वेद 48, 1) ऋचा पर सामगान अग्निष्टोम कहलाता है। साम के अन्तिम होने से यह याग कहलाता है ''अग्निष्टोम संस्था'' और लघुता की दृष्टि से केवल ''अग्निष्टोम''। यह याग पाँच दिनों तक चलता है। ऐष्टिक वेदी ये आनुषंगिक इष्टियों का तथा सौमिक वेदी में प्रधान इष्टियों का अनुष्ठान किया जाता है। प्रकृति याग होने से इसका विशेष महत्व है। बारह शस्त्रों का प्रयोग इसकी विशेषता है।

उक्थ्य

इसका स्वरूप भी बहुत कुछ अग्निष्टोम के समान है। इसमें पूर्व याग से तीन शस्त्र अधिक होते हैं। शस्त्रों एवं स्तोत्रों की संख्या 15 होती है। दो पशुओं की बलि दी जाती है।

षोडषी

इस दृष्टि से उक्थय के अनन्तर एक षोडषी नामक स्तोत्र और विद्यमान रहता है। पन्द्रह स्तोत्रों को गर्भित कर एक और स्तोत्र की सत्ता इसकी विशिष्टता है। यह स्वतंत्र ऋतु नहीं है, इसलिए अग्निष्टोम की भाँति इसका अनुष्टान, पृथक रूप से नहीं होता है। इसमें मेध्य पशुओं में तीसरे पशु (मेष) भेड़ा का भी 14 बार उल्लेख हे।

अतिरात्र

षोडषी स्तोत्र के अनन्तर अतिरात्र संज्ञक सामों का गायन इस याग के अन्त में होता है। इसमें उन्तीस स्तोत्र और शस्त्र होते हैं। इसका सम्पादन रात्रिकाल में होता है। इसमें मेध्य पशुओं की संख्या 4 होती है। उपर्युक्त चारों यागों का सामूहिक अभिधान, ज्योतिष्टोम है (तैत्तिरीय ब्राह्मण 1, 5, 11)। प्राचीनतर संहिताओं में अत्यग्निष्टोम, आप्तोर्याग और वाजपेय की गणना ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत नहीं हुई है। संभवतः बाद में संख्या को सात करने के लिए इन्हें जोड़ दिया गया है (आपस्तम्ब श्रौत सूत्र 14, 1, 4, कात्यायन श्रौत सूत्र 10, 9, 28)। क्योंकि सात की संख्या परम्परागत रूप से शुभ और पवित्र मानी जाती थी।

अत्यग्निष्टोम

इसमें अग्निष्टोम के अन्तर्गत बिना उक्थय किये षोडषी का विधान किया जाता है इसमें तेरह शस्त्र और स्तोत्र होते हैं। अग्निष्टोम तथा अत्यग्निष्टोम में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

आप्तोर्याम

आप्तोर्याम को यत्र-तत्र अतिरात्र के साथ अहीन यज्ञों के अन्तर्गत माना जाता है तथा अन्यत्र इसकी गणना एकाह यज्ञों में हुई है। अतिरात्र के सन्धि स्तोत्र तथा अश्विन् शस्त्र के बाद इसमें क्रमशः चार स्तोत्र और शस्त्र अधिक जोड़े गये हैं।

पुरुषमेध

सोम यज्ञों में सर्वाधिक जटिल, विकृत एवं वीभत्स पुरुषमेघ तथा अग्निचयन के प्रसंग में चिति-निर्माण से संबंधित पंच पशुयज्ञ हैं। इसका विस्तार से वर्णन पंचम अध्याय-आर्यो पर अनार्य सभ्यता का प्रभाव के अन्तर्गत हो चुका है।

पंचमहायज्ञ

यद्यपि पंच महायज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं साधारण था, तथापि उनके अन्तर्गत यज्ञ-धर्म का उदान्द स्वरूप दृटिगोचर होता है। ये यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिए कर्तव्य थे तथा साथ ही निहितत्याग, श्रद्धा सर्वभूतानुकम्पा की भावना धार्मिक उच्चादर्शो का संकेत करती है। पंचमहायज्ञों का स्थान सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंचमहायज्ञों के सम्पादन के पश्चात् ही भोजन ग्रहण करने का विधान था। शतपथ ब्राह्मण (11, 5, 6,) में भूतयज्ञ, मनुष्य यज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्राह्ययज्ञ ''पंच महायज्ञ'' के रूप में उल्लिखित हैं। देवयज्ञ के अन्तर्गत प्रातः और सायंकाल भोजन तैयार होने पर देवताओं को हवि प्रदान किया जाता था। ''यदन्ना पुरुषः तदन्ना

तस्य देवता'' में विश्वास करने वाले वैदिक समाज में भोजन के पूर्व देवताओं को संतुष्ट करना सर्वथा स्वाभाविक था। दूसरा भूत यज्ञ है जिसका उद्देश्य विभिन्न प्राणियों को संतुष्ट करना था। गोभिल गृह्यसूत्र (1, 4) के अनुसार इसका प्रदान विविध देवताओं सर्पो राक्षसों के लिए भी होता था। पितृयज्ञ के अन्तर्गत बलि, जल के साथ पितरों को समर्पित की जाती थी। वैदिक समाज में यह विश्वास था कि पितर, परलोक में अपने वंशजों द्वारा प्रदत्त अन्न से ही पलते हैं। साथ ही परिवार के सुख एवं स्मृद्धि के लिए भी पितरों की प्रसन्नता एवं संतुष्टि आवश्यक मानी जाती थी। ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन का विधान था। शतपथ ब्राह्मण (11, 5,7) में ब्राह्म यज्ञ की भूयसी प्रशंसा बड़ी ही आलंकारिक शैली में की गई है। इस ग्रन्थ के अनुसार ऋक् का अध्ययन देवताओं के लिए पय की आहुति है। यजुष का आज्याहुति साम का सोमाहुति, अथर्वांगिरस का भेद-आहुति तथा अनुशासन, विद्या, वाकोवाक, इतिहास, पुराण नाराशंसी गाथाओं का अध्ययन देवों के लिए मधु की आहुति है। इस प्रकार वैदिक ज्ञान की परम्परा को अमरत्व प्रदान करने के लिए ही ब्राह्मण साहित्य में वेद-वेदांगों का अनुशीलन एक पुनीत महायज्ञ माना गया। पाँचवाँ महायज्ञ मनुष्य यज्ञ है जिसके अनुसार ब्राह्मण, अतिथि तथा भिक्षुओं को भोजन दिया जाता था। अतिथि सत्कार की महत्ता का वर्णन उत्तर वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों में मिलता है (ऐतरेय ब्राह्मण 1, 17, 1, 25 शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्) । इसके विपरीत देवयज्ञ, मनुष्य यज्ञ तथा पितृयज्ञ से विमुख अपने शरीर मात्र में पोषण में संलग्न व्यक्ति की निन्दा की गई है (ऐतरेय ब्राह्मण 7, 9)

(11) यज्ञमूलक धर्मका विरोध और ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन

ब्राह्मण युग के अन्त तक वैदिक समाज विपुलकाय, औपचारिक एवं आडम्बरपूर्ण यज्ञों के प्रति उदासीन होने लगा था। यज्ञों में व्याप्त वाह्याडम्बर से मूल धार्मिक भावना प्राय: ग्रस्त हो चुकी थी। उसके त्राण हेतु प्रतीकों से आच्छन्न यज्ञों में अन्तर्निहित ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता घोषित हुई। शतपथ ब्राह्मण (10, 5, 4, 15) के अनुसार ज्ञान के अभाव में परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से संभव है और न तप से। इसकी प्राप्ति केवल उसे हो सकती है जो यज्ञ के मूल में निहित धार्मिक भावना को जानता है। इसी ग्रन्थ (1, 4, 5, 8-12) में मन अर्थात् ज्ञान की श्रेष्ठता प्रजापति द्वारा स्वीकृत बताई गई है। आरण्यकों में तो स्पष्टत: यज्ञों के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमांसा की गई। यज्ञ से सम्बन्धित अनुष्ठान नहीं बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही आरण्यकों के मुख्य विषय हैं। आरुणकेतुक तथा सावित्रचयन सदृश अग्निचयनों में यज्ञ विधि का भौतिक पक्ष प्रतीकात्मता में विलीन प्राय: हो गया। इस प्रकार क्रमश: कर्मकाण्ड के समक्ष ज्ञान की श्रेष्ठता तथा देव यजन के समक्ष आत्म यजन की महत्ता स्वीकृत हुई। उपनिषत्काल तक ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति सम्मान्य एवं अप्रत्याख्येय है। मुण्डकोपनिषद् (1, 2, 10) के अनुसार यज्ञीय अनुष्ठान अदृढ़रूप प्लव है, जिनके द्वारा संसार का सन्तरण कभी नहीं हो सकता। यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक पाकर भी अन्तत: इस भूतल पर आते हैं। इस प्रकार कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के वर्णन के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई तथा ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म में लय होने की तुलना नाम रूप को छोड़कर नदियों के समुद्र में मिल जाने से की गई है। यज्ञों के विरोध का एक प्रबल कारण यज्ञ में होने वाली हिंसा थी। यज्ञ में हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञकर्ता को खाते है (शांखायन

ब्राह्मण 11, 13)। इससे प्रकट है कि लोगों में हिंसामक यज्ञों के प्रति घृणा का भाव जग रहा था तथा लोग उनसे विमुख हो रहे थे।

यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि उत्तर वैदिक काल के साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि उक्त युग के धार्मिक जीवन में परिवर्तन हो गया था। कुछ नये देवताओं का महत्व बढ़ गया था तथा पुराने देवता विस्मृत हो गये थे। ऋग्वेद में यत्र-तत्र उल्लिखित प्रजापति यजुर्वेद में महत्वपूर्ण हो जाता है (7, 24, 30; 40, 44-45; 18/ 2- 7)। ऋग्वेद का रुद्र शंकर (यजु 16/ 41), शिव, पशुपति (यजु. 16/40) शम्भु (यजु. 16/28) भव (यजु. 16/28) नीलग्रीव, कपर्दी (यजु. 16/ 29) आदि नामों से विभूषित किया गया है और इस प्रकार हमें यजुर्वेद में पौराणिक शिव के दर्शन होते हैं। विष्णु का भी महत्व बढ़ गया था और यज्ञ के साथ उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है (यजु. 5/ 1-2, 15-21, 41, 6/ 3, 4, 5) देव व असुर क्रमशः भले और बुरे से सम्बंधित किये गये हैं और पारस्परिक झगड़े भी उलिखित किये गये हैं, जिनसे पौराणिक देवासुर संग्राम को सम्बन्धित किया जा सकता है। यजुर्वेद में अप्सराओं का भी उल्लेख आता है जिनका पौराणिक कथाओं में बहुत महत्व है (मैकडॉनल-हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरैचर पृ. 182)। उसमे उपनिषदों के ब्रह्म के भी सर्वप्रथम दर्शन होते हैं (यजु. 40/ 1-17)।

यह धार्मिक परिवर्तन अथर्ववेद में भी परिलक्षित होता है, जिसकी विशेषता यह है कि उसमें जन साधारण के अन्धविश्वास, जादू-टोने आदि का वर्णन है (अथर्व 4, 19,1-8, 4, 20, 1-9)। वरुण सूक्तों में नैतिकता के उच्च आदर्शो का सुन्दर विवेचन किया गया है (अथर्व 4, 16, 1-9)। इसी प्रकार व्रात्यसूक्त (अथर्व 15, 1-18) व कालसूक्त (अथर्व 19, 53; 1— 10; 19, 54, 1-5) अपने नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शो के विवेचन के कार्य में ऋग्वेद से भी आगे बढ़ गये हैं उनमें उदात्त दार्शनिक मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण किया गया है। अथर्ववेद के धार्मिक सिद्धान्तों के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि उसमें उदात्त धार्मिक सिद्धान्तों के साथ-साथ जन साधारण के अन्धविश्वास, जादू-टोना आदि से युक्त धार्मिक विश्वासों का भी समावेश है। विद्वान् लोगों का यह मन्तव्य है कि अथर्ववेद में प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्त आर्य और अनार्य तत्वों के सुन्दर सम्मिश्रण हैं। ज्यों-ज्यों ऋग्वेद कालीन आर्य सप्तसिन्धु से आगे बढ़ने लगे, त्यों-त्यों सर्प, पत्थर, पेड़ आदि पूजनेवाली जंगली जातियों के संसर्ग में आने लगे। किन्तु आर्यो ने इन जंगली जातियों का सर्वनाश न कर उन्हें अपने समाज में आत्मसात् कर लिया। अतएव आर्यो को उनके धार्मिक अन्धविश्वास, जादू टोने आदि को भी अपने परिमार्जित और शुद्ध धार्मिक सिद्धान्तों में सम्मिलित करना पड़ा।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद आदि में जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है, वे वेदकालीन धार्मिक विश्वास के प्रेरणा स्रोत थे। आर्यो के धार्मिक सिद्धान्तों का विकास उन देवताओं के इतिहास में निहित है, तथा बाद के पौराणिक देवताओं, विशेषकर ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि त्रिमूर्ति का प्रारम्भ भी उन्हीं से होता है।

उत्तर वैदिक युग में भी देव समाज प्रायः ऋग्वैदिक देव समाज के ही समान है, किन्तु परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मणों द्वारा संबंधित धर्म के अन्तर्गत देवताओं की श्रेष्ठता स्वीकृत नहीं है। अथर्ववेद मुख्यतः गृह्य एवं अभिचारिक संस्कारों का निरूपण करता है। कौशिक सूत्र के सांस्कारिक विषयों सहित अथर्ववेद के बाद के अंश प्रेतात्मा और दैत्य विषयक अत्यन्त रोचक विवरण प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद

में निर्दिष्ट देवमंडल ऋग्वेद से अवांतर कालीन विकास का सूचक और पोषक है। अथर्ववेद में इन्द्र, वरुण अग्नि आदि ऋग्वेदीय देवों की सत्ता है किन्तु उनका प्राकृतिक दृश्यों का प्रतीकात्मक रूप विस्मृत प्रायः बन गया है। अब वे केवल देव विशेष के रूप में ही उपस्थित होते हैं, जिनका मुख्य काम राक्षसों का संहार, रोगों का विनाश एवं शत्रुओं का विध्वंसन है। अथर्ववेद में देवताओं के लिए अलग-अलग प्रशस्ति सूक्त अपेक्षाकृत कम है, जबकि अनेक देवताओं का एक साथ आह्वान इनकी विशेषता है। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में देवगण छायात्मक व्यक्तित्व मात्र है। उनका उल्लेख यज्ञों के प्रसंग में हुआ है। उनके व्यक्तिगत गुण प्रायः विलीन हो गये हैं। कुछ प्रमुख देवताओं का महत्व घट गया है तथा ऋग्वेद के कुछ साधारण देवता अधिक श्रद्धेय हो गये हैं। इस युग में ऋग्वैदिक युग के प्रमुख देवता इन्द्र और वरुण का स्थान गौण हो गया, तथा उनका स्थान रुद्र, शिव, विष्णु और सूर्य आदि लेने लगे। ब्राह्मण युग का प्रधान देवता प्रजापति है। उनका तादात्म्य यज्ञ से स्थापित किया गया हैं (शतपथ ब्राह्मण 4, 3, 4, 3)। साथ ही उन्हें देवताओं तथा सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। इस युग में निर्जीव पदार्थों तथा पशुओं एवं वृक्षों में भी देवत्व की कल्पना मिलती है। काल, काम और स्कम्भ आदि अमूर्त भावात्मक देवताओं का उल्लेख अथर्ववेद में प्रथम बार हुआ है। इनमें विशेष महत्ता स्कम्भ को दी गई है। उसका तादात्म्य ब्रह्मन् और प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है। देश और काल, देवता, वेद एवं समस्त नैतिक शक्तियाँ उसी में अन्तर्निहित मानी गई हैं (अथर्ववेद 10, 7, 7)। अम्बिका आदि देवियों का यजुर्वेद में उल्लेख संभवतः मातृदेवी की वर्धमान लोक प्रियता का संकेतक है।

(12) उत्तर वैदिक युग में देवताओं के महत्त्व के ह्रास का कारण—

उत्तर वैदिक युग में देव तत्व के ह्रास का प्रमुख कारण यज्ञों की सर्वातिशायिता थी, जिनके प्रभाव से देवता भी आच्छन्न हो गये। यज्ञ को ही ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया, तथा यह प्रतिपादित किया गया कि यज्ञ से ही देवताओं ने भी शक्ति, तेज एवं अमरत्व प्राप्त किया। ऐसी स्थिति में यज्ञों का सम्पादन ही परमधर्म हो गया, जिसके माध्यम से इच्छानुकूल फल की प्राप्ति के लिए देवताओं को विवश किया जा सकता था। इस प्रकार यज्ञ के सामने देवताओं का महत्व स्वभावतः कम हो गया। दूसरे विभिन्न देवताओं में सारभूत एकता ढूँढ़ने की भावना, जो ऋक्संहिता में ही उपलब्ध है, कालक्रमेण अधिक विकसित हुई और परिणाम स्वरूप अन्त में एक ही परमदेव की सत्ता स्वीकृत हुई,जिसे ब्राह्मणों में प्रायः प्रजापति माना गया है तथा यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया गया है। उसे देवताओं का भी स्रष्टा माना गया है (ताण्ड्य ब्राह्मण 6, 1)। इस मनोवृत्तिके कारण बहुदेववाद को धक्का तो लगा ही, साथ ही उदीयमान देवता प्रजापति की अतिशय महत्ता के कारण अन्य उपेक्षित हुए। उनके व्यक्तिगत गुणों एवं विशेषताओं का भी लोप हो गया। रुद्र, विष्णु आदि देवताओं की लोकप्रियता बढ़ गई क्योंकि वे सामान्य जनों के देवता बने। स्कम्भ आदि अमूर्त देवताओं का उद्गमन उस दार्शनिक चिन्तन के विकास का सूचक है जिसकी चरम परिणति ब्रह्म की कल्पना में दिखाई देती है।

इन्द्रऔर वरुण

ऋग्वेद के महत्वपूर्ण देवता इन्द्र और वरुण इस युग में महत्वहीन हो गये। ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय देवता इन्द्र प्रारम्भ में युद्ध और शक्ति का देवता है। इन्द्रिय शक्ति प्राचीन

बौद्ध-साहित्य में भी बल का पर्यायवाची है। ऋग्वेदिक युग के अन्त तक इन्द्र वर्षा के देवता बन गये। यह बात उनके वृषन् विरुद्ध से भी सूचित है। ऐतरेय ब्राह्मण (8, 12) उन्हें दयुलोक का प्रधान कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (2, 2, 10) में कहा गया है कि देवताओं में अन्तिम इन्द्र की रचना प्रजापति ने की। इन्द्र का उल्लेख देवताओं के शासन के रूप में भी अनेकशः हुआ है। यज्ञों में इन्द्र का प्रमुख स्थान था। राजाओं का अभिषेक भी प्रायः इन्द्र के अभिषेक की पद्धति से होने के कारण ऐन्द्र महाभिषेक नाम से ज्ञात था। ऋग्वेदिक युग में युद्ध के विजय के अभिलाषी व्यक्ति विशेषतः इन्द्र की स्तुति करते थे, किन्तु उत्तर वैदिक काल में दिग्विजय एवं शत्रुत्सादन के लिए अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों की सहायता अपेक्षित थी। ऐसी स्थिति में इन्द्र के प्रभाव का धूमिल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। इसी प्रकार ऋग्वेद के सम्मान्य वरुण अथर्ववेद में सर्वोच्च शक्तियों से रहित हैं। अनेकशः उनका उल्लेख जल के नियंत्रक के रूप में हुआ है। इन्हें जल से उसी प्रकार संबंधित किया गया है, जिस प्रकार सोम को पर्वतों से (अथर्ववेद 4, 3, 3)। वे जल के सर्वाधिपति हैं तथा उनका स्वर्ण आवास जल में ही स्थित माना गया है (अथर्ववेद 7,8, 3)। यजुर्वेद में वरुण का उल्लेख एक ऐसे शिशु के रूप में है जिसमें अत्यन्त मातृत्व भावना से युक्त जल को अपना आवास बनाया है (वाजसनेयी संहिता 10, 7)। ब्राह्मणों में मित्र और वरुण वर्षा के भी देवता माने गये हैं, किन्तु ऋत के व्यवस्थापक महान् देवता के रूप में उनका उल्लेख प्रायः नहीं हुआ है। उनका कार्यक्षेत्र संकुचित एवं सुनिश्चित हो गया। इस दृष्टि से वह यूनानी देवता पोसीडोन से तुलनीय है। नैतिकता की रक्षा एवं पापियों के दमन से वरुण का औपचारिक संबंध उत्तर वैदिक युग तक बना रहा। इसीलिए ब्राह्मणों में भी प्रायश्चित्त के प्रसंग में वह अतिश्य महत्वपूर्ण है। उत्तर वैदिक युग में राजशक्ति के विस्तार के साथ राजा स्वयं दंडधर और व्यवस्था का रक्षक बना। उसके व्यक्तित्व में वरुण के गुणों का आरोप भी किया गया। ऐसी स्थिति में असंभव नहीं है कि वरुण के कार्यक्रम में संकोच और उनकी महत्ता में ह्रास का एक प्रमुख कारण राजशक्ति का विस्तार भी रहा हो। सर्वोच्च देवता के रूप में प्रजापति की धारणा के विकास के कारण भी वरुण का सर्वव्यापी और सार्वभौम स्वरूप विस्मृत प्रायः हो गया।

पुरुष शब्द की अवधारणा

पुरुष शब्द भी उत्तरवैदिक साहित्य में आध्यात्मिक और दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद (10, 2, 28) में पुरुष शब्द का अर्थ दार्शनिक ढंग से समझाया गया है। इसमें कहा गया है कि जो ब्रह्म के पुर को जानता है, वह पुरुष है, अर्थात् ''शरीरस्थ आत्मा''। आगे इसी पुरुष को आलंकारिक भाषा में समझाया गया है। ''अष्टचक्र'' और ''नवद्वार'' वाली जो देवताओं की पुरी अयोध्या है, उसमें स्वर्गीय ज्योति से आवृत और सुरक्षित हिरण्यमय कोष है। उसमें जो आत्मरूपी यज्ञ रहता है, उसे ब्रह्मविद् जानते हैं। इस प्रकार आत्मा के स्वरूप को दार्शनिक ढंग से समझाया गया है।

(13) औपनिषद-दर्शन

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विकसित आध्यात्मवाद का प्रतिपादन उपनिषदों में उपलब्ध होता है। उपनिषदों में उल्लिखित अनेक विचार बीज रूपेण संहिताओं एवं ब्राह्मणों में भी मिलते हैं, किन्तु ब्राह्मण युग में यज्ञीय कर्मकाण्डों का जो आशातीत विकास एवं विस्तार हुआ उससे मूल

आध्यात्मिक भावना ग्रस्त हो गई। इससे स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वरूप यज्ञों के आडम्बर पूर्ण वाह्य स्वरूप का विरोध हुआ तथा उसमें अन्तर्निहित आध्यात्मिक तत्व के महत्व पर बल दिया गया। इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि यज्ञ अपने आप में साध्य नहीं है; अपितु उनमें अन्तर्निहित सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व ही महत्वपूर्ण हैं। मुण्डकोपनिषद में यज्ञ और बलिदान का प्रकट विरोध मिलता है। बृहदारण्यकोपनिषद में इस बात का संकेत है कि क्रमश: यज्ञ और बलिदान की भावना को चिन्तन और मनन में बदलने का प्रयास हो रहा था। परिणामत: उपनिषद् युग में देवयज्ञ से हटकर आत्मयज्ञ पर बल दिया गया। यद्यपि ब्रह्म अथवा परम पुरुष की प्राप्ति के लिए वाह्याडम्बर व्यर्थ बताये गये तथापि सामाजिक परिवेश एवं जनमानस को देखते हुए उपनिषत्कारों ने पूर्णतया यज्ञ धर्म की अवहेलना नहीं की। उन्होंने व्याख्या में परिवर्तन किया। उन्हें शंका थी कि समाज में दीर्घकाल से प्रतिष्ठित यज्ञों की आलोचना संभवत लोकप्रिय नहीं हो सकेगी। अत: मनीषियों ने यज्ञमूलक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति न करके उसके उद्देश्य एवं अभिप्राय में ही परिवर्तन का सफल प्रयास किया। वैदिक प्रार्थना और कर्मकांड का स्थान उपनिषदों में चिन्तन, मनन और निदिध्यासन ने ले लिया। इस प्रकार बर्हिमुखी वैदिक धर्म उपनिषद काल में अन्तर्मुर्खी हो गया। ज्ञान के समक्ष कर्म की हीनता को सूचित करते हुए भी कहा गया कि यज्ञ से मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं स्वर्ग सुख के विषय में भी उपनिषद् यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी तक कर सकता है जब तक उसके पुण्य शेष हैं। पुण्य समाप्त होते ही उसे पुन: जन्म लेना पड़ता है और पुन: उसकी मृत्यु होती है। इस प्रकार से यज्ञ द्वारा उत्पन्न सुख अनित्य है। इसके विपरीत ज्ञान के माध्यम से व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है, जिसके द्वारा वह जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूल समस्यायें

उपनिषद् युग बौद्धिक जिज्ञासा का युग था। इस युग में मनीषियों ने अनेक शाश्वत समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जिसके चिन्तन एवं मनन के परिणाम स्वरुप प्रौढ़ दर्शन का विकास हुआ। उपनिषद् कालीन दार्शनिक इस अन्वेषण में रत हैं कि इस संसार के मूल में क्या वास्तविक सत्य है। उपनिषदों के अध्यात्म वेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक, सतत परिवर्तनशील तथा अनित्य जगत के मूल में विद्यमान शाश्वत, सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन पद्धतियों का उपयोग किया है, जिन्हें आधिभौतिक, आधिदयिक तथा आध्यात्मिक कहा जा सकता है। आधिभौतिक पद्धति जगत के उत्पति विकास एवं विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निवर्चन में समर्थ होती है (बृहदारयण्कोपनिषद 3, 8, 9)। आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावकारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्व को खोज निकालती है (बृहदारयण्कोपनिषद् 3, 1, 10)। आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओं तथा शरीरिक कार्यकलापों के अवलोकन से उनके मूल भूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन शैलियों के द्वारा उपनिषद्कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्व का उहोपोह किया उसे अंतत: ब्रह्म कहा गया है। उपनिषद् साहित्य में इस संसार, शरीर तथा परम सद्वस्तु के संबंध में अदम्य जिज्ञासा अनेकत्र मुखरित है। बृहदारण्यक-उपनिषद (3, 9, 28) में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वह कौन सा यथार्थ मूल है जिससे बारबार मृत्यु द्वारा काट लिए जाने पर भी जीवन का वृक्ष फिर उग जाता है? कठोपनिषद

(2, 5, 4-8) में यह जिज्ञासा प्रकट की गई है वह क्या है जो शरीर में सुषुप्ति अवस्था में चले जाने पर भी शेष रहता है, तथा निरन्तर उत्पत्ति करता रहता है। मुण्डकोपनिषद् (1, 1, 3) में कहा गया है कि वह कौन है जिसके ज्ञान से सबको जाना जा सकता है। इस प्रकार संक्षेप में उपनिषत् जगत के आदि कारण, स्रष्टा, में पालक तथा संहारक की खोज मे थे। इसको उन्होंने आरंभ में वाह्य प्राकृतिक जगत में ढूँढा और वहाँ सन्तोष न मिलने पर मनोवैज्ञानिक जगत में उसकी खोज की, और अन्त में रहस्यमय अनुभूति में उन्हें उसकी प्राप्ति हुई। उस परम तत्व को जीवन में उतारने का प्रयास भी उपनिषदों में हुआ। इसके लिए परमसाधन ब्रह्म ज्ञान को बताया गया। इसी लिए बृहदारण्यकोपनिषद (1, 3, 28) में असत् से सत्, अंधकार से ज्योति और मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलने के लिए प्रार्थना की गई है।

सृष्टि के मूल में अन्तर्निहित परमतत्व को ढूँढने में सूक्ष्मतम अन्वेषण तथा अन्तिम निष्कर्ष के पूर्व अनेक अवस्थाओं का संकेत उपनिषदों में मिलता है। पूर्ववर्ती देवतत्व के अन्तर्गत प्राकृतिक शक्तियों को ही परमतत्व माना जाता था, किन्तु उपनिषदकाल तक स्वीकृत हुआ कि प्राकृतिक शक्तियाँ परमतत्व नहीं वरन् उसका वाह्य आवरण मात्र हैं। प्रारंभ में प्राकृतिक शक्तियों का स्थान शारीरिक शक्तियाँ लेती हैं। इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद के एक प्रसंग में परम तत्व को आँख अथवा शरीर की गर्मी कहा गया है (4, 19, 15)। किन्तु पुनः क्रमशः इन शारीरिक तत्वों से भी संतोष न पाकर जिज्ञासु मनोवैज्ञानिक तत्वों की ओर झुके। कौषीतकी तथा बृहदारण्यक दोनों ही उपनिषदों में इस प्रकार के प्रसंग मिलते हैं, जिनमें शारीरिक शक्तियों का स्थान ''सुषुप्ति'' इत्यादि मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं ने ले लिया है। बाद में इन मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं से भी संतोष नहीं हुआ तथा परमतत्व की कल्पना ब्रह्म के रूप में हुई, जिसका वर्णन ''नेति नेति'' कहकर किया। इसी ब्रह्म को संसार की सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण माना गया (छान्दोग्योपनिषद् 3, 14, 1)। तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार ''जिसमें समस्त जीव उत्पन्न हुए हैं, जिसमें रहते हैं तथा अन्त में जिसमें समा जायेंगे, वही ब्रह्म है (3, 1)। जगत की सभी वस्तुओं का प्रकाश ब्रह्म के कारण है। कठोपनिषद (3, 5, 15) में कहा गया है कि उसके सामने सूर्य नहीं चमकता। उसके सामने चन्द्रमा तारे और विद्युत नहीं चमकते हैं। उसके प्रकाश से ही सभी प्रकाशित हैं। ब्रह्म को जगत में अन्तस्थ सूक्ष्म तत्व भी माना गया। छान्दोग्य उपनिषद् में न्यग्रोध वृक्ष के फल की कथा के माध्यम से यह बात स्पष्ट की गई है कि वस्तु जगत, उस सूक्ष्म जगत की वाह्य अभिव्यक्ति मात्र है। बृहदारण्यक-उपनिषद (3, 1, 10) के अनुसार ब्रह्म ही जगत का एकमात्र देव है, जिसका शरीर पृथ्वी अग्नि है, मानस प्रकाश है और वही समस्त मानव आत्माओं का परम गन्तव्य है।

ब्रह्म

अथर्ववेद और यजुर्वेद में ब्रह्म शब्द उपनिषद् के अव्यक्त ब्रह्म के अर्थ में कई बार प्रकट हुआ है। अथर्ववेद (1, 321) में कहा गया है —''हे मनुष्यो! उस महान् ब्रह्म का विवेचन किया जा रहा है। उसे सुनो।'' इसके पश्चात् ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण बिल्कुल उपनिषदों के ढंग से किया गया है। एक और स्थल (5, 6, 1) पर ब्रह्म को सत् और असत् की योनि कहा गया है। इसी प्रकार उक्त वेद में ''ब्रह्मविद्'' शब्द का उल्लेख आता है तथा कहा गया है कि ब्रह्म ने भूमि और आकाश को उत्पन्न किया (17, 2, 25) तथा वह ऊपर नीचे सर्वत्र आकाश में व्याप्त है। यजुर्वेद (40, 17) में ओऊम् एव ब्रह्म शब्दों द्वारा उस परमतत्व के स्वरूप को समझाया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद् (2, 7) में सत्-असत् का संबंध समझाया गया है। उपनिषदों के अनुसार जगत का सार परम तत्व ब्रह्म है। ब्रह्म अनन्त, नित्य, सर्वव्यापी, और शुद्ध चैतन्य है। वह सब का आत्मा है। तैत्तिरीय उपनिषद (2, 1) के अनुसार परब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। छान्दोग्योपनिषद् में उसे जगत की सृष्टि, स्थिति और विनाश का कारण माना गया है (3, 14, 1 तैत्तिरीय उपनिषद् 3, 1)। उसका तादात्म्य ज्ञान और ब्रह्म से भी स्थापित किया गया है (कठोपनिषद् 2, 3), उसे अन्त:स्थ भी माना गया है और परात्पर भी। जगत उसके एक अंश मात्र से बना है। बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार ब्रह्म के एक पद से तीनों लोकों की रचना हुई है, तथा दूसरे में वेदों का विविध ज्ञान आ जाता है। तीसरे में तीन प्राण हैं और चौथा पृथ्वी से परे सूर्य के रूप में चमकता है। आत्मा भी ब्रह्म का ही स्वरूप है जो पूर्ण है, किन्तु पूर्ण आत्मा के निकलने के बाद भी ब्रह्म में कोई कमी नहीं आती और वह पूर्ण ही रहता है। बृहदरण्यकोपनिषद में इस प्रसंग में यह कहा गया है कि वह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकलता है, किन्तु उस पूर्ण के बाद जो कुछ बचता है वह भी पूर्ण है (2, 5, 10)। इस प्रकार सब कुछ उस अनन्त से निकलता है और अनन्त में पहुँचना ही उसका लक्ष्य है। उपनिषदों में ब्रह्म को इन्द्रियों द्वारा दुर्जेय तथा वाणी द्वारा अकथनीय बतलाया गया है। वह अणु से भी छोटा है और महान से भी महत्तर। उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए याज्ञवल्क्य, गार्गी से कहते हैं, कि परम ब्रह्म न तो स्थूल है और न सूक्ष्म, न छोटा है और न बड़ा, इसका कोई स्वरूप नहीं है। यह कान, आँख और मस्तिष्क से भी परे है। इसी प्रकार केनोपनिषद में निष्प्रपंच ब्रह्म का सजीव चित्र मिलता है। इसके अनुसार ''जिसे वाणी नहीं कह सकती,किन्तु जिसकी शक्ति से बोलती है उसे तुम ब्रह्म जानो। इसे नहीं जिसकी तुम उपासना करते हो।'' ब्रह्म निरुपाधि है। देश, काल एवं निमित्त रूपी उपाधियों से पूर्णत: विरहित है। वह देशातीत कालातीत और निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से वह अप्रमेय है। वह किसी भी प्राणी की बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। मुण्डकोपनिषद में ब्रह्म की उपमा मकड़े से दी गई है तथा कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से जाली का वितन्वन करता है तथा पुन: अपने में उसे समेट लेता है, उसी प्रकार ब्रह्म विश्व को उत्पन्न एवं नष्ट करता है। जिस प्रकार बीज के अदृश्य सार से वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म परम तत्व से विश्व का सृजन होता है। पानी में घुले हुए लवण की भाँति सर्वव्यापी ब्रह्म जगत में व्याप्त होते हुए भी दिखाई नहीं देता। ब्रह्म के इस परात्पर रूप के अतिरिक्त उपनिषदों में अपर ब्रह्म का भी उल्लेख मिलता है, जो सीमित, सोपाधि, सगुण सप्रपंच एवं अन्त:स्थ है।

(14) अद्वैतवाद

अद्वैतवाद संबंधी ऋग्वेद के दोनों मन्त्र (1, 164, 20; 10, 101, 1-2) जिनका विवेचन ऊपर हो चुका है, यजुर्वेद (31, 1-2) और अथर्ववेद (19, 6, 12-6) में प्रकारान्तर रूप में मिलते हैं। श्वेताश्वरोपनिषद (3,14, 15) में भी जीव ब्रह्म की एकता समझाने के लिए इन मन्त्रों का विवेचन किया गया है।

उपनिषदों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपदेश अद्वैतवाद का है। इस युग में मनीषियों के मतानुसार अखिल सृष्टि जड़, जंगम, चेतन, स्थावर, सभी पर ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप हैं। ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' तत् त्वमसि'' अहं ब्रह्मास्मि'' आदि महा वाक्यों द्वारा सूक्ष्म एवं अद्वैत ब्रह्म की सर्वव्याप्त सत्ता एवं आत्मा तथा परमात्मा की एकता प्रतिभाषित की गई है (बृहदारण्यकोपनिषद् 1, 4, 10 छान्दोग्य-उपनिषद् 6,

8, 7; छान्दोग्योपनिषद् 3, 14, 1) तथा आत्मा और ब्रह्म में अन्तर देखने का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान माना गया है। आत्मा और परमात्मा की एकता उपमाओं के माध्यम से भी स्पष्ट की गई है। जब कुम्हार कोई घड़ा बनाता है तो आकाश का एक अंश उस घड़े में भी व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है, अर्थात् आदमी का शरीर छूट जाता है, तब उससे आबद्ध आकाश पुनः विशाल आकाश में मिल जाता है। जिस घड़े का आकाश कर्म की गन्ध से दूषित है उस आकाश खण्ड (आत्मा) को पुनः किसी दूसरे घड़े में जाना होगा (अर्थात् पुनर्जन्म लेना पड़ेगा) किन्तु जिसका आकाश निर्मल है, उस घड़े के फूट जाने पर उसका आकाश पुनः किसी घड़े में वापस नहीं आता (अर्थात निर्मल मनुष्य की आत्मा पुनः जन्म के बन्धन में नहीं पड़ती। इस प्रसंग में आत्मा और जीव को एक ही माना गया है)। नानात्व के बीच एकत्व को अत्यन्त सरल रूप से व्यक्त करते हुए कहा गया है कि विश्व ब्रह्म है, और ब्रह्म मेरी आत्मा है। इस प्रकार एक ही परम तत्व की सत्ता की अभिव्यक्ति समस्त पदार्थों में मानी गई है। वही एक प्रकार सर्वत्र आलोकित है।

यजुर्वेद (40, 1-17) के 17 वें मन्त्र के पूरे अध्याय में ईश नाम से ब्रह्म तथा अद्वैतवाद का निरूपण किया गया है। इसलिए इस अध्याय को उपनिषद् साहित्य में सम्मिलित कर ईशोपनिषद् भी कहा गया है। उक्त अध्याय में कहा गया है कि ''अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन स्वरूप जगत है, वह सब ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए त्याग वृत्ति से संसार का उपभोग करना चाहिये। किसी के धन को ग्रहण नहीं करना चाहिये (40, 1)।'' ब्रह्म को भली भाँति जानने वाला जब सब भूतों को आत्मा या ब्रह्म से पृथक् नहीं समझता, तब इस प्रकार का एकत्व का अनुभव करने वाले के लिए किसी प्रकार का शोक मोह आदि नहीं रहता (4., 7)।'' सुवर्ण के पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है। जो ओदित्य (सूर्य) में है वह पुरुष (परमात्मा) है और ''मैं'' भी वहीं सब ब्रह्म है (40, 17)।''

सारांश में कह सकते हैं कि वेदमन्त्रों में अद्वैतवाद अर्थात् जीव ब्रह्म की एकता का सिद्धान्त निरूपित किया गया है। यह निर्विवाद है कि उपरोक्त वेदमन्त्र उपनिषदों के आध्यात्मकवाद का आदि स्रोत है इन मन्त्रों के अतिरिक्त और भी कितने वेद मन्त्र हैं, जिनमें विशुद्ध ब्रह्म का विवेचन किया गया है, और जिन्हें विभिन्न उपनिषदों में स्थान दिया गया है।

(15) श्वेताश्वर उपनिषद का ईश्वरवाद

श्वेताश्वर उपनिषद् में ब्रह्म को ईश कहा जाता है। वह शिव, रुद्र, हर और महेश्वर भी कहलाता है। यहाँ यह उलेखनीय है कि यह उपनिषद् अन्य उपनिषदों से बहुत बाद का है। ईश्वर को प्रकृति एवं जीवों का स्वामी कहा गया है, जो अपनी शक्ति माया अथवा प्रकृति द्वारा जगत का सृजन करता है। प्रकृति एक अज, सत्व, रजस और तमस से बनी हुई तथा गतिशील है तथा इन गुणों से अपने जैसी अनेक वस्तुएँ उत्पन्न करती है (श्वेताश्वर उपनिषद 4.5) मायावी ईश्वर अपनी शक्ति से समस्त लोकों को बनाता तथा उन पर शासन करता हैं। वह गुणों का नियामक है, तथा उसकी प्रकृति विचित्र जगत का निर्माण करने वाली महाशक्ति है।

(16) जीव और आत्मा

उपनिषदों के अनुसार वैयक्तिक आत्मा और परम आत्मा, अन्धकार और प्रकाश के समान

एक ही शरीर की हृदय गुहा में साथ-साथ निवास करते हैं। इसमें प्रथम को जीव और दूसरे को आत्मा कहा गया है। जीव, कर्म के फलों को भोगता है तथा सुख-दु:ख का अनुभव करता है। इसके विपरीत आत्मा कूटस्थ और निर्लिप्त है। यद्यपि दोनों अज और नित्य हैं, तथापि जीव का अज्ञान के कारण दु:ख और बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं। कुछ उपनिषदों में आत्मा और जीव में अन्तर नहीं माना गया है, किन्तु कुछ में यह अन्तर स्पष्ट है। उनमें आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य स्थापित करते हुए जीव को इनसे भिन्न माना गया है। जीवात्मा को भी शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से पृथक् और इनसे परे कहा गया है। वह नित्य, चेतन, अजर, अमर ओर अशरीरी है किन्तु उसमें अनन्त ज्ञान नहीं है। वह भोक्ता और कर्ता है, अत: कर्मो के बन्धन में पड़ा रहता है। उसमें इच्छा, संकल्प, क्रिया और चरित्र है। इसका पुनर्जन्म होता है।, जो जीव के कर्मो पर आधारित होता है। जीव की चार अवस्थाओं का उल्लेख भी हुआ है। प्रथम ''जाग्रत'' अवस्था है जिसमें वह विश्व कहलाता है, तथा इन्द्रियों द्वारा वह सांसारिक वस्तुओं को जानता और भोगता है। ''सुषुप्ति'' अवस्था में वह तेजस है जो मन के द्वारा सूक्ष्म आन्तरिक विषयों को जानता और भोगता है। ''सुषप्ति'' अवस्था में वह प्रज्ञा कहलाता है जो एकरस, चैतन्य और आनन्द है तथा जो अन्तर्वाह्य किसी भी विषय को नहीं देखता है। चौथी ''तुरीय'' अवस्था में वह आत्मा कहलाता है जो न चेतन है और न अचेतन, बल्कि एक अद्वैत विश्वचेतना है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। उपनिषदों में जीवन की स्थिति पाँच पृथक कोषों में भी बताई गई है। जिन्हें क्रमश: अन्नमयकोष, प्राणमयकोष, मनोमयकोष, विज्ञानमय कोष तथा आनन्दमय कोष कहा गया है। आनन्दमय कोष में ही विशुद्ध आत्मा का निवास है। यही आत्मा ब्रह्म है, जिसके ज्ञान से जीव के बन्धन छूट जाते हैं। यह आत्मज्ञान अपरोक्षानुभूति से होता है।

ऊपर ब्रह्म, आत्मा और जीव के स्वरूप के विषय में जो बातें कहीं गई हैं उनमें अनेकत्र विरोध परिलक्षित है, किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार की परस्पर विरोधी बातों का सन्निवेश मिलता है। उपनिषद कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते हैं और कहते हैं कि सृष्टि की रचना उसी ने की। वे कभी आत्मा और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं, और कभी यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है, और आत्मा सीमित है। परमात्मा आनन्द स्वरूप है और आत्मा दु:ख से पीड़ित। आत्मा और परमात्मा एक हैं, आत्मा और परमात्मा पृथक हैं तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी हैं और एकाकार भी हैं, वे तीन तरह के मत हैं जिनमें प्राय: तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता है। इन्हीं तीन प्रकार की बातों से कालान्तर में अद्वैतवाद, द्वैतवाद और विशिष्टद्वैतवाद का विकास हुआ। उपनिषदों में इन परस्पर विरोधी मतों के प्रतिपादन का मूल कारण है कि वे किसी एक ऋषि की रचना नहीं हैं। उनमें अनेक ऋषियों की अनुभूतियाँ संग्रहित हैं अत: उनमें न्यूनाधिक वैमत्य और विरोध स्वाभाविक है।

(17.) बन्धन और मोक्ष

उपनिषदों के अनुसार अविद्या बन्धन का कारण है और विद्या से मोक्ष होता है। अविद्या की स्थिति में नित्य और अनित्य का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। उसमें भेद, नानात्व और अहंकार होता है। अहंकार बन्धन का कारण है। इसके कारण जीव, इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर से तादात्म्य करने लगता है। वस्तु जगत के प्रति मोह बन्धन उत्पन्न करता है। अहंकार स्वार्थ और वासना बन्धन के प्रमुख कारण माने जाते हैं, जिनके प्रभाव से मनुष्य आवागमन तथा पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त नहीं हो पाता हैं। विद्या

द्वारा अहंकार से छूटकर अपने असली रूप ब्रह्म को पहचान कर उससे तादात्म्य स्थापित करने से बन्धन छूट जाते हैं। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है और ब्रह्मज्ञान का अर्थ है ब्रह्मभावना अर्थात् सब में ब्रह्म को देखना और अपने को सब में देखना। इसी स्थिति को ''एकात्मदर्शन'' (सबमें एक ही आत्मा को देखना) तथा ''सर्वात्मदर्शन'' भी कहा गया है। इसे अमृत पद भी कहा गया है क्योंकि इसमें जीवात्मा एवं परमात्मा का एकत्व है। इस स्थिति में धर्म, अधर्म, राग, द्वेष, सुख-दुःख, मोह और भय इत्यादि नहीं है। वहाँ अनिर्वचनीय शाश्वत शान्ति है। वह परम प्रज्ञा, निःस्वार्थ संकल्प, निर्विशेष चेतन तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अवस्था है।

मोक्ष के साधन

तत्वविचारके साथ-साथ उपनिषदों में मोक्ष प्राप्ति के साधनों पर विचार किया गया है। संक्षेप में मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन, आत्मलाभ अथवा ब्रह्म साक्षात्कार है,किन्तु पूर्ण आत्मलाभ के लिए क्रमशः अनेक अन्य साधनों का सहारा लेना पड़ता है। आत्मा अन्तर्यामी है, वह वाह्य जगत की वस्तुओं के पीछे दौड़ने से नहीं मिल सकता। परन्तु वाह्य विषयों के पीछे भागना मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इस प्रवृत्ति को रोककर इन्द्रियों को वाह्य विषयों से समेटकर अन्तःरथ आत्मा पर मन को केन्द्रित करना आत्मलाभ के लिए आवश्यक है। इस प्रकार आत्मलाभ के लिए अन्र्तमुखता प्रथम आवश्यकता है। कठोपनिषद (1, 2, 22) में कहा गया है कि आत्मा को न तो प्रवचनों से, न मेधा से, और न बहुश्रुत होने से ही जाना जा सकता है। उसके लिए जीवन में सत्य, तपस्या यथार्थ बोध और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है (मुंडकोपनिषद 3, 1, 5)। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गुरु से दीक्षा भी आवश्यक है। कठोपनिषद में कहा गया है उठो, जागो, और जो तुमसे श्रेष्ठ है उनसे सीखो क्योंकि आत्मलाभ का पथ छूरे की धार के समान तीक्ष्ण है (छान्दोग्योपनिषद् 4, 9, 3)। छान्दोग्योपनिषद में गान्धारनिवासी मनुष्य की कथा है। डाकू उसकी आँखें बन्द करके उसे उसके देश से दूर जाकर जंगल में छोड़ देते हैं। तब किसी अन्य व्यक्ति के पथ प्रदर्शन करने पर ही वह घर पहुँच जाता है। इस कथा के माध्यम से आत्मलाभ के लिए गुरु की आवश्यकता को सुन्दर ढंग से समझाया गया है। श्वेतश्वरोपनिषद् में भक्ति को भी आत्मलाभ का साधन माना गया है। इसमें कहा गया है कि जब तक जिज्ञासु में देवता और गुरु के प्रति प्रर्याप्त भक्ति न हो तब तक उसको आत्मलाभ के मार्ग में दीक्षा नहीं देनी चाहिये (6, 22, 23)। कुछ उपनिषदों में सन्यास को भी एक आवश्यक शर्त माना गया है, किन्तु सब में ऐसा नहीं है। भक्ति, शुद्धि, अन्तर्मुखता तथा गुरु से दीक्षा मिलने पर जिज्ञासु को योगाभ्यास और अ३म् पर निदिध्यासन अथवा प्रणव करना चाहिये। निदिध्यासन के पूर्ण होने पर आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है तथा आत्मलाभ होता है।

प्रो रानाडे ने आत्मलाभ के मार्ग में अग्रसर जीव को पाँच अवस्थाओं का संकेत उपनिषदों में माना है (ए कान्स्ट्रक्टिम सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलोसोफी पृ. 276)। प्रथम अवस्था में व्यक्ति स्वयं को आत्मा से पृथक देखते हुए अपने अन्दर स्थिर आत्मा के रहस्यात्मक दर्शन द्वारा उसकी अनुभूति करता है। इस अवस्था की सूचना बृहदारण्यकोपनिषद में आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः कह कर दी गई है (2, 4, 5)।

इसी उपनिषद में दूसरी अवस्था को यह कहकर समझाया गया है कि हम यह अनुभव करें कि हम आत्मा के ही हैं, शारीरिक, बौद्धिक अथवा भावात्मक कोष नहीं। इस प्रकार दूसरी अवस्था में शुद्ध आत्मा से तादात्म्य का अनुभव होता है (4, 4, 12)। बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार तीसरी अवस्था में यह अनुभूति होनी चाहिये कि जिस आत्मा का हमने अनुभव किया है, उसका एकत्व ब्रह्म से है (वही 2, 5, 19) चौथी अवस्था में प्रथम तीन अवस्थाओं के परिणाम स्वरूप "अहं ब्रह्मास्मि" (वही 2, 4, 10) अथवा त्वमसि (छान्दोग्योपनिषद् 6, 8, 7) की अनुभूति होती है। पाँचवीं अवस्था में व्यक्ति को यह अनुभूति होगी कि समस्त जगत ही ब्रह्म है छान्दोग्योपनिषद् (6,8, 7)। सर्वं खलु इदं ब्रह्म का उद्घोष हुआ है। इस पूर्व अद्वैत की अवस्था में पहुँच कर पूर्ण आत्मलाभ हो जाता है। इस अवस्था में मनुष्य की शारीरिक वासनाओं का अन्त हो जाता है (बृहदारण्यकोपनिषद 4, 4, 12) उसके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा उसके समस्त सन्देश एवं भ्रम दूर हो जाते हैं (मुण्डकोपनिषद 2, 2, 8)। एक बार समस्त शक्ति के स्रोत परम तत्व से तादात्म्य हो जाने पर जीवात्मा के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं और वह विश्वात्मा की अनन्त शक्ति में भाग लेने लगता है (मुण्डकोपनिषद 3, 1, 2)। विश्वात्मा के योग से उत्पन्न परम आनन्द का सांगोपांग वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद में हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद में इस आनन्द की तुलना प्रिय पत्नी के साथ संयोग से उत्पन्न आनन्द से की गई है (वही 6, 3, 21)। तैत्तिरीयोपनिषद (2, 7) के अनुसार इस आनन्द की अनुभूति भय की अनुभूति को समाप्त कर देती है। जीव निर्भय हो जाता है, क्योंकि उसने अदृश्य, शरीर, अनिर्वचनीय निर्भय और सब के निराधार आधार में आवास पा लिया है। छान्दोग्योपनिषद (8, 7, 1) के अनुसार जो आत्मा की खोज करके उसे पा लेता है, उसे समस्त लोक प्राप्त हो जाते हैं और उसकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। यही आत्मलाभ अथवा ब्रह्मज्ञान उपनिषदों का प्रमुख विषय है, इसीलिए उपनिषदों की विद्या को ब्रह्म विद्या भी कहा गया है, जिसके अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार बीज भूता अविद्या नष्ट हो जाती है तथा गर्भवास, पुनः जन्म आदि के बन्धन शिथिल हो जाते हैं।

(18) पुनर्जन्म और कर्मवाद का सिद्धान्त

उपनिषदों में पुनर्जन्म एवं कर्मवाद के सिद्धान्त का विकसित रूप दिखाई देता है। बृहदारण्यकोपनिषद (4, 3, 4) के अनुसार इन दोनों का परस्पर संबंध को दर्शाते कहा गया है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म के सुधरने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस जन्म में भी जब वह अच्छे कर्म करेगा तब उसका तीसरा अगला जन्म और अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक सत्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य की मुक्ति हो जायेगी और वह जन्म मरण के बन्धन से छूट जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। इसकी इच्छाओं अथवा वासनाओं से उसके कर्म प्रेरित होते हैं तथा कर्म के अनुसार ही निर्धारित होता है उसका भविष्य, इसी सिद्धान्त में उस बौद्ध विश्वास का बीज निहित है, जिसके अनुसार आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी कर्म के आधार पर पुनर्जन्म माना गया है। छान्दोग्योपनिषद में आवागमन के इस सिद्धान्त का वर्णन मिलता है। इसके अनुसार मृत्यु के पश्चात् ज्ञानयुक्त अरण्यवासी देवयान से जाता है तथा ब्रह्मत्मय से उसका तादात्मय होता है। यज्ञ कर्म में रत गृहस्थ पितृयान से चन्द्रलोक को जाता है तथा कर्मफल के समाप्त होने पर वहाँ रहता है। तत्पश्चात् वह पुनः भूलोक को लौटता है तथा

प्रमत: विरुध के रूप में जन्म लेता है और पुन: किसी द्विज कुल में। दुष्ट लोग अन्त्यज, श्वान और शूकर की योनि में जन्म लेते हैं। छान्दोग्योपनिषद के इस प्रसंग में यह स्पष्ट है कि पुण्य कर्म अच्छी योनि में तथा पाप कर्मो में, कुत्सिज योनि में जन्म ग्रहण करना पड़ता था। छान्दोग्योपनिषद के इस विवरण से मिलता जुलता वर्णन बृहदारण्यकोपनिषद के एक दूसरे प्रसंग में भी मिलता है (वही 7, 2, 15-16)। कौषीतकि उपनिषद (1, 2-3) में पुनर्जन्म की इस प्रक्रिया का वर्णन कुछ भिन्नता के साथ हुआ है। इसके अनुसार मृत्युपरान्त सभी चन्द्रलोक को जाते हैं। उनमें से कुछ पितृयान का अनुसरण करते हुए ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, तथा शेष, मनुष्य से लेकर कीट तक जितनी योनियाँ हैं, उनमें से किसी एक को धारण करके पुन: भूतल पर आते हैं (कौषीतकि उपनिषद 1, 2-3)। पुनर्जन्म सिद्धान्त का अविकसित रूप शतपथ ब्राह्मण में भी संकेतिक है। सुनीति कुमार चटर्जी का यह विश्वास है कि इस सिद्धान्त का ज्ञान पुरा ऐतिहासिक युग के निषादों को था। उपनिषद युग तक इस सिद्धान्त के पूर्ण विकास के पीछे निषाद विश्वासों एवं परम्पराओं का योग हो सकता है।

(19) जनजातियों के देवता

वैज्ञानिक वर्गीकरण के उद्देश्य से जनजातियों के देवकुल को मुख्यत: दो भागों में बाँटा जा सकता है— प्राकृतिक प्रेतात्मा और मानवी प्रेतात्मा। इन दोनों को फिर से बड़े और छोटे अथवा श्रेष्ठ और निम्न श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इस अध्याय में उराँवों के देवताओं पर विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा, क्योंकि मुंडा खड़िया आदि के देवता भी ये ही हैं।

1. उराँव सबसे ऊँचा और श्रेष्ठ देवता या ईश्वर, धर्मेस को मानते हैं, जो सर्वोच्च परमात्मा और संसार का सृष्टिकर्ता है। मुंडा में इसे सिगबोंगा कहते हैं।
2. मृत पूर्वजों की आत्माएँ (पचबा आलर) दूसरी अलग श्रेणी में रखी जाती हैं।
3. तीसरी श्रेणी में उराँव गाँव के अभिभावक या संरक्षक देवताएँ या प्रेतात्माएँ रखी जाती हैं। इसमें से कुछ 'देवता' और दूसरे 'भूत' कहलाते हैं। पहले वर्ग में 'पात' अथवा 'पात राजा' 'चाला पचो' अथवा 'सरना बुढ़िया' और देवी माई' आती है। दूसरे वर्ग में दरहा और देसौली और कुछ गाँवों में दुवारिया अथवा दुर्वसिनीऔर महादानियाँ आते हैं, जिनकी पूजा किसी चट्टान अथवा वृक्ष पर होती है। छोटी प्रेतात्माओं में, गाँव की छोटी प्रेतात्माएँ वनशक्ति अथवा बंजारभूत, गड़हा-ढोढ़हा, चतु सीमान और टूसा भूरा (डाड़ी-भूत) भूत आते हैं।
4. चौथे वर्ग में शिकार और युद्ध का भूत ''चाँदी'' आता है। इसे जवान लोग प्रसन्न करते हैं। अचरैला और जोड़ा भूत की पूजा स्त्रियाँ करती हैं।
5. गाँव के मूल संस्थापक की प्रत्येक शाखा खूँट के 'खूँट-भूत' अथवा (गाँव के) अभिभावक भूतों का अपना विशिष्ट स्थान है।
6. छठे प्रकार के भूत घरेलू भूतों का समूह है। 'वरंडा' और 'चिगरी नाद' अथवा 'दरहा चिगरी' ये घरेलू भूत हैं। एक पीढ़ी में एक बार प्रत्येक परिवार अलग-अलग इनकी पूजा करता है। पोस बाई, हाँकर और कित्रो बाई, बरण्डा भूत की पुत्रियाँ है। इनकी गिनती छोटे भूतों में होती है।

7. सातवीं श्रेणी रहस्यमय शक्तियाँ अथवा प्रेतात्माओं का समूह है, जो चाहे निश्चित वस्तुओं में रहती हैं अथवा उनके प्रतीकों से संबंध रखती हैं। उदाहरण-मान्दर , साला, जतरा-खूँटा, वैशाखी अथवा गाँव के झंडे, गाँव के प्रतीकों और गोत्र के प्रतीकों में कुछ, वाद्य औजारों जैसे 'तलवार' जिससे मनुष्य की हत्या की जाती है और कुछ भयानक प्राकृतिक वस्तुएँ, जैसे अस्वाभाविक (टेढा मेढ़ा) गाँठ वाले बाँस के अंकुर अथवा वृक्ष की जड़, अथवा कुछ भयानक परन्तु विलक्षण आकार वाली चट्टान, अथवा गरजते हुए जल प्रपात अथवा बूढ़ा, वृक्ष, जिसके गड्ढे में पानी जमा होता हो, कुछ संदिग्ध दीखने वाले, सुविस्तृत छायादार वृक्ष, गाँव के सीमान्त का कोई निर्दिष्ट स्थान, अथवा पहाड़ी में घुमाव स्थान, जहाँ प्रथा के अनुसार विख्यात हीरो मृत्यु के द्वारा आया (मर गया) जिसके लिए प्रत्येक राहगीर को श्रद्धांजलि के रूप में गुटिका (गोटी) अथवा वृक्ष का पत्ता, अथवा मिट्टी का ढेला फेंकना चाहिए।
8. आठवीं श्रेणी में भूली भटकी आत्मायें (भूला) आती हैं, जैसे 'मूआ' मलेच और चुड़ैल। ये मनुष्यों की अस्वाभाविक रूप से मरे हुए व्यक्तियों की आत्माएँ है। सात बहिनी जलप्रपात की आत्माएँ हैं। इन भूतों की पूजा नहीं की जाती, क्योंकि ये अनष्टिकर भूत हैं। इसी श्रेणी में बघौत और उलट-गौरी आती हैं।
9. दूसरे प्रकार के भूत 'पूगरी भूत' होते हैं। व्यक्तिगत लाभ के लिए इनकी पूजा की जाती है। जब ये प्रयोजन असामाजिक हो जाते हैं, तो ये पुगरी-भूत, तंत्र-मंत्र और जादू टोने से संबंधित हो जाते हैं।
10. आखिरी, दुष्ट शक्तियाँ भी हैं,जिन्हें 'नगर गुजर' और बाइभाख कहा जाता है। ये देवता और भूतों से भिन्न होती हैं। उराँव, मनुष्यों की गुप्त शक्ति से भयभीत रहता है। जाने, अनजाने द्वेषपूर्ण बातें यहाँ तक कि दूसरी जाति के लोगों द्वारा 'बुरे इरादे से स्पर्श (छूत), कभी तो अपनी ही जाति के व्यक्तियों द्वारा स्पर्श, और दूसरे प्रकार की अस्पष्ट अनिश्चित दुष्ट शक्तियाँ, जिनसे स्वास्थ्य, पशुओं, फसलों और खाने पीने में बुरा प्रभाव पड़ता है। कुछ जानवर और रेंगनेवाले जन्तुओं की भी हो सकती है। वास्तव में उराँव का प्रारंभिक धर्म सर्वोच्च आत्मा पर केन्द्रित है। अब देवताओं का वर्णन विस्तार से किया जा रहा है—

धर्मेस अथवा सिंगबोंगा

1. उराँवों में सर्वोच्च शक्ति को 'धर्मेस', मुंडा, संथाल और असुरों में 'सिंगबोंगा' कहते है। धर्मेस को 'बीरी बेलस' अथवा सूर्य देवता' भी कहते हैं। सूर्य को अभी भी धर्मेस का वास्तविक प्रतिरूप तो नहीं, परन्तु दृश्य प्रतीक माना जाता है। आज भी प्रातः और शाम लाल बादल को देखकर उराँव कहते हैं कि 'धर्मेस' 'खोतरस' अथवा धर्मेस ने अपने को काटा, अतः बादलों में अपने खून का हल्का रंग चढ़ाया।

आजकल उराँव धर्मेस के लिए शुद्ध हिन्दू नाम भगवान देते है। यहाँ तक कि मनुष्य की उत्पत्ति संबंधी उराँव कहानी में धर्मेस को 'शिव और पार्वती(दूसरे अनुवाद में), सीता (रामचन्द्र की पत्नी) भी कहा गया है। परन्तु वर्तमान में धर्मेस का अर्थ सर्वोच्च आत्मा है, सूर्य नहीं। यदि धर्मेस का अर्थ सूर्य भी हो तो भी, उराँव 'बीरी' 'सूरुज' भगवान कहते हैं केवल भगवान नहीं।

धर्मेस का रंग सफेद माना जाता है, अतः सफेद मुरगा अथवा सफेद बकरे की बलि धर्मेस के लिए दी जाती है। धर्मेस की पूजा करते समय उराँव उगते सूर्य की ओर मुँह करता है।

प्रत्येक मुख्य पर्व जैसे सरहूल, और जब किसी देवता से काम नहीं बन रहा है, उस समय और जिस आत्मा अथवा प्रेतात्मा को मनाने के लिए हंड़िया का तर्पण और मुरगा अथवा पशु बलि दी जाती है, इन सब के पहले धर्मेस के लिए पानी की कुछ बूँदों का तर्पण और पूर्वजों की आत्माओं के लिए हंड़िया की कुछ बूँदों का तर्पण दिया जाता है। (शरत चन्द्र राय :— Oraon Religion and Culture P. 22)

धर्मेस ही सभी देवताओं का नियंत्रण करता है। सरहूल के समय पूजा की जो व्यवस्था रहती है, इससे यह कथन स्पष्ट हो जाता है।

गाँव के सरना स्थल, अथवा साल वृक्षों के पवित्र झुंड में सरहूल पूजा होती है। सरना वृक्ष के नीचे प्रत्येक जनजाति के देवता, मुख्य भूत और धर्मेस अथवा सिंगबोंगा के लिए मुर्गा अथवा मुर्गी की बलि दी जाती है। बलि के पहले प्रत्येक मुर्गे को मुट्ठी भर चावल दिया जाता है। चावल को पंक्ति में जमीन पर रखा जाता है। प्रत्येक मुट्ठी का चावल, विशेष देवता अथवा भूत के नाम पर रहता है। पंक्ति के पहले चावल धर्मेस या सिंगबोंगा को दिये जाने वाले सफेद मुर्गे के लिए रखा जाता है। यह दिखाया है कि धर्मेस अथवा सिंगबोंगा का स्थान सब से पहले है, और आवश्यकता पड़ने पर दूसरे देवताओं को नियंत्रण में रखता है। सफेद मुर्गे को देते समय पहान इस प्रकार प्रार्थना करता है– "हे धर्मेस आप हमारे पिता हैं, हम जानते अथवा नहीं जानते हैं (अज्ञानता अथवा लापरवाह से किसी विशेष प्रेतात्मा को मनाने में हम असफल रहे हैं) इस क्रुद्ध देवता को नियंत्रण में रखिये। हमारी आँखें नहीं देखती हैं, आपकी आँखें देखती हैं।"

जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी और स्वर्ग में होने वाले, प्रत्येक कार्य-कलाप को जानता है, उसी प्रकार धर्मेस व्यक्तियों और देवताओं के कार्यकलाप को यहाँ तक कि वे क्या सोचते हैं? उसे भी जानता है।

प्रथागत नैतिकता के विरुद्ध किये गये अपराधों की सजा धर्मेस देता है। इस अपराध की माफी के लिए धर्मेस को सफेद मुर्गे की बलि दी जाती है।

वर्तमान समय में उराँव, धर्मेस के प्रति दूसरी धारणा रखता है। ईश्वर अथवा परमात्मा केवल दिन का बृहत प्रकाश पुंज नहीं है, परन्तु ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि से पहले, देवता के रूप में नहीं परन्तु सर्वोच्च परमात्मा के रूप में अपने को प्रकट किया है। वह न प्रकृति के किसी तत्व का मानवीकरण है, न समाज की शक्ति का साकार रूप, न पृथ्वी को सताने वाली प्रेतात्माओं का मुख्य है। उराँव, उसे सभों से पूर्व या पहले वर्तमान, संसार का रचयिता और संरक्षक, मनुष्यों का नियंत्रक, मनुष्यों, देवताओं और प्रेतात्माओं (दृश्य और अदृश्य) को दंड देने वाला मानते हैं।

डंडा कट्टा अथवा (दांत कटी) भेलवा फरी (भेलवा की टहनी को तोड़ना) ही एक धर्मविधि है, जिसमें धर्मेस का आह्वान होता है।

विधि

एक अंडे को विखंडित भेलवा टहनी की शाखा में घुसेड़ दिया जाता है। अनुकृत जादू टोने के

समान, प्रार्थना करते हुए अंडे को तोड़ा जाता है। जिस प्रकार अंडा फोड़ा जा रहा है उसी प्रकार दुष्ट विचार वाले व्यक्तियों ओझाओं, डाइन स्त्रियों और अनिष्टकर प्रेतों की बुरी नजरों और बुरे मुँह को भी फोड़ा जाता है ''ताकि उराँव की खेती और स्वास्थ्य को हानि न हो, उसके तथा परिवार में अधिकता और प्रचुरता हो।

अंडा फोड़ने की धर्म विधि छठी के समय भी होती है, पर दन्तकथा नहीं कहीं जाती है। यह धर्म विधि शादी की धर्मविधियों के समय और दाहसंस्कार के बाद भी होती है।

मनुष्य की उत्पत्ति से संबंधित परम्परागत उराँव दन्तकथा से यह भी पता चलता है कि दुष्टात्माओं से बचने के लिए सर्वोच्च परमात्मा (धर्मेस) के पास पहुँचने के लिए डंडा कट्टा की धर्मविधि आरंभिक तरीका था। उराँवों के अनसार डंडा-कट्टा की धर्मविधि को स्वयं धर्मेस ने बताया था। जब उन की फसल जानवरों और दूसरी महामारियों से नष्ट होती थी, तब उराँवों ने इस धर्मविधि को सुरक्षा के लिए अपनाया था।

डंडा कट्टी की धर्म विधि विस्तार से—

घर, खलिहान अथवा खेत में भी 'डंडा कट्टा' धर्मविधि हो सकती है। सर्वप्रथम पूजा स्थल को गोबर से लीपते हैं, उसके बाद वहाँ अरवा चावल बीच में रखते हैं, अरवा चावल के ऊपर अंडे को खड़ा करते हैं, भेलवा के डंडे के अग्रभाग को दो भाग में चीरते हैं और डंडे के ऊपर उसे रखते हैं। इसके बाद रखे गये चावल के चारों ओर सफेद चावल की गुंडी, कोयले का चूर्ण लाल रंग न मिले तो जलकर लाल हुए चूल्हे की मिट्टी का चूर्ण, इन तीनों रंगों से घेरते हैं।

धर्मविधि का अनुष्ठाता, धर्मेस को सम्बोधित करते हुए कहता है—''हे धर्मेस अगर किसी की बुरी नजर किसी पर अथवा फसल पर अथवा पशुओं पर लगी हो तो, और कोई इन सब के ऊपर बुरी नजर रखता है, अथवा बुरी बातें कहता है, तो जिस प्रकार भेलवा के रस पड़ने पर आँखें फूट जाती हैं, वैसे उनकी नजर भी फूट जाये, और जिस प्रकार भेलवा का गद (रस) मुँह में पड़ने पर घाव होता है वैसे बुरे बोलने वालों के मुँह में घाव हो जाये। उनके परिवार में समृद्धि हो, वे बीमार न पड़ें, पशु ठीक ठाक रहे, खेती अच्छी हो।''

पूजा पाठ होने पर अंडा फोड़ा जाता है। अब पूजा की चीजों को वहाँ से उठाया जाता है। अगर घर में पूजा हो, तो अनुष्ठान गाँव से बाहर ले जाकर रास्ते में रख देता है। रखने के बाद जिस घर में पूजा हुई थी उस घर को पूछते हुए अनजान बन कर लौटता है। घर वाले पूछते हैं— तुम कौन हो? कहाँ से आते हो? क्या नाम है? इसके उत्तर में वह अपना नाम बताता है, और घर मालिक का नाम सुना था, इसलिए मिलने आया हूँ, थक गया हूँ आदि कहता है। इसके बाद उसे बड़े प्रेम से बैठा कर खाने-पीने को देते हैं।

द्वितीय श्रेणी के देवता

पचबा आलर

उराँव विश्वास करता है कि रात को सोते समय छोटे आदमी की शक्ल में जीवित मनुष्य की

आत्मा निकल कर घूमती है। बीमार आदमी की आत्मा प्रायः बाहर निकलती है। उराँव के लिए सपना सच होता है, अर्थात् स्वप्न में जो देखा, उसकी आत्मा ने वास्तव में देखा, सुना अथवा किया। इसलिए सोते हुए व्यक्ति को उराँव अचानक नहीं जगाता है। वह उस व्यक्ति का नाम लेकर बार-बार बुलाता है, इस तरह घूमती हुई आत्मा को शरीर में प्रवेश करने की अनुमति देता है।

अगर कोई डायन या ओझा किसी की जान लेना चाहता हो, जब कि उसकी आत्मा शरीर से बाहर निकल चुकी हो, तो ओझा या डायन 'चोरदेवां' का रूप लेता है। (चोरदेवां, डायन या ओझा की मनौती आत्मा है) चोरदेवां बिल्ली अथवा उँगली के बराबर मनुष्य बनकर सोते हुए बीमार स्त्री या पुरुष, बालक अथवा बालिका (जिसे मारना हो) के बाल के छोर को काटता है, अथवा बीमार व्यक्ति के लार को चाटता है, अथवा तलवा को चाटता है। चोरदेवां हांडी में रखे भात को भी खा जाता है। चोरदेवां से भात को बचाने के लिए उराँवों की पत्नियाँ भात में कोयला डालती हैं। बीमार व्यक्ति के पास चोरदेवां न आये, इसके लिए दरवाजे में अथवा बीमार व्यक्ति की चटाई के चारों ओर कोयले की लकीर खींच देते हैं। ऐसा करने से चोरदेवां वहाँ नहीं जाता है।

परन्तु यदि तलवा या लार चाट कर या बाल के अग्रभाग को काट कर चोरदेवां बीमार व्यक्ति तक काली बिल्ली अथवा ठिगने मनुष्य के रूप में पहुँचता है, तो बीमार व्यक्ति की आत्मा नहीं लौट सकती है और वह मर जाता है। यदि कोई चोरदेवां को मार डालता है तो उसमें स्थित डायन या ओझा मर जाता है। यदि कोई चोरदेवां का हाथ पैर तोड़ता है तो डायन या ओझा के हाथ पैर टूटते हैं।

उराँव यह विश्वास करता है कि सर्वोच्च देवता अर्थात् धर्मेस ही नींद अथवा बीमारी में शरीर से निकली आत्मा की रक्षा करता है, और मृत पूर्वजों की आत्माएँ उस समय आत्मा की रक्षा करते हैं। इसी प्रकार मृत पूर्वजों की आत्माएँ प्रायः अपनी जीवित परन्तु बीमार सन्तानों के पास उनकी सेवा के लिए आते हैं (वही पृ. 29)।

'कोहाँ बेंजा' (बड़ी शादी) अथवा हरबोरा (हड्डी डुबाना) दिन पिछले एक साल में मरे हुए एक गोत्र वाले (स्त्री अथवा पुलिंग) की हड्डियाँ अस्थिपात्र या कुंडी में या तो रखी जाती हैं या डुबाई जाती हैं।

हाल में मरे हुए उराँव की आत्मा जब तक कोहाँ बेंजा के समय पूर्व में मरे अपने गोत्र की मृतात्माओं के साथ नहीं मिल पाती है, तब तक वह अपने जीवित संबंधियों की संगति चाहती है। परन्तु ऐसी मुलाकातें लम्बे समय तक नहीं रहती हैं।

वार्षिक हरबोरा धर्मक्रिया के होने तक लाश गाँव के मसान में जमीन के अन्दर पड़ी रहती हैं। यदि वर्षा से पहले मृत्यु होती है तो लाश को जलाया जाता है, और हड्डियों को अस्थायी रूप से घर से सटे 'बारी' और कभी-कभी अतिरिक्त झोपड़ी हो, तो उसके अन्दर रखा जाता है।

हरबोरा के दिन, एक गोत्र के मृत पूर्वजों की कुंडी के स्थायी रूप से हड्डियों के रखने के पहले चाहे एक मुरगा, बूढ़े और धनी उराँव की हड्डियाँ हों तब, एक सूअर की बलि दी जाती है। उसके खून को मरे हुए उराँव के सामने आंगन में खोदे हुए छोटे गढ़े में अनुष्ठानिक रूप से गिराया जाता है और पंच (गोत्र का प्रमुख) गोत्र के पूर्वजों की आत्माओं को बुलाते (आह्वान) हुए कहता है– "फलाँ गोत्र

के बूढ़ा और बूढ़ी आपलोग जो पृथ्वी के नीचे निवास करते हैं, अपनी संगति में इसे (स्त्री अथवा पुरुष) भी ले लीजिये। इस प्रकार वह मृतात्मा अपने गोत्र के पूर्वजों की आत्माओं के साथ मिल जाती है।

निषेध

ऐसे बच्चे जिनके कान नहीं छिदे हों, गर्भवती महिलाएँ, प्रसव के समय जो मर जाती हों और बच्चा भी जीवित नहीं हो, बाघ से खाये गये व्यक्ति (स्त्री, पुरुष), जिनसे बाघात्मा या 'बाघौत' धार्मिक विधि से नहीं निकाला गया हो, चेचक से मरा व्यक्ति (स्त्री, पुरुष) जिसकी हड्डियाँ मृत्यु के छः महीने अथवा अधिक अस्थायी रूप से नहीं निकाली गई हों और कुंडी में फिर से नहीं गाड़ी गयी हों, इनकी आत्माओं को छोड़कर पचबा आलर के समूह में समारोह के साथ मिल जाती हैं।

एक गोत्र की सभी पूर्वजों की मृतात्माएँ अपने गाँव की कुंडी में रहती हैं। अपने जीवित वंशजों और रिश्तेदारों के साथ एक ही परिवार अथवा गोत्र समूह की समझी जाती हैं। इसलिए इनकी भलाई करना ही उनका मुख्य उद्देश्य रहता है। कभी-कभी उनके स्वप्नों में आतीं और बातचीत करती हैं, बीमार वंशजों और रिश्तेदारों की देखभाल करतीं और बुरी आत्माओं से उन्हें बचाती हैं। ऐसा विश्वास है कि पूर्वजों की मृतात्माएँ कोई भी रूप ले सकती हैं, और जहाँ चाहें तहाँ हवा के समान उड़ सकती हैं (वही पृ. 31)।

गंभीर बीमारी के समय प्रतिज्ञा भी की जाती है कि स्वस्थ होने पर पूर्वजों की आत्माओं के लिए एक सफेद मुरगे की बलि दी जायेगी। वार्षिक हरबोरा समारोह या धर्मविधि और रिश्तेदार अनुष्ठान के पहले कुंडी के निकट पत्तल और दोने में उनके वंशज अपने हाल में मरी मृतात्मा और दूसरे पचबा आलर के लिए खाना रख देते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि भूत उराँवों की छाया, अपनी जमीन के भीतर के निवास स्थान से रात में निकल कर खाने आती हैं (वही पृ. 32)।

सरहूल, करमा और फगुवा पर्व में चावल की रोटी को टुकड़े-टुकड़े कर-नाम ले-लेकर जब तक नाम याद होते हैं, परिवार के 'पचबा आलर' की आत्माओं के लिए बलि चढ़ायी जाती है। जितिया पर्व में चावल का दलिया छः पत्तलों में से दो पत्तल, मृत बूढ़ा और बूढ़ी की आत्माओं के लिए, दो पत्तल मरे हुए बच्चों की आत्माओं के लिए, एक पत्तल मरी हुई बेटियों की आत्माओं के लिए और एक पत्तल बाकी गोत्र के मरे हुए सदस्यों की आत्माओं के लिए दिया जाता है।

नवाखानी का त्योहार उराँवों में दो बार होता है-एक सावन महीने में (जुलाई अगस्त) जब नया 'गोंदली' अनाज धर्मानुष्ठान के साथ खाया जाता है। दूसरा नवाखानी भादो या आश्विन में जब नया 'गोड़ा धान' धर्मानुष्ठान के साथ खाया जाता है। थोड़ा गोंदली अथवा गोड़ा धान, भात और सब्जी के अलावे, सब से पहले पूर्वजों की आत्माओं के लिए दिया जाता है, इसके बाद ही जीवित परिवार के सदस्य खाते हैं। 'नयाखानी' वास्तव में पचबा आलर के आदर-सम्मान का त्योहार है (वही पृ. 33)।

पूरे वर्ष प्रत्येक भोजन खाने से पहले पूर्वजों की आत्माओं का आह्वान, नाम लिए बिना, भात के कुछ दानों, कुछ सब्जी अथवा दूसरी तरकारी जमीन में गिराता है। अगर उनसे पूछा जाये कि क्यों ऐसा करते हो; तो उनका कहना है कि हमारे पुरखे या पूर्वज लोग करते आ रहे हैं। परन्तु जानकार उराँव के अनुसार पूर्वजों की मृतात्माएँ अपने वंशजों को भोजन और वस्त्र देते हैं इसलिए उन्हें धन्यवाद देने

के लिए ऐसा किया जाता है।

इसी प्रकार प्रत्येक पूजा अथवा धर्मानुष्ठान के समय और प्रत्येक शुभ धर्मविधियों, जैसे शादी के समय न केवल पानी की कुछ बूंदे पचबा-आलर के लिए दी जाती है, परन्तु कभी भी किसी मृत पूर्वज का नाम शामिल करें, तो उसके लिए भी पानी की कुछ बूँदें चढ़ानी पड़ती है, नहीं तो उसकी पुकार नहीं सुनी जायेगी।

उराँवों का यह विश्वास है कि धर्मेस आकाश में, पचबा-आलर जमीन के नीचे रहते हैं।

छांई भितारना— या मृत आत्मा को वापस घर में लाना।

इस धर्मविधि में मृतक की आत्मा अपने पुराने घर में तब तक के लिए रहने के लिए बुलायी जाती है, जब तक कि उसकी आत्मा स्थायी रूप से पहले मरे हए पूर्वजों की आत्माओं के समूह में जगह नहीं पाती है।

आरम्भ में उराँवों का विश्वास था कि सभी पूर्वजों की आत्माएँ तंग करने वाले भूत बनती हैं। परन्तु अभी वे मानते हैं कि सामान्य मौत से मरने वाली आत्माएँ हितकारी हैं, ये ही आत्माएँ 'पचबा-आलर' कहलाती हैं। परन्तु गर्भवती महिलाएँ अथवा जो प्रसव के समय मर जाती हों वे 'मसान भूत' या चुड़ैल कहलाती हैं। ये आत्माएँ जीवित आत्माओं को तंग करती हैं। ऐसी स्त्रियों को सामान्य श्मशान में न गाड़ कर गाँव के सीमाने में गाड़ते हैं। इसी प्रकार गाछ से गिरे, बाघ से मारे गये, दुर्घटना से मरे व्यक्तियों को सामान्य श्मशान से अलग गाड़ते हैं। दूध पीते बच्चों को सामान्य श्मशान के पास ही गाड़ते हैं।

गाड़ने से पहले ऐसी स्त्रियों के पैर तोड़ कर पीछे मोड़ दिये जाते हैं। सिर को भी इस तरह घुमा दिया जाता है कि आँख, कान, मुँह उलटा हो जाता है। यदि कोई संक्रामक रोग गाँव में फैलने वाला हो तो इसे ''चुड़ैल'' का काम समझा जाता है कि उसकी आँख, गाँव की तरफ हो गई है और पैर गाँव की तरफ मुड़ गये हैं। जिधर से चुड़ैल आने वाली हो उस रास्ते में मुरगी का अंडा उसके लिए दिया जाता है और कहते हैं— अभी हमलोग आप को भेज देते हैं। अब अपनी आँख और सिर अपनी तरफ ही करना।

पूर्वजों की आत्माओं को हितकारी बनाना उराँवों के बाद का विकास है। शायद मुंडाओं और हिन्दुओं के सम्पर्क के कारण पूर्वजों की आत्माओं को हितकारी बनाना सरल हुआ। वर्तमान उराँव, मुंडाओं के सांस्कृतिक संबंध के कारण यादगार पत्थर या पुलखी गाड़ता है। हिन्दुओं के सम्पर्क में आकर मृतक की हड्डियों को किसी नदी, नाले में फेंकता है। राँची के उराँवों ने मुंडाओं की भाषा और संस्कृति को अपनाया है। मुंडाओं की नकल करते मृतक की हड्डियों को समतल (सपाट) पत्थर स्लैब के नीचे गाड़ते हैं। 'कुंदी' शब्द संस्कृत का विकृत रूप 'कुंदा' और हिन्दी 'कुंड' से बनता है। कुंदा या कुंद का अर्थ है— बेसिन या छेद।

पुरखों की आत्माएँ कुंदी के पास अपने गोत्र पुलखी के निकट जमीन में निवास करती हैं, जहाँ उनकी हड्डियों के आखिरी बचे हुए टुकड़े स्थायी रूप से जमा किये जाते हैं। यदि कोई परिवार दूसरे गाँव में जाकर बस जाता है तो मरने पर मृत व्यक्ति की हड्डियों को अपने पुराने गाँव के पुलखी पत्थर

के बगल में समारोह के साथ जमीन के नीचे रख देता है और नये गाँव के कुन्दी के बगल में एक नया पुलखी स्थापित कर सकता है। इसके लिए वह सवा रुपये और एक चौथाई उस गाँव के पंच के लिए देता है, तब वह अपने पूर्वजों की हड्डियों को वहाँ रख सकता है। पुराने गाँव के रिश्तेदार और नये गाँव के सभी उराँव बुलाये जाते हैं। उन सब के लिए हंड़िया पीने के लिए दिया जाता है, इसके बाद वे गाँव की कुन्दी की ओर बढ़ते हैं। करीब तीन से दस फीट अथवा इससे भी लम्बाई अधिक नहीं, और डेढ़ से करीब तीन फीट चौड़ी एक पत्थर का स्लैब (पटिया) कुन्दी के बगल में लेकर पत्थर का स्लैब (पटिया) सीधे ऊपर की ओर गाड़ा जाता है। इसे गाँव का 'भूँइहार,' किसी किसी विशिष्ट उराँव गाँव में, प्रत्येक उराँव गोत्र या वंश, कुन्दी अथवा नदी के किनारे एक लम्बा पत्थर का स्लैब समारोह पूर्वक गाड़ता है, जहाँ गोत्र के मृत व्यक्तियों की हड्डियों के टुकड़े रखे जाते हैं। ये पत्थर स्लैब, पुलखी पत्थर कहे जाते हैं। ये पत्थर प्रत्येक अलग गोत्र वाले पूर्वजों की आत्माओं के दृश्य प्रतीक हैं। साल में मरे मृतकों की हड्डियों को स्थायी रूप से रखने के वार्षिक धर्मानुष्ठान में, प्रत्येक पुलखी पत्थर को, जिसके पूर्वजों का प्रतिनिधि पुलखी पत्थर गाड़ेगा, उनकी पत्नियाँ धोकर, तेल और सिन्दूर लगाती हैं। स्त्रियाँ पत्थर का श्रृंगार भी करती हैं। खिचरी, अथवा दाल भात एक साथ पत्तल के पुलखी के सामने परोसे जाते हैं। एक ही प्रकार के विशेष पुलखी, विशिष्ट श्रेष्ठ व्यक्ति की यादगार में गाड़े जा सकते हैं। वे थोड़ा हट कर गाड़ते हैं। इसके बाद वह पूर्वजों की आत्माओं के लिए सूअर की बलि देता है। बलि देते समय पंच, बेला नामक एक पूर्वज की आत्मा को संबोधित करते कहता है—''आज से हमलोग तुम्हें एक नया कुंदी दे रहे हैं। बेला ने ही इसे खरीदा है। आज से लेकर हमलोगों का कुंदी, बेला भी है। इस स्थान में सब समय वह प्रवेश कर पायेगा। उसके सारे परिवार यहाँ प्रवेश करेंगे। उनसे इस कुंदी को खरीदा है।''

इसके बाद पंच, बलि चढ़ाये गये सूअर के खून को नये पुलखी पत्थर के ऊपर छिड़कता है। नये पुलखी पत्थर गाड़ने वाला व्यक्ति वहाँ उपस्थित सभों को अपने घर खाने-पीने के लिए निमन्त्रण देता है। बलि चढ़ाया गया सूअर का मांस, दाल-भात और सब्जी के साथ परोसा जाता है। आजकल उराँव लोग सूअर की बलि न देकर बकरे की बलि देते हैं।

तृतीय श्रेणी के देवता और भूत

1. चाला पचो

चाला पचो का स्थान गाँव के देवताओं में प्रधान होता है। इसे सरना बुढ़िया अथवा 'झकरा बुढ़िया' भी कहते हैं। प्रत्येक वर्ष सरहूल के समय उसके आदर में पहान, गाँव की ओर से बलि देता है।

सभी उराँव देवताओं और आत्माओं से, चाला पचो जीवित मनुष्यों के संग अधिक घुल मिल जाती है, और इनके साथ रहती है। पूर्ण चन्द्रमा की रात्रि में जब लड़के-लड़कियाँ अखरा या अखाड़े में नाचती हैं, तो कभी-कभी चाला पचो उनके साथ नाचने आती है। इसके लिए वह किसी लड़की के शरीर में घुस जाती है, आत्मा के घुसते ही वह लड़की बुरी तरह से अपना सिर हिलाने लगती है। उस लड़की का नाचना जारी रहता है। इस तरह उस लड़की में घुसकर चाला पचो नाचने लगती है।

इसी प्रकार एक लड़की को छोड़ कर दूसरी नाचने वाली लड़की में प्रवेश करती है।

इसी प्रकार बलि दिये जाने वाले पशु का मांस खाने और हंड़िया पीने के लिए भी वह अपने साथियों के साथ आती है।

पहान अथवा कोई दूसरा सदस्य अपने पीने से पहले एक दोना हंड़िया 'चाला कुट्टी' के दरवाजे के पास रख देते हैं। जितने भी हाँडियों के हँड़िया पीते हैं, उन सब हंड़ियों से एक दोना हंड़िया, चाला पचो के नाम से दरवाजे पर दिया जाता है।

इसी प्रकार खेत की पहली फसल के अनाज चाला पचो को चढ़ाया जाता है।

प्रत्येक गाँव में इस देवी के लिए साल वृक्षों का झुंड होता है जहाँ उसका पवित्र निवास रहता है। चाला पचो कभी-कभी सफेद बाल के जटों सहित एक बुढ़िया के रूप में दिखाई देती है। साधारणत: वह चाला-कुटी' अथवा गाँव के पाहन के एक पवित्र कमरे में रहती है। यहाँ वह ओसाने वाली टोकरी (चाला केंतेर अथवा सरना सूप)में रहती है। इस सरना सूप या चाला केंतेर में यज्ञीय मुरगे को काटने वाली छुरी बाँधी रहती है। इस कमरे का दरवाजा हमेशा खुला रहना चाहिए ताकि वह अपनी इच्छानुसार आ जा सके।

सरहूल पर्व के दिन पहान उस सरना सूप (जिसमें चालो-पचो' रहती है) को सरना ले जाता है और सरना वृक्ष के नीचे एक शिलाखंड में रखता है। वही शिलाखंड चाला पचो का प्रतीक होता है। गाँव के पुरुष भी पहान के साथ जाते हैं। उन्हीं के सामने पहान, भेड़ या बकरा या सूअर के अलावे अनेकों मुरगों की बलि उसी शिलाखंड में देता है। उस सबका मांस वहीं पकाकर खाया जाता है, परन्तु स्त्रियों के लिए खाना मना है।

2. **पात**

पात को पात राजा भी कहते हैं, क्योंकि गाँव के सभी भूतों और आत्माओं का स्वामी है और उन्हें नियंत्रण में रखता है। इस प्रकार यह गाँव को बीमारी और दूसरी विपत्तियों से बचाता है। कुछ उराँव गाँवों में पात, पर्वत पर, और दूसरे गाँवों के वाह्यांचल की किसी झाड़ी अथवा वृक्ष के नीचे रहता है। दुवारिया अथवा दुवारसिनि पात राज की सेवा करते हैं। गाँव में रोग को नियंत्रण करने के लिए पात, टट्टू पर सवार होकर गाँव में चूमता है। परन्तु केवल टट्टू दिखाई देता है।

एक समय था कि पात ही गाँव के देवताओं के प्रमुख माना जाता था। परन्तु धीरे-धीरे चाला पचो ने इसका स्थान ले लिया। परन्तु किसी-किसी उराँव गाँव में अभी भी पात ही सभी भूतों में प्रधान माना जाता है। ऐसे गाँवों में पहान समय-समय पर सफेद अथवा गोला (मटमैला लाल) बकरा, पात के लिए बलि चढ़ाता है। दूसरे गाँवों में सिर्फ कुछ व्यक्तिगत परिवार के मुखिया ही बहुत सालों में एक बार किसी पहाड़ी पर पात की पूजा करते हैं। कुछ गाँवों में यह पूरता पूजा अथवा पहार पूजा या पर्वत पूजा कहलाती है।

किसी विशिष्ट गाँव में नव इंच का पत्थर का टुकड़ा भी गाँव के निकट पाया गया है जिसे पात देवता मानकर समय-समय पर पहार देवता की पूजा की जाती है। सावन महीने में कदलेटा पर्व के बाद

गाँव का पहान इस पत्थर के सामने पहार देवता के लिए मुरगे की बलि देता है। इसी प्रकार अगहन में खर्रा पूजा के एक दिन बाद गाँव का पाहन, इस पत्थर के सामने पहार देवता के नाम पर लाल मुरगे की बलि देता है (शरतचन्द्र राय-उराँव धर्म और संस्कृति--पृ. 20)। किसी किसी गाँव में 'पात' 'खूँट भूतों' के साथ ही याद किया जाता है। ये भूत सामूहिक रूप में 'खूँट पात और खूँट दंत' के नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार पात को अलग से पहचान नहीं देने के कारण, अलग से बलि उसके नाम पर नहीं दी जाती है। ऐसे गाँवों में 'दरहा भूत' अथवा 'दरहा देसवालि' को गाँव के भूतों अथवा आत्माओं का प्रधान माना जाता है।

कुछ उराँवों ने हिन्दू धारणा अपना कर 'महादेव' को सभी भूतों में प्रधान माना। इसलिए भी पात गौण देवता हो गये। उराँव ओझा, महादेव को अपना संरक्षक मानते हैं, और महादेव से ही सभी भूतों के ऊपर अपनी शक्ति कायम रखने में मदद पाते हैं। इसलिए महादेव के आदर में मिट्टी की वेदी बनाकर मंत्रों से पवित्र कर उसे 'पात' कहते हैं। इसी पात के ऊपर दूब घास, सुपारी और अरवा चावल महादेव के लिए रखते हैं।

3. दरहा-देसवालि

गाँव के भूतों में दरहा सबसे डरावना और भयानक होता है। यह प्रेतात्मा गाँव का गार्ड अथवा द्वार-पाल है और बाहर की आत्माओं को भीतर नहीं घुसने देता है। प्रत्येक गाँव की चाहरदीवारी के निकट अथवा उच्चभूमि के ऊपर रहता है। इस पूरी ऊँची भूमि को या तो पूरा अथवा एकभाग खाली छोड़ दिया जाता है। अगर उसी जमीन का मालिक इस निषेध को न माने तो, परिवार के किसी व्यक्ति अथवा जानवर की मृत्यु होती है। यद्यपि एक दो साल के लिए उस दरहा टोंका (उच्च भूमि) से उसे बहुत फसल हो सकती है।

कुछ गाँवों में माना जाता है कि दरहा की पत्नी देसवालि भी उसके साथ रहती है, अतः उसके लिए अलग से निवास करने के लिए उपवन दिया जाता है। परन्तु अधिकांश गाँवों में दरहा देसवालि एक ही भूत माने जाते हैं और कुछ गाँवों में पात को देसवालि माना जाता है। पलामू जिले के कुछ गाँवों में दरहा भूत के साथ भूतनी ''चेरनी'' भी रहती है।

दरहा कभी कभी हट्ठे कट्ठे जवान के रूप में टट्टू में सवार दिखाई पड़ता है। साधारणतः दरहा गाँव वालों की हानि नहीं करता परन्तु भूतों के आक्रमण से रोकता है। परन्तु यदि निश्चित समय में उचित ढंग से उसकी पूजा न हो तो दरहा नाराज होकर मनुष्यों और जानवरों के बीच भयंकर विपत्ति भेजता है। तब उसे खुश करने के लिए बृहत् और खर्चीली बलि देनी पड़ती है।

दूसरे भूतों की तरह दरहा भी डायनों और ओझाओं के द्वारा हानि करने के लिए उत्तेजित किये जाते हैं। यदि भूँइहर वंश के खूँट-भूतों के द्वारा मनुष्यों और जानवरों के बीच महामारी लाई जाती है, विशेषकर जब वे डायन अथवा सोखा के द्वारा व्यक्ति अथवा जानवर के ऊपर विपत्ति लाने के लिए उकसाये जाते हैं।

ऐसे गाँवों में जहाँ 'पात' की भूमिका न हो, चाला पचो महामारी भगाने के लिए निकल पड़ती

है। कुछ कहते हैं कि हाथ में छोटी छड़ी (टेम्पा) पकड़ कर देसवालि की पीठ पर चढ़ जाती है। देसवालि गधी के रूप में रहती है और अपने गले में बंधी घंटी को बजाती हुई चाला पचो को घुमाती है। दरहा भूत एक मजबूत जवान के रूप में कभी एक कुत्ते के रूप में निकलता है और महामारी थम जाती है।

अलग-अलग गाँवों में तीन से बारह अथवा इससे भी अधिक वर्षों में दरहा के लिए भैंसा देना पड़ता है। मध्यवर्ती वर्षों में कुछ छोटे जानवर जैसे बकरा अथवा भेड़, मुरगे के अतिरिक्त बलि चढ़ाये जाते हैं। कुछ गाँवों में एक पीढ़ी में एक बार भैंसे की बलि दी जाती है। जिसके खेत में दरहा अथवा देसवालि के लिए उच्च भूमि रहती है, वही अपने खेत की उपज से खर्च वहन करता है। सामान्यतः गाँव वाले ऐसे विशेष बलि के खर्च के लिए चंदा करते हैं। उपरोक्त पूजाओं के अतिरिक्त महामारी के समय दरहा टाँड़ में दरहा की विशेष पूजा होती है। दरहा टाँड़ में सब गाँव वाले जमा होते हैं। तब चाहे गाँव का पहान अथवा दरहा-खेत कमाने वाला, पहले सफेद मुरगा धर्मेस के लिए, बाद ताँबा रंग वाला मुरगा पूर्वजों की आत्माओं के लिए और रंगुआ अथवा लाल मुरगा, दरहा भूत के लिए दिता है (वही पृ. 44)

दरहा देसवालि की पूजा का मांस प्रत्येक परिवार को बराबर हिस्सा में मिलता है। इसी प्रकार पड़हा समाज के प्रत्येक गाँव को और यदि पड़हा का कोई दूध भैया हो, तो उसे भी बराबर हिस्सा मिलता है।

चाला पचो को सरना के पत्थर में, और दरहा भूत को 'दरहा टोंका' के पास जमीन में घुमाये जाते हुए लकड़ी के खूँटे में उपस्थित मानते हैं। बहुत सालों के अन्तराल में पुराना खूँटा बदल दिया जाता है, जबकि भैंसे की बलि दी जाती है। दरहा भूत को कहा जाता है कि एक पीढी के लिए चुप रहे, जबकि एक पीढ़ी के बाद उसे पुनः भैंसे का मांस दिया जायेगा।

उराँव देवता अथवा भूत (पूर्वजों की आत्माओं को छोड़कर) जो खूँट के रूप में कल्पित होते हैं, खूँटे को जमीन में घुमाया जाता है यह बताने के लिए कि जमीन के भीतर उन्हें चुप रहना है। बलि पशु के गले के मांस के साथ तीन (उम्बलखो) कलेजे के तीन टुकड़ों को लकड़ी खूँटे के ऊपर रखा जाता है। इसके बाद पतले लोहे की छड़ मांस के साथ ही खूँटे को चुभा दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि बलि पाने की अपनी पारी आने तक भूत न उठ सके। जब पारी आ जाती है तब नया खूँटा लगाया जाता है। खूँटे के उपरी भाग मिट्टी के घड़े से ढका रहता है, उस बर्तन के ऊपर मिट्टी का लेप रहता है। गाँव के पुरुष बाकी बचे मांस को खा जाते हैं।

4. महादानिया भूत

कुछ उराँव गाँवों में 'दरहा' से भी अधिक भयंकर भूत के लिए बलि चढ़ायी जाती है। गाँव का भूत 'महादानिया' हिन्दू नाम है, परन्तु कुछ गाँवों में इसे 'दहा पचो' भी कहते हैं। यह सच है कि कुछ गाँवों में महादानिया ने 'दरहा भूत' का स्थान ले लिया है। महादानिया वास्तव में नर भूत है। यह संस्कृत शब्द 'महा दान' अर्थात बड़ा दान या यज्ञ है। महादानिया के लिए पहले नर बलि दी जाती थी। आजकल भी अकाल के समय नर बलि चुपके से दी जाती है। 'महादानिया' को नर बलि देने का श्रेय हिन्दू जमींदारों को जाता है, जो गाँव में कुछ जमीन एक विशेष पुजारी महादानिया पहान के लिए देते

थे। पहान का पद वंशगत होता था। यही पहान नर बलि देता था और लगान रहित 'महादानिया खेत' में खेती करता था, क्योंकि नरबलि देने वाले खेत में कोई खेती नहीं कर सकता था।

अभी भी जवान उराँव मुंडा अथवा खड़िया एक निश्चित मौसम में अपने गाँव से दूर अकेले जाने का साहस नहीं करता है। उसे डर होता है कि उसे नर बलि के लिए पकड़ लिया जायेगा।

महादानिया की उत्पत्ति के बारे उराँवों की पौराणिक कथा इस प्रकार है— एक गौरेया सेमल गाछ में रहती थी। एक शिकारी ने गौरया को अपने तीर से मारा। वह चिड़िया दूर उड़ने लगी और इसी क्रम में उसका खून विभिन्न गाँवों में गिरा। जिन गाँवों में गौरेया के सिर का खून पड़ा वे 'महादानिया गाँव' हुए और जिन गाँवों में उसके पंख से खून गिरा, वे 'कोटवारि गाँव' हुए।

प्रत्येक नव अथवा दस अथवा बारह वर्षो में महादानिया भूत को नर बलि देकर खुश किया जाता है। आजकल नर बलि के बदले भैंसा अथवा गाय, और भेड़, बथान (गाय बैलों के आने, जाने या मैदान में बैठने का स्थान) के रास्ते में दी जाती है। इसका मतलब होता है कि जब तक बड़ी बलि नहीं दी जाती है, तब तक भूत चुप रहे।

लम्बे अन्तराल में 'बानौरि' बलि में भूत के लिए एक बकरा अथवा भेड़ दिया जाता है। कुछ गाँवों में यह बलि आसाढ़ अथवा सावन महीने में और किसी-किसी गाँवों में हिन्दुओं के दशहरे के समय आश्विन या कार्तिक महीने में दी जाती है।

महादानिया पहान धान की कटनी के बाद से अर्थात् नवम्बर से सरहूल पर्व, मार्च या अप्रैल तक कोई भी रसदार फल जैसे जामून, डहू आदि नहीं खा सकता है।

दरहा भूत के समान ही महादानिया भूत लकड़ी के खूँटे पर रहता है, जिसमें पतली लोहे की छड़ अटकी रहती है।

इस भूत को नही मानने पर यह गाँव में भयंकर महामारी और गाँव वालों की जान भी ले लेता है। 'देवी माई' और कुछ लोग 'चाला पचो' को गाँव देवी' मानते हैं, ये ही गाँव के सरंक्षक देवियाँ, महादानिया को शान्त कर सकती हैं।

5. देवी माई

उराँवों ने अपने पड़ोसी हिन्दुओं से 'देवी माई' को देवी के रूप में लिया है। अनेक उराँव गाँवों में घुसने की जगह पर इस देवी के लिए ''देवी मंडा'' होता है। बहुत सारे गाँवों में चार लकड़ी के खम्भों से एक छप्पर बनाया जाता है, जहाँ देवी माई रहती है। यह हिन्दुओं प्रथा में एक रूपता लाने केलिए किया जाता है, यद्यपि असली उराँव देवी देवताओं के लिए मन्दिर नहीं बनाये जाते हैं। छोटे शंकु के आकार के तीन, पाँच अथवा सात मिट्टी के ढेले, देवी माई के स्तनों के लिए बनाये जाते हैं। एक त्रिशूल या तीन काँटेदार लोहे के बर्छे, और कुछ गाँवों में एक छोटा झंडा भी देवी के निवास स्थान के लिए गाड़ा जाता है।

मातृ देवी और नारी के स्तनों को देवी का प्रतीक मानना उराँवों की ही धारणा है जो उनके धुमकुरियाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। देवी माई गाँव के लोगों एवं पशुओं के स्वास्थ्य और कल्याण

को देखती है, और महामारी से बचाती है। सावन में महीने के बकरी का दूध और मिठाई, देवी माई के लिए चढ़ाया जाता है। महामारी के समय कभी-कभी भेड़ की बलि भी दी जाती है।

6. **महादेव**

सामान्य गाँव-देवता की अपेक्षा, यह ओझाओं अर्थात् भगतों का संरक्षक देवता है। किसी-किसी गाँव में 'महादेव मंडा' अथवा 'महादेव स्थान प्राय:देवी स्थान के बगल में रहता है। ऐसे गाँवों में महादेव, गाँव का देवता माना जाता है। गोपाल पत्थर, देवता का प्रतिनिधि करता है। त्रिशूल के तीन काँटेदार बरछें, पत्थर में गाड़े जाते हैं। उराँवों का यह विश्वास है कि महादेव जमीन के नीचे से अचानक उठता है, और गाँव के पहान, अथवा गाँव के किसी बुजुर्ग को स्वप्न में दिखाई देकर गाँव की भलाई के लिए अपनी पूजा करने को कहता है। साधारणत: गाँव का पहान अथवा जो धर्मानुष्ठान ज्ञाता हो, सावन के महीने में बकरे की बलि देता है। बकरा खरीदने के लिए सभी गाँव के लोग चंदा करते हैं।

गाँव की अथवा आस पड़ोस के गाँव की बाँझ महिलाएँ महादेव के पत्थर पर दूध का नैवेद्य उँड़ेलती हैं, और सन्तान प्राप्ति होने पर कुछ बलि देने की प्रतिज्ञा करती हैं। जब उन्हें स्वस्थ पुत्र की प्राप्ति होती है तो प्रतिज्ञा के पूरी होने पर इस देवता के लिए मिठाईयाँ चढ़ाई जाती हैं। ऐसे बच्चे का मुंडन, महादेव मंडा के पास किया जाता है। बालों का एक गुच्छा, देवता को चढ़ाया जाता है और बाकी बाल किसी नदी या पुल में फेंक दिये जाते हैं। इस बच्चे का नाम देवता के नाम पर 'महादेव' रखा जाता है। यह देवता भी हिन्दुओं से लिया गया है। जहाँ उराँव और हिन्दू रहते हों, वहीं महादेव मंडा पाये जाते है, और उराँव अपने हिन्दू पड़ोसियों की नकल में महादेव की पूजा करते हैं। (शरत चन्द्र राय, Oraon Religion and Cus toms p. 54)

7. **विशेष गाँव देवताएँ**

सामान्य गाँव देवताओं के अतिरिक्त कोई-कोई उराँव गाँव, एक या अधिक देवताओं को, विशेष गाँव देवता मानता है। उनके लिए समय-समय पर बलि देता है। उदाहरण के लिए बेड़ो थाना के बंडी गाँव में क्रमश: पारी-परी से बारह वर्षो में एक बार 'छप्पर बुढ़िया' के लिए भेड़ अथवा भैंसे की बलि दी जाती है।

इस भूत को बलि देने की प्रथा किस प्रकार आरम्भ हुई, कथा इस प्रकार है—

''एक बार एक बुढ़िया ने कुछ उराँवों को अपनी झोपड़ी का छप्पर बनाने के लिए कहा। जब पुरुष छप्पर (छा रहे थे) बना रहे थे, उसी समय एक बुढ़िया ने अपने बेटी को पुकार कर कहा—''कोंहड़े की तरकारी इनके लिए तैयार करो।'' उराँव यह सुन कर डर गये, क्योंकि देवताओं की विशेष बोली में कोंहड़े का अर्थ मनुष्य का मांस होता है। उनको विश्वास हो गया कि ये बुढ़िया कोई भूत है। इसके तुरंत बाद भूंइहर या मूल वासी उराँव, गाँव छोड़कर भाग गये। बाद में दूसरे उराँव (वर्तमान वासिन्दों के पूर्वज) आकर गाँव में बस गये। दूसरे गाँव का एक 'मत्ती' अथवा ओझा गाँव के खेत में हल चला रहा था। उसी समय अपनी स्त्री के रूप में एक स्त्री ने आकर उसे पानी दिया। उस ओझा ने पानी पीने का बहाना किया, खेत से लौटकर उसने लुहार को चने के आकार की एक मुट्ठी लोहे की गोलियाँ बनाने के लिये कहा। दूसरे दिन खेत में काम करने के लिए आते समय उसने लोहे की गोलियों

को अपनी धोती में बाँध लिया। जब वह हल चला रहा था, उसी समय औरत के रूप में भूत ने फिर आकर पानी दिया। ओझा ने उसे कहा—''तुम्हारे मुँह खोलो, मैं तुम्हारे लिए चना लाया हूँ।'' उसने लोहे की गोलियों को भूतनी के मुँह में डाल दिया। जैसे ही वह भूतनी लोहे की गोतियों को चबाने लगी, ओझा ने उसे अपनी छड़ी से पीटना शुरू किया और यह कहने लगा-''तो तुमने मुझे ठगना चाहा।'' भूतनी ने देखा कि एक शक्तिशाली आदमी यहाँ खड़ा है, और उसने उसकी इच्छाओं को पूरा करना स्वीकार कर लिया, परन्तु समय समय पर उपयुक्त बलि देने की माँग की। ओझा ने कहा तुम्हें एक केंकड़ा खाने को मिलेगा। भूतों की भाषा में, केंकड़े का अर्थ बहुत बड़ा जानवर होता है। उसी समय से बंडी गाँव के लोग, अपने पहान द्वारा प्रत्येक 12 वर्ष में एक बार उस विशेष गाँव के भूत के लिए भैंसे की बलि देते हैं।

पूरे गाँव की ओर से जिनके लिए बलि चढ़ायी जाती है, वे कभी कभी गैराही भूत' कहे जाते हैं। परन्तु यह नाम विशेष कर उन विशेष भूतों के लिए दिया जाता है, जो कभी विशेष परिवार के भूत (मनता भूत) रहे हों, अथवा संरक्षक भूत (खूँट भूत) किसी विशेष गोत्र के रहे हों, और उनकी पदोन्नति गाँव के भूत अथवा गौराही भूत में हुई हो, जबकि वह परिवार ही नष्ट हो गया हो, जिसका वह मनता भूत रहा हो। अथवा प्रारम्भिक जाति अथवा 'खूँट' भूत वह रहा हो, वह भूत गाँव को इसलिए तंग कर रहा हो, क्योंकि उसे समय-समय पर मिलने वाली बलि बंद हो गई हो।

अनेक गाँवों में एक या एक से अधिक, इस प्रकार के गैराही भूत होते हैं जिन्हें गाँव का पहान पूरे गाँव की तरफ से समय समय पर बलि देता है। गैराही भूतहा खेत से होनेवाले लगान से बलि पशु का खर्च लिया जाता है। ऐसे गैराही खेत मूल में ऐसे परिवार अथवा गोत्र के रहे हों, जिनके ये विशेष भूत कभी रहे होंगे।

गैराही भूतों के अलावे किसी-किसी उराँव गाँव के लोग अपने गाँव के पहान के द्वारा समय-समय पर स्थानीय पहाड़ के भूतों अथवा दूसरे आश्चर्यजनक प्राकृतिक वस्तुओं के लिए बलि देते हैं। उदाहरण के लिए लोहरदगा थाना के जामगई गाँव में एक चादरी-पहाड़ नामक पहाड़ है। उसके ऊपर वर्षा का पानी एक छेद में जमा होता है। उस पहाड़ की ढलाई में कुछ चिन्ह है, जो हाथी के पद-चिन्ह से मिलते हैं। दूसरा पहाड़ भी हैं जिसे काठी टंगरा कहते हैं, उसमें कुछ पत्थर के टुकड़े एक दूसरे के ऊपर रखे गये हैं, और शिला खंड के नीचे एक खोह अथवा गुफा है। ये गुफे कुछ विशेष देवताओं के 'निवास स्थान' के समान लगते हैं। प्रतिवर्ष सावन महीने के किसी विशेष दिन गाँव के उराँव, गाँव के पहान के साथ कुछ मुरगे, कुछ अरवा चावल और एक जग दूध लेकर वहाँ जाते हैं। पहले वे काठी टंगरा जाते हैं, जहाँ पहान गुफा के मुँह में मुरगे की बलि देता है इसके बाद वे चादरी पहाड़ जाते हैं, और हाथी के सम्भाविक पद चिन्हों पर दो मुरगे की बलि देते हैं।

लकड़ी के खम्भे की मदद से पहाड़ी की चोटी पर पहुँच कर पहान वहाँ सिन्दूर का लेप लगाता है और दो मुर्गियाँ बलि देता है। इसके बाद वे उस क्षेत्र में जाते हैं, जहाँ वर्षा पानी जमा होता है, वहाँ पुजार अपने सहायक पुजार के साथ श्रद्धा पूर्वक पानी में दूध उँड़ेलता है यदि पूरा पानी सफेद होता है तो उनका विश्वास होता है कि अच्छी वर्षा होगी। परन्तु यदि थोड़ा पानी सफेद हो तो वे समझते कि कम पानी बरसेगा। अंत में संभवित हाथी के पद चिह के पास लौटते हैं, और जाँच करते हैं कि दूध

मिश्रित पानी पहाड़ के ऊपरी छेद से हाथी पद चिन्ह पर रिस रहा है अथवा नहीं।

झारखण्ड और छत्तीसगढ़ के प्राय: प्रत्येक गाँवों में 'मुई छिटखा' वृक्ष पाये जाते हैं, जिन्हें 'हाजरी पिपर' और कुछ गाँवों में 'वरंडा पिपर' कहा जाता है। यदि वर्षा के आने में देरी होती है तो औरतें घर की जमीन और आंगन को गोबर से लीपती हैं। नहाने के बाद मिट्टी के छोटे घड़ों में पानी लेकर सुबह-सुबह समूह में वृक्ष के पास जाती हैं, और उसकी जड़ों में पानी उँडेलती हैं। किसी-किसी स्थान में पहान जड़ों में लोबान चढ़ाता है। उराँवों का विश्वास है कि इसके बाद उस दिन अवश्य वर्षा की कुछ बूँदे पड़ती हैं, अथवा एक या दो दिनों में अवश्य वृष्टि होती है। यदि ऐसा नहीं होता है तो वे समझती हैं कि धार्मिक विधि में कहीं त्रुटि है और धर्मविधि दूसरी सुबह फिर दुहराई जाती है। कुछ गाँवों में पहली बार चरखे से निकाला गया धागा वृक्षों के चारों ओर बांधा जाता है।

8. गाँव के गौण भूत

ऊपर वर्णित बड़े प्रमुख गाँव के भूतों के अलावे, जिनके लिए समय-समय पर गाँव के समूह के नाम पर बलि दी जाती है, कुछ अनिश्चित गौण अथवा अप्रधान भूत लकड़ियों, नदियों (गड़हा), नाले (ढोड़हा) और गाँव के चारों चौहदी (चतुर सीमान्) में रहते हैं इनका सामूहिक नाम गड़हा-ढोड़हा, चतुर-सीमान् अथवा 'वन शक्ति' है। सरना में बलि देते समय और गाँव से महामारी भगाने के लिए बलि देते समय इनका आहवान् किया जाता है। इन वन और नदी नालों के अप्रधान देवताओं के लिए पृथक से बलि नहीं दी जाती है।

डाड़ी (तुसा) अथवा झरना अथवा उनमें रहने वाले भूतों का सामूहिक नाम 'तुसा बूढ़ा' है। प्रत्येक झरने का पृथक नाम है, और झरने का भूत गाँव को महामारी से शान्त करने के लिए गाँव के भूतों को दी जाने वाली पूजा के साथ पृथक बलि पाता है। बेड़ो थाना के ढुकु टिंगिरिया में ऐसी बलि अनेक झरनों में दी जाती है जैसे— काला मुरगा 'छोला टुसा' अथवा सरना झरना के लिए एक 'गुलैची टुसा' अथवा गुलैची वृक्ष के नीचे के झरने के लिए, एक 'अम-नुआ टुसा' अथवा पीने के झरने के लिए एक कबरा अथवा धारीदार मुरगा, खोलता कुदर टुसा' के लिए (बैल कुदर जमीन पर के झरने के लिए जो कि बघौत भूत का निवास स्थान माना जाता है। एक कसरी अथवा भूरा मुरगा 'गुड़गुड़िया टुसा' (गुड़गुड़ चुँआ भूमि के झरने) के लिए, एक चिन्द अथवा राख के रंग का मुरगा, 'चिलगो टुसा' के लिये, (अथवा सियार झरने के लिए) एक सफेद मुरगा 'लानड्री टुसा' (लानड्री खेत के झरने के लिए) के लिये, एक चितकबरा मुरगा, खोरखू टुसा (खोरखू खेत के नाले के लिए) के लिये दिया जाता है। कुछ गाँवों में झरना भूत के लिए अलग से बलि नहीं दी जाती है, लेकिन झरने के मुँह में एक पत्थर होता है, उसे स्त्रियाँ सिन्दूर का लेप देती हैं। यह विलेपन तब होता है जब जन्म अथवा परिवार में मृत्यु के बाद शुद्ध होकर स्त्रियाँ वहाँ से पानी लेती हैं।

चौथी श्रेणी के देवताओं और भूतों का वर्गीकरण

1. चाँदी

यह देवी अविवाहित उराँवों की है। महादेव के समान चाँदी भूत भी गोल पत्थर में निवास करती है यह गोल पत्थर जमीन के अन्दर से स्वयं ऊपर निकलता है। शिकार और युद्ध के लिए जाते समय उराँव युवक इस देवी के पास मनौती माँगते हैं। इसे 'गाँव की देवी' की श्रेणी में रखा जाता है।

कभी-कभी चाँदी पत्थर को शिकारी उराँव, पूजा की वस्तु के समान अपने साथ शिकार की सफलता पाने के लिए ले जाते हैं। एक उराँव गाँव में प्राय: एक से अधिक स्थान, किसी पहाड़ी के ऊपर अथवा पहाड़ी की ढाल में होते हैं, इन स्थानों में वह पत्थर के रूप में रहती है। किसी-किसी स्थान में चाँदी पत्थर के बगल में छोटे पत्थर होते हैं, जो उनके बच्चे कहे जाते हैं।

अविवाहित उराँव ही इस देवी की पूजा करता है। माघ महीने की पूर्णिमा में इस देवी की वार्षिक पूजा होती है। पूर्णिमा के आठ दिन पहले से गाँववाले अखरा में जमा होकर कहते हैं कि दूसरी पूर्णिमा के बाद बकरे का खान-पान होगा। अविवाहित उराँव प्रत्येक घर में जा-जाकर उस दिन के लिए हंड़िया तैयार करने को कहते हैं। दूसरे बाजार के दिन बकरा खरीदा जाता है। बकरा खरीदने के लिए गाँव के लोगों से चंदा लिया जाता है। पूर्णिमा के दिन तड़के सुबह कुँवारे लड़के अखड़ा में जमा होते हैं। वे चाहे बैठते हैं चाहे खड़े रहते हैं— परन्तु दो पंक्तियों में। दो पंक्तियों के बीच आने-जाने का रास्ता रहता है। गाँव के पहान की पत्नी बड़े सबेरे उस स्थान (अखरा) को साफ करके गोबर से लीपती है। ऐसे अवसर पर देवी द्वारा प्रविष्ट कुँवारा लड़का 'पाय-चलवा' के समान आचरण करता है (सगुन निकालने वाले औजार को घुमाना) और उसकी आँखें बन्द रहती हैं। पहान के घर से सरना सूप लाते हैं। सूप में अरवा चावल रहता है। इस चावल भरे सूप को पाय चलवा और लोहरा के सामने जमीन में रख देते हैं। सूप को दोनों कोना पूर्व और पश्चिम होना चाहिए। एक लड़का अरवा चावल के कुछ दानों को लोहरा के ऊपर फेंकते कहता है— जिस व्यक्ति को तुम पसंद करते हो उसी के पास जाओ। प्रत्येक लड़का एक मुट्ठा अरवा चावल सूप से लेता है। बंधी आँखों वाला लड़का हलके से दाहिने हाथ की हथेली को लोढ़ा के ऊपर रखता है, वह लोढ़ा लड़कों की पंक्ति के सामने लुढ़कता है और उसका हाथ काँपने लगता है। लोढ़े के पास पहुँचने पर दूसरे लड़के पंक्ति को न बिगाड़ते हुए पीछे हट जाते हैं। जिसके पैर से लोढ़ा स्पर्श करता है, वही कुँवारा लड़का चाँदी पूजा का पहान बनता है। चूंकि चाँदी स्थान भी एक से अधिक होता है, अत: अनेक लड़के चाँदी पहान चुने जाते हैं। एक या एक से अधिक लड़के, नये चुने गये पहानों के पैर धोते हैं।

करीब दस बजे नवनिर्वाचित पहान नहाकर चाँदी टाँड़ जाता है, वहाँ दूसरे लड़के गाँव वालों के द्वारा दिये गये जलावन की लकड़ी, भोजन पकाने के लिए मिट्टी का घड़ा और हाँडी के छोटे बर्तन या पात्र जमा करते हैं। वहाँ एक झंडा भी गाड़ देते हैं। चाँदी पहान, चाँदी पत्थर के ऊपर तीन सिन्दूर का टीका लगा कर चाँदी देवी को अरवा चावल चढ़ाता है। इसके बाद धुमकुरिया का दूसरा कुंवारा लड़का चाँदी पत्थर के ऊपर अरवा चावल बिखेरते कहता है— ''हमलोगों के वचनों को ठीक से सुनो, जिससे हम शिकार खेल सकें। दूसरे बाजार के दिन एक बकरी खरीदकर उसे भी अरवा चावल खाने को देते हैं। जब वह अरवा चावल खाती रहती है, उसका सिर बलुवे से युवक पहान द्वारा काट दिया जाता है। बकरे के सिर को थोड़ी देर के लिए चाँदी पत्थर पर छोड़ देते हैं, इसके बाद ले जाते हैं। वहीं पर तुरंत धुमकुरिया के लड़कों द्वारा बकरे के सिर और धड़ को काट कर पकाया जाता है। भात भी दूसरी हाँडी में पकाया जाता है। केवल अविवाहित लड़के इसे खाते हैं। गाँव में ही एक सूअर के मांस को चाँदी टाँड़ लेते हैं। पहले तेल में मांस को पका कर बाद में भोजन के साथ पकाते हैं, इसे 'टहरी' कहते हैं। इस मांस को भूनने अथवा पकाने का काम विवाहित उराँव करते हैं, और हंड़िया को उपस्थित विवाहित

के लिए छानते हैं।

सूर्यास्त या इससे कुछ अधिक देरी तक पीने खाने का उत्सव होता है इसके बाद 3 लड़के चाँदी टाँड़ से नगाड़ा बजाते और जतरा झंडा पकड़ कर धुमकुरिया चले जाते हैं। बाकी लोग अपने-अपने घर जाते हैं। जवान लड़के और लड़कियाँ आधी रात या इससे भी अधिक देर तक अखाड़े में नाचते गाते हैं।

चाँदी पूजा की दूसरी अनोखी विधि इस प्रकार है— माघ की आखिरी तीन रातें, अथवा कुछ गाँवों में केवल आखिरी रात, इसी प्रकार चैत महीने की आखिरी तीन रातें, अथवा कुछ गाँवों में आखिरी एक रात, धर्मविधि के पहले, युवकों का पहान, कभी-कभी दो या तीन साथियों के साथ आधी रात को स्नान करके चाँदी टाँड़ की ओर जाता है। इस समय वह नंग-धड़ंग रहता है, उसके बाल बिखरे रहते हैं अपने साथ तुम्बे में पानी ले जाता है। चाँदी टाँड़ पहुँचकर वह चाँदी पत्थर को तुम्बे में पानी से नहलाता है। इसके बाद पत्थर में तेल और सिन्दूर देते समय कहता है— "मैं आप की अच्छी सेवा कर रहा हूँ। मैं आप को तेल और सिन्दूर चढ़ा कर घर जा रहा हूँ। घोड़े पर सवार होकर 12 अथवा 13 कोस की दूरी से मेरे घर जल्दी से आइये।"

ऐसा कहा जाता है कि चाँदी विभिन्न भयंकर आकारों में प्रकट होती है जैसे बाघ, साँप, हाथी आदि। यदि तेल और सिन्दूर चढ़ाते समय किसी एक रूप में प्रकट होती है, और वह डर जाता है, तो उसे बुखार आता है, चाहे पेट में दर्द होता है, अथवा कहीं और शरीर में दर्द होता है।

फाल्गुन महीने की पूर्णिमा की रात जिस पानी से चाँदी पत्थर को नहलाया जाता है, उस पानी को कुँवारे लड़के अपने गाँव या आस-पास के गाँवों की नदियों अथवा नालों से चुपचाप आने वाले हप्ते के पहले, उत्तरोत्तर रात्रियों के लिए भरते हैं। जग को चुपचाप बाँबी के भीतर रख देते हैं। फगुवा दिन, चाँदी पत्थर को इस पानी से नहलाने के बाद, जग को फोड़ कर चाँदी पत्थर पर फेंक देते हैं। इसके बाद चाँदी पत्थर पर सिन्दूर लगाया जाता है।

चाँदी पूजा की दूसरी प्रथा इस प्रकार है— कार्तिक पूर्णिमा के दिन किसी उराँव गाँव में उराँव धाँगर लोग चाँदी के पवित्र खेत में जाकर, जमीन पर पैर पटकते हैं। कीचड़ को पैर से छूते हैं। यदि किसी का पैर गोल अथवा लम्बे पत्थर को छूता है तो वह जोर से कहता है— "मैं ने छू लिया।" ऐसा विश्वास किया जाता है कि चाँदी खुश हो गई और दूसरे फगु शिकार अथवा वसन्त आखेट में अच्छी सफलता मिलेगी।

2. आचरैल

जिस प्रकार चाँदी उराँव युवकों के लिए है, उसी प्रकार आचरैल और सहेली जोड़ा' औरतों के भूत हैं। प्रत्येक उराँव परिवार अथवा खूँट, पीढ़ी में एक बार आचरैल की पूजा परिवार या खूँट की विवाहित अथवा अविवाहित जवान अथवा बूढ़ी स्त्री की पूजा बच्चियों की खुशहाली के लिए आचरैल करते हैं। आचरैल भूत का, पत्थर अथवा लकड़ी का खूँटा जैसा कोई प्रतीक नहीं है। आचरैल पूजा के समय, विवाहित पुत्रियाँ, भाई की बेटियाँ, चचेरी बेटियाँ और (पिता के तरफ से) प्रत्येक परिवार के मुख्य अथवा खूँट की चचेरी बहनें निमंत्रित होती हैं; और वे अपने पतियों के साथ आचरैल पूजा अथवा

बलि में भाग लेने के लिए आती हैं।

पूजा के लिए निश्चित किये गये दिन के पहले शाम में पहुँचती हैं। प्रत्येक औरत कुछ चावल, दाल, नमक और पर्व के लिए दूसरी वस्तुओं के अतिरिक्त एक हाँडी में हँड़िया लाती है। उनके पति बलि में दिये जाने वाले एक सूअर, अथवा एक भेड़ अथवा एक बकरे के लिए पैसे आपस में ही जमा करते हैं। पूजा के दिन पूरा परिवार अथवा खूँट की सब स्त्रियाँ, बच्चियाँ और साथ में उनके पति भी सुबह से लेकर दोपहर अथवा दोपहर के बाद तक उपवास में रहते हैं। परिवार अथवा खूँट की भी स्त्रियाँ, अपने पतियों के साथ, नहाने के बाद धुले हुए नये वस्त्र पहन कर, पंक्ति में अनुष्ठाता की ओर मुँह करके बैठ जाती हैं। यदि परिवार या खूँट की कोई पुत्री अनुपस्थित हो, तो उसके नाम पर पंक्ति में ढेला रख दिया जाता है। अविवाहित पुत्रियाँ पंक्ति के अंत में बैठती हैं। प्रत्येक के बगल में भावी पतियों के प्रतिनिधि के रूप में मिट्टी का ढेला रख दिया जाता है। बलि देने वाला परिवार या खूँट का पुरुष सदस्य होता है। वह सूअर अथवा एक भेड़ अथवा धूसर रंग के बकरी के बच्चे की बलि देता है। अनुष्ठाता की ओर मुँह करके स्त्रियाँ और लड़कियाँ अपने सामने रखे पत्तल में से अरवा चावल, उन जानवरों के लिए जमीन में बिखेर देती हैं, बिखेरते समय कहती हैं—'आपलोग हम लोगों से मुलाकात न कीजिये।'' प्रत्येक के पति भी पत्तल में एक आना' अथवा ताम्बे का सिक्का रखता है। बलि देते समय अनुष्ठाता प्रार्थना करता है—हे आचरैल! हमारी बच्चियों में से विपत्ति हटा दीजिये। उन्हें बीमारी अथवा दुःखी मत बनाइये।'' बलि देने के बाद अनुष्ठाता बलि पशु का खून परिवार अथवा खूँट की सभी लड़कियों और उनके पतियों पर छिड़कता है। किसी स्थान में प्रत्येक जोड़ी के सिरों के ऊपर एक कपड़ा छतरी की तरह रहता है। यज्ञीय पशु का खून चावल और पैसे को अपने लाभ के लिए लेता है। महिलाएँ, अपने पतियों के साथ, वहाँ उपस्थित सभों को प्रणाम करके सम्मान देती हैं। बलि पशु का माँस, चावल के साथ पकाया जाता है। दोस्त और रिश्तेदार इस त्योहार में भाग लेने के लिए बुलाये जाते हैं। गाँव के और आस-पास के गाँवों के स्त्री पुरुष भी आचरैल को चढ़ाये गये बकरे का मांस खाते हैं।

दूसरे दिन बेटियाँ अपने पति के साथ अपने घर लौट जाती हैं। कोई-कोई दम्पती एक दो दिन और मैके में रह जाती है।

उपरोक्त बलि के अलावे आचरैल के लिए विशेष बलि भी दी जाती है, विशेष कर यदि किसी माता का दूध सूख जाये अथवा बच्चे हमेशा बीमार रहते हों, ओझा की सलाह के अनुसार महिला के भाई या पिता की ओर से बलिदान चढ़ाया जाता है। बलिदान के समय लड़की अपने पति के साथ शादी समय के जैसे बैठती है और यज्ञीय पशु का खून उन पर छिड़का जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि आचरैल भूत के खुश रहने पर, वह शादी शुदा स्त्री के पिता के गाँव अथवा गोत्र के भूतों को, पति के गाँव जाकर उस स्त्री और उसके परिवार को तकलीफ देने से रोकती है।

3. जोड़ा

यह आचरैल की सहेली भूत है। यह भी परिवार के मुखिया की बेटियों,भतीजियों और बहनों के स्वास्थ्य और खुशहाली के लिए बलि पाती है। आचरैल की पूजा के दूसरे दिन, जिस व्यक्ति ने आचरैल के लिए बकरी का बच्चा, बलि दी है, वही व्यक्ति जोड़ा के लिए भेड़ी की बलि देता है। प्रार्थना

और पूजा की विधि भी एक ही है। बलि पशु का खून पंक्ति में स्त्रियों और पतियों में एक ही तरह छिड़का जाता है। पर्व मनाने के बाद घर के दामाद अपनी पत्नियों के साथ अपने -अपने घर लौट जाते हैं। जोड़ा का भी कोई रूप या प्रतीक नहीं है सभी उराँव गाँवों में जोड़ों की पूजा नहीं की जाती है।

पाँचवी श्रेणी के खूँट भूत

उराँव गाँव के मूल संस्थापक (ये एक अथवा एक से अधिक हो सकते हैं), 'भूँइहर' कहलाते हैं। ये ही भूँइहर खूँट में बंट जाते हैं। इन खूँटों को अपने खूँट के भूतों की पूजा करनी पड़ती है। आरम्भ में गाँव बसाने के लिए जंगलों को साफ करना पड़ा। जंगल में रहने वाले भूतों की शान्ति भंग हो गई। वे खूँट जमीन के पीछे लग गये। उन्हें समय-समय पर बलि देने का काम भूँइहर परिवार अथवा खूँट के जिम्मे हुआ।

प्रत्येक गोत्र के खूँट भूतों की संख्या बढ़ गई। राँची जिले के गोडा गाँव के खूँट भूत के बारे में इस प्रकार कहा जाता है— महतो खूँट के बुचा नामक व्यक्ति ने दोन में मछली फँसाने के लिए कुमनी रोपा, परन्तु एक भी मछली नहीं फँसी। अंत में उसने एक प्रतिज्ञा की कि यदि कुमनी मछलियों से भर जाय तो वह हर तीसरे महीने में एक भैंसे और एक भेड़ की बलि उस खेत के भूत के लिए देगा, जिसके कारण मछलियाँ कुमनी में नहीं फँस रही थीं। बहुत बाद में उसकी कुमनी में मछलियाँ फँस गईं। अपनी प्रतिज्ञानुसार उसने कुम़नी के स्थान में एक खूँटा गाड़ा और पशु की बलि दी। उसी समय से महतो खूँट के लोग प्रत्येक तीन वर्ष में भैंस अथवा भेड़ की बलि देते हैं। भूत को 'बुचा नाद' भी कहते हैं।

मानव भूत भी खूँट भूत की तरह पूजे जाते हैं। प्राय: देखा जाता है कि हत्या करने वाले के घर में यदि बीमारी अथवा मृत्यु होती है और यह सिद्ध हो जाता है कि मारे गये व्यक्ति का भूत ही ऐसा कर रहा है तो उसे भी परिवार भूत अथवा खूँट भूत मान लिया जाता है। उसे भी समय-समय पर बलि दी जाती है। ऐसा भी होता है कि मरते समय वह कहता है कि मरकर वह भूत या खूँट भूत बनकर हत्यारे के परिवार को सतायेगा, जब तक कि बलि देकर उसे खुश नहीं किया जायेगा। प्राय: खूँट की कुछ भूमि खूँट भूत के स्थान के लिए छोड़ दी जाती है। वहीं प्रत्येक तीन वर्षो में बलि दी जाती है। यदि समय पर उन्हें बलि न दी जाये, तो ये भूत अधीर होकर खूँट के सदस्यों, मवेशियों और गाँव पर भी बीमारी अथवा मृत्यु का दु:ख देते हैं। कभी-कभी डायन अथवा मत्ती ओझाओं के तंत्र मंत्रों द्वारा ये भूत अशान्त होकर समय से पहले ही बलि खोजते हैं। ऐसे समय में ओझा या टोहनाया की सलाह ली जाती है।

यद्यपि खूँट भूत की पूजा खूँट के सदस्यों द्वारा की जाती है, आजकल किसी-किसी परिस्थिति में पहान यह पूजा करता है, बदले में उसे छोटा पारिश्रमिक दिया जाता है। जिस जमीन को खूँट भूत तंग करते हैं वह जमीन, खूँट अथवा परिवार का ''भूतखेता'' जमीन कहलाती है। जब भूत इतना शक्तिशाली होता है कि पूरे गाँव में महामारी फैलाता है, वैसी जमीन के लिए लगान नहीं दिया जाता क्योंकि ऐसे भूत को मनाना गाँव के हित के लिए होता है और खर्चीला भी होता है।

गैराही भूतखेता अथवा मरदाना भूतरेखा जमीन प्रारम्भ में किसी खूँट अथवा भूँइहर परिवार के होते हैं, जो समाप्त हो चुके रहते हैं। इसलिए भूत, बलि पाने के लिए गाँव में विपत्ति उत्पन्न करता है। गाँव समुदाय ऐसे भूत को 'गाँव भूत' मान लेता है। समाप्त परिवार की जमीन, पूरी अथवा कुछ भाग

गैराही भूतखेता जमीन में बदल दी जाती है। उस जमीन की देखभाल गाँव का मुखिया करता है। वह ऐसी जमीन को विभिन्न किसानों के लिए तीन वर्षो के लिए पट्टे पर लगान सहित देता है। लगान के पैसे भूत की बलि खरीदने में सहायक होते हैं। तीन वर्षो के बाद फिर किसी दूसरे विभिन्न किसानों के लिए उसी शर्त पर वह जमीन दी जाती है। कोई भी किसान गैराही भूँइखेता जमीन पर भोगाधिकार' या दखल नहीं कर सकता है।

खूँट भूत का कुछ प्रतीक नहीं होता है। खूँट भूत, अपने खूँट के स्वास्थ्य, फसल और सम्पतियों की देखभाल करते हैं। उराँवों का विश्वास है कि जब चोर या बदमाश उसकी फसल को चुराते या नष्ट करने की, कोशिश करते हैं, तो खूँट भूत ही उनके प्रयासों को निष्फल करते हैं।

जब खूँट भूत उपयुक्त बलि के अभाव में नाराज हो जाते हैं, अथवा कुछ बदमाश डायन अथवा ओझा के उकसाहट से, सियार के समान भूकते हैं, और गाँव में विपत्ति लाते हैं तो इस परिस्थिति में कुछ विशिष्ट बलि उन्हें शान्त करने के लिए दी जाती है।

छेठी श्रेणी के घरेलू देवताएँ

ऐसे भी उराँव होते हैं, जो भूँइहर नहीं होते हैं, जिनका न तो गोत्र होता है और न ऊपर वर्णित खूँट भूत ही। खूँट भूतों का स्थान बरंडा पचो अथवा बार पहारी और कुछ दूसरे भूत 'छिगरी नाद' गोयसालि नाद आदि लेते हैं।

बरंडा पचो अथवा बूढ़ी औरत बरंडा, प्रत्येक अलग परिवार की अभिभाविका होती है। इस भूत को डंगरा नाद (बैल खाने वाला भूत), सखरी नाद, अथवा चूलाही नाद अथवा चूल्हा भूत और पूर्विया नाद अथवा पूर्व का भूत भी कहते हैं। डंगरा भूत इसलिए कहते हैं कि इस भूत को समय-समय पर 'बैल की बलि' देनी पड़ती है।

सखरी नाद और चूलाही नाद इसलिए कहा जाता है कि माता-पिता से अलग होकर जब कोई उराँव चूल्हा अपने परिवार के लिए बनाता है, तो उसे सखरी नाद और चूलाही नाद की पूजा करनी पड़ती है। भात के दानों को 'सखरी' कहा जाता है। बंरडा भूत दौनी स्थान की देखभाल करता है। धान के काटने के बाद दौनी करने के लिए धान की बालियाँ जिस स्थान में जमा की जाती हैं, वह दौनी जमीन कहलाता है। चूंकि यह भूत दौनी स्थान की देखभाल करता है इसलिए उसे उड्डू (हिन्दी में उड़िया) बरंडा, अथवा केंतेर बरंडा भी कहते हैं।

मनुष्य की उत्पत्ति संबंधी उराँव दन्तकथा के अनुसार यह असुर पत्नियों का भूत है जिनके पति धर्मेस द्वारा मारे गये। बरंडा पचो की सात बेटियाँ मानी जाती हैं। छिगरी नाद अथवा दाहा छिगरी, बरंडा की स्थायी अनुवर्ती है। इसके लिए बलि देने का एक विशेष दिन निश्चित किया जाता है।

बरंडा पचो अथवा बूढ़ी औरत बरंडा की सात बेटियाँ, भूला या भ्रमण करने वाली भूत कही जाती हैं। ये जंगलों में वल्मीक के आस-पास पीपल और डुम्बर खाकर रहती हैं, इनके लिए बलि देने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से तीन, जिनके नाम क्रमशः हाकर बाई, पास बाई और कितरो बाई हैं, अपनी माँ के साथ ही बलि पाती हैं, परन्तु यह मान्य नहीं है। फादर डेहोन (Memories of the Asiatic Society of Bengal vol. 1 no. 9 page 132) के अनुसार बरंडा, असुर औरत का पुत्र है। दंतकथा के

अनुसार जब असुरों को समाप्त किया उस समय धौंकनी का काम कर रही थीं और गर्भवती थीं। बरंडा भूत चाहे पुरुष हो अथवा स्त्री, कभी-कभी बूढ़ी औरत के रूप में और बहुत विरले ही लम्बी पूँछ वाली बाघिन के रूप में दिखाई देती है।

यदि कोई भूँइहर उराँव परिवार अथवा पूर्वज जिसके किसी सदस्य ने बरंडा भूत को अर्पित बलि या मांस खाया हो, तो अपने माता-पिता से अलग परिवार बसाने के तुरंत बाद ही बरंडा भूत और उसके साथ रहने वाले भूतों के लिए उपयुक्त बलि एक या दो साल में चढ़ाता है। इसके बाद तीन से लेकर बारह वर्षो तक के अन्तराल में अथवा कम से कम एक पीढ़ी में एक बार बलि देनी चाहिए।

बरंडा पूजा की विधि

माघ महीने के पूर्णिमा के दिन तारीख निश्चित किया जाता है। परिवार के मुखिया के सभी भाईयों और दूसरे भाइयाद अथवा सपिण्डों को निमंत्रण दिया जाता है। निश्चित दिन परिवार का मुखिया अथवा वयस्क व्यक्ति सुबह से ही उपवास में रहता है। करीब दोपहर-सुबह वह अपने संबंधियों और अतिथियों के साथ कुछ (प्रायः पाँच) अड़ैसा (चावल की बनी हुई मिठाई) एक हंड़िया की हाँडी, थोड़ा सिन्दूर, बैल अथवा दूसरे जानवर (एक सूअर अथवा एक बकरा) मुरगों के अलावे लेता है। थोड़ा (हँड़िया बनाने की दवा) और सिन्दूर के अलावे, खाना बनाने की हाँडी पकाने के लिए, मसाले, मांस काटने की छुरी, और इसी के समान दूसरी अन्य वस्तुएँ भी लेता है।

जिस स्थान में बलि होना निश्चित हुआ है, उस स्थान को गोबर से लीपते हैं। इसके बाद एक या तीन मिट्टी के ढेले बरंडा पूजा स्थान के बरंडा भूत के प्रतीक के रूप में रखे जाते हैं। उन ढेलों को अरवा चावल के गुंडी (चावल के चूर्ण को पानी से मिलाकर) से अभ्यंजित कर सिन्दूर लगाते हैं। अनुष्ठाता, उसके भाई और दूसरे सपिण्ड, बलि पशु के सामने, जमीन पर अरवा चावल के दाने फेंकते हैं। अनुष्ठाता, बरंडा पचो अथवा डंगरा भूत से इस प्रकार प्रार्थना करता है—''हे डंगरा भूत! मेरे हाथों और पैरों को भूलकर अर्थात् बड़ी कठिनाई से, मैंने इस बलि को खरीदा है और इस बैल को बलि दे रहा हूँ, आज से मुझे बुरा स्वप्न न देना, और बीमारी भी मत देना, और चुपचाप रहना। आप असुर और असुराइन के भूत हैं। आज से लेकर पन्द्रहवें दिन मैं छिगरी अथवा बाँस के खूँटें खड़ा करूँगा (छिगरी भूत को बलि दूँगा) और दाहा गोइसाली भूत को भी बलि दूँगा।''

जानवर जब जमीन में पड़े हुए अरवा चावल को खाते रहता है, अनुष्ठाता धीरे से अपनी कुल्हाड़ी की मूठ को तीन या सात बार जानवर के गले में धीरे से मारता है। उसके बाद कुल्हाड़ी के तेज धार से जानवर के सिर को काटता है। यदि पहान वहाँ उपस्थित हो तो कुल्हाड़ी के मूठ से पशु के गले को पकड़ता है, और अनुष्ठाता को बलि पशु का सिर काटने के लिए कुल्हाड़ी देता है। कटा हुआ सिर भूत के प्रतीक मिट्टी के ढेलों अथवा ढेलों के ऊपर रखा जाता है। कटे हुए सिर में पशु की आँखों को उसी की अंतड़ियों से ही चारों ओर से बाँध देते हैं। ऐसा विश्वास है कि बकरा, भूत का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए पशु की आँखों को बाँध देते हैं, जिससे भूत गाँव की ओर न लौट सके और परिवार को तंग न कर सके। इसके बाद बरंडा पचो और उसकी बेटियों के नाम पर मुरगे की बलि भी दी जाती है। अरवा चावल की रोटी अथवा मीठी रोटी भी चढ़ाई जाती है। जहाँ बाँबी के पास पूजा

होती है, बलि पशु और मुऱगों के खून बाँबी के छेद में चुलाये जाते हैं। बाम्बी के ऊपर यह छेद बनाया जाता है। सूप (धान ओसाने वाला) को भी बाम्बी के छेद में गिरा दिया जाता है। एक छोटा मृद्भांड (सरखी) के ऊपर मिट्टी का दीया रखकर बाम्बी के ऊपर रख दिया जाता है। ऐसा कुछ ही गाँवों में किया जाता है। इस प्रकार भूत को बाम्बी के भीतर ही रहने कहा जाता है, जब तक दूसरी बार पूजा का समय पहुँचता है। अनुष्ठाता कहता है—''हे डंगरी नाद, उडडू बरंडा, नेहा बरंडा आप सब पाँच, सात अथवा बारह वर्षो के लिए चुपचाप रहिये।'' रात में चीटियाँ, बाम्बी के दरार की मरम्मत करती हैं।

चीटियों के बाम्बी के पास इसीलिए पूजा होती है, क्योंकि यह असुरों के भट्ठे से मिलती जुलती है, जिसमें उत्पत्ति की दंतकथा के अनुसार असुर मारे गये थे। जिस प्रकार बाम्बी का आकार बढ़ता है उसी प्रकार पूजाएँ उचित समय होने पर परिवार का विस्तार भी होगा। बलि पशु का मांस काटा जाता है। बलि पशु का कलेजा (उम्बलखो), दिल के पास के कुछ मांस (कलेजा), फेफड़ा (फोकसा) को भात के साथ पकाया जाता है। पकने के बाद सबसे पहले तीन ढेलों के सामने भूतों के लिए चढ़ाया जाता है। बाकी मांस-भात (तहड़ी) उपस्थित लोगों के लिए परोसा जाता है। इसके बाद बिची या खमीर को पानी के साथ मिलाते हैं। यह पानी टहरी के ऊपर तीन मिट्टी के ढेलों के सामने तपावन अथवा पेय अर्पण के समान उँडेला जाता है। बलि पशु के बाकी मांस को चावल के साथ दूसरी हाँडी में पकाकर उपस्थित लोगों को बाँटा जाता है। कुछ हिस्सा गाँव में बाँटने के लिए भी रखते हैं। सिर का माँस भी चावल के साथ तहड़ी' के रूप में पकाया जाता है। जब तहड़ी पकने पकने को होता है, तो सरसों के दाने पीस कर गोश्त में लगाये जाते हैं, इस तहड़ी को खाते हैं। सभी पत्तल और अवशिष्ट, सावधानी से जमा कर जला दिये जाते हैं।

आजकल कुछ परिवार, बरंडा और उसके साथ रहने वाले भूतों के लिए कहे गये अन्तराल पर बलि नहीं देते हैं। यदि परिवार में कोई गंभीर बीमारी या विपत्ति आती है, मत्ती ओझा यह सिद्ध कर देता है कि ये विपत्ति बरंडा भूत की नाराजगी के कारण हुई है, तो बलि उपरोक्त विधि से ही दी जाती है। अनुष्ठान उसी तरह प्रार्थना करता है—'हे डंगरा भूत! आज आप बीमारी देते हुए तकलीफ देते हुए, और स्वप्न देते हुए पकड़े गए हो। मैं ने अपना सब कुछ बेचकर इस बलि पशु को खरीदा है, और कुल्हाड़ी की मूठ से मैं इस बैल की (अथवा सूअर अथवा बकरे) बलि दे रहा हूँ। आज से ही मुझे बुरा स्वप्न न दीजिये, बीमारी न दीजिये, शान्ति से रहिये। आप असुर असुराइन के भूत हैं। मैं पन्द्रह दिनों के भीतर छिगरी भूत को बलि दूँगा। साथ ही दरहा गोयसाली को भी, जो डंगरा भूत का सहचर है'' पूजा उपरोक्त विधि से की जाती है, और मांस भी ऊपर वर्णित तरीके से पका कर खाया जाता है।,

सुरजाही पूजा

अगहन महीने में छिगरी नाद पूजा के बाद एक दिन सुरजाही पूजा के लिए निश्चित किया जाता है। उस दिन परिवार के सभी वयस्क स्त्री अथवा पुरुष और पूजा में उपस्थित रहने वाले रिश्तेदार बलि पूजा होने तक उपवास में रहते हैं। सुरजाही भूत, डाँड़ राजा अथवा उच्चभूमि का राजा भी कहा जाता है। इसलिए डाँड़ अथवा खुली उच्चभूमि में पूजा की जाती है। एक सफेद बकरा अथवा सफेद मुरगा,

अरवा धान, सिन्दूर नये खाना बनाने वाले मिट्टी के बर्तन लिए जाते हैं। इनके अलावे दाल, मसाले, छुरी, बैंठी (सब्जी काटने का औजार) भी चुने गये डाँड़ में लिए जाते हैं। पूजा के स्थान को पहले ही गोबर के पानी से लीप दिया जाता है। साधारणतः पूजा स्थान, किसी नाले झरने अथवा तालाब के किनारे चुना जाता है। सभी पुरुष स्त्रियों, पंचों, गाँव के वृद्धों और दूसरे मेहमानों के जमा होने पर, अनुष्ठाता जमीन पर रखे गये एक मुट्ठी अरवा धान, बकरे को खिलाता है, और कुल्हाड़ी से उसका सिर काट लेता है। काटते समय वह कहता है—"हे सुरजाही भूत! हमलोग आपको बलि दे रहे हैं। आज से लेकर हमें तकलीफ न दीजिये। हमें स्वास्थ्य और समृद्धि दीजिये। सुरजाहि भूत अथवा सूर्य देवता और कोई नहीं परन्तु धर्मेस अथवा सर्वोच्च देवता ही है।

माता पिता से अलग होकर अलग परिवार बसाने पर उपरोक्त सभी पूजाओं को करना पड़ता है, तभी वह घर (एड़पा) पूर्ण माना जाता है।

छिगरी नाद की पूजा

दूसरे नये चाँद की सुबह दो बाँस के खूँटे घर के दरवाजे के प्रत्येक किनारे गाड़े जाते हैं। पूजा होने तक घर के वयस्क सदस्य उपवास में रहते हैं, परन्तु हँड़िया पी सकते हैं। चावल की मिठाई (अइड़सा) बनाई जाती है। काम चलाउ तीन मिट्टी के ढेलों से बने मिट्टी के पात्र को नये चूल्हे के ऊपर रखकर उसमें तेल लगाते हैं, और इस प्रकार मिठाई बनाते हैं।

दोपहर के बाद गाँव के पंच अथवा प्रौढ़, भइयाद अथवा परिवार के सपिण्ड संबंध, और दूसरे संबंधी और मित्र निमंत्रण में आकर हंड़िया पीते और अइड़सा (चावल की मिठाई) खाते हैं।

उनमें से चुना गया पंच 'पंच कट्टा' धर्मानुष्ठान सम्पन्न करता है। अनुष्ठान की निगरानी के लिए मत्ती भी बुलाया जाता है। चावल के पीसे द्रव, चूल्हे की लाल मिट्टी और कोयले के चूर्ण को मिला कर अंडे के आकार वाला चित्र बनाया जाता है जिसके चारों ओर अंडे के टुकड़े से मिलते जुलते छोटे आकार रहते हैं। अनुष्ठाता अपने शरीर को दाहिने से बायें मोड़ते हुए, जलाये गये लैम्प का अनुकरण करते हुए भूत और प्रेतों की उत्पत्ति संबंधी दूसरे भाग की उराँव कथा कहता है। अपनी कहानी को यह कह कर अन्त करता है—"आज बाहर असुर भाई और तेरह लोधा भाईयों के दुष्ट मुँह बारह अथवा तेरह हाथ लम्बे खूँटें के साथ लोहे की भट्ठी में घुसाये गये हैं, और उनके दुष्ट मुँह उडडू बरंडा, नेहा बरंडा होकर बाई, पास बाई, छिुगुरगारि, दरहा गोंयसाली में बदल जाते हैं। मैंने उन्हें सन्तुष्ट किया है, अब आगे बुखार और दूसरी बीमारियाँ न हों, बुरे स्वप्न न आवें, और दुष्ट का भय न हो।"

गोंयसाली नाद की पूजा

गोंयसाली नाद प्रत्येक उराँव परिवार के जानवरों का संरक्षक भूत है। छिगरी नाद को जिस दिन बलि दी जाती है, उसी दिन गोहार घर के भीतर, घर का मुखिया एक मुट्ठी अरवा धान जमीन में रखकर मुरगे को खिलाता है। इसके बाद उसे बाहर निकाल देता है। दूसरा व्यक्ति गोंयसाली नाद अथवा गोहार देवता के लिए मुरगे की बलि देता है। मुरगे की बलि देते हुए वह व्यक्ति बोलता है—"मैं ने अभी आप को बलि दी है, सभी बीमारियों और पापों को लेकर दूर चले जाइये। बीमारी और दूसरी जगह की विपत्तियाँ मत होने दीजिये।"

सोहराई त्योहार में उराँव अपने जानवरों के सिर और सींग में तेल और सिन्दूर देते हैं। उनके खुरों को धोते हैं, उन्हें एक दिन का आराम देते हैं और बढ़िया खाना देकर उन्हें प्रसन्न करते हैं। रात्रि में गोहार घर में दीये जलाते हैं। यह त्योहार हिन्दू बने हुए चरवाहे जाति के अहीरों का है। उराँवों ने इस त्योहार को उधार लेकर अपने गोंयसाली नाद पूजा के साथ सामंजस्य स्थापित किया है।

सातवीं श्रेणी की पूजित वस्तु और दूसरी गौण शक्तियाँ

ऊपर अलौकिक शक्तियों में देवताओं अथवा भूतों की चरचा हुई, जिनके साथ व्यक्ति संबंध रख सकते हैं। इन देवताओं और भूतों की पूजा परिवार और गाँव गोत्र द्वारा समय-समय पर की जाती है और बीमारी अथवा विपत्ति दूर करने के लिए प्रार्थना की जाती है।

परन्तु यहाँ दूसरे प्रकार की अलौकिक शक्तियों का वर्णन है जो लगभग स्वभाव में अवैयक्तिक हैं, जो कम हानिकर हैं, यदि उनके लिए उपयुक्त अनुष्ठान किया जाय। ऐसी श्रेणी में कुछ टोटेम प्रतीक, गाँव के झंडे, कुछ दूसरे गाँव के प्रतीक, निश्चित वाद्य- यन्त्र और औजार, कुछ अनोखी सुंदर आकार वाली प्राकृतिक वस्तुएँ अथवा अलौकिक, अनोखे दिखाई पड़ने वाले जंगल, विस्मय पैदा करने वाली पहाड़ियाँ अथवा जलप्रपात कुछ विशेष प्रकार के वृक्ष अथवा वृक्षों का झुंड, एक तालाब, अथवा एक कुँआ अथवा स्तूप आदि हैं। इनमें से कुछ के विषय में कहा जाता है कि उनमें रहने वाले देवता का अस्तित्व और कार्य बहुत ही धुँधला या अस्पष्ट होता है। यदि धर्म और जादू का पृथककरण किया जाये, तो इस श्रेणी की अलौकिक शक्तियाँ दोनों की सीमा रेखा में रहेंगी। इस श्रेणी के अधिक महत्वपूर्ण अलौकिक शक्तियों का वर्णन किया जा रहा है।

1. **गण चिन्ह और उनके** प्रतीक

प्रारम्भ में टोटेमवाद क़ा धर्म से संबंध था अथवा नहीं, परन्तु कुछ प्रथाएँ अभी भी यहाँ-वहाँ उराँवों के बीच है, जिससे यह पता चलता है कि जाति के इतिहास के एक निश्चित अवधि में, धर्म का संबंध उराँव टोटेमवाद से था। जहाँ तक वास्तविक पौधे अथवा दूसरी वस्तुएँ जो विभिन्न उराँव गोत्र का टोटेम (गण चिन्ह) बनाती हैं, वे कोई निश्चित धार्मिक प्रथाएँ नहीं रह गईं, जब तक कि गोत्र टोटेम में निघेध नहीं लगाया जाता है।

फिर भी टोटेम (गण चिन्ह)के प्रतीक, कुछ उराँव गोत्रों में, अभी भी उत्कृष्ट आदर, यहाँ तक कि अनुष्ठान और बलि भी पाते हैं। उदाहरण के लिए लोहरदगा जिले के अम्बोआ गाँव में जहाँ गाँव के मूल संस्थापक भूँइहर अथवा वंशज ''एक्का'' अथवा कछुवा गोत्र थे, एक कछुवे का काष्ठमय चित्र गाँव के पहान के घर, अखरा या नाचने के मिलन स्थान में समय-समय पर पड़ोस में निश्चित किये जाते हैं, लकड़ी की प्रतिमाएँ अथवा चित्र समारोह के साथ पानी में स्नान कराये जाते हैं, उपयुक्त रंग से रंगे जाते हैं, उनको सिन्दूर लगाया जाता है, इसके बाद हंड़िया का तर्पण देने के बाद मुर्गी के चूजे की बलि दी जाती है।

इसी प्रकार लकड़ा अथवा बाघ गोत्र वाले, दो काष्ठ बाघ वाले लकड़ी के चित्रों का उसी प्रकार अनुष्ठान श्रद्धा पूर्वक किया जाता है। मांडर जिले के कंजिया गाँव में खलखो (मछली) गोत्र वाले उराँव भूँइहर पाये जाते हैं। यहाँ मछली का चित्र लकड़ी में बनाया जाता है और उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान

किया जाता है। उनके गोत्र टोटेम की प्रतिमाएँ, पूज्य वस्तुओं के समान, युवकों के द्वारा ढोयी जाती हुई, जतरा टाँड़ तक पहुँचाई जाती हैं। जतरा स्थान पहुँचने के रास्ते में लोग जतरा में बेचने के लिए जो माल ले जाते हैं, उसका एक अंश टोटेम प्रतीक की पूजा के लिए देते हैं। रास्ते में पड़ने वाले गाँवों में ढोने वाले युवक थोड़ा रूक जाते हैं। टोटेम की प्रतिमाएँ गाँव के अखाड़े में रखी जाती हैं। गाँव के उराँव लोग हँड़िया का तर्पण देते हैं। कभी-कभी मुरगी का चूजा, जिसे नहीं मारा जाता है, परन्तु प्रतिमा को ढोने वाली तख्ती में बंधा रहता है। जतरा टाँड़ से लौटने के बाद वह चूजा खोल दिया जाता है, जो चाहते हैं ले लेते हैं। कुछ गाँवों में जतरा टाँड़ जाने से पहले चूजे को अरवा धान खिलाया जाता है उसे बलि देने के लिए प्रतिज्ञा के साथ अलग रखा जाता है। यदि पार्टी, जतरा में हुए झगड़े में सफलता पाकर लौटती है तो गाँव की लकड़ी अथवा पीतल के प्रतीकों में चूजे की बलि देता है।

आजकल लकड़ी अथवा धातु की प्रतिमाएँ जो जतरा टाँड़ में ढोयी जाती हैं वे वर्तमान भूँइहर अथवा गाँव के दूसरे वासिन्दें उराँव के गण चिन्ह का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। बहुधा आजकल सनक अथवा संयोग के अनुसार अपेक्षाकृत मनमाने ढंग से अपनाये गये प्रतीक हैं। कभी-कभी शायद गाँव में सब से पहले बसने वाले परन्तु बाद में आने वाले उराँव के द्वारा विस्थापित किये गये उराँव के गण चिन्ह (टोटेम) का प्रतिनिधि हो सकता है। सभी परिस्थितयों में ये और मिलतें जुलते प्रतीक गाँव अथवा पड़हा के भाग्य से संबंध रखते हैं, और दैवी श्रद्धा और बलि पाते हैं।

2. जतरा के झंडे

बड़े झंडे बैशाखी भी कहलाते हैं। ये अलग-अलग गाँवों के चिन्ह होते हैं। प्रत्येक झंडा विशेष पैटर्न या नमूना होता है, जिनमें किसी खास गाँव का विशिष्ट प्रतीक होता है। प्रत्येक गाँव के लोग अपना-अपना झंडा, जतरा में फहराने ले जाते हैं, और अपने गाँव के लिए शुभ होते हैं, जैसा कि लकड़ी और पीतल के प्रतीक, जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

गाँव के युवकों के जतरा के लिए निकलने से पहले, पहान झंडे में लाठी को तेल में मिलाये गये सिन्दूर लगाता है। वह मुरगे की बलि भी देता है, और हँड़िये का तर्पण भी देता है। कुँवारे लड़के अथवा शिकार मीटिंग में, दो से अधिक गाँव या पड़हा के लोग झगड़ते हैं, तो वैशाखी, मुरगे के समान बाँग देते हैं, और अपने गाँव के लोगों को प्रोत्साहन देते हैं।

3. जतरा खूँटा

जहाँ पास पड़ोस के गाँवों के लिए समय पर जतरा का आयोजन होता है, वहाँ पाँच से सात फीट की ऊँचाई वाला लकड़ी का खूँटा जतरा जमीन के बगल में गाड़ा जाता है। जतरा के दिन गाँव के युवक अरवा चावल के चूर्ण को पानी में घोल कर, अथवा उजली मिट्टी से जतरा खूँटा का विलेपन करते हैं। किसी गाँव में एक हारमाला अथवा दो फूलों से जतरा खूँटे की आराधना की जाती है।

गाँव का पहान, जतरा खूँटे के सामने मुरगे की बलि देता है, जिससे किसी तरह के झगड़े न हो, और जतरा निर्बाध हो सके।

4. लिंग और दूसरे लिंग प्रतीक

राँची जिले के मध्य प्लेटों के कुछ उराँव गाँव में, बस्ती के बाहर ऊँचे खुले स्थान में, और जतरा लगने वाले गाँव में जतरा स्थान के बगल में दो अथवा दो अधिक पिरामिड आकार के टीले दिखाई

देते हैं। जतरा के दिन गाँव के अविवाहित नवयुवक इन मान्दर सालाओं' को एक प्रकार की चिकनी मिट्टी (पोतनी मिट्टी) का लेप लगाते हैं। देहातों में इस पोतनी मिट्टी से गाँव के युवक अपने शरीर को भी लीपते हैं या लेप बनाते हैं। एक मिट्टी का घड़ा 'मान्दर साला' के ऊपर औंधा करके रखा जाता है। उसमें टहनी सहित फूल भी रखे जाते हैं। कुछ गाँवों में चूजे की बलि भी दी जाती है। वर्षा के कारण 'मान्दर साला' में दरार हो जाते हैं उन दरारों को पानी से मिट्टी सान कर, किसी किसी गाँव में अपने ही मूत्र से मिट्टी गीली कर उस मिट्टी से पहले मरम्मत करते हैं, इसके बाद पोतना मिट्टी से मान्दर साला' को लीपते हैं। पहले अपने ही मूत्र से मिट्टी गीला करने की ही परम्परा थी। इस प्रकार मान्दर साला' ही लिंग के प्रतीक थे। मान्दर साला और साथ ही पोतना माटी से अपने शरीर में लेप लगाने के बाद, 'मान्दर साला जहाँ है, उस जमीन के चारों ओर तीन बार जूलूस में घूमते हैं। कुछ गाँवां में नवयुवक 'मान्दर साला' के लिए मुरगा अथवा मुरगी भी बलि देते हैं।

अभी भी उराँव, धुमकुरिया की छत को सम्भालने वाले मुख्य खूँटे में एक दरार होती है, यही स्त्री योनि का प्रतीक होती है। कुछ धुकमुरिया में इस खूँटे में स्त्री का चित्र बनाया जाता हैं खूँटे के दरार की पूजा अथवा बलि नहीं होती है, लेकिन जतरा के दिन खूँटे के ऊपर पोतना माटी का लेप लगाते हैं। यद्यपि कोई धार्मिक अनुष्ठान मातृत्व के प्रतीक नहीं होते हैं, फिर भी एक समय था जब इनकी पूजा सुख समृद्धि के लिए की जाती थी।

यह तो निश्चित है कि मूत्री चाँदी' पत्थर के नीचे, धुमकुरिया के नवयुवक समारोही पेशाब करते हैं इसका उद्देश्य चाँदी भूत को प्रसन्न करके जाति के पुरुष सदस्यों की वृद्धि करना।

5. बुल रोरस

अविवाहित उराँव के मातृत्व से संबंध रखने वाला पवित्र प्रतीक 'बुल रोरस' है तीन इंच चौड़ा, लकड़ी अथवा बाँस की पतली पट्टी है, जिसके एक छोर में पहली रस्सी घुसेड़ने के लिए छेद बनाया जाता है। जब इस पट्टी को घुमाया जाता है तो धीमी मर्मर की आवाज होती है, यही आवाज बढ़कर हवा की गर्जती आवाज बन जाती है। पर इन लकड़ी या बाँस की पट्टियों, जो एक दूसरे के ऊपर रखी जाती हैं और किसी धुमकुरिया के शहतीर से फूरती रहती है, इनके लिए उराँव, बलि या अनुष्ठान नहीं करता है।

पूर्वोक्त औजारों के आभिचारिक प्रयोग के अवशेष अभी भी हैं। वह यह कि नाचने के उत्सवों में बुल रोरस को बाहर निकालने की प्रथा है। बाहर निकाल कर इन्हें लम्बी रस्सी द्वारा अखरा या नृत्य स्थल के ऊपर लटकाते हैं। यद्यपि उराँव इस प्रथा को सिर्फ शोभा के लिए करते हैं। परन्तु हवा द्वारा हिलाये जाने पर ये पट्टियाँ बहुत जोर से आवाज करती हैं, उराँव यह विश्वास करते हैं कि ये बुल रोरस या बाँस की पट्टियाँ प्रेत को भगा रहीं हैं। कभी-कभी नाचती हुई, लड़कियों में से किसी एक में प्रेत घुस जाता है। ऐसी आत्माएँ उस लड़की को कष्ट देती हैं, इसीलिए इन आत्माओं को भगाना आवश्यक होता है। बुल रोरस की नजरें एवं उनमें जोर से प्रविष्ट भूत उस लड़की से निकल जाता है। ओझा के चाबूक के चटाके, रोग खेरना या रोग भगाने धर्मविधि छड़ी घुमाना अथवा उराँव शादी में तलवार घुमाना ये सभी दुष्टात्मा को भगाने के लिए किये जाते हैं। इन बुलरोरस के लिए पूजा अथवा अनुष्ठान सम्पन्न नहीं किये

जाते हैं, परन्तु धुमकुरिया में इसके चिन्ह प्राचीन व्यक्ति सम्पत्ति के रूप में सहेज कर रखे जाते हैं।

6. शस्त्र और वाद्य (बाजा),

ऐसा विश्वास है कि शस्त्र और बाजा में आत्मा होती है। जब ये चीजें फूट जाती हैं तो आत्मा इनमें से निकल जाती है। जब इनकी मरम्मत होती है तो आत्मा फिर वापस लौटती है। जब ये दोनों पूर्वत: टूट-फूट कर फेंक दिये जाते हैं तो पूर्णरूप से निकल जाती है। तलवार, जिससे मनुष्य की हत्या की गई हो, वह एक उराँव के लिए श्रद्धायुक्त भय बन जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उस तलवार में भूत का प्रवेश हो जाता है। यदि उस तलवार को बाहर निकाला जाये तो उसमें प्रविष्ट भूत को तब तक शान्ति नहीं मिलती है, जब तक उसे खून नहीं मिलता है। इसलिए उसे मालिक के घर की दीवाल में आदरपूर्वक टाँग दिया जाता है। प्रत्येक धार्मिक पर्व में तलवार के लिए बियर की कुछ बूँदे चढ़ाई जाती हैं। प्रत्येक धार्मिक धर्मविधियों में घर में बनाये हुए शराब की कुछ बूँदे तलवार के लिए दी जाती हैं।

जब एक उराँव नयी तलवार या ढाल, या बाजा, नरसिंहा पाइप, अथवा बिगुल खरीदता है, तो धर्मानुष्ठान के साथ सिन्दूर लगाता है। यह ढाल अथवा नगाड़ा अथवा बिगुल की 'शादी' कहलाती है। उराँवों का विश्वास है कि इन वस्तुओं के भीतर रहस्यमय देवता निवास करते हैं। मनुष्य को चाहिये वह इनसे दोस्ती करे और उनका मन खुश रखे, कम से कम कि वे हानिकर न हों। नये वस्त्र पहनने से पहले वस्त्र को हल्दी पानी में डुबा कर सुखाया जाता है। इसे भी वस्त्र का विवाह (किचरी बेंजा) कहा जाता है।

कमजोर आत्मा वाले तलवार या बरछे, किसी अन्य वस्तु से कटाने पर कुछ प्रभाव नहीं दिखाते हैं। परन्तु यदि उनमें मजबूती रहती है, तो दैवी आवाज से बाघ आदि को देखने पर चिल्लाते है, जिससे मालिक बाघ के सामने आने से पहले ही सावधान हो जाता है। रात्रि में यदि चोर घर में घुसने की कोशिश कर रहा हो तो, सोये हुए मालिक को जगाने के लिए उसी प्रकार की आवाज करते हैं। बहुत दिनों तक प्रयोग में लायी गयी बाँस की छड़ी भी पसीना निकालती है,.इस प्रकार उस बाँस में रहने वाली आत्मा यह सूचित करती है कि एक या दो दिनों में वर्षा होगी। इस प्रकार बाँस में आदरपूर्वक सिन्दूर का टीका लगाया जाता है।

आजकल बहुत से गाँवों में समय-समय जाने वाले शिकार के पहले शिकारी एक स्थान विशेष को गोबर पानी से लीपते हैं वहाँ अपने तीर-धनुष, तलवार, बरछे, और दूसरे शस्त्र रखकर उनके सामने धुवन जलाते हैं और गुड़ एवं घी की बलि देते हैं। कुछ शिकारी एक मुरगे को अलग रखते हैं। जब वे शिकार से सकुशल लौटते हैं तो चाँदी भूत को बलि देते हैं। बाजे को खरीदने के बाद ही उनकी शादी कर दी जाती है। जब शादी के लिए लिया जाता है तो घर की स्त्री द्वारा तीन सिन्दूर के टीके लगाये जाते हैं, और अरवा धान के कुछ दाने बाजे पर छिड़के जाते हैं। इस धर्मविधि के नहीं करने पर ऐसा विश्वास है कि वह नहीं बजेगा।

7. तालाब कुआँ बगान, पेड़ और पौधे

जब एक उराँव ने नया तालाब या कुआँ खोदा हो अथवा फलदार वृक्ष रोपा हो, अथवा फल

बगान लगाया हो, तालाब या कुँआ का पानी प्रयोग से पहले, कुँआ या तालाब की शादी करता है, उसी प्रकार पहली बार फल खाने से पहले फलदार वृक्ष या वृक्षों की शादी करता है, इनकी शादी नहीं होने पर चाहे पानी में अथवा फल में कीड़े पैदा होंगे। इसी प्रकार किसान पहली बार रोपनी करता है तब धान के पौधों की शादी का धर्मानुष्ठान करता है। प्रसव के बाद एक उराँव स्त्री जब पहली बार कुएँ या झरने या नाले से पानी भरने जाती है तब वह पत्थर के स्लैब अथवा लकड़ी के तख्ते पर तीन सिन्दूर के टीके लगाती है, इसका कारण है कि कुँआ, तालाब, नाला या झरना भी फलदार वृक्ष, बाजा, अथवा एक तलवार के समान रहस्यमय शक्ति को धारण करता है। अतः ये पवित्र हैं, और इनके प्रति श्रद्धा के साथ-साथ भय भी होता है। इसीलिए महिलाएँ मासिक स्राव अथवा बच्चे के जन्म के बाद शुद्ध होने तक कुँआ, झरना और तालाब जिस प्रकार नहीं जाती हैं, उसी प्रकार इनका चूल्हे का स्पर्श अथवा पवित्र उपवनों में जाना भी निषेध रहता है।

कुएँ अथवा तालाब की शादी की धमविधि

कुएँ का स्वामी और पत्नी, मित्रों, संबंधियों के साथ जुलूस के रूप में कुएँ अथवा तालाब के किनारे जाता है। असली शादी के समान दोनों पूर्व की ओर मुँह करके बैठते हैं। पंच अथवा गाँव का बुजुर्ग, चावल के चूर्ण (गुंडी) को कुएँ अथवा तालाब से पानी निकाल कर उसमें मिलाते हैं। यह अरपन कहलाता है। तेल में थोड़ा सिन्दूर भी मिलाया जाता है। पंच का प्रतिनिधि पति-पत्नी को नये कपड़े से ढाँपता है और उनके कपाल में तीन सिन्दूर का चिन्ह लगाता है। इसके बाद कुएँ अथवा तालाब का स्वामी पत्थर के स्लैब अथवा लकड़ी के खम्भे अथवा कुएँ अथवा तालाब के बगल में राजमिस्त्री द्वारा सिमेंट किये गये स्थान में तीन सिन्दूर के चिन्ह देता है। और उसकी पत्नी पत्तल में सिन्दूर का निशान बनाती है, जिसमें अरवा धान और अरवा का चूर्ण गीला बनाकर रखे गये हैं। इसके बाद वह अरपन को सब तरफ छिड़कती है। अन्त में कुएँ अथवा तालाब से एक बाल्टी पानी अपने हाथ से खींचता अथवा निकालता है। दोनों पति-पत्नी थोड़ा उस पानी को पीते हैं।

इसके बाद उपस्थित गाँव वालों और संबंधियों के लिए भोज दिया जाता है। जब तक कुएँ का विवाह नहीं होता है, मालिक वहाँ का पानी नहीं पी सकता है। तालाब होने पर वहाँ की न तो मछली पकड़ सकता है न मछली खा सकता है।

जब वृक्ष के फूल निकल आते हैं तब फलदार वृक्ष या फल बगान का विवाह किया जाता है। तालाब अथवा कुएँ के विवाह की ही धर्मविधियाँ इसमें भी होती हैं, परन्तु थोड़ा परिवर्तन भी है। बगान के विवाह में एक वृक्ष में सिन्दूर लगाया जाता है, और अविरंजित कपास का धागा वृक्ष के धड़ में तीन लड़ों में घुमाकर बाँधा जाता है इसके बाद अरपन को सभी वृक्षों में छिड़का जाता है। वृक्षों में केवल करंज, आम और जामून का ही विवाह किया जाता है। विवाह से पहले वृक्ष का मालिक न तो फूल तोड़ सकता है और न फल का ही प्रयोग कर सकता है।

करम, जितिया, पीपर (पीपल) के वृक्षों को भी उराँच पवित्र मानते हैं। करम और जितिया त्योहारों में क्रमशः करम डाली और जितिया डाली को काट कर उनमें स्थित ईश्वरत्व की पूजा की जाती है। इन वृक्षों की लकड़ियों और सरना स्थल के सखुए की लकड़ियों को कोई उराँव नहीं काटता है और

न ही जलाता है। कुछ उराँव 'तुन्द' वृक्ष (डाली) पर न तो बैठ सकते हैं और न उसके ऊपर चल सकते हैं। इसकी लकड़ी को दरवाजा बनाने अथवा लिंटन के लिए भी प्रयोग नहीं किया जाता है। बेल, पिपर और गुलैची, के पौधों को उराँव नहीं काटता है। एरन्डी का पौधा केवल फगुआ के समय काटा जाता है। इसी प्रकार 'कदलेटा' पर्व के अवसर में करम और भेलवा पौधा काटे जा सकते हैं। एक उराँव करम वृक्ष को काटकर न तो जलावन के रूप में उसे प्रयोग कर सकता है, न उसकी लकड़ी से दरवाजा बना सकता है, और न वृक्ष को जला ही सकता है। यदि उपरोक्त वृक्ष बिल्कुल सूख गये हों तो काटे जा सकते हैं। परन्तु आर्थिक तंगी के कारण वे निषेध आजकल नहीं माने जाते हैं।

कुछ वृक्ष इसलिए पवित्र माने जाते हैं कि उनमें रहस्यमय उपकारी शक्तियाँ रहती है, और कुछ वृक्ष इसलिए कि उनमें आत्मा रहती है। किसी-किसी उराँव गाँवों में पुराना महुँआ अथवा आम का वृक्ष होता है, जिसका धड़ भीतर से खोखला होता है। वर्षा का पानी उस खोखले स्थान में जमा होता है। आदिवासियों का विश्वास है कि यह पानी बुखार और दूसरी बीमारियाँ भी दूर करता है। रोगी व्यक्ति चरखे से काता हुआ (इस सूत को पानी में नहीं भींगा होना चाहिये) सूत लेकर खोखले धड़ के चारों ओर तीन लड़ियों में घुमाकर बाँधता है। इसके बाद अपने हाथ से वृक्ष के धड़ में तीन सिन्दूर का चिन्ह बनाता है, इस प्रथा को उराँवों ने हिन्दुओं से अपनाया है क्योंकि तुन्द लकड़ी से भगवान जगन्नाथ का रथ बनाया जाता है। जैसा कि वृक्ष की शादी में सिन्दूर का निशान तीन जगह बनाया जाता है, इसके बाद मिट्टी के नये घड़े में खोखले का पानी निकालकर उस पानी से नहाता है।

कभी-कभी उराँव, विचित्र आकार वाले गाँठ से भरे ठूंठ बाँस को सिन्दूर लगा कर जतरा टाँड़ लेता है। इसके विचित्र आकार में उराँवों का विश्वास है कि इसमें आत्मा निवास करती है। ऐसे बाँस को पूजा की वस्तु के समान पवित्र मानते हैं जो कि समृद्धि देता है।

8. स्तूप और पत्थर

उराँव बस्तियों के बाहर अथवा पहाड़ी घूमने की जगह पर गोटियों का ढेर मिलता है, जिसे 'पत्थर पुंज' अथवा 'कुधा पखना' कहते हैं। प्रत्येक पार होने वाला व्यक्ति एक गोटी, अथवा एक छोटी टहनी अथवा कम से कम एक सूखा पत्ता वहाँ रखता है। यदि उस स्थान में एक से अधिक गोटियों का ढेर हो, तो ऐसा समझा जाता है कि उस स्थान में असाधारण कार्यसिद्धि है, अथवा वह स्थान कुछ प्राचीन अति मानवीय शरीर अथवा असाधारण शक्ति से संबंध रखता है। कुछ स्तूप तो ऐसे स्थानों के सूचक हैं, जहाँ व्यक्ति बाघों द्वारा खाये गये हैं। यदि राहगीर बोझा ढो रहा हो तो, हाथ से उपरोक्त चीजें न रखकर पैर से भी रख सकता है। स्तूपों में एक गोटी, अथवा एक छोटी टहनी अथवा एक सूखी पत्ती चाहे हाथ से, चाहे पैर से इसलिए रखा जाता है कि वहाँ निवास करने वाला प्रेतात्मा नीचे दबा रहे, उठ न सके और रास्ता चलने वालों की हानि न करे। कुछ यात्री अपने लक्ष्य में सफलता चाहते हैं अथवा निश्चित रूप में पत्थर या टहनी रखकर बाधाओं से मुक्त होना चाहते है। कुछ लोग कहते हैं कि पौराणिक जल अथवा 'वीर आम' से वीर व्यक्ति अतिमानवीय शक्ति और विशिष्ट दीर्घायु को प्राप्त करते हैं।

इन स्तूपों के एक ओर 'पुलखी स्टोन' होता है जो पुरखों की आत्माओं को समर्पित होती है, जिनके लिए समय-समय पर भोजन और दूसरी श्रद्धा की वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं। दूसरी ओर विचित्र

आकार के पत्थर, प्राचीन हीरो या वीर पुरुष के व्यक्तिगत सामान का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रायः इन पत्थरों का मनुष्य के साथ समानता होती है। इस रूप में बिरले ही दैवी सम्मान इन्हें दिया जाता है। परन्तु कुछ स्थितियों में ये पत्थर वास्तव में प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के अवशेष और हिन्दू देवताओं के प्रतिरूप होते हैं। चूँकि देवताओं ने मनुष्य का रूप लिया है, इसलिए इन पत्थरों को दैवी माना जाता है और उराँव लोग भी तेल और सिन्दूर का टीका पत्थरों पर लगाते हैं।

आठवीं श्रेणी में भ्रमण करने वाले (भूला) और दूसरे बीमारी देने वाले भूत

अब हमलोग हानिकर और दुष्ट शक्तियों वाले प्रेतों की श्रेणी में आते हैं। इनके लिए धार्मिक विधियाँ नहीं परन्तु अभिचारिक झाड़ फूँक होती है। अस्वाभाविक मृत्यु से मरे व्यक्ति, कुछ पानी भूत और दूसरे घूमते फिरते बीमारी देने वाले भूत इस श्रेणी में आते हैं।

1. अपवित्र मृत्यु वाली दुष्टात्माएँ

अस्वाभाविक मौत से मरने वाली आत्माएँ जीवन का मजा लेने के लिए, साथी (पति या पत्नी) के लिए लालायित रहती है। मुख्यतः ये आत्माएँ चुड़ैल, उल्टोगोरनी, मुआ और बाघाउत कहलाती हैं।

चुड़ैल

गर्भवती स्त्री यदि मर जाये, अथवा प्रसव के समय अथवा प्रसव के कुछ ही दिनों के बाद मर जाये तो वह चुरील या चुड़ैल बनती है। कहा जाता है कि चुरील भूत अपने बच्चे की कल्पना में सिर में काष्ठ कोयले का बोझ ढोती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि कोई पुरुष उसकी कब्र के बगल से पार हो, तब चुड़ैल उसकी बाँह में गुदगुदाती है यदि संभव हो तो उसे पटक कर बेहोश कर देती है और चूमने लगती है। वह पुरुष चुड़ैल के निकट आने का अनुभव करता है वह उसे भूत की आकृति के समान देखता है। कभी-कभी आकृति दृश्य भी होता है अथवा पास-पड़ोस के वृक्ष या डालियाँ सरसराती अथवा हिलने लगती है। जीवितावस्था में जो नाम था वह व्यक्ति उसी नाम से प्रेत को पुकारते कहता है—'फलनी हो?' प्रेतात्मा तुरंत भाग जाती है। अथवा चुड़ैल के आक्रमण करते ही यदि युवक उसके काठ कोयले के बोझे को ले सकता है तो उसकी शक्ति कम होने लगती है वह रोने लगती है। प्रायः मतवाले लोग ही इस प्रेत का शिकार बनते हैं। इस भूत को घूमने फिरने से रोकने के लिए प्रसव के समय मरने वाली स्त्री के दोनों पैर तोड़ कर उल्टे रखे जाते हैं, और काँटे उसके पैरों के तलवे में चुभाये जाते हैं जब चुड़ैल दृश्यमान होती है, तो उसके पैर उल्टे और तलवा सामने होता है। जब कोई व्यक्ति विशेषकर मतवाला व्यक्ति चुड़ैल की गिरफ्त में आ जाता है, तो कभी कभी चुड़ैल की यातना इतनी भयावह हो जाती है कि व्यक्ति से चुड़ैल भगाने के लिये मति या देंवड़ा की आवश्यकता होती है यदि व्यक्ति को सिर्फ पेट दर्द, या शरीर में ही थोड़ा दर्द हो तो थोड़ा सरसों के दाने, दो दाने और आधा कोई भी दाल, लोहे चूर्ण और काष्ठ कोयला का छोटा टुकड़ा इन सब को एक साथ उसी स्थान की ओर फेंके, जिधर चुड़ैल, उस व्यक्ति से मिली थी।

मौआ

अगर कोई आदमी भूख से मरता है (मुरखुरी) अथवा गला दबाने से मरता है अथवा टँगा कर मरता है, अथवा पसा कर (कोई भारी हथियार से) मरता है, तो उसकी आत्मा 'मौआ' बन जाती है यह

किसी की हानि नहीं करता है इसलिए पूजा या बलि या भूत अपराध की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ऐसा कहा जाता है कि अगर सात दिन और सात रात लगातार पानी पड़ता है मौआ दुःख से रोने लगता है ''हायरे बाबा, हायरे आयो''। मौआ दिखाई नहीं पड़ता है परन्तु उनकी रुलाई या आवाज व्यक्ति के पैरों के पास ही सुनाई देता है। मौआ और चुड़ैल के लिए कोई धर्मानुष्ठान नहीं होता है।

बघाउत भूत

बाघ से खाये जाने वाले व्यक्ति मरने पर बाघ बन जाते हैं और रात को अपने पुराने घर में घुसना चाहते है। बघाउत को भगाने के लिए मत्ती या देंवड़ा बुलाया जाता है। परिवार से मिलकर कोई एक व्यक्ति बाघ का रूप लेकर उसी के समान अभिनय करता है। उसके शरीर को बाघ के रंग के समान रंग देते हैं, पूँछ भी बना दी जाती है। चार आदमी उसे रस्सी से पकड़ते हैं। इस समय वह खीजता, आग बबूला होता, गुर्राता, अथवा दाँत पीसता है। इस प्रकार बाघ के गुस्से का अनुकरण करता है। मत्ती या देंवड़ा मन्त्रों को उच्चरित करते हुए इस कृत्रिम बाघ को गाँव की सीमा तक खदेड़ देता है। इस प्रकार बाघाउत भूत को गाँव से भगाया जाता है। मत्ती के द्वारा मुरगा या मुरगी की बलि बघाउत को दी जाती है। इसके बाद बाघ बने व्यक्ति को नहला कर घर लाया जाता है। घर से संबंधियों और गाँव वालों के साथ उत्सव मनाया जाता है।

पाति

जब कोई बाघ बार-बार गाँव में आता है, तो मत्ती या ओझा उसे मार डालता है यही पाति कहलाता है। इसकी विधि निम्न प्रकार की है— बाघ द्वारा मारे गये मनुष्य अथवा जानवर की लाश, अगर नहीं तो, उसके कोई एक अंग उपयुक्त स्थान में रखे जाते हैं। मत्ती, लाश अथवा अंग के ऊपर मन्त्र उच्चारण करता है। इस मंत्र या जादू टोना की इतनी चुम्बकीय शक्ति होती है कि बाघ वहाँ पर रखे मांस को खाने आ जाता है। इसके बाद मत्ती वहाँ से चला जाता है और एक व्यक्ति को बन्दूक के साथ उस स्थान से थोड़ी दूर छिपने को कहता है। घात देखकर छिपा व्यक्ति बाघ में बन्दूक चलाता है। इस प्रकार बाघ मारा जाता है।

पानी भूत

ये सात बहिनी भूत कहलाती हैं। कुछ लोगों का कहना है कि ये वरंडा भूत की बेटियाँ हैं। ये पानी जगहों विशेषकर घाघ अथवा जल प्रपातों में रहती हैं। ये वहाँ नहाने वाले बच्चों को पकड़ लेती हैं। ऐसे बच्चे मूर्छित होकर गिर जाते हैं ऐसी स्थिति में मत्ती या ओझा की मदद ली जाती हैं उसको रता या लम्बे डंठल वाला घास, फाड़ा हुआ बाँस, कुछ पत्ते के दोने (खेता), एक जलता मिट्टी का दीया, हल्दी के सात टुकड़े कुछ लोबान या सुगन्ध, कुछ अरवा चावल के चूर्ण, पिसा हुआ लकड़ी कोयला और चूल्हे की लाल मिट्टी दी जाती है। रता से वह सात तीर और फाड़े गये बाँस से धनुष बनाता है। चावल का चूर्ण, पिसे हुए काष्ठ कोयला और चूल्हे की मिट्टी इन सब को पानी से मिलाता है। इसी पेस्ट से, चौक में सात वर्गाकार या चौकोर का चित्र सात बहनों के नाम पर बनाता है। इसके बाद अपने धनुष से वाण प्रत्येक सात पत्तों के दोनों पर पारी पारी से फेंकता है। प्रत्येक दोने पर तीर चलाते हुए कुछ मंत्र कहता है। इसके बाद, प्रत्येक में हल्दी का एक टुकड़ा रखता है इसके बाद जलाये गये मिट्टी के

दीये लेकर बेहोश हुए बच्चे के ऊपर चारों ओर घुमाता है। समय-समय पर दीये की लौ में लोबान रखता है। ये सभी काम मंत्र के साथ किये जाते हैं। दीये की लौ की जाँच कर कहता है कि प्रेत ने बच्चे को छोड़ दिया है। इसके बाद प्रयोग में लाई गयी सभी वस्तुओं को लेकर दो रास्ते के संगम में छोड़ देता है। यदि मंत्र बिना बाधा के कहे जाते हैं, तो समझा जाता है कि बच्चा ठीक हो गया। यदि कोई रास्ते में फेंकी हुई वस्तुओं के ऊपर होकर चलता है, तो उसे भी भूत पकड़ता है।

दूसरे बीमारी देने वाले भूत

उराँवों का यह विश्वास है कि यह पृथ्वी भूतों से भरी है। विपत्ति, बीमारी आदि कष्ट देने वाले भूतों के साथ स्थायी मित्रता करते हैं, उनको खुश करने के लिए बलि देते हैं।

नवीं श्रेणी के पुगरी भूत

कुछ उराँव अपने स्वार्थ और दुष्ट उद्देश्यों के लिए कुछ भूतों को चुपचाप अन्तरंग मित्र बना लेते हैं, ये ही पुगरी और डायन कूरी कहे जाते हैं। जब कोई पुरुष या स्त्री दुष्ट इरादों से किसी भूत के पास चुपचाप प्रतिज्ञा करता है, तो वही भूत उस व्यक्ति का व्यक्तिगत भूत या पुगरी भूत हो जाता है। ऐसी गुप्त प्रतिज्ञा पीपल वृक्ष पर अथवा पुराने तालाब के किनारे रहने वाले खूँट के पास की जाती है। अपनी प्रतिज्ञा पूरी होने पर समय-समय पर उस भूत के लिए प्रतिज्ञात बलि दी जाती है। यदि कोई डायन किसी अन्तरंग भूत को किसी की बुराई के लिए चुन लेती है, तो उनके पुगरी भूत 'बिसाही नाद' अथवा 'डायन कुरी भूत' कहलाते हैं।

यदि निश्चित समय पुगरी भूत को प्रतिज्ञात बलि नहीं मिलती है तो भूख के मारे उछलता कूदता है और इसी क्रम में परिवार में चाहे बीमारी अथवा मृत्यु होती है। डायन और ओझा के अन्तरंग भूत दूसरे को तकलीफ देने के लिए लगाये जाते हैं। तकलीफ में पड़े लोग एक या दो मत्तियों को खोजते हैं, जो यह पता लगाते हैं कि दुःख का कारण क्या है? मत्ती उस व्यक्ति का नाम भी बताता है, जिसके पुगरी भूत ये सब विपत्ति दे रहे हैं, तब गाँव का पंच उस व्यक्ति को बाध्य करता है, कि वह अपने पुगरी भूत को पर्याप्त बलि दे। और यदि उसके पास जमीन हो तो परिवार के किसी खेत में लकड़ी की खूँटी गाड़ कर निश्चित स्थान दे अथवा जमीन न रहने पर एक पात्र जिसमें मिट्टी भरी हो, उसमें लकड़ी का खूँटा घुसेड़ दे और बाँस की टोकरी में उस पात्र को रख कर घरके भीतर रख दे। निश्चित स्थान पाने पर वह परिवार केभूत में बदल जाता है। यदि व्यक्ति का एक से अधिक पुगरी भूत हो, तो पुगरी की संख्या के अनुसार खूँटी को चीरा या काटा जाता है। इस प्रकार सामूहिक रूप में भूत 'चार खाँधी' पाँच खाँधी, छः खाँधी, सात खाँधी आदि जैसी स्थिति हो, उस व्यक्ति के पुगरी की संख्या के अनुसार कहे जाते हैं।

जब भूँइहर (जिसके पास जमीन हो) के पास वैसा मित्र होता है, और यदि वह पाया जाता है, तो उसे मित्र भूत के लिए बलि देनी पड़ती है और अपनी जमीन में स्थान देना पड़ता है इस हालत में भी वह पुगरी भूत ही रहता है, खूँट भूत नहीं। पुगरी भूत के लिए समय-समय पर बलि उसी खूँट का दूसरा व्यक्ति नहीं दे सकता, परन्तु दूसरे खूँट का व्यक्ति दे सकता है।

दसवीं श्रेणी–नजर (दुष्ट–आँख) और दूसरी रहस्यमय शक्तियाँ

उराँवों के अनुसार पृथ्वी न केवल भूतों से भरी है, परन्तु कुछ अमूर्त चीजें जैसे नाम अथवा संख्या, आध्यत्मिक शक्ति अथवा आत्मा के साथ संबंध रखती है। इनमें से कुछ शक्तियाँ बहुत क्रियाशील हैं, और कुछ सुस्त हैं। इसमें से क्रियाशील शक्तियाँ हो जिनके नाम ही मनुष्य से मतलब रखती है। इन्हीं में से कुछ शक्तियाँ लाभकारी हैं और कुछ शक्तियाँ हानिकर।

इनमें से बुरी नजर हानिकर है। कुछ व्यक्ति अपनी आँखों में बुरी शक्ति लेकर ही पैदा होते हैं। इसलिए जब उनकी बुरी नजर दूसरे व्यक्तियों अथवा भोजन, मवेशी और फसल पर पड़ती है तो हानि या विपत्ति निश्चित है। बुरी नजर वाले व्यक्ति दूसरे की खुशी, समृद्धि, उल्लास को सहन नहीं कर पाते। अत: जब उनकी नजर स्वस्थ बच्चे, सुसज्जित सुन्दर अथवा सुन्दरी, गोल मटोल तगड़े जानवरों अथवा प्रचुर फसलों पर पड़ती है, तो उन पर विपत्ति आनी निश्चित होती है। दुष्ट आँख का दुष्प्रभाव बुरे मुँह से और बढ़ जाता है। यदि कोई डाइन अथवा बुरी नजर वाला कोई व्यक्ति अपने में कहता या कहती है ''कितना सुन्दर दिखाई पड़ रहा है'' यदि अखरा में खुशी से नाचती युवती पर या नाचते युवक पर बुरी नजर पड़ जाती है, तो वह लड़का या लड़की उसी समय बेहोश होकर गिर जाता या जाती है। अथवा इससे भी अधिक दुष्परिणाम हो सकता है। कपड़े पर खून की एक बूँद रहस्यमय ढंग से दिखाई पड़ती है और उसे गंभीर बीमारी हो सकती है। यदि बुरी नजर आटा, रोटी और दूसरी खाद्य वस्तुओं पर पड़ती है वह वस्तु विषैली हो जाती है। रोटी और दूसरे खाद्य पदार्थ नही पकेंगे, अथवा उनमें से सड़न वाली दुर्गन्ध आयेगी, अथवा डायरिया होगा अथवा दूसरी प्रकार की बीमारियाँ होंगी। इसलिए बुरी नजर के दुष्प्रभाव को दूर करने के लिए मत्ती या ओझा की मदद ली जाती है।

अपनी फसलों को बुरी नजर से बचाने के लिए एक उराँव अपने टाँड़ की फसलों के बीच एक लकड़ी का खूँटा गाड़ता है। उसके ऊपर एक मिट्टी के घड़े को औंधा करके रखते हैं। घड़े को काले और सफेद रंगों से रंग देते हैं। धान की फसलों को बुरी नजर से बचाने के लिए कृषक खेत के बीचों–बीच भेलवा अथवा पीपल की टहनी को कदलेटा पर्व के दूसरे ही दिन सुबह गाड़ता है। टहनियों की शक्ति को बढ़ाने के लिए कदलेटा पर्व में बलि दिये गये एक मुट्टी चावल को पत्ते में बंद करके टहनी में टाँग देते हैं।

अपने ऊपर बुरी नजर न लगे इसके लिए लोग सूर्य ग्रहण के दुष्प्रभाव से बचने के लिए जो लोहे की अँगूठी या बाजूबन्द पहनते थे, उन्हीं को पहनते हैं।

एक उराँव माँ अपनी सन्तान को बुरी नजर से बचाने के लिए बच्चे की भौंह या माथे पर काजल का दाग लगाती है। गले अथवा कमर में कौड़ी की सीपियाँ अथवा दूसरे ताबीजों को पहनाती है।

कभी–कभी बुरी नजर अस्थायी होती है। जैसे–एक ही गाँव की स्त्रियाँ, आधे चन्द्रमा के दिन प्रसव करती हों, तब प्रसव के बीस दिनों तक एक दूसरे को नहीं देख सकती हैं। इक्कीसवें दिन दोनों की आँखों में पट्टी बाँध कर, विपरीत दिशा में पहले से निश्चित किये गये स्थान में लाई जाती हैं। इसके बाद दोनों की आँखों से पट्टियाँ क्रमश: बारी–बारी से हटाई जाती हैं। यदि किसी स्त्री की पट्टी पहले हटाई जाती है तो उसकी बुरी नजर दूसरी स्त्री के स्तनों पर पड़ेगी। वह उसके स्तनों से सारा दूध अपने स्तनों

में ले आयेगी दूसरी स्त्री का दूध सूख जायेगा। अतः उसका बच्चा दूध के बिना मर जायेगा। अतः तुरन्त दोनों परिवार झगड़ पड़ेंगे। दोनों परिवार एक दूसरे को हानि पहुँचाने के लिए मत्ती, ओझा और डायन खोजने लगते हैं।

रेंगने वाले जीव

उराँवों का यह विश्वास है कि दोहरा साँप दुष्ट प्रभाववाला होता है। यदि कोई दोहरा साँप देख ले, तो यह निश्चित है कि उसे कोई गंभीर बीमारी यहाँ तक कि मृत्यु भी एक या दो महीने में हो सकती है, जब तक कि उसके दर्शन से होने वाले दुष्प्रभाव दूर न किये जायें। इस दुष्टप्रभाव को दूर करने के लिए अपने ही हाथों से कुछ चावल अथवा उरद दाल अथवा धान को भूँजते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गर्म तवे में उपरोक्त वस्तुएँ चट-चट कर जाती हैं उसीमें दुष्प्रभाव भी जल जाता है। इन भूने अनाजों को वयस्क नहीं खाते हैं केवल बच्चों के बीच खाने के लिए बाँटा जाता है। आसाढ़ के महीने में दोहरा साँप के दिखाई पड़ने पर तुरन्त यह अनुष्ठान किया जाता है।

नाम

कुछ व्यक्तियों जानवरों, सरीसृपों और जगहों के नाम चाहे सभों के लिए चाहे कुछ विशेष स्थान या वर्ग के व्यक्तियों के लिए, सब समय अथवा थोड़े समय के लिए दुष्प्रभाव वाले होते हैं।

रात के समय एक उराँव, साँप, नहीं परन्तु एप अथवा रस्सी कहता है। बाघ को, बाघ नहीं, परन्तु लम्बी पूँछ वाला, भालू को भालू नहीं, परन्तु ऊन वाला कह कर पुकारता है। स्त्रियाँ हमेशा भालू को खैनी चुटी कहकर पुकारती हैं। ऐसा विश्वास है कि इन जानवरों अथवा सरीसृप का नाम रात में लेने से वे वास्तविक रूप में प्रकट होंगी और मार डालेंगी।

प्रायः प्रातः काल शरीर से विकृत या विकलांग या असामान्य व्यक्ति का चेहरा न तो देखना चाहता है और न नाम ही लेता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को देखने या नाम लेने से पूरा दिन अशुभ हो जाता है।

इसी प्रकार कुछ गाँवों के लोग कुछ दूसरे गाँवों का नाम आधी रात से लेकर सुबह तक नहीं लेते हैं, क्योंकि अभिष्ट सूचक गाँवों का नाम लेने से अवश्य कुछ अनिष्ट होगा। उदाहरण के लिए बेड़ो और लोहरदगा थाने के पड़ोसी गाँव के लोग (झारखण्ड स्टेट में) तुको, चट्टी नगरी, पालि गाँव का नाम मध्य रात्रि से सुबह तक नहीं लेते हैं। अगर किसी कारण वश नाम लेना पड़े तो दूसरे तरीके से लेते हैं। जैसे— तुको गाँव कहना हो तो उसे पिठ पद्दा' अथवा बाजार लगने वाला गाँव कहते हैं। इसी प्रकार चट्टी कहना हो तो, 'भट्ठी पद्दा' या वह गाँव जहाँ शराब की दूकानें हैं। इस प्रकार गाँव के नाम को दूसरी तरह कहते हैं।

छूने का निषेध (छूत का या सोतरा)

किसी व्यक्ति या वस्तु का स्पर्श या संपर्क में आने, अनजान लोगों के द्वारा स्पर्श किये गये, अथवा कुछ निश्चित जाति (विशेषकर लुहार) और अनुष्ठान में अपवित्र व्यक्ति द्वारा स्पर्श किये गये भोजन अथवा पानी लेने से भय पैदा करता है। कभी-कभी अज्ञात अथवा शक्तिशाली दुष्ट आत्माएँ ऐसे व्यक्तियों में रहती हैं।

इस संबंध में उराँवों की धारणा है कि उपरोक्त व्यक्तियों के जूठे भोजन खाने या पानी पीने से प्रदूषण और खतरा है। दुष्ट अथवा शक्तिशाली शक्ति, बचे हुए भोजन अथवा पानी में पार होती है। यहाँ तक कि पत्तल अथवा दोने अथवा बिना धोये धातु के कप अथवा प्लेट, जिनसे भोजन अथवा पानी लिए गये हों। यदि एक उराँव ऐसे कप अथवा प्लेट, या पत्तल दोने के ऊपर से होकर चलता है तो 'लघंन' पार होने से उसके गले में दर्द होगा। यदि उसके गले में दर्द हो, तो उस व्यक्ति को पूछा जायेगा कि उन जूठन वस्तुओं के ऊपर से होकर चला है या नहीं। यदि उसके पैर में दर्द हो, अथवा पैर फूल जाये, तो यह संदेह किया जाता है कि या तो उसने 'भूला' को अथवा धब-धब करती आत्मा को उनके रास्ते में पार किया है, अथवा टोहनाई के द्वारा शक्तिशाली तन्त्र-मन्त्र द्वारा कही गयी शक्ति से संसेचित सरसों के दानों के ऊपर कदम रखा हो, या पार किया हो, अथवा सामान दर्द से पीड़ित व्यक्ति को पार किया हो।

जब किसी उराँव को उपरोक्त वस्तुओं के ऊपर पैर रखने या पार होने से दर्द हो तो, बीमारी भूत को फुसला कर मन्त्रों द्वारा बुहारन में प्रवेश करा कर ठीकरे या पत्ते के दोने में बंद कर रास्ते या चौराहे में छोड़ दिया जाता हैं। यही बीमारी भूत, लापरवाही से घर के बुहारन या उपरोक्त वस्तुओं के ऊपर कदम रखने वाले व्यक्ति में प्रवेश करता है।

तन्त्र-मन्त्र

दुष्ट आँखें और दुष्ट स्पर्श रहस्यमय प्रभाव हैं। इसी प्रकार शब्दों की दुष्ट आवाज अनिष्ट करने वाले मंत्र अथवा जादूगरी के मंत्र भी है। बुरी नजरों और बुरे स्पर्श के विपरीत अनिष्ट करने वाली आवाज या मंत्र अपने शिकार पर किसी भी दूरी से किये जाते हैं। इसे जादूगर या टोहनाई का 'बान' अथवा वाण की मार कहते हैं। यह 'बान' इतना शक्तिशाली होता है कि कहा जाता है कि अपने इच्छित शिकार (व्यक्ति) के कलेजे को भी (शिकार व्यक्ति के बिना महसूस किये) कुछ शक्तिशाली ओझा या डाइन अपने उपयुक्त मंत्रों द्वारा निकाल लेते हैं। ओझा या टोहनाई निकालने के बाद चौबीस घंटों तक कलेजे को सावधानी से रखता है। इतनी अवधि के भीतर वह व्यक्ति दूसरे ओझा या टोहनाई को बुलाता है। ओझा के मंत्रों द्वारा चीटियाँ कलेजे में घुस जाती हैं, तो रोगी मुरझा जायेगा, और अंत में चौबीस घंटों के बाद ओझा उस कलेजे को खा जायेगा। फलस्वरूप रोगी मर जायेगा। उराँव ओझा कभी-कभी अपने साथ चिथड़ों की पोटली भी ढोता है, जिसमें हानिकर अथवा विनाशकारी शक्तियाँ होती हैं। इन्हें 'नाशन पोटली' भी कहते हैं। इन नाशक पोटलियों में मनुष्य के बाल, नाखून के जोड़े, पंजा, हड्डियों के टुकड़े, चूजों और दूसरी चिड़ियों और जानवरों के पैर, चावल की थोड़ी मात्रा, उरद के दाने, सरसों के बीज और कुछ दूसरे दाने होते हैं। एक डायन अथवा ओझा जिसको हानि पहुँचाना चाहता है,उस व्यक्ति के भोजन में हड्डी या पैर का टुकड़ा, अथवा बालों को मोंड़ कर अथवा कुछ नाखूनों के जोड़ों को मिलाकर देता है, और इनके ऊपर उपयुक्त मंत्र पढ़ता है। ये नाखून अथवा हड्डी अथवा पैर के टुकड़े शिकार व्यक्ति के पेट में जाकर मात्रा में बढ़ते हैं, अन्त में व्यक्ति को मार डालते हैं जब तक कि कोई दूसरा ओझा नाशन की शक्ति को प्रभावहीन न कर दे। बुलाया गया ओझा रोगग्रस्त के सामने इस प्रकार खड़ा होता है कि उसका मुँह और नाभी रोगी व्यक्ति के मुँह और नाक का स्पर्श करता हो। इसी मुद्रा में वह तंत्र मंत्र का उच्चारण तब तक करते जाता है, जब तक हड्डी पैर, नाखून अथवा दूसरे नाशन रोगी के

मुँह से निकल कर उसके (ओझा के) मुँह में न चला आवे। कुछ परिस्थितयों में रोगी व्यक्ति को सिर उत्तर की ओर कर नीचे जमीन पर सोने को कहा जाता है, और ओझा या टोहनाई रोगी के नाम के नाशन को चूस लेता है। निकाला गया नाशन आग में जला दिया जाता है।

अच्छे और बुरे पौधों के वृक्ष ओर दूसरी चीजें

यह बहुत ही रहस्यमय शक्ति वृक्षों में है कि भेलवा की टहनी अथवा पत्ते में बुरी नजर को दूर करने की शक्ति रहती है। आम वृक्ष की पत्तियों और पीपल की टहनियों में उर्वरिक प्रभाव रहता है। छेद बनाये गये रतिजरा पत्थर के दाने, प्रागैतिहासिक जलाने के स्थान में, जमीन से अपने आप निकले होते हैं। इन दोनों में कुछ विशेष प्रकार की बीमारियों को दूर करने की शक्ति होती है। प्रागैतिहासिक पत्थर के टुकड़े, बादल के टुकड़े माने जाते हैं। रतिजरा पत्थर के दानों अथवा स्फटिक पत्थर के दानों को बच्चे और वयस्क ताबीज के रूप में पहनते हैं। सूर्य ग्रहण के समय निकाले गये लोहे की दुष्टात्मा को भगाने की रहस्यमय शक्ति होती है। ऐसे लोहे से बनी अँगूठी और चेन पहनने से बज्रपात और कुछ दूसरी विपत्तियाँ दूर होती है। लाश को जलाने के बाद यदि लकड़ी के टुकड़े बचते हों तो इन टुकड़ों में गुप्त कल्याणकारी शक्तियाँ रहती है। अतः इन टुकड़ों को रस्सी से बाँधकर गले में पहनने से बीमारी दूर होती है। बाघ द्वारा खाये जाने वाले व्यक्ति के चिथड़े कपड़ों को यदि गाय, बैल और भैंसों की पूँछ में बाँध देते हैं तो जानवरों की बीमारी दूर होती है।

आग, पानी और बलि के खून में कल्याणकारी रहस्यमय शक्तियाँ हैं ये हानिकर शक्तियों के प्रभाव को निरस्त कर देती हैं। कौड़ी, सीपी कल्याणकारी शक्ति मानी जाती है। ये बच्चे के गले अथवा कमर में अथवा पशुओं के गले में हानि से रक्षा करने के लिए पहनायी जाती हैं।

ऊपर वर्णित ये ही उराँवों के विभिन्न अलौकिक अस्तित्व, शक्तियाँ और तेज, संसार में हैं। वास्तव में सीधे-सादे उराँवों के लिए प्रकृतिक चीजों में जीवन और तेज की अन्तः शक्ति है। कुछ चीजों में यह तेज या आत्मा प्रसुप्त और बेकार पड़ी रहती हैं, किन्तु कुछ परिस्थितियों में क्रियाशील हो जाती हैं और अपना बुरा या भला प्रभाव दिखाती हैं।

सहायक-ग्रन्थ सूची

यदि एक ही ग्रन्थ में कई संस्करण उल्लिखित है, तो तारांकित पुस्तकों से उद्धरण लिये गये है—

*अथर्ववेद संहिता	अजमेर 2014 दि.।
अथर्ववेद	सं. दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, औध, सन् 1950।
अथर्ववेद (शौनकीय)	सायण-भाष्य एवं पद-सूची सहित, सं विश्वबंधु, 4, था भाग, होशियारपुर 1960, 1964।
आश्वलायन गृह्यसूत्र	सं. पांडुरंग जावजी, मुम्बई सन् 1921।
आपस्तम्ब गृह्यसूत्र	सं. चित्रस्वामी, हिन्दी व्याख्याकार डा. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी सन् 1971।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	सं. और हिन्दी व्याख्याकार-डा. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी सन् 1969।
आग्निवैश्य गृह्यसूत्र	सं. एल. ए. रवि वर्मा, त्रिवेन्द्रम, सन् 1940।
ऋग्वेद संहिता (हिन्दी टीका सहित) दो भाग	सं. और हिन्दी अनुवादक-रामगोविन्द त्रिवेदी, गौरीनाथ झा, सुल्तानगंज 1988-1993 वि.।
*ऋग्वेद-संहिता	सं. सातवलेकर कुलज, औध राजधानी 1966 वि.।
ऐतरेय ब्राह्मण	सं. वासुदेव शर्मा और कृष्ण भट्ट निर्णय सागर, सन् 1925।
कठोपनिषद्	सं. हिन्दी अनुवादक डा. सुरेन्द्र देव शास्त्री चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1968।
काठक गृह्यसूत्र	सं. श्री डा. विलेय कॉलण्ड, दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर, 1981 वि।
कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषत्	शंकरानन्द की दीपिका, अंग्रेजी अनुवाद चौखम्बा संस्कृत सीरीज,आफिस, वाराणसी, सन् 1968।
छान्दोग्य ब्राह्मणम्	सं. श्रीदुर्गा मोहन भट्टाचार्य, कलकत्ता, सन् 1955।
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, 2013 वि. तृतीय संस्करण।
जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	सं. डा. बेरा शर्मा, तिरूपति, सन् 1967।
तैत्तिरीयारण्यक, भाग 1-2	सं. महादेव चिमणाजी आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, सन् 1920-27।
तैत्तिरीय संहिता	सं. सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, सन् 1957।
तैत्तिरीय ब्राह्मण 1-3	सं. विनायक गणेश आप्टे। आनन्दाश्रम मुद्रणालय पूना, सन्

	1934-38।
धर्मशास्त्र संग्रह	सं. जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता सन् 1876।
निघण्टु तथा निरुक्त	सं. और हिन्दी अनुवादक-लक्ष्मण स्वरूप एम. ए. मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली सन् 1967।
बृहदारण्यकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर 20/12 वि. द्वितीय संस्करण।
भागवतपुराण	गीताप्रेस संस्करण, गोरखपुर 2027 वि.।
मनुस्मृति	सं. और हिन्दी टीकाकार पंडित श्री हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा वाराणसी सन् 1965।
यजुर्वेद-संहिता	सं. श्री सावलकेर कुलज, स्वाध्याय मण्डल, औंध संस्कृति संस्थान, बरेली
वाजसनेयि संहिता	सं. अल्वेर्तेन वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, सन् 1967।
व्याकरण महाभाष्य	प्रदीप (केयट) और उद्योत (नागेश भट्ट) सहित मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली सन् 1967।
शतपथ ब्राह्मण (भाग 2)	सं. पंडित श्री चन्द्रशर शर्मा, तिरूपति सन् 1967।
सामविधान ब्राह्मण	सं. बे. रामचन्द्र शर्मा तिरूपति सन् 1964
सामवेद	सं. देवीचंद होशियारपुर सन् 1963
ईशादि नौ उपनिषद्	गोविन्द भवन, गीता प्रेस, गोरखपुर-टीकाकार हरिकृष्णदास गोयन्दका।
श्रीमद् भागवत-महापुराण (द्वितीय खण्ड)	गीता प्रेस गोरखपुर
संक्षिप्त शिवपुराण	गीता प्रेस गोरखपुर
देवी भागवत पुराण	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (प्रथम और द्वितीय खंड)
पद्म पुराण	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (प्रथम और द्वितीय खंड)
भविष्य पुराण	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (प्रथम और द्वितीय खंड)
गरुड़ पुराण	पं. श्रीराम शर्मा आचार्य (प्रथम और द्वितीय खंड)
श्री विष्णु पुराण	गीता प्रेस गोरखपुर
पद्मपुराण	गीता प्रेस गोरखपुर
वेदव्यास प्रणीत महाभारत	प्रथम खंड से षष्ठ खंड तक
श्रीमद्वाल्मीकी रामायण (प्रथम द्वितीय भाग)	गीता प्रेस गोरखपुर
तुलसी दास विरचित श्रीराम चरित मानस	गीता प्रेस गोरखपुर
खादिर गृह्यसूत्र	सं. वै. पट्टाभि राय, श्रीरंगम, सन् 1955
गोभिल गृह्यसूत्र	टीका-सत्यव्रत, सामश्रयी, हिन्दी-टीका, उदय नारायण सिंह, मुजफ्फर पुर सन् 1934।
गौतम धर्मसूत्र	सं. और हिन्दी व्याख्याकार डा. उमेश चन्द्र पांडेय, चौखम्बा, वाराणसी सन् 1966

द्राहायण गृह्यसूत्र — सं. उदयनारायण सिंह, मधुरपुर, मुजफ्फरपुर सन् 1934
धर्मशास्त्र संग्रह — सं. जीवानन्द, विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता सन् 1876
पाराशर स्मृति — सं. और हिन्दी व्याख्याकार देवज्ञ वाचस्पति श्री वासुदेव, चौखम्भा संस्कृत, वाराणसी, सन् 1968
याज्ञवल्क्य स्मृति — हिन्दी व्याख्याकार डा. उमेशचन्द्र पांडेय चौखम्भा सीरीज, वाराणसी, सन् 1967।
वाराह गृह्यसूत्र — सं. उदयनारायण सिंह मधुरपुर सन् 1334।

आधुनिक ग्रन्थ और लेख

इंदिराचरण पांडेय — ऋग्वैदिक काल में स्त्री और जल सेना, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वाराणसी, वर्ष 73, अंक 1-2, पृ. 77
कापड़िया, के. एम. — भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली सन् 1963
कविरत्न पं. भैयाराम शर्मा — विवाह पद्धति, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली वि. 12028।
गजानन शर्मा — प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, इलाहाबाद, 1970
गंगाप्रसाद उपाध्याय — ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण, प्रयाग वि. 2006।
ज्ञानी शिवदत्त — वेदकालीन साहित्य और संस्कृति, काशी 1967 ई.।
यशपाल टंडन — पुराण विषय समनुक्रमणिका, होशियार पुर सन् 1952 ई.।
रायगोविन्द चन्द्र — वैदिक युग में भारतीय आभूषण, चौखम्बा, सीरीज विद्याभवन, वाराणसी, सन् 1965।
राजबली पांडेय — हिन्दू संस्कार, चौखम्बा-विद्याभवन वाराणसी सन् 1966।
विश्वबन्धु — अथर्ववेद-वैयाकरण पदसूची, होशियार पुर सन् 1966।
विश्वबन्धु — ब्राह्मोद्धार कोष होशियार पुर 2013 वि.।
विश्वबन्धु — उपनिषद-वैयाकरण पदसूची होशियार पुर, सन् 1963।
विश्वबन्धु — ऋग्वेद वैयाकरण पदसूची होशियार पुर सन् 1963।
विश्वबन्धु — तैत्तिरीय सहिता वैयाकरण पदसूची, हाशियार पुर सन् 1963)।
विश्वबन्धु — उपनिषदुद्धार-कोष, होशियारपुर 2029 वि।
सिद्धेश्वरीनारायण राय — पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद सन्, 1968।
सुखमय भट्टाचार्य — महाभारतकालीन समाज।
एस कुजूर — वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी- विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी 1982
हरिदत्त वेदालंकार — हिन्दू परिवार मीमांसा- सरस्वती सदन मसूरी।
हरिराम शास्त्री — भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति।
वाचस्पति गैरोला — वैदिक साहित्य और संस्कृति -चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान्, 38, जवाहर नगर बंगला रोड, दिल्ली 11007
डा. मंगल देव शास्त्री — वैदिक संस्कृति

डा. दिनेशवर प्रसाद — लोक साहित्य और संस्कृति।

हरिवंश — झारखण्ड दिसुम मुक्तिगाथा और सृजन के सपने

शांति कुमार नानूराम व्यास — रामायण कालीन संस्कृति-रास्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली 1971।

कोशम्बी डी. डी. — प्राचीन भारत का इतिहास

डा.विजय बहादुर राव — उत्तरवैदिक समाज और संस्कृति

डा. सुभाष चन्द्र मुंडा — पंच परगना के मुंडाओं में हिन्दू धर्म का प्रभाव

डा.रामदयाल मुंडा — भारतीय संस्कृति को आदिवासियों की देन।

प्रो. हीरालाल शुक्ल — आदिवासी अस्मिता और विकास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।

डा. बुल्के स्मृति ग्रंथ — दिनेश्वर प्रसाद, श्रवण कुमार गोस्वामी

आद्यादत्त ठाकुर — वेदों में भारतीय संस्कृति

जयदेव वेदालंकार — वैदिक साहित्य का इतिहास

भजन सिंह — आर्यो का आदि निवास

गुलाब राय — संस्कृति की रूप रेखा

डा. शिवदास — भरतीय संस्कृति के मूल तत्व

वाचस्पति गैरोला — वैदिक साहित्य का इतिहास

Indra Prof. — The status of women in Ancient.India Motilal Benarasidas .Benaras 1955

Jolli Julius — The Institutes of Vishnu-Motilal Benarasidas, Delhi 1970S.B.E.7.

Jolli Julius — The Minor Law Books Part I Narada Brishaspati, Motilal Benarasidas, Delhi 1969 S.B.E. 33

Keith, A. B. — The veda of the Black Yajus School Taittiriya-Samhita 2, Vols. Motilal Benarasidas Delhi 1967.

Macdonell A. A. — Vedic Index of Names and Subjects 2. Vols. Motila! Benarasidas Delhi 1958

MaDan A. P. — Woman's Property in Indian Law, H. Ohiarpur 1971

Mitra, Priti — Life and Society in the Vedic Age, Calcutta 1966

Mitra Veda — India of Dharma Sutras, 1940 A.p.

Prabhu, P. H. — Hindu Social Organisation, Bombay 1961

Shastri S. Rao — Women in the Vedic Age, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1954.

Sur, A.K. — Sex and Marriage in India, Calcutta, 1973.

Upadhyay, B. S. — Women in Rigveda, Nand Kishore & Bro. Benaras, Second edition 1941.

Al Krober — Anlhiropology

S. C. Roy — Oraon Religion and Customs-Editions Indian Calcutta 1928

S. C. Roy — The Birhors Jungle Tribe of Chotanagpur

Father Exem — Munda Reglion

Father Hoffman — Encyclopedia Mundarica

P.V. Kane — History of the Dharmashastras

S. C. Roy — The Oraons of Chotanagpur

S. C. Roy — The mundas and their country 1912

S. C. Roy — The Kharias- 1937

Altekar, A. S. — The position of women in Hindu Civilization, Benaras 1938

Attekar, A. S. — Education in Ancient India, Benaras 1955

Apte, U. M. — Social and Religious life in the Grihya Sutras, Bombay 1954

Bader Clarisse — Women in Ancient India Varanasi 1964

Banerjea A. C. — Studies in the Brahmanas, Motilal Benarasidas Delhi 1963.

Banerjea A. C. — Reconstruction of Dharmasutras Journal of. Oriental institute, Baroda, Vol. VIII, II, 14,37

Basu Dr. J. A — India of the Age of the brahmanas, Calcutta 1969

Bloomfield D. M. — Hymns of the Altharvaveda, Motilal Benarasidas, Delhi 1964. S.B.E. 4. Vol. 42.

Dbuhler C. — The sacred Laws of the Arayas. Motilal Benarasidas, Delhi 1969 S.B.E. Vol. 2.14

E Ggeling. J. — The Satapatha Brahmana, . Motilal Benarasidas, Delhi 1963S.B-E.Vol. 12,26, 41,43,44.

Geldner K. P. — Der, Rig-Veda, 4 Vol, 4 Vol. Hoarvard Oriental Series, 33-36 Cambridge massechussatts 1951-1957

Griffith R. T. H. — The hymns of the Atharva-veda 2 Vol. Benaras 1916-17.

Griffither R. T. H. — Hymns of the Ṛg-Veda 2, Vol., The Chowkhamba Sanskrit Series Office Varanasi 1963.

Griffith R. T. H. — The texts of the white Yajur-Veda Benaras 1967.

R. C. Majumdar — Ancient India, Motilal Banarasi Das. Private Limited, Delhi

A. L. Basham — The Wonder that was India. A History of India.

Romila Tapar — A History of Ancient India Volume one

Tripathi Ramashankar — History of Ancient India.
Agnihotri V. K. — Ancient India
P. Jawaharlala Nehru — Discovery of India
D. Jha — Ancient History + Culture

शब्दानुक्रमणिका

उ

डॉ० श्रीमति स्कॉलस्टिका कुजूर [बी०एड, एम०ए० द्वय (राजनीति विज्ञान, संस्कृत) पी० एच०डी०, डी०लिट्] का जन्म बिहार राज्य अन्तर्गत गुमला जिले के किलगा नामक गाँव में।

पुरस्कार : 1. संस्कृत श्री 1989 राँची संस्कृत सेवा संघ द्वारा। 2. प्रशस्तिपत्रम् 2000 दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा। 3. सम्मानपत्रम् 2001 अखिल भारतीय संस्कृत सेवा संघ पटना द्वारा। 4. झारखण्ड रत्न 2003 लोक सेवा समिति राँची द्वारा। 5. Certificate of Honour in the field of Sanskrit Literature by Indian Medical Association Ranchi on Doctors' day 2005. 6. झारखण्ड विभूति सम्मान 2006 छोटानागपुर संस्कृति संघ द्वारा।

ऑफिस कार्य : "डीन" छात्रकल्याण, राँची विश्वविद्यालय राँची (24-7-1993 से 29-7-1994)

सदस्य : 1. Bihar Intermediate Education Council Patna. 2. Bihar Education Project Patna, for three years. At present 3. Jharkhand Education Project.

प्रकाशित पुस्तकें : 1. वैदिक एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में नारी-विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, 1982, 2. महाभारतकालीन नारी (वेद और स्मृतिक संदर्भ में)—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2001, 3. रामायण कालीन नारी : एक अनुशीलन, रश्मि प्रिंटिंग प्रेस, राँची, 1999, 4. इष्टकाभ्राष्ट्रम् (लघुवाटिका), कैथोलिक प्रेस, राँची, 2007, 4. माध्यामिक विद्यालयों के लिए पाठ्यपुस्तकें एवं व्याकरण की पुस्तकें न्यू झारखंड प्रकाशन, राँची, 2002

पुस्तकें अप्रकाशित : 1. बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट) का संस्कृत अनुवाद, 2. 21वीं सदी में बाइबिल, भगवद्गीता और कुरान की शिक्षाओं की उपयोगिता, 3. वैदिक अनार्य नारी और आदिवासी नारी (स्वतंत्रता से पहले से लेकर)।